ॐ परमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

सभापर्व

(सभाक्रियापर्व)

प्रथमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञाके अनुसार मयासुरद्वारा सभाभवन बनानेकी तैयारी

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, उनके नित्यसखा नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीन्मयः पार्थं वासुदेवस्य संनिधौ।
प्राञ्जलिः श्लक्ष्णया वाचा पूजयित्वा पुनः पुनः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! खाण्डवदाहके अनन्तर मयासुरने भगवान् श्रीकृष्णके पास बैठे हुए अर्जुनकी बारंबार प्रशंसा करके हाथ जोड़कर मधुर वाणीमें उनसे कहा ॥



मय उवाच

अस्मात् कृष्णात् सुसंरब्धात् पावकाच्च दिधक्षतः।
त्वया त्रातोऽस्मि कौन्तेय ब्रूहि किं करवाणि ते ॥३॥

मयासुर बोला—कुन्तीनन्दन ! आपने अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए इन भगवान् श्रीकृष्णसे तथा जला डालनेकी इच्छावाले अग्निदेवसे भी मेरी रक्षा की है। अतः बताइये, मैं (इस उपकारके बदले) आपकी क्या सेवा करूँ ? ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

कृतमेव त्वया सर्वं स्वस्ति गच्छ महासुर।
प्रीतिमान् भव मे नित्यं प्रीतिमन्तो वयं च ते ॥ ४ ॥

अर्जुनने कहा—असुरराज ! तुमने इस प्रकार कृतज्ञता प्रकट करके मेरे उपकारका मानो सारा बदला चुका दिया। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम जाओ। मुझपर प्रेम बनाये रखना। हम भी तुम्हारे प्रति सदा स्नेहका भाव रक्खेंगे ।४।

मय उवाच

युक्तमेतत् त्वयि विभो यथाऽऽत्थ पुरुषर्षभ।
प्रीतिपूर्वमहं किंचित् कर्तुमिच्छामि भारत ॥ ५ ॥

मयासुर बोला—प्रभो ! पुरुषोत्तम ! आपने जो बात कही है, वह आप-जैसे महापुरुषके अनुरूप ही है; परंतु भारत ! मैं बड़े प्रेमसे आपके लिये कुछ करना चाहता हूँ ॥

अहं हि विश्वकर्मा वै दानवानां महाकविः।
सोऽहं वै त्वत्कृते कर्तुं किंचिदिच्छामि पाण्डव ॥ ६ ॥

पाण्डुनन्दन ! मैं दानवोंका विश्वकर्मा एवं शिल्पविद्याका महान् पण्डित हूँ। अतः मैं आपके लिये किसी वस्तुका निर्माण करना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

(दानवानां पुरा पार्थ प्रासादा हि मया कृताः।
रम्याणि सुखगर्भाणि भोगाढ्यानि सहस्रशः ॥
उद्यानानि च रम्याणि सरांसि विविधानि च।
विचित्राणि च शस्त्राणि रथाः कामगमास्तथा ॥

नगराणि विशालानि साट्टप्राकारतोरणैः ।
वाहनानि च मुख्यानि विचित्राणि सहस्रशः ॥
विलानि रमणीयानि सुखयुक्तानि वै भृशम् ।
एतत् कृतं मया सर्वं तस्मादिच्छामि फाल्गुन ॥)

कुन्तीनन्दन ! पूर्वकालमें मैंने दानवोंके बहुत-से महल बनाये हैं । इसके सिवा देखनेमें रमणीय, सुख और भोगसाधनोंसे सम्पन्न अनेक प्रकारके रमणीय उद्यानों, भाँति-भाँतिके सरोवरों, विचित्र अस्त्र-शस्त्रों, इच्छानुसार चलनेवाले रथों, अट्टालिकाओं, चहारदिवारियों और बड़े-बड़े फाटकोंसहित विशाल नगरों, हजारों अद्भुत एवं श्रेष्ठ वाहनों तथा बहुत-सी मनोहर एवं अत्यन्त सुखदायक सुरंगोंका मैंने निर्माण किया है । अतः अर्जुन ! मैं आपके लिये भी कुछ बनाना चाहता हूँ ॥

अर्जुन उवाच

प्राणकृच्छ्राद् विमुक्तं त्वमात्मानं मन्यसे मया ।
एवं गते न शक्ष्यामि किंचित् कारयितुं त्वया ॥ ७ ॥

अर्जुन बोले—मयासुर ! तुम मेरेद्वारा अपनेको प्राण-संकटसे मुक्त हुआ मानते हो और इसीलिये कुछ करना चाहते हो । ऐसी दशामें मैं तुमसे कोई काम नहीं करा सकूँगा ॥

न चापि तव संकल्पं मोघमिच्छामि दानव ।
कृष्णस्य क्रियतां किंचित् तथा प्रतिकृतं मयि ॥ ८ ॥

दानव ! साथ ही मैं यह भी नहीं चाहता कि तुम्हारा यह संकल्प व्यर्थ हो । इसलिये तुम भगवान् श्रीकृष्णका कोई कार्य कर दो, इससे मेरे प्रति तुम्हारा कर्तव्य पूर्ण हो जायगा ॥

चोदितो वासुदेवस्तु मयेन भरतर्षभ ।
मुहूर्तमिव संदध्यौ किमयं चोद्यतामिति ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तब मयासुरने भगवान् श्रीकृष्णसे काम बतानेका अनुरोध किया । उसके प्रेरणा करनेपर भगवान् श्रीकृष्णने अनुमानतः दो घड़ीतक विचार किया कि 'इसे कौन-सा काम बताया जाय ?' ॥ ९ ॥

ततो विचिन्त्य मनसा लोकनाथः प्रजापतिः ।
चोदयामास तं कृष्णः सभा वै क्रियतामिति ॥ १० ॥
यदि त्वं कर्तुकामोऽसि प्रियं शिल्पवतां वर ।
धर्मराजस्य दैतेय यादृशीमिह मन्यसे ॥ ११ ॥

तदनन्तर मन-ही-मन कुछ सोचकर प्रजापालक लोकनाथ भगवान् श्रीकृष्णने उससे कहा—'शिल्पियोंमें श्रेष्ठ दैत्यराज मय ! यदि तुम मेरा कोई प्रिय कार्य करना चाहते हो तो तुम धर्मराज युधिष्ठिरके लिये जैसा ठीक समझो, वैसा एक सभाभवन बना दो ॥ १०-११ ॥

यां कृतां नानुकुर्वन्ति मानवाः प्रेक्ष्य विस्मिताः ।
मनुष्यलोके सकले तादृशीं कुरु वै सभाम् ॥ १२ ॥

'वह सभा ऐसी बनाओ, जिसके बन जानेपर सम्पूर्ण मनुष्यलोकके मानव देखकर विस्मित हो जायँ एवं कोई उसकी नकल न कर सके ॥ १२ ॥

यत्र दिव्यानभिप्रायान् पश्येम हि कृतांस्त्वया ।
आसुरान् मानुषांश्चैव सभां तां कुरु वै मय ॥ १३ ॥

'मयासुर ! तुम ऐसे सभाभवनका निर्माण करो, जिसमें हम तुम्हारेद्वारा अङ्कित देवता, असुर और मनुष्योंकी शिल्पनिपुणताका दर्शन कर सकें' ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं सम्प्रहृष्टो मयस्तदा ।
विमानप्रतिमां चक्रे पाण्डवस्य शुभां सभाम् ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णकी उस आज्ञाको शिरोधार्य करके मयासुर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उस समय पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके लिये विमान-जैसी सुन्दर सभा बनानेका निश्चय किया ॥ १४ ॥

ततः कृष्णश्च पार्थश्च धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
सर्वमेतत् समावेद्य दर्शयामासतुर्मयम् ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने धर्मराज युधिष्ठिरको ये सब बातें बताकर मयासुरको उनसे मिलाया ॥

तस्मै युधिष्ठिरः पूजां यथार्हमकरोत् तदा ।
स तु तां प्रतिजग्राह मयः सत्कृत्य भारत ॥ १६ ॥

भारत ! राजा युधिष्ठिरने उस समय मयासुरका यथा-योग्य सत्कार किया और मयासुरने भी बड़े आदरके साथ उनका वह सत्कार ग्रहण किया ॥ १६ ॥

स पूर्वदेवचरितं तदा तत्र विशाम्पते ।
कथयामास दैतेयः पाण्डुपुत्रेषु भारत ॥ १७ ॥

जनमेजय ! दैत्यराज मयने उस समय वहाँ पाण्डवोंको दैत्योंके अद्भुत चरित्र सुनाये ॥ १७ ॥

स कालं कंचिदाश्वस्य विश्वकर्मा विचिन्त्य तु ।
सभां प्रचक्रमे कर्तुं पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ १८ ॥

कुछ दिनोंतक वहाँ आरामसे रहकर दैत्योंके विश्वकर्मा मयासुरने सोच-विचारकर महात्मा पाण्डवोंके लिये सभाभवन बनानेकी तैयारी की ॥ १८ ॥

अभिप्रायेण पार्थानां कृष्णस्य च महात्मनः ।
पुण्येऽहनि महातेजाः कृतकौतुकमङ्गलः ॥ १९ ॥
तर्पयित्वा द्विजश्रेष्ठान् पायसेन सहस्रशः ।
धनं बहुविधं दत्त्वा तेभ्य एव च वीर्यवान् ॥ २० ॥
सर्वर्तुगुणसम्पन्नां दिव्यरूपां मनोरमाम् ।
दशकिष्कुसहस्रां तां मापयामास सर्वतः ॥ २१ ॥

उसने कुन्तीपुत्रों तथा महात्मा श्रीकृष्णकी रुचिके अनुसार सभा बनानेका निश्चय किया । किसी पवित्र तिथिको (शुभ मुहूर्तमें) मङ्गलानुष्ठान, स्वस्तिवाचन आदि करके

महातेजस्वी और पराक्रमी मयने हजारों श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको खीर खिलाकर तृप्त किया तथा उन्हें अनेक प्रकारका धन दान किया। इसके बाद उसने सभा बनानेके लिये समस्त ऋतुओंके गुणोंसे सम्पन्न दिव्य रूपवाली मनोरम सब ओरसे दस हजार हाथकी (अर्थात् दस हजार हाथ चौड़ी और दस हजार हाथ लम्बी) धरती नपवायी ॥ १९—२१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभास्थाननिर्णये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत सभाक्रियापर्वमें सभास्थाननिर्णयविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीकृष्णकी द्वारकायात्रा

वैशम्पायन उवाच

उषित्वा खाण्डवप्रस्थे सुखवासं जनार्दनः।
पार्थैः प्रीतिसमायुक्तैः पूजनार्होऽभिपूजितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! परम पूजनीय भगवान् श्रीकृष्ण खाण्डवप्रस्थमें सुखपूर्वक रहकर प्रेमी पाण्डवोंके द्वारा नित्य पूजित होते रहे ॥ १ ॥

गमनाय मतिं चक्रे पितुर्दर्शनलालसः।
धर्मराजमथामन्त्र्य पृथां च पृथुलोचनः ॥ २ ॥

तदनन्तर पिताके दर्शनके लिये उत्सुक होकर विशाल नेत्रोंवाले श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिर और कुन्तीकी आज्ञा लेकर वहाँसे द्वारका जानेका विचार किया ॥ २ ॥

ववन्दे चरणौ मूर्ध्ना जगद्वन्द्यः पितृष्वसुः।
स तया मूर्ध्न्युपाघ्रातः परिष्वक्तश्च केशवः ॥ ३ ॥

जगद्वन्द्य केशवने अपनी बुआ कुन्तीके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और कुन्तीने उनका मस्तक सूँघकर उन्हें हृदयसे लगा लिया ॥ ३ ॥

ददर्शानन्तरं कृष्णो भगिनीं स्वां महायशाः।
तामुपेत्य हृषीकेशः प्रीत्या बाष्पसमन्वितः ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् महायशस्वी हृषीकेश अपनी बहिन सुभद्रासे मिले। उसके पास जानेपर स्नेहवश उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये ॥ ४ ॥

अर्थ्यं तथ्यं हितं वाक्यं लघु युक्तमनुत्तरम्।
उवाच भगवान् भद्रां सुभद्रां भद्रभाषिणीम् ॥ ५ ॥

भगवान्ने मङ्गलमय वचन बोलनेवाली कल्याणमयी सुभद्रासे बहुत थोड़े, सत्य, प्रयोजनपूर्ण, हितकारी, युक्तियुक्त एवं अकाट्य वचनोंद्वारा अपने जानेकी आवश्यकता बतायी (और उसे ढाढ़स बँधाया) ॥ ५ ॥

तया स्वजनगामीनि श्रावितो वचनानि सः।
सम्पूजितश्चाप्यसकृच्छिरसा चाभिवादितः ॥ ६ ॥

सुभद्राने बार-बार भाईकी पूजा करके मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और माता-पिता आदि स्वजनोंसे कहनेके लिये संदेश दिये ॥ ६ ॥

तामनुज्ञाप्य वार्ष्णेयः प्रतिनन्द्य च भामिनीम्।
ददर्शानन्तरं कृष्णां धौम्यं चापि जनार्दनः ॥ ७ ॥

भामिनी सुभद्राको प्रसन्न करके उससे जानेकी अनुमति लेकर वृष्णिकुलभूषण जनार्दन द्रौपदी तथा धौम्यमुनिसे मिले ॥ ७ ॥

ववन्दे च यथान्यायं धौम्यं पुरुषसत्तमः।
द्रौपदीं सान्त्वयित्वा च आमन्त्र्य च जनार्दनः ॥ ८ ॥
भ्रातॄनभ्यगमद् विद्वान् पार्थेन सहितो बली।
भ्रातृभिः पञ्चभिः कृष्णो वृतः शक्र इवामरैः ॥ ९ ॥

पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने यथोचित रीतिसे धौम्यजीको प्रणाम किया और द्रौपदीको सान्त्वना दे उसकी अनुमति लेकर वे अर्जुनके साथ अन्य भाइयोंके पास गये। पाँचों भाई पाण्डवोंसे घिरे हुए विद्वान् एवं बलवान् श्रीकृष्ण देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रकी भाँति सुशोभित हुए ॥ ८-९ ॥

यात्राकालस्य योग्यानि कर्माणि गरुडध्वजः।
कर्तुकामः शुचिर्भूत्वा स्नातवान् समलंकृतः ॥ १० ॥

तदनन्तर गरुडध्वज श्रीकृष्णने यात्राकालोचित कर्म करनेके लिये पवित्र हो स्नान करके अलङ्कार धारण किया ॥

अर्चयामास देवांश्च द्विजांश्च यदुपुङ्गवः।
माल्यजाप्यनमस्कारैर्गन्धैरुच्चावचैरपि ॥ ११ ॥

फिर उन यदुश्रेष्ठने प्रचुर पुष्प-माला, जप, नमस्कार और चन्दन आदि अनेक प्रकारके सुगन्धित पदार्थोंद्वारा देवताओं और ब्राह्मणोंकी पूजा की ॥ ११ ॥

स कृत्वा सर्वकार्याणि प्रतस्थे तस्थुषां वरः।
उपेत्य स यदुश्रेष्ठो बाह्यकक्षाद् विनिर्गतः ॥ १२ ॥

प्रतिष्ठित पुरुषोंमें श्रेष्ठ यदुप्रवर श्रीकृष्ण यात्राकालोचित सब कार्य पूर्ण करके प्रस्थित हुए और भीतरसे चलकर बाहरी ड्योढ़ीको पार करते हुए राजभवनसे बाहर निकले ॥

स्वस्तिवाच्यार्हतो विप्रान् दधिपात्रफलाक्षतैः।
वसु प्रदाय च ततः प्रदक्षिणमथाकरोत् ॥ १३ ॥

उस समय सुयोग्य ब्राह्मणोंने स्वस्तिवाचन किया और भगवान्ने दहीसे भरे पात्र, अक्षत, फल आदिके साथ उन ब्राह्मणोंको धन देकर उन सबकी परिक्रमा की ॥ १३ ॥

काञ्चनं रथमास्थाय ताक्ष्यकेतनमाशुगम् ।
गदाचक्रासिशार्ङ्गाद्यैरायुधैरावृतं शुभम् ॥ १४ ॥
तिथावप्यथ नक्षत्रे मुहूर्ते च गुणान्विते ।
प्रययौ पुण्डरीकाक्षः शैब्यसुग्रीववाहनः ॥ १५ ॥

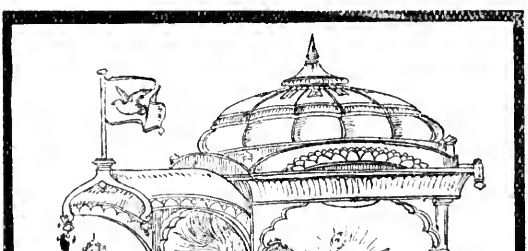
इसके बाद गरुडचिह्नित ध्वजासे सुशोभित और गदा, चक्र, खड्ग एवं शार्ङ्गधनुष आदि आयुधोंसे सम्पन्न शैब्य, सुग्रीव आदि घोड़ोंसे युक्त शुभ सुवर्णमय रथपर आरूढ़ हो कमलनयन श्रीकृष्णने उत्तम तिथि, शुभ नक्षत्र एवं गुणयुक्त मुहूर्तमें यात्रा आरम्भ की ॥ १४-१५ ॥

अन्वारुरोह चाप्येनं प्रेम्णा राजा युधिष्ठिरः ।
अपास्य चास्य यन्तारं दारुकं यन्तृसत्तमम् ॥ १६ ॥

उस समय श्रीकृष्णका रथ हाँकनेवाले सारथियोंमें श्रेष्ठ दारुकको हटाकर उसके स्थानमें राजा युधिष्ठिर प्रेमपूर्वक भगवान्‌के साथ रथपर जा बैठे ॥ १६ ॥

अभीषून् सम्प्रजग्राह स्वयं कुरुपतिस्तदा ।
उपारुह्यार्जुनश्चापि चामरव्यजनं सितम् ॥ १७ ॥
रुक्मदण्डं बृहद्बाहुर्विदुधाव प्रदक्षिणम् ।

कुरुराज युधिष्ठिरने घोड़ोंकी बागडोर स्वयं अपने हाथमें ले ली। फिर महाबाहु अर्जुन भी रथपर बैठ गये और सुवर्णमय दण्डसे विभूषित श्वेत चँवर लेकर दाहिनी ओरसे उनके ऊपर डुलाने लगे ॥ १७½ ॥



तथैव भीमसेनोऽपि यमाभ्यां सहितो बली ॥ १८ ॥
पृष्ठतोऽनुययौ कृष्णमृत्विक्पौरजनैः सह ।
(छत्रं शतशलाकं च दिव्यमाल्योपशोभितम् ।
वैडूर्यमणिदण्डं च चामीकरविभूषितम् ॥
दधार तरसा भीमश्छत्रं तच्छार्ङ्गधन्वने ।
उपारुह्य रथं शीघ्रं चामरव्यजने सिते ॥
नकुलः सहदेवश्च धूयमानौ जनार्दनम् ।)
स तथा भ्रातृभिः सर्वैः केशवः परवीरहा ॥ १९ ॥
अन्वीयमानः शुशुभे शिष्यैरिव गुरुः प्रियैः ।

इसी प्रकार नकुल-सहदेवसहित बलवान् भीमसेन भी ऋत्विजों और पुरवासियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णके पीछे-पीछे चल रहे थे। उन्होंने वेगपूर्वक आगे बढ़कर शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके ऊपर दिव्य मालाओंसे सुशोभित एवं सौ शलाकाओं (तिल्लियों) से युक्त स्वर्ण-विभूषित छत्र लगाया। उस छत्रमें वैदूर्यमणिका डंडा लगा हुआ था। नकुल और सहदेव भी शीघ्रतापूर्वक रथपर आरूढ़ हो श्वेत चँवर और व्यजन डुलाते हुए जनार्दनकी सेवा करने लगे। उस समय अपने समस्त फुफेरे भाइयोंसे संयुक्त शत्रुदमन केशव ऐसी शोभा पाने लगे, मानो अपने प्रिय शिष्योंके साथ गुरु यात्रा कर रहे हों ॥ १८-१९½ ॥

पार्थमामन्त्र्य गोविन्दः परिष्वज्य सुपीडितम् ॥ २० ॥
युधिष्ठिरं पूजयित्वा भीमसेनं यमौ तथा ।
परिष्वक्तो भृशं तैस्तु यमाभ्यामभिवादितः ॥ २१ ॥

श्रीकृष्णके बिछोहसे अर्जुनको बड़ी व्यथा हो रही थी। गोविन्दने उन्हें हृदयसे लगाकर उनसे जानेकी अनुमति ली। फिर उन्होंने युधिष्ठिर और भीमसेनका चरणस्पर्श किया। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुनने भगवान्‌को छातीसे लगा लिया और नकुल-सहदेवने उनके चरणोंमें प्रणाम किया (तब भगवान्‌ने भी उन दोनोंको छातीसे लगा लिया) ॥ २०-२१ ॥

योजनार्धमथो गत्वा कृष्णः परपुरंजयः ।
युधिष्ठिरं समामन्त्र्य निवर्तस्वेति भारत ॥ २२ ॥

भारत ! शत्रुविजयी श्रीकृष्णने दो कोस दूर चले जानेपर युधिष्ठिरसे जानेकी अनुमति ले यह अनुरोध किया कि 'अब आप लौट जाइये' ॥ २२ ॥

ततोऽभिवाद्य गोविन्दः पादौ जग्राह धर्मवित् ।
उत्थाप्य धर्मराजस्तु मूर्ध्न्युपाघ्राय केशवम् ॥ २३ ॥
पाण्डवो यादवश्रेष्ठं कृष्णं कमललोचनम् ।
गम्यतामित्यनुज्ञाप्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

तदनन्तर धर्मज्ञ गोविन्दने प्रणाम करके युधिष्ठिरके पैर पकड़ लिये। फिर पाण्डुकुमार धर्मराज युधिष्ठिरने यादवश्रेष्ठ कमलनयन केशवको दोनों हाथोंसे उठाकर उनका मस्तक सूँघा और 'जाओ' कहकर उन्हें जानेकी आज्ञा दी ॥ २३-२४ ॥

ततस्तैः संविदं कृत्वा यथावन्मधुसूदनः ।
निवर्त्य च तथा कृच्छ्रात् पाण्डवान् सपदानुगान् ॥ २५ ॥
स्वां पुरीं प्रययौ हृष्टो यथा शक्रोऽमरावतीम् ।
लोचनैरनुजग्मुस्ते तमादृष्टिपथात् तदा ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् उनके साथ पुनः आनेका निश्चित वादा

करके भगवान् मधुसूदनने पैदल आये हुए नागरिकोंसहित पाण्डवोंको बड़ी कठिनाईसे लौटाया और प्रसन्नतापूर्वक अपनी पुरी द्वारकाको गये, मानो इन्द्र अमरावतीको जा रहे हों। जबतक वे दिखायी दिये, तबतक पाण्डव अपने नेत्रोंद्वारा उनका अनुसरण करते रहे ॥ २५-२६ ॥

मनोभिरनुजग्मुस्ते कृष्णं प्रीतिसमन्वयात् ।
अतृप्तमनसामेव तेषां केशवदर्शने ॥ २७ ॥
क्षिप्रमन्तर्दधे शौरिश्चक्षुषां प्रियदर्शनः ।
अकामा एव पार्थास्ते गोविन्दगतमानसाः ॥ २८ ॥

अत्यन्त प्रेमके कारण उनका मन श्रीकृष्णके साथ ही चला गया। अभी केशवके दर्शनसे पाण्डवोंका मन तृप्त नहीं हुआ था, तभी नयनाभिराम भगवान् श्रीकृष्ण सहसा अदृश्य हो गये। पाण्डवोंकी श्रीकृष्णदर्शनविषयक कामना अधूरी ही रह गयी। उन सबका मन भगवान् गोविन्दके साथ ही चला गया ॥ २७-२८ ॥

निवृत्योपययुस्तूर्णं स्वं पुरं पुरुषर्षभाः ।
स्यन्दनेनाथ कृष्णोऽपि त्वरितं द्वारकामगात् ॥ २९ ॥

अब वे पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव मार्गसे लौटकर तुरंत अपने नगरकी ओर चल पड़े। उधर श्रीकृष्ण भी रथके द्वारा शीघ्र ही द्वारका जा पहुँचे ॥ २९ ॥

सात्वतेन च वीरेण पृष्ठतो यायिना तदा ।
दारुकेण च सूतेन सहितो देवकीसुतः ।
स गतो द्वारकां विष्णुर्गरुत्मानिव वेगवान् ॥ ३० ॥

सात्वतवंशी वीर सात्यकि भगवान् श्रीकृष्णके पीछे बैठकर यात्रा कर रहे थे और सारथि दारुक आगे था। उन दोनोंके साथ देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण वेगशाली गरुडकी भाँति द्वारकामें पहुँच गये ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

निवृत्य धर्मराजस्तु सह भ्रातृभिरच्युतः ।
सुहृत्परिवृतो राजा प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले धर्मराज युधिष्ठिर भाइयोंसहित मार्गसे लौटकर सुहृदोंके साथ अपने श्रेष्ठ नगरके भीतर प्रविष्ट हुए ॥ ३१ ॥

विसृज्य सुहृदः सर्वान् भ्रातॄन् पुत्रांश्च धर्मराट् ।
मुमोद पुरुषव्याघ्रो द्रौपद्या सहितो नृप ॥ ३२ ॥

राजन्! वहाँ पुरुषसिंह धर्मराजने समस्त सुहृदों, भाइयों और पुत्रोंको विदा करके राजमहलमें द्रौपदीके साथ बैठकर प्रसन्नताका अनुभव किया ॥ ३२ ॥

केशवोऽपि मुदा युक्तः प्रविवेश पुरोत्तमम् ।
पूज्यमानो यदुश्रेष्ठैरुग्रसेनमुखैस्तथा ॥ ३३ ॥

इधर भगवान् केशव भी उग्रसेन आदि श्रेष्ठ यादवोंसे सम्मानित हो प्रसन्नतापूर्वक द्वारकापुरीके भीतर गये ॥ ३३ ॥

आहुकं पितरं वृद्धं मातरं च यशस्विनीम् ।
अभिवाद्य बलं चैव स्थितः कमललोचनः ॥ ३४ ॥

कमलनयन श्रीकृष्णने राजा उग्रसेन, बूढ़े पिता वसुदेव और यशस्विनी माता देवकीको प्रणाम करके बलरामजीके चरणोंमें मस्तक झुकाया ॥ ३४ ॥

प्रद्युम्नसाम्बनिशठांश्चारुदेष्णं गदं तथा ।
अनिरुद्धं च भानुं च परिष्वज्य जनार्दनः ॥ ३५ ॥
स वृद्धैरभ्यनुज्ञातो रुक्मिण्या भवनं ययौ ।

तत्पश्चात् जनार्दनने प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, चारुदेष्ण, गद, अनिरुद्ध तथा भानु आदिको स्नेहपूर्वक हृदयसे लगाया और बड़े-बूढ़ोंकी आज्ञा लेकर रुक्मिणीजीके महलमें प्रवेश किया ॥ ३५½ ॥

मयोऽपि स महाभागः सर्वरत्नविभूषिताम् ।
विधिवत् कल्पयामास सभां धर्मसुताय वै ॥ ३६ ॥

इधर महाभाग मयने भी धर्मपुत्र युधिष्ठिरके लिये विधिपूर्वक सम्पूर्ण रत्नोंसे विभूषित सभामण्डप बनानेकी मन-ही-मन कल्पना की ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि भगवद्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत सभाक्रियापर्वमें भगवान् श्रीकृष्णकी द्वारकायात्राविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

मयासुरका भीमसेन और अर्जुनको गदा और शङ्ख लाकर देना तथा उसके द्वारा अद्भुत सभाका निर्माण

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीन्मयः पार्थमर्जुनं जयतां वरम् ।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि पुनरेष्यामि चाप्यहम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर मयासुरने विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनसे कहा—'भारत! मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ। मैं एक जगह जाऊँगा और फिर शीघ्र ही लौट आऊँगा ॥ १ ॥

(विश्रुतां त्रिषु लोकेषु पार्थ दिव्यां सभां तव ।
प्राणिनां विस्मयकरीं तव प्रीतिविवर्धिनीम् ।
पाण्डवानां च सर्वेषां करिष्यामि धनंजय ॥)

'कुन्तीकुमार धनंजय! मैं आपके लिये तीनों लोकोंमें विख्यात एक दिव्य सभाका निर्माण करूँगा। जो समस्त प्राणियोंको आश्चर्यमें डालनेवाली तथा आपके साथ ही समस्त पाण्डवोंकी प्रसन्नता बढ़ानेवाली होगी ॥

उत्तरेण तु कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति ।
यियक्षमाणेषु पुरा दानवेषु मया कृतम् ॥ २ ॥
चित्रं मणिमयं भाण्डं रम्यं बिन्दुसरः प्रति।
सभायां सत्यसंधस्य यदासीद् वृषपर्वणः ॥ ३ ॥

'पूर्वकालमें जब दैत्यलोग कैलास पर्वतसे उत्तर दिशामें स्थित मैनाक पर्वतपर यज्ञ करना चाहते थे, उस समय मैंने एक विचित्र एवं रमणीय मणिमय भाण्ड तैयार किया था, जो बिन्दुसरके समीप सत्यप्रतिज्ञ राजा वृषपर्वाकी सभामें रक्खा गया था ॥ २-३ ॥

आगमिष्यामि तद् गृह्य यदि तिष्ठति भारत।
ततः सभां करिष्यामि पाण्डवस्य यशस्विनीम्॥ ४ ॥

'भारत ! यदि वह अबतक वहीं होगा तो उसे लेकर पुनः लौट आऊँगा। फिर उसीसे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके यशको बढ़ानेवाली सभा तैयार करूँगा ॥ ४ ॥

मनःप्रह्लादिनीं चित्रां सर्वरत्नविभूषिताम् ।
अस्ति बिन्दुसरस्युग्रा गदा च कुरुनन्दन ॥ ५ ॥

'जो सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित, विचित्र एवं मनको आह्लाद प्रदान करनेवाली होगी। कुरुनन्दन! बिन्दुसरमें एक भयंकर गदा भी है ॥ ५ ॥

निहिता भावयाम्येवं राज्ञा हत्वा रणे रिपून् ।
सुवर्णबिन्दुभिश्चित्रा गुर्वी भारसहा दृढा ॥ ६ ॥

'मैं समझता हूँ, राजा वृषपर्वाने युद्धमें शत्रुओंका संहार करके वह गदा वहीं रख दी थी। वह गदा बड़ी भारी है, विशेष भार या आघात सहन करनेमें समर्थ एवं सुदृढ़ है। उसमें सोनेकी फूलियाँ लगी हुई हैं, जिनसे वह बड़ी विचित्र दिखायी देती है ॥ ६ ॥

सा वै शतसहस्रस्य सम्मिता शत्रुघातिनी ।
अनुरूपा च भीमस्य गाण्डीवं भवतो यथा ॥ ७ ॥

'शत्रुओंका संहार करनेवाली वह गदा अकेली ही एक लाख गदाओंके बराबर है। जैसे गाण्डीव धनुष आपके योग्य है, वैसे ही वह गदा भीमसेनके योग्य होगी ॥ ७ ॥

वारुणश्च महाशङ्खो देवदत्तः सुघोषवान् ।
सर्वमेतत् प्रदास्यामि भवते नात्र संशयः ॥ ८ ॥

'वहाँ वरुणदेवका देवदत्त नामक महान् शङ्ख भी है, जो बड़ी भारी आवाज करनेवाला है। ये सब वस्तुएँ लाकर मैं आपको भेंट करूँगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ ८ ॥

इत्युक्त्वा सोऽसुरः पार्थं प्रागुदीचीं दिशं गतः।
अथोत्तरेण कैलासान्मैनाकं पर्वतं प्रति ॥ ९ ॥

अर्जुनसे ऐसा कहकर मयासुर पूर्वोत्तर दिशा (ईशानकोण) में कैलाससे उत्तर मैनाक पर्वतके पास गया ॥ ९ ॥

हिरण्यशृङ्गः सुमहान् महामणिमयो गिरिः ।
रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः ॥ १० ॥
द्रष्टुं भागीरथीं गङ्गामुवास बहुलाः समाः ।

'वहीं हिरण्यशृङ्ग नामक महामणिमय विशाल पर्वत है, जहाँ रमणीय बिन्दुसर नामक तीर्थ है। वहीं राजा भगीरथने भागीरथी गङ्गाका दर्शन करनेके लिये बहुत वर्षोंतक (तपस्या करते हुए) निवास किया था ॥ १०½ ॥

यत्रेष्टं सर्वभूतानामीश्वरेण महात्मना ॥ ११ ॥
आहृताः क्रतवो मुख्याः शतं भरतसत्तम ।
यत्र यूपा मणिमयाश्चैत्याश्चापि हिरण्मयाः ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहीं सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी महात्मा प्रजापतिने मुख्य-मुख्य सौ यज्ञोंका अनुष्ठान किया था, जिनमें सोनेकी वेदियाँ और मणियोंके खंभे बने थे ॥ ११-१२ ॥

शोभार्थं विहितास्तत्र न तु दृष्टान्ततः कृताः ।
अत्रेष्ट्वा स गतः सिद्धिं सहस्राक्षः शचीपतिः ॥ १३ ॥

यह सब शोभाके लिये बनाया गया था, शास्त्रीय विधि अथवा सिद्धान्तके अनुसार नहीं। सहस्र नेत्रोंवाले शचीपति इन्द्रने भी वहीं यज्ञ करके सिद्धि प्राप्त की थी ॥ १३ ॥

यत्र भूतपतिः सृष्ट्वा सर्वान् लोकान् सनातनः ।
उपास्यते तिग्मतेजाः स्थितो भूतैः सहस्रशः ॥ १४ ॥

सम्पूर्ण लोकोंके स्रष्टा और समस्त प्राणियोंके अधिपति उग्रतेजस्वी सनातन देवता महादेवजी वहीं रहकर सहस्रों भूतोंसे सेवित होते हैं ॥ १४ ॥

नरनारायणौ ब्रह्मा यमः स्थाणुश्च पञ्चमः ।
उपासते यत्र सत्रं सहस्रयुगपर्यये ॥ १५ ॥

एक हजार युग बीतनेपर वहीं नर-नारायण ऋषि, ब्रह्मा, यमराज और पाँचवें महादेवजी यज्ञका अनुष्ठान करते हैं ॥

यत्रेष्टं वासुदेवेन सत्रैर्वर्षगणान् बहून् ।
श्रद्दधानेन सततं धर्मसम्प्रतिपत्तये ॥ १६ ॥

यह वही स्थान है, जहाँ भगवान् वासुदेवने धर्मपरम्पराकी रक्षाके लिये बहुत वर्षोंतक निरंतर श्रद्धापूर्वक यज्ञ किया था॥

सुवर्णमालिनो यूपाश्चैत्याश्चाप्यतिभास्वराः ।
ददौ यत्र सहस्राणि प्रयुतानि च केशवः ॥ १७ ॥

उस यज्ञमें स्वर्णमालाओंसे मण्डित खंभे और अत्यन्त चमकीली वेदियाँ बनी थीं। भगवान् केशवने उस यज्ञमें सहस्रों-लाखों वस्तुएँ दानमें दी थीं ॥ १७ ॥

तत्र गत्वा स जग्राह गदां शङ्खं च भारत ।
स्फाटिकं च सभाद्रव्यं यदासीद् वृषपर्वणः ॥ १८ ॥

भारत ! तदनन्तर मयासुरने वहाँ जाकर वह गदा, शङ्ख और सभा बनानेके लिये स्फटिक मणिमय द्रव्य ले लिया, जो पहले वृषपर्वाके अधिकारमें था ॥ १८ ॥

किंकरैः सह रक्षोभिर्यदरक्षन्महद् धनम् ।
तदगृह्णान्मयस्तत्र गत्वा सर्वं महासुरः ॥ १९ ॥

बहुत-से किंकर तथा राक्षस जिस महान् धनकी रक्षा करते थे, वहाँ जाकर महान् असुर मयने वह सब ले लिया ।१९।

तदाहृत्य च तां चक्रे सोऽसुरोऽप्रतिमां सभाम्।
विश्रुतां त्रिषु लोकेषु दिव्यां मणिमयीं शुभाम् ॥२०॥

वे सब वस्तुएँ लाकर उस असुरने वह अनुपम सभा तैयार की, जो तीनों लोकोंमें विख्यात, दिव्य, मणिमयी और शुभ एवं सुन्दर थी ॥ २० ॥

गदां च भीमसेनाय प्रवरां प्रददौ तदा ।
देवदत्तं चार्जुनाय शङ्खप्रवरमुत्तमम् ॥ २१ ॥

उसने उस समय वह श्रेष्ठ गदा भीमसेनको और देवदत्त नामक उत्तम शङ्ख अर्जुनको भेंट कर दिया ॥ २१ ॥

यस्य शङ्खस्य नादेन भूतानि प्रचकम्पिरे ।
सभा च सा महाराज शातकुम्भमयद्रुमा ॥ २२ ॥

उस शङ्खकी आवाज सुनकर समस्त प्राणी काँप उठते थे। महाराज ! उस सभामें सुवर्णमय वृक्ष शोभा पाते थे ॥

दशकिष्कुसहस्राणि समन्तादायताभवत् ।
यथा वह्नेर्यथार्कस्य सोमस्य च यथा सभा ॥ २३ ॥
भ्राजमाना तथात्यर्थं दधार परमं वपुः ।

वह सब ओरसे दस हजार हाथ विस्तृत थी (अर्थात् उसकी लंबाई और चौड़ाई भी दस-दस हजार हाथ थी)। जैसे अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाकी सभा प्रकाशित होती है, उसी प्रकार अत्यन्त उद्भासित होनेवाली उस सभाने बड़ा मनोहर रूप धारण किया ॥ २३$\frac{1}{2}$ ॥

अभिघ्नतीव प्रभया प्रभामर्कस्य भास्वराम् ॥ २४ ॥

वह अपनी प्रभाद्वारा सूर्यदेवकी तेजोमयी प्रभासे टक्कर लेती थी ॥ २४ ॥

प्रबभौ ज्वलमानेव दिव्या दिव्येन वर्चसा ।
नवमेघप्रतीकाशा दिवमावृत्य विष्ठिता ।
आयता विपुला रम्या विपाप्मा विगतक्लमा ॥ २५ ॥

वह दिव्य सभा अपने अलौकिक तेजसे निरंतर प्रदीप्त-सी जान पड़ती थी। उसकी ऊँचाई इतनी अधिक थी कि नूतन मेघोंकी घटाके समान वह आकाशको घेरकर खड़ी थी। उसका विस्तार भी बहुत था। वह रमणीय सभा पाप-तापका नाश करनेवाली थी ॥ २५ ॥

उत्तमद्रव्यसम्पन्ना रत्नप्राकारतोरणा ।
बहुचित्रा बहुधना सुकृता विश्वकर्मणा ॥ २६ ॥

उत्तमोत्तम द्रव्योंसे उसका निर्माण किया गया था। उसके परकोटे और फाटक रत्नोंसे बने हुए थे। उसमें अनेक प्रकारके अद्भुत चित्र अङ्कित थे। वह बहुत धनसे पूर्ण थी। दानवोंके विश्वकर्मा मयासुरने उस सभाको बहुत सुन्दरतासे बनाया था ॥ २६ ॥

न दाशार्ही सुधर्मा वा ब्रह्मणो वाथ तादृशी ।
सभा रूपेण सम्पन्ना यां चक्रे मतिमान् मयः ॥ २७ ॥

बुद्धिमान् मयने जिस सभाका निर्माण किया था, उसके समान सुन्दर यादवोंकी सुधर्मा सभा अथवा ब्रह्माजीकी सभा भी नहीं थी ॥ २७ ॥

तां स्म तत्र मयेनोक्ता रक्षन्ति च वहन्ति च ।
सभामष्टौ सहस्राणि किंकरा नाम राक्षसाः ॥ २८ ॥

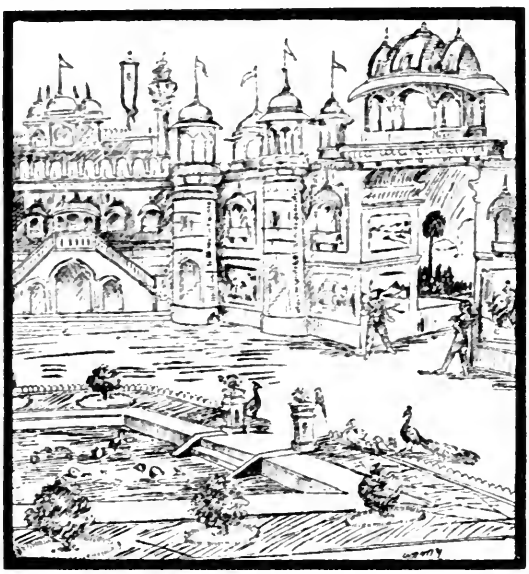
मयासुरकी आज्ञाके अनुसार आठ हजार किंकर नामक राक्षस उस सभाकी रक्षा करते और उसे एक स्थानसे दूसरे स्थानपर उठाकर ले जाते थे ॥ २८ ॥

अन्तरिक्षचरा घोरा महाकाया महाबलाः ।
रक्ताक्षाः पिङ्गलाक्षाश्च शुक्तिकर्णाः प्रहारिणः ॥ २९ ॥

वे राक्षस भयंकर आकृतिवाले, आकाशमें विचरनेवाले, विशालकाय और महाबली थे। उनकी आँखें लाल और पिंगलवर्णकी थीं तथा कान सीपीके समान जान पड़ते थे। वे सब-के-सब प्रहार करनेमें कुशल थे ॥ २९ ॥

तस्यां सभायां नलिनीं चकाराप्रतिमां मयः ।
वैदूर्यपत्रविततां मणिनालमयाम्बुजाम् ॥ ३० ॥

मयासुरने उस सभाभवनके भीतर एक बड़ी सुन्दर पुष्करिणी बना रक्खी थी, जिसकी कहीं तुलना नहीं थी। उसमें इन्द्रनीलमणिमय कमलके पत्ते फैले हुए थे। उन कमलोंके मृणाल मणियोंके बने थे ॥ ३० ॥



पद्मसौगन्धिकवतीं नानाद्विजगणायुताम् ।
पुष्पितैः पङ्कजैश्चित्रां कूर्मैर्मत्स्यैश्च काञ्चनैः ।
चित्रस्फटिकसोपानां निष्पङ्कसलिलां शुभाम् ॥ ३१ ॥

उसमें पद्मरागमणिमय कमलोंकी मनोहर सुगंध छा रही थी। अनेक प्रकारके पक्षी उसमें रहते थे। खिले हुए कमलों और सुनहली मछलियों तथा कछुओंसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। उस पोखरीमें उतरनेके लिये स्फटिक-

मणिकी विचित्र सीढ़ियाँ बनी थीं। उसमें पंकरहित स्वच्छ जल भरा हुआ था। वह देखनेमें बड़ी सुन्दर थी॥ ३१॥

मन्दानिलसमुद्भूतां मुक्ताबिन्दुभिराचिताम्।
महामणिशिलापट्टबद्धपर्यन्तवेदिकाम्॥ ३२॥

मन्द वायुसे उद्वेलित हो जब जलकी बूँदें उछलकर कमलके पत्तोंपर बिखर जाती थीं, उस समय वह सारी पुष्करिणी मौक्तिकबिन्दुओंसे व्याप्त जान पड़ती थी। उसके चारों ओरके घाटोंपर बड़ी-बड़ी मणियोंकी चौकोर शिलाखण्डोंसे पक्की वेदियाँ बनायी गयी थीं॥ ३२॥

मणिरत्नचितां तां तु केचिदभ्येत्य पार्थिवाः।
दृष्ट्वापि नाभ्यजानन्त तेऽज्ञानात् प्रपतन्त्युत॥ ३३॥

मणियों तथा रत्नोंसे व्याप्त होनेके कारण कुछ राजालोग उस पुष्करिणीके पास आकर और उसे देखकर भी उसकी यथार्थतापर विश्वास नहीं करते थे और भ्रमसे उसे स्थल समझकर उसमें गिर पड़ते थे॥ ३३॥

तां सभामभितो नित्यं पुष्पवन्तो महाद्रुमाः।
आसन् नानाविधा लोलाः शीतच्छाया मनोरमाः॥ ३४॥

उस सभाभवनके सब ओर अनेक प्रकारके बड़े-बड़े वृक्ष लहलहा रहे थे, जो सदा फूलोंसे भरे रहते थे। उनकी छाया बड़ी शीतल थी। वे मनोरम वृक्ष सदा हवाके झोंकोंसे हिलते रहते थे॥ ३४॥

काननानि सुगन्धीनि पुष्करिण्यश्च सर्वशः।
हंसकारण्डवोपेताश्चक्रवाकोपशोभिताः॥ ३५॥

केवल वृक्ष ही नहीं; उस भवनके चारों ओर अनेक सुगन्धित वन, उपवन और बावलियाँ भी थीं, जो हंस, कारण्डव तथा चक्रवाक आदि पक्षियोंसे युक्त होनेके कारण बड़ी शोभा पा रही थीं॥ ३५॥

जलजानां च पद्मानां स्थलजानां च सर्वशः।
मारुतो गन्धमादाय पाण्डवान् स्म निषेवते॥ ३६॥

वहाँ जल और स्थलमें होनेवाले कमलोंकी सुगन्ध लेकर वायु सदा पाण्डवोंकी सेवा किया करती थी॥ ३६॥

ईदृशीं तां सभां कृत्वा मासैः परिचतुर्दशैः।
निष्ठितां धर्मराजाय मयो राजन् न्यवेदयत्॥ ३७॥

मयासुरने पूरे चौदह महीनोंमें इस प्रकारकी उस अद्भुत सभाका निर्माण किया था। राजन्! जब वह बनकर तैयार हो गयी, तब उसने धर्मराजको इस बातकी सूचना दी॥ ३७॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभानिर्माणे तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत सभाक्रियापर्वमें सभानिर्माणविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ॥ ३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ३८½ श्लोक हैं)

चतुर्थोऽध्यायः

मयद्वारा निर्मित सभाभवनमें धर्मराज युधिष्ठिरका प्रवेश तथा सभामें स्थित महर्षियों और राजाओं आदिका वर्णन

(*वैशम्पायन उवाच*

तां तु कृत्वा सभां श्रेष्ठां मयश्चार्जुनमब्रवीत्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस श्रेष्ठ सभाभवनका निर्माण करके मयासुरने अर्जुनसे कहा।

मय उवाच

एषा सभा सव्यसाचिन् ध्वजो ह्यत्र भविष्यति॥

मयासुर बोला—सव्यसाचिन्! यह है आपकी सभा, इसमें एक ध्वजा होगी॥

भूतानां च महावीर्यो ध्वजाग्रे किङ्करो गणः।
तव विस्फारघोषेण मेघवन्निनदिष्यति॥

उसके अग्रभागमें भूतोंका महापराक्रमी किंकर नामक गण निवास करेगा। जिस समय तुम्हारे धनुषकी टंकारध्वनि होगी, उस समय उस ध्वनिके साथ ये भूत भी मेघोंके समान गर्जना करेंगे॥

अयं हि सूर्यसंकाशो ज्वलनस्य रथोत्तमः।
इमे च दिविजाः श्वेता वीर्यवन्तो हयोत्तमाः॥
मायामयः कृतो ह्येष ध्वजो वानरलक्षणः।
असज्जमानो वृक्षेषु धूमकेतुरिवोच्छ्रितः॥

यह जो सूर्यके समान तेजस्वी अग्निदेवका उत्तम रथ है और ये जो श्वेत वर्णवाले दिव्य एवं बलवान् अश्वरत्न हैं तथा यह जो वानरचिह्नसे उपलक्षित ध्वज है, इन सबका निर्माण मायासे ही हुआ है। यह ध्वज वृक्षोंमें कहीं अटकता नहीं है तथा अग्निकी लपटोंके समान सदा ऊपरकी ओर ही उठा रहता है॥

बहुवर्णं हि लक्ष्येत ध्वजं वानरलक्षणम्।
ध्वजोत्कटं ह्यनवमं युद्धे द्रक्ष्यसि विष्ठितम्॥

आपका यह वानरचिह्नित ध्वज अनेक रंगका दिखायी देता है। आप युद्धमें इस उत्कट एवं स्थिर ध्वजको कभी झुकता नहीं देखेंगे॥

इत्युक्त्वाऽऽलिङ्ग्य बीभत्सुं विसृष्टः प्रययौ मयः।)

ऐसा कहकर मयासुरने अर्जुनको हृदयसे लगा लिया और उनसे विदा लेकर (अभीष्ट स्थानको) चला गया॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रवेशनं तस्यां चक्रे राजा युधिष्ठिरः।
अयुतं भोजयित्वा तु ब्राह्मणानां नराधिपः॥ १॥
साज्येन पायसेनैव मधुना मिश्रितेन च।
कृसरेणाथ जीवन्त्या हविष्येण च सर्वशः॥ २॥
भक्ष्यप्रकारैर्विविधैः फलैश्चापि तथा नृप।
चोष्यैश्च विविधै राजन् पेयैश्च बहुविस्तरैः॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने घी और मधु मिलायी हुई खीर, खिचड़ी, जीवन्तिकाके साग, सब प्रकारके हविष्य, भाँति-भाँतिके भक्ष्य तथा फल, ईख आदि नाना प्रकारके चोष्य और बहुत अधिक पेय (शर्बत) आदि सामग्रियोंद्वारा दस हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उस सभाभवनमें प्रवेश किया॥ १—३॥

अहतैश्चैव वासोभिर्माल्यैरुच्चावचैरपि।
तर्पयामास विप्रेन्द्रान् नानादिग्भ्यः समागतान्॥ ४॥

उन्होंने नये-नये वस्त्र और छोटे-बड़े अनेक प्रकारके हार आदिके उपहार देकर अनेक दिशाओंसे आये हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको तृप्त किया॥ ४॥

ददौ तेभ्यः सहस्राणि गवां प्रत्येकशः पुनः।
पुण्याहघोषस्तत्रासीद् दिवस्पृगिव भारत॥ ५॥

भारत ! तत्पश्चात् उन्होंने प्रत्येक ब्राह्मणको एक-एक हजार गौएँ दीं। उस समय वहाँ ब्राह्मणोंके पुण्याहवाचनका गम्भीर घोष मानो स्वर्गलोकतक गूँज उठा॥ ५॥

वादित्रैर्विविधैर्दिव्यैर्गन्धैरुच्चावचैरपि।
पूजयित्वा कुरुश्रेष्ठो दैवतानि निवेश्य च॥ ६॥

कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने अनेक प्रकारके बाजे तथा भाँति-भाँतिके दिव्य सुगन्धित पदार्थोंद्वारा उस भवनमें देवताओंकी स्थापना एवं पूजा की। इसके बाद वे उस भवनमें प्रविष्ट हुए॥ ६॥

तत्र मल्ला नटा झल्लाः सूता वैतालिकास्तथा।
उपतस्थुर्महात्मानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम्॥ ७॥

वहाँ धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिरकी सेवामें कितने ही मल्ल (बाहुयुद्ध करनेवाले), नट, झल्ल (लकुटियोंसे युद्ध करनेवाले), सूत और वैतालिक उपस्थित हुए॥ ७॥

तथा स कृत्वा पूजां तां भ्रातृभिः सह पाण्डवः।
तस्यां सभायां रम्यायां रेमे शक्रो यथा दिवि॥ ८॥

इस प्रकार पूजनका कार्य सम्पन्न करके भाइयोंसहित पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर स्वर्गमें इन्द्रकी भाँति उस रमणीय सभामें आनन्दपूर्वक रहने लगे॥ ८॥

सभायामृषयस्तस्यां पाण्डवैः सह आसते।
आसांचक्रुर्नरेन्द्राश्च नानादेशसमागताः॥ ९॥

उस सभामें ऋषि तथा विभिन्न देशोंसे आये हुए नरेश पाण्डवोंके साथ बैठा करते थे॥ ९॥

असितो देवलः सत्यः सर्पिर्माली महाशिराः।
अर्वावसुः सुमित्रश्च मैत्रेयः शुनको बलिः॥ १०॥
बको दाल्भ्यः स्थूलशिराः कृष्णद्वैपायनः शुकः।
सुमन्तुर्जैमिनिः पैलो व्यासशिष्यास्तथा वयम्॥ ११॥
तित्तिरिर्याज्ञवल्क्यश्च ससुतो लोमहर्षणः।
अप्सुहोम्यश्च धौम्यश्च अणीमाण्डव्यकौशिकौ॥ १२॥
दामोष्णीषस्त्रैबलिश्च पर्णादो घटजानुकः।
मौञ्जायनो वायुभक्षः पाराशर्यश्च सारिकः॥ १३॥
बलिवाकः सिनीवाकः सत्यपालः कृतश्रमः।
जातूकर्णः शिखावांश्च आलम्बः पारिजातकः॥ १४॥
पर्वतश्च महाभागो मार्कण्डेयो महामुनिः।
पवित्रपाणिः सावर्णो भालुकिर्गालवस्तथा॥ १५॥
जङ्घाबन्धुश्च रैभ्यश्च कोपवेगस्तथा भृगुः।
हरिबभ्रुश्च कौण्डिन्यो बभ्रुमाली सनातनः॥ १६॥
काक्षीवानौशिजश्चैव नाचिकेतोऽथ गौतमः।
पैङ्गयो वराहः शुनकः शाण्डिल्यश्च महातपाः॥ १७॥
कुक्कुरो वेणुजङ्घोऽथ कालापः कठ एव च।
मुनयो धर्मविद्वांसो धृतात्मानो जितेन्द्रियाः॥ १८॥

असित, देवल, सत्य, सर्पिर्माली, महाशिरा, अर्वावसु, सुमित्र, मैत्रेय, शुनक, बलि, बक-दाल्भ्य, स्थूलशिरा, कृष्ण-द्वैपायन, शुकदेव, व्यासजीके शिष्य सुमन्तु, जैमिनि, पैल तथा हमलोग, तित्तिरि, याज्ञवल्क्य, पुत्रसहित लोमहर्षण, अप्सुहोम्य, धौम्य, अणीमाण्डव्य, कौशिक, दामोष्णीष, त्रैबलि, पर्णाद, घटजानुक, मौञ्जायन, वायुभक्ष, पाराशर्य, सारिक, बलिवाक, सिनीवाक, सत्यपाल, कृतश्रम, जातूकर्ण, शिखावान्, आलम्ब, पारिजातक, महाभाग पर्वत, महामुनि मार्कण्डेय, पवित्रपाणि, सावर्ण, भालुकि, गालव, जङ्घाबन्धु, रैभ्य, कोपवेग, भृगु, हरिबभ्रु, कौण्डिन्य, बभ्रुमाली, सनातन, काक्षीवान्, औशिज, नाचिकेत, गौतम, पैङ्गय, वराह, शुनक (द्वितीय), महातपस्वी शाण्डिल्य, कुक्कुर, वेणुजङ्घ, कालाप तथा कठ आदि धर्मज्ञ, जितात्मा और जितेन्द्रिय मुनि उस सभामें विराजते थे॥ १०-१८॥

एते चान्ये च बहवो वेदवेदाङ्गपारगाः।
उपासते महात्मानं सभायामृषिसत्तमाः॥ १९॥

ये तथा और भी वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत बहुत-से मुनि-श्रेष्ठ उस सभामें महात्मा युधिष्ठिरके पास बैठा करते थे॥ १९॥

कथयन्तः कथाः पुण्या धर्मज्ञाः शुचयोऽमलाः।
तथैव क्षत्रियश्रेष्ठा धर्मराजमुपासते॥ २०॥

वे धर्मज्ञ, पवित्रात्मा और निर्मल महर्षि राजा युधिष्ठिरको पवित्र कथाएँ सुनाया करते थे। इसी प्रकार क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ नरेश भी वहाँ धर्मराज युधिष्ठिरकी उपासना करते थे॥ २०॥

श्रीमान् महात्मा धर्मात्मा मुञ्जकेतुर्विवर्धनः ।
संग्रामजिद् दुर्मुखश्च उग्रसेनश्च वीर्यवान् ॥ २१ ॥
कक्षसेनः क्षितिपतिः क्षेमकश्चापराजितः ।
कम्बोजराजः कमठः कम्पनश्च महाबलः ॥ २२ ॥
सततं कम्पयामास यवनानेक एव यः ।
बलपौरुषसम्पन्नान् कृतास्त्रानमितौजसः ।
यथासुरान् कालकेयान् देवो वज्रधरस्तथा ॥ २३ ॥

श्रीमान् महामना धर्मात्मा मुञ्जकेतु, विवर्धन, संग्रामजित्, दुर्मुख, पराक्रमी उग्रसेन, राजा कक्षसेन, अपराजित क्षेमक, कम्बोजराज कमठ और महाबली कम्पन, जो अकेले ही बल-पौरुषसम्पन्न, अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा अमिततेजस्वी यवनोंको सदा उसी प्रकार कँपाते रहते थे, जैसे वज्रधारी इन्द्रने कालकेय नामक असुरोंको कम्पित किया था । (ये सभी नरेश धर्मराज युधिष्ठिरकी उपासना करते रहते थे) ॥ २१–२३॥

जटासुरो मद्रकाणां च राजा
कुन्तिः पुलिन्दश्च किरातराजः ।
तथाऽऽङ्गवाङ्गौ सह पुण्ड्रकेण
पाण्ड्योड्रराजौ च सहान्ध्रकेण ॥ २४ ॥
अङ्गो वङ्गः सुमित्रश्च शैब्यश्चामित्रकर्शनः ।
किरातराजः सुमना यवनाधिपतिस्तथा ॥ २५ ॥
चाणूरो देवरातश्च भोजो भीमरथश्च यः ।
श्रुतायुधश्च कालिङ्गो जयसेनश्च मागधः ॥ २६ ॥
सुकर्मा चेकितानश्च पुरुश्चामित्रकर्शनः ।
केतुमान् वसुदानश्च वैदेहोऽथ कृतक्षणः ॥ २७ ॥
सुधर्मा चानिरुद्धश्च श्रुतायुश्च महाबलः ।
अनूपराजो दुर्धर्षः क्रमजिच्च सुदर्शनः ॥ २८ ॥
शिशुपालः सहसुतः करूषाधिपतिस्तथा ।
वृष्णीनां चैव दुर्धर्षाः कुमारा देवरूपिणः ॥ २९ ॥
आहुको विपृथुश्चैव गदः सारण एव च ।
अक्रूरः कृतवर्मा च सत्यकश्च शिनेः सुतः ॥ ३० ॥
भीष्मकोऽथाकृतिश्चैव द्युमत्सेनश्च वीर्यवान् ।
केकयाश्च महेष्वासा यज्ञसेनश्च सौमकिः ॥ ३१ ॥
केतुमान् वसुमांश्चैव कृतास्त्रश्च महाबलः ।
एते चान्ये च बहवः क्षत्रिया मुख्यसम्मताः ॥ ३२ ॥
उपासते सभायां स्म कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।

इनके सिवा जटासुर, मद्रराज शल्य, राजा कुन्तिभोज, किरातराज पुलिन्द, अङ्गराज, वङ्गराज, पुण्ड्रक, पाण्ड्य, उड्राज, आन्ध्रनरेश, अङ्ग, वङ्ग, सुमित्र, शत्रुसूदन शैब्य, किरातराज सुमना, यवननरेश, चाणूर, देवरात, भोज, भीमरथ, कलिंगराज श्रुतायुध, मगधदेशीय जयसेन, सुकर्मा, चेकितान, शत्रुसंहारक पुरु, केतुमान, वसुदान, विदेहराज कृतक्षण, सुधर्मा, अनिरुद्ध, महाबली श्रुतायु, दुर्धर्ष वीर अनूपराज, क्रमजित्, सुदर्शन, पुत्रसहित शिशुपाल, करूषराज दन्तवक्त्र, वृष्णिवंशियोंके देवस्वरूप दुर्धर्ष राजकुमार, आहुक, विपृथु, गद, सारण, अक्रूर, कृतवर्मा, शिनिपुत्र सत्यक, भीष्मक, आकृति, पराक्रमी द्युमत्सेन, महान् धनुर्धर केकयराजकुमार, सोमक-पौत्र द्रुपद, केतुमान (द्वितीय) तथा अस्त्रविद्यामें निपुण महाबली वसुमान्–ये तथा और भी बहुतसे प्रधान क्षत्रिय उस सभामें कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी सेवामें बैठते थे ॥ २४–३२½ ॥

अर्जुनं ये च संश्रित्य राजपुत्रा महाबलाः ॥ ३३ ॥
अशिक्षन्त धनुर्वेदं रौरवाजिनवाससः ।
तत्रैव शिक्षिता राजन् कुमारा वृष्णिनन्दनाः ॥ ३४ ॥

जो महाबली राजकुमार अर्जुनके पास रहकर कृष्ण-मृगचर्म धारण किये धनुर्वेदकी शिक्षा लेते थे (वे भी उस सभा-भवनमें बैठकर राजा युधिष्ठिरकी उपासना करते थे) । राजन् ! वृष्णिवंशको आनन्दित करनेवाले राजकुमारोंको वहीं शिक्षा मिली थी ॥ ३३-३४ ॥

रौक्मिणेयश्च साम्बश्च युयुधानश्च सात्यकिः ।
सुधर्मा चानिरुद्धश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ३५ ॥
एते चान्ये च बहवो राजानः पृथिवीपते ।
धनंजयसखा चात्र नित्यमास्ते स्म तुम्बुरुः ॥ ३६ ॥

रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न, जाम्बवतीकुमार साम्ब, सत्यक-पुत्र (सात्यकि) युयुधान, सुधर्मा, अनिरुद्ध, नरश्रेष्ठ शैब्य— ये और दूसरे भी बहुत-से राजा उस सभामें बैठते थे । पृथ्वीपते ! अर्जुनके सखा तुम्बुरु गन्धर्व भी उस सभामें नित्य विराजमान होते थे ॥ ३५-३६ ॥

उपासते महात्मानमासीनं सप्तविंशतिः ।
चित्रसेनः सहामात्यो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ३७ ॥

मन्त्रीसहित चित्रसेन आदि सत्ताईस गन्धर्व और अप्सराएँ सभामें बैठे हुए महात्मा युधिष्ठिरकी उपासना करती थीं ॥ ३७ ॥

गीतवादित्रकुशलाः साम्यतालविशारदाः ।
प्रमाणेऽथ लये स्थाने किन्नराः कृतनिश्रमाः ॥ ३८ ॥
संचोदितास्तुम्बुरुणा गन्धर्वसहितास्तदा ।
गायन्ति दिव्यतानैस्ते यथान्यायं मनस्विनः ।
पाण्डुपुत्रानृषींश्चैव रमयन्त उपासते ॥ ३९ ॥

गाने-बजानेमें कुशल, साम्य[1] और ताल[2]के विशेषज्ञ तथा प्रमाण, लय और स्थानकी जानकारीके लिये विशेष परिश्रम किये हुए मनस्वी किन्नर तुम्बुरुकी आज्ञासे वहाँ अन्य गन्धर्वोंके साथ दिव्य तान छेड़ते हुए यथोचित रीतिसे गाते और पाण्डवों

१. संगीतमें नृत्य, गीत और वाद्यकी समताको लय अथवा साम्य कहते हैं; जैसा कि अमरकोषका वाक्य है—'लयः साम्यम्' ।

२. नृत्य या गीतमें उसके काल और क्रियाका परिमाण, जिसे बीच-बीचमें हाथपर हाथ मारकर सूचित करते जाते हैं, ताल कहलाता है; जैसा कि अमरकोषका वचन है—'तालः कालक्रियामानम्' ।

तथा महर्षियोंका मनोरञ्जन करते हुए धर्मराजकी उपासना करते थे ॥ ३८-३९ ॥

तस्यां सभायामासीनाः सुव्रताः सत्यसंगराः ।
दिवीव देवा ब्रह्माणं युधिष्ठिरमुपासते ॥ ४० ॥

जैसे देवतालोग दिव्यलोककी सभामें ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार कितने ही सत्यप्रतिज्ञ और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महापुरुष उस सभामें बैठकर महाराज युधिष्ठिरकी आराधना करते थे ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभाप्रवेशो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत सभाक्रियापर्वमें सभाप्रवेश नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

(लोकपालसभाख्यानपर्व)

पञ्चमोऽध्यायः

नारदजीका युधिष्ठिरकी सभामें आगमन और प्रश्नके रूपमें युधिष्ठिरको शिक्षा देना

वैशम्पायन उवाच

अथ तत्रोपविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
महत्सु चोपविष्टेषु गन्धर्वेषु च भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! एक दिन उस सभामें महात्मा पाण्डव अन्यान्य महापुरुषों तथा गन्धर्वों आदिके साथ बैठे हुए थे ॥ १ ॥

वेदोपनिषदां वेत्ता ऋषिः सुरगणार्चितः ।
इतिहासपुराणज्ञः पुराकल्पविशेषवित् ॥ २ ॥
न्यायविद् धर्मतत्त्वज्ञः षडङ्गविदनुत्तमः ।
ऐक्यसंयोगनानात्वसमवायविशारदः ॥ ३ ॥
वक्ता प्रगल्भो मेधावी स्मृतिमान् नयवित् कविः ।
परापरविभागज्ञः प्रमाणकृतनिश्चयः ॥ ४ ॥
पञ्चावयवयुक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषवित् ।
उत्तरोत्तरवक्ता च वदतोऽपि बृहस्पतेः ॥ ५ ॥
धर्मकामार्थमोक्षेषु यथावत् कृतनिश्चयः ।
तथा भुवनकोशस्य सर्वस्यास्य महामतिः ॥ ६ ॥
प्रत्यक्षदर्शी लोकस्य तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
सांख्ययोगविभागज्ञो निर्विवित्सुः सुरासुरान् ॥ ७ ॥
संधिविग्रहतत्त्वज्ञस्त्वनुमानविभागवित् ।
षाड्गुण्यविधियुक्तश्च सर्वशास्त्रविशारदः ॥ ८ ॥
युद्धगान्धर्वसेवी च सर्वत्राप्रतिघस्तथा ।
एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्युक्तो गुणगणैर्मुनिः ॥ ९ ॥
लोकाननुचरन् सर्वानागमत् तां सभां नृप ।
नारदः सुमहातेजा ऋषिभिः सहितस्तदा ॥ १० ॥
पारिजातेन राजेन्द्र पर्वतेन च धीमता ।
सुमुखेन च सौम्येन देवर्षिरमितद्युतिः ॥ ११ ॥
सभास्थान् पाण्डवान् द्रष्टुं प्रीयमाणो मनोजवः ।
जयाशीर्भिस्तु तं विप्रो धर्मराजानमार्चयत् ॥ १२ ॥

उसी समय वेद और उपनिषदोंके ज्ञाता, ऋषि, देवताओंद्वारा पूजित, इतिहास-पुराणके मर्मज्ञ, पूर्वकल्पकी बातोंके विशेषज्ञ, न्यायके विद्वान्, धर्मके तत्त्वको जाननेवाले, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष—इन छहों अङ्गोंके पण्डितोंमें शिरोमणि, ऐक्य[1], संयोग[2], नानात्व और समवाय[3]के ज्ञानमें विशारद, प्रगल्भ वक्ता, मेधावी, स्मरणशक्तिसम्पन्न, नीतिज्ञ, त्रिकालदर्शी, अपर ब्रह्म और परब्रह्मको विभागपूर्वक जाननेवाले, प्रमाणोंद्वारा एक निश्चित सिद्धान्तपर पहुँचे हुए, पञ्चावयवयुक्त[4] वाक्यके गुण-दोषको जाननेवाले, बृहस्पति-जैसे वक्ताके साथ भी उत्तर-प्रत्युत्तर करनेमें समर्थ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंके सम्बन्धमें यथार्थ निश्चय रखनेवाले तथा इन सम्पूर्ण चौदहों भुवनोंको ऊपर, नीचे, और तिरछे सब ओरसे प्रत्यक्ष देखनेवाले, महाबुद्धिमान्, सांख्य और योगके विभागपूर्वक ज्ञाता, देवताओं और असुरोंमें भी निर्वेद (वैराग्य) उत्पन्न करनेके इच्छुक, संधि और विग्रहके

---

१. परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले वेदके वचनोंकी एकवाक्यता।

२. एकमें मिले हुए वचनोंको प्रयोगके अनुसार अलग-अलग करना ।

३. यज्ञके अनेक कर्मोंके एक साथ उपस्थित होनेपर अधिकारके अनुसार यजमानके साथ कर्मका जो सम्बन्ध होता है, उसका नाम समवाय है ।

४. दूसरेको किसी वस्तुका बोध करानेके लिये प्रवृत्त हुआ पुरुष जिस अनुमानवाक्यका प्रयोग करता है, उसमें पाँच अवयव होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन । जैसे किसीने कहा—'इस पर्वतपर आग है' यह वाक्य प्रतिज्ञा है । 'क्योंकि वहाँ धूम है' यह हेतु है । 'जैसे रसोईघरमें धूआँ दीखनेपर वहाँ आग देखी जाती है' यह दृष्टान्त ही उदाहरण है । 'चूँकि इस पर्वतपर धूआँ दिखायी देता है' हेतुकी इस उपलब्धिका नाम उपनय है । 'इसलिये वहाँ आग है' यह निश्चय ही निगमन है । इस वाक्यमें अनुकूल तर्कका होना गुण है और प्रतिकूल तर्कका होना दोष है, जैसे 'यदि वहाँ आग न होती, तो धूआँ भी नहीं उठता' यह अनुकूल तर्क है । जैसे कोई तालावसे भाप उठती देखकर यह कहे कि इस तालावमें आग है, तो उसका वह अनुमान आश्रयासिद्धरूप हेत्वाभाससे युक्त होगा ।

तत्त्वको समझनेवाले, अपने और शत्रुपक्षके बलाबलका अनुमानसे निश्चय करके शत्रुपक्षके मन्त्रियों आदिको फोड़नेके लिये धन आदि बाँटनेके उपयुक्त अवसरका ज्ञान रखनेवाले, संधि (सुलह), विग्रह (कलह), यान (चढ़ाई करना), आसन (अपने स्थानपर ही चुप्पी मारकर बैठे रहना), द्वैधीभाव (शत्रुओंमें फूट डालना) और समाश्रय (किसी बलवान् राजाका आश्रय ग्रहण करना)—राजनीतिके इन छहों अङ्गोंके उपयोगके जानकार, समस्त शास्त्रोंके निपुण विद्वान्, युद्ध और संगीतकी कलामें कुशल, सर्वत्र क्रोधरहित, इन उपर्युक्त गुणोंके सिवा और भी असंख्य सद्गुणोंसे सम्पन्न, मननशील, परम कान्तिमान् महातेजस्वी देवर्षि नारद लोक-लोकान्तरोंमें घूमते-फिरते पारिजात, बुद्धिमान् पर्वत तथा सौम्य, सुमुख आदि अन्य अनेक ऋषियोंके साथ सभामें स्थित पाण्डवोंसे प्रेमपूर्वक मिलनेके लिये मनके समान वेगसे वहाँ आये और उन ब्रह्मर्षिने जय-सूचक आशीर्वादोंद्वारा धर्मराज युधिष्ठिरका अत्यन्त सम्मान किया ॥ २—१२ ॥

तमागतमृषिं दृष्ट्वा नारदं सर्वधर्मवित् ।
सहसा पाण्डवश्रेष्ठः प्रत्युत्थायानुजैः सह ॥ १३ ॥
अभ्यवादयत प्रीत्या विनयावनतस्तदा ।
तदर्हमासनं तस्मै सम्प्रदाय यथाविधि ॥ १४ ॥
गां चैव मधुपर्कं च सम्प्रदायार्घ्यमेव च ।
अर्चयामास रत्नैश्च सर्वकामैश्च धर्मवित् ॥ १५ ॥

सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता पाण्डवश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने देवर्षि नारदको आया देख भाइयोंसहित सहसा उठकर उन्हें प्रेम,विनय और नम्रतापूर्वक उस समय नमस्कार किया और उन्हें उनके योग्य आसन देकर धर्मज्ञ नरेशने गौ, मधुपर्क तथा अर्घ्य आदि उपचार अर्पण करते हुए रत्नोंसे उनका विधिपूर्वक पूजन किया तथा उनकी सब इच्छाओंकी पूर्ति करके उन्हें संतुष्ट किया ॥ १३—१५ ॥

तुतोष च यथावच्च पूजां प्राप्य युधिष्ठिरात् ।
सोऽर्चितः पाण्डवैः सर्वैर्महर्षिर्वेदपारगः ।
धर्मकामार्थसंयुक्तं पप्रच्छेदं युधिष्ठिरम् ॥ १६ ॥

राजा युधिष्ठिरसे यथोचित पूजा पाकर नारदजी भी बहुत प्रसन्न हुए । इस प्रकार सम्पूर्ण पाण्डवोंसे पूजित होकर उन वेदवेत्ता महर्षिने युधिष्ठिरसे धर्म, काम और अर्थ तीनोंके उपदेशपूर्वक ये बातें पूछीं ॥ १६ ॥

नारद उवाच

कच्चिदर्थाश्च कल्पन्ते धर्मे च रमते मनः ।
सुखानि चानुभूयन्ते मनश्च न विहन्यते ॥ १७ ॥

नारदजी बोले—राजन् ! क्या तुम्हारा धन तुम्हारे (यज्ञ, दान तथा कुटुम्बरक्षा आदि आवश्यक कार्योंके) निर्वाहके लिये पूरा पड़ जाता है ? क्या धर्ममें तुम्हारा मन प्रसन्नतापूर्वक



लगता है ? क्या तुम्हें इच्छानुसार सुख-भोग प्राप्त होते हैं ? (भगवच्चिन्तनमें लगे हुए) तुम्हारे मनको (किन्हीं दूसरी वृत्तियों-द्वारा) आघात या विक्षेप तो नहीं पहुँचता है ? ॥ १७॥

कच्चिदाचरितं पूर्वैर्नरदेव पितामहैः ।
वर्तसे वृत्तिमक्षुद्रां धर्मार्थसहितां त्रिषु ॥ १८ ॥

नरदेव ! क्या तुम ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र—इन तीनों वर्णोंकी प्रजाओंके प्रति अपने पिता-पितामहोंद्वारा व्यवहार-में लायी हुई धर्मार्थयुक्त उत्तम एवं उदार वृत्तिका व्यवहार करते हो ? ॥ १८ ॥

कच्चिदर्थेन वा धर्मं धर्मेणार्थमथापि वा ।
उभौ वा प्रीतिसारेण न कामेन प्रबाधसे ॥ १९ ॥

तुम धनके लोभमें पड़कर धर्मको, केवल धर्ममें ही संलग्न रहकर धनको अथवा आसक्ति ही जिसका बल है, उस काम-भोगके सेवनद्वारा धर्म और अर्थ दोनोंको ही हानि तो नहीं पहुँचाते ? ॥ १९ ॥

कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतां वर ।
विभज्य काले कालज्ञः सदा वरद सेवसे ॥ २० ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ एवं वरदायक नरेश ! तुम त्रिवर्ग-सेवनके उपयुक्त समयका ज्ञान रखते हो; अतः कालका विभाग करके नियत और उचित समयपर सदा धर्म, अर्थ एवं कामका सेवन करते हो न ? ॥ २० ॥*

* दक्षस्मृतिमें त्रिवर्गसेवनका काल-विभाग इस प्रकार बताया गया है—

पूर्वाह्णे त्वाचरेद् धर्मं मध्याह्नेऽर्थमुपार्जयेत् ।
सायाह्ने चाचरेत् काममित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥

पूर्वाह्णकालमें धर्मका आचरण करे, मध्याह्नके समय धनोपार्जन-का काम देखे और सायाह्न (रात्रि) के समय कामका सेवन करे । यह वैदिक श्रुतिका आदेश है । (नीलकण्ठीसे उद्धृत)



पाण्डवोंद्वारा देवर्षि नारदका पूजन

कच्चिद् राजगुणैः षड्भिः सप्तोपायांस्तथानघ ।
बलाबलं तथा सम्यक् चतुर्दश परीक्षसे ॥ २१ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! क्या तुम राजोचित छः गुणोंके द्वारा सातों उपायोंकी, अपने और शत्रुके बलाबलकी तथा देशपाल, दुर्गपाल आदि चौदह व्यक्तियोंकी भलीभाँति परख करते रहते हो ? ॥ २१ ॥

कच्चिदात्मानमन्वीक्ष्य परांश्च जयतां वर ।
तथा संधाय कर्माणि अष्टौ भारत सेवसे ॥ २२ ॥

विजेताओंमें श्रेष्ठ भरतवंशी युधिष्ठिर ! क्या तुम अपनी और शत्रुकी शक्तिको अच्छी तरह समझकर यदि शत्रु प्रबल हुआ तो उसके साथ संधि बनाये रखकर अपने धन और कोषकी वृद्धिके लिये आठ कर्मोंका सेवन करते हो ? ॥ २२ ॥

कच्चित् प्रकृतयः सप्त न लुप्ता भरतर्षभ ।
आढ्यास्तथा व्यसनिनः स्वनुरक्ताश्च सर्वशः ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारी मन्त्री आदि सातों प्रकृतियाँ कहीं शत्रुओंमें मिल तो नहीं गयी हैं ? तुम्हारे राज्यके धनीलोग बुरे व्यसनोंसे बचे रहकर सर्वथा तुमसे प्रेम करते हैं न ? ॥

कच्चिन्न कृतकैर्दूतैर्ये चाप्यपरिशङ्किताः ।
त्वत्तो वा तव चामात्यैर्भिद्यते मन्त्रितं तथा ॥ २४ ॥

जिनपर तुम्हें संदेह नहीं होता, ऐसे शत्रुके गुप्तचर कृत्रिम मित्र बनकर तुम्हारे मन्त्रियोंद्वारा तुम्हारी गुप्त मन्त्रणाको जानकर उसे प्रकाशित तो नहीं कर देते ? ॥ २४ ॥

मित्रोदासीनशत्रूणां कच्चिद् वेत्सि चिकीर्षितम् ।
कच्चित् संधिं यथाकालं विग्रहं चोपसेवसे ॥ २५ ॥

क्या तुम मित्र, शत्रु और उदासीन लोगोंके सम्बन्धमें यह ज्ञान रखते हो कि वे कब क्या करना चाहते हैं ? उपयुक्त समयका विचार करके ही संधि और विग्रहकी नीतिका सेवन करते हो न ? ॥ २५ ॥

कच्चिद् वृत्तिमुदासीने मध्यमे चानुमन्यसे ।
कच्चिदात्मसमा वृद्धाः शुद्धाः सम्बोधनक्षमाः ॥ २६ ॥
कुलीनाश्चानुरक्ताश्च कृतास्ते वीर मन्त्रिणः ।
विजयो मन्त्रमूलो हि राज्ञो भवति भारत ॥ २७ ॥

क्या तुम्हें इस बातका अनुमान है कि उदासीन एवं मध्यम व्यक्तियोंके प्रति कैसा बर्ताव करना चाहिये ? वीर ! तुमने अपने स्वयंके समान विश्वसनीय वृद्ध, शुद्ध हृदयवाले, किसी बातको अच्छी तरह समझानेमें समर्थ, उत्तम कुलमें उत्पन्न और अपने प्रति अत्यन्त अनुराग रखनेवाले पुरुषोंको ही मन्त्री बना रक्खा है न ? क्योंकि भारत ! राजाकी विजय-प्राप्तिका मूल कारण अच्छी मन्त्रणा (सलाह) और उसकी सुरक्षा ही है, (जो सुयोग्य मन्त्रीके अधीन है) ॥२६-२७॥

कच्चित् संवृतमन्त्रैस्तैरमात्यैः शास्त्रकोविदैः ।
राष्ट्रं सुरक्षितं तात शत्रुभिर्न विलुप्यते ॥ २८ ॥

तात ! मन्त्रको गुप्त रखनेवाले उन शास्त्रज्ञ सचिवोंद्वारा तुम्हारा राष्ट्र सुरक्षित तो है न ? शत्रुओंद्वारा उसका नाश तो नहीं हो रहा है ? ॥ २८ ॥

कच्चिन्निद्रावशं नैषि कच्चित् काले विबुद्ध्यसे ।
कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थमर्थवित् ॥ २९ ॥

तुम असमयमें ही निद्राके वशीभूत तो नहीं होते ? समयपर जग जाते हो न ? अर्थशास्त्रके जानकार तो तुम हो ही। रात्रिके पिछले भागमें जगकर अपने अर्थ (आवश्यक कर्तव्य एवं हित) के विषयमें विचार तो करते हो न ? * ॥ २९ ॥

---

१. राजाओंमें छः गुण होने चाहिये—व्याख्यानशक्ति, प्रगल्भता, तर्ककुशलता, भूतकालकी स्मृति, भविष्यपर दृष्टि तथा नीतिनिपुणता ।

२. सात उपाय ये हैं- —मन्त्र, औषध, इन्द्रजाल, साम, दान, दण्ड और भेद ।

३. परीक्षाके योग्य चौदह स्थान या व्यक्ति नीतिशास्त्रमें इस प्रकार बताये गये हैं—

देशो दुर्गं रथो हस्तिवाजियोधाधिकारिणः ।
अन्तःपुरान्नगणनाशास्त्रलेख्यधनासवः ॥

देश, दुर्ग, रथ, हाथी, घोड़े, शूर सैनिक, अधिकारी, अन्तःपुर, अन्न, गणना, शास्त्र, लेख्य, धन और असु (बल), इनके जो चौदह अधिकारी हैं, राजाओंको उनकी परीक्षा करते रहना चाहिये।

४. राजाके कोष और धनकी वृद्धिके लिये आठ कर्म ये हैं—

कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम् ।
खन्याकरकरादानं शून्यानां च निवेशनम् ॥
अष्ट संधानकर्माणि प्रयुक्तानि मनीषिभिः ॥

खेतीका विस्तार, व्यापारकी रक्षा, दुर्गकी रचना एवं रक्षा, पुलोंका निर्माण और उनकी रक्षा, हाथी बाँधना, सोने-हीरे आदि-की खानोंपर अधिकार करना, करकी वसूली और उजाड़ प्रान्तोंमें लोगोंको बसाना—मनीषी पुरुषोंद्वारा ये आठ संधानकर्म बताये गये हैं ।

५. स्वामी, मन्त्री, मित्र, कोष, राष्ट्र, दुर्ग तथा सेना एवं पुरवासी—ये राज्यके सात अङ्ग ही सात प्रकृतियाँ हैं । अथवा— दुर्गाध्यक्ष, बलाध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, सेनापति, पुरोहित, वैद्य और ज्योतिषी—ये भी सात प्रकृतियाँ कही गयी हैं ।

* स्मृतिमें कहा है कि—'ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय चिन्तयेदात्मनो हितम् ।'

अर्थात् ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर अपने हितका चिन्तन करे ।

(नीलकण्ठी टीकासे उद्धृत)

कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह ।
कच्चित् ते मन्त्रितो मन्त्रो न राष्ट्रं परिधावति ॥ ३० ॥

(कोई भी गुप्त मन्त्रणा दोसे चार कानोंतक ही गुप्त रहती है, छः कानोंमें जाते ही वह फूट जाती है, अतः मैं पूछता हूँ,) तुम किसी गूढ़ विषयपर अकेले ही तो विचार नहीं करते अथवा बहुत लोगोंके साथ बैठकर तो मन्त्रणा नहीं करते ? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम्हारी निश्चित की हुई गुप्त मन्त्रणा फूटकर शत्रुके राज्यतक फैल जाती हो ? ॥ ३० ॥

कच्चिदर्थान् विनिश्चित्य लघुमूलान् महोदयान् ।
क्षिप्रमारभसे कर्तुं न विघ्नयसि तादृशान् ॥ ३१ ॥

धनकी वृद्धिके ऐसे उपायोंका निश्चय करके, जिनमें मूलधन तो कम लगाना पड़ता हो, किंतु वृद्धि अधिक होती हो, उनका शीघ्रतापूर्वक आरम्भ कर देते हो न ? वैसे कार्योंमें अथवा वैसा कार्य करनेवाले लोगोंके मार्गमें तुम विघ्न तो नहीं डालते ? ॥ ३१ ॥

कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः परोक्षास्ते विशङ्किताः ।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टाः संसृष्टं चात्र कारणम् ॥ ३२ ॥

तुम्हारे राज्यके किसान—मजदूर आदि श्रमजीवी मनुष्य तुमसे अज्ञात तो नहीं हैं ? उनके कार्य और गति-विधिपर तुम्हारी दृष्टि है न ? वे तुम्हारे अविश्वासके पात्र तो नहीं हैं अथवा तुम उन्हें बार-बार छोड़ते और पुनः कामपर लेते तो नहीं रहते ? क्योंकि महान् अभ्युदय या उन्नतिमें उन सबका स्नेहपूर्ण सहयोग ही कारण है। (क्योंकि चिरकालसे अनुगृहीत होनेपर ही वे ज्ञात, विश्वासपात्र और स्वामीके प्रति अनुरक्त होते हैं) ॥ ३२ ॥

आप्तैरलुब्धैः क्रमिकैस्ते च कच्चिदनुष्ठिताः ।
कच्चिद् राजन् कृतान्येव कृतप्रायाणि वा पुनः ॥ ३३ ॥
विदुस्ते वीर कर्माणि नानवाप्तानि कानिचित् ।

कृषि आदिके कार्य विश्वसनीय, लोभरहित और बड़े-बूढ़ोंके समयसे चले आनेवाले कार्यकर्ताओंद्वारा ही कराते हो न ? राजन् ! वीरशिरोमणे ! क्या तुम्हारे कार्योंके सिद्ध हो जानेपर या सिद्धिके निकट पहुँच जानेपर ही लोग जान पाते हैं ? सिद्ध होनेसे पहले ही तुम्हारे किन्हीं कार्योंको लोग जान तो नहीं लेते ॥ ३३½ ॥

कच्चित् कारणिका धर्मे सर्वशास्त्रेषु कोविदाः ।
कारयन्ति कुमारांश्च योधमुख्यांश्च सर्वशः ॥ ३४ ॥

तुम्हारे यहाँ जो शिक्षा देनेका काम करते हैं, वे धर्म एवं सम्पूर्ण शास्त्रोंके मर्मज्ञ विद्वान् होकर ही राजकुमारों तथा मुख्य-मुख्य योद्धाओंको सब प्रकारकी आवश्यक शिक्षाएँ देते हैं न ? ॥

कच्चित् सहस्रैर्मूर्खाणामेकं क्रीणासि पण्डितम् ।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं परम् ॥ ३५ ॥

तुम हजारों मूर्खोंके बदले एक पण्डितको ही तो खरीदते हो न ? अर्थात् आदरपूर्वक स्वीकार करते हो न ? क्योंकि विद्वान् पुरुष ही अर्थसंकटके समय महान् कल्याण कर सकता है ॥ ३५ ॥

कच्चिद् दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः ।
यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः ॥ ३६ ॥

क्या तुम्हारे सभी दुर्ग (किले) धन-धान्य, अस्त्र-शस्त्र, जल, यन्त्र (मशीन), शिल्पी और धनुर्धर सैनिकोंसे भरे-पूरे रहते हैं ? ॥ ३६ ॥

एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दान्तो विचक्षणः ।
राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ॥ ३७ ॥

यदि एक भी मन्त्री मेधावी, शौर्यसम्पन्न, संयमी और चतुर हो तो राजा अथवा राजकुमारको विपुल सम्पत्तिकी प्राप्ति करा देता है ॥ ३७ ॥

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च ।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ॥ ३८ ॥

क्या तुम शत्रुपक्षके अठारह[1] और अपने पक्षके पंद्रह[2] तीर्थोंकी तीन-तीन अज्ञात गुप्तचरोंद्वारा देख-भाल या जाँच-पड़ताल करते रहते हो ? ॥ ३८ ॥

कच्चिद् द्विषामविदितः प्रतिपन्नश्च सर्वदा ।
नित्ययुक्तो रिपून् सर्वान् वीक्षसे रिपुसूदन ॥ ३९ ॥

शत्रुसूदन ! तुम शत्रुओंसे अज्ञात, सतत सावधान और नित्य प्रयत्नशील रहकर अपने सम्पूर्ण शत्रुओंकी गति-विधिपर दृष्टि रखते हो न ? ॥ ३९ ॥

कच्चिद् विनयसम्पन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः ।
अनसूयुरनुप्रष्टा सत्कृतस्ते पुरोहितः ॥ ४० ॥

क्या तुम्हारे पुरोहित विनयशील, कुलीन, बहुज्ञ, विद्वान्, दोषदृष्टिसे रहित तथा शास्त्रचर्चामें कुशल हैं ? क्या तुम उनका पूर्ण सत्कार करते हो ? ॥ ४० ॥

---

१. शत्रुपक्षके मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अन्तर्वेशिक (अन्तःपुरका अध्यक्ष), कारागाराध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, यथायोग्य कार्योंमें धनको व्यय करनेवाला सचिव, प्रदेष्टा (पहरेदारोंको काम बतानेवाला), नगराध्यक्ष (कोतवाल), कार्यनिर्माणकर्ता (शिल्पियोंका परिचालक), धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, राष्ट्रसीमापाल तथा वनरक्षक—ये अठारह तीर्थ हैं, जिनपर राजाको दृष्टि रखनी चाहिये ।

२. उपर्युक्त टिप्पणीमें अठारह तीर्थोंमेंसे आदिके तीनको छोड़कर शेष पंद्रह तीर्थ अपने पक्षके भी सदा परीक्षणीय हैं ।

कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः ।
हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा ॥ ४१ ॥

तुमने अग्निहोत्रके लिये विधिज्ञ, बुद्धिमान् और सरल स्वभावके ब्राह्मणको नियुक्त किया है न ? वह सदा किये हुए और किये जानेवाले हवनको तुम्हें ठीक समयपर सूचित कर देता है न ? ॥ ४१ ॥

कच्चिदङ्गेषु निष्णातो ज्योतिषः प्रतिपादकः ।
उत्पातेषु च सर्वेषु दैवज्ञः कुशलस्तव ॥ ४२ ॥

क्या तुम्हारे यहाँ हस्त-पादादि अङ्गोंकी परीक्षामें निपुण, ग्रहोंकी वक्र तथा अतिचार आदि गतियों एवं उनके शुभाशुभ परिणाम आदिको बतानेवाला तथा दिव्य, भौम एवं शरीरसम्बन्धी सब प्रकारके उत्पातोंको पहलेसे ही जान लेनेमें कुशल ज्योतिषी है ? ॥

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ।
जघन्याश्च जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः ॥ ४३ ॥

तुमने प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंको उनके योग्य महान् कार्योंमें, मध्यम श्रेणीके कार्यकर्ताओंको मध्यम कार्योंमें तथा निम्न श्रेणीके सेवकोंको उनकी योग्यताके अनुसार छोटे कामोंमें ही लगा रक्खा है न ? ॥ ४३ ॥

अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्छुचीन् ।
श्रेष्ठाञ्छ्रेष्ठेषु कच्चित् त्वं नियोजयसि कर्मसु ॥ ४४ ॥

क्या तुम निश्छल, बाप-दादोंके क्रमसे चले आये हुए और पवित्र आचार-विचारवाले श्रेष्ठ मन्त्रियोंको सदा श्रेष्ठ कर्मोंमें लगाये रखते हो ? ॥ ४४ ॥

कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्विजसे प्रजाः ।
राष्ट्रं तवानुशासन्ति मन्त्रिणो भरतर्षभ ॥ ४५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कठोर दण्डके द्वारा तुम प्रजाजनोंको अत्यन्त उद्वेगमें तो नहीं डाल देते ? मन्त्रीलोग तुम्हारे राज्यका न्यायपूर्वक पालन करते हैं न ? ॥ ४५ ॥

कच्चित् त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं यथा ।
उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ॥ ४६ ॥

जैसे पवित्र याजक पतित यजमानका और स्त्रियाँ कामचारी पुरुषका तिरस्कार कर देती हैं, उसी प्रकार प्रजा कठोरतापूर्वक अधिक कर लेनेके कारण तुम्हारा अनादर तो नहीं करती ? ॥ ४६ ॥

कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च मतिमान् धृतिमाञ्छुचिः ।
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिस्तथा ॥ ४७ ॥

क्या तुम्हारा सेनापति हर्ष और उत्साहसे सम्पन्न, शूर-वीर, बुद्धिमान्, धैर्यवान्, पवित्र, कुलीन, स्वामिभक्त तथा अपने कार्यमें कुशल है ! ॥ ४७ ॥

कच्चिद् बलस्य ते मुख्याः सर्वयुद्धविशारदाः ।
धृष्टावदाता विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥ ४८ ॥

तुम्हारी सेनाके मुख्य-मुख्य दलपति सब प्रकारके युद्धोंमें चतुर, धृष्ट (निर्भय), निष्कपट और पराक्रमी हैं न ? तुम उनका यथोचित सत्कार एवं सम्मान करते हो न ? ॥ ४८ ॥

कच्चिद् बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम् ।
सम्प्राप्तकाले दातव्यं ददासि न विकर्षसि ॥ ४९ ॥

अपनी सेनाके लिये यथोचित भोजन और वेतन ठीक समयपर दे देते हो न ? जो उन्हें दिया जाना चाहिये, उसमें कमी या विलम्ब तो नहीं कर देते ? ॥ ४९ ॥

कालातिक्रमणादेते भक्तवेतनयोर्भृताः ।
भर्तुः कुप्यन्ति यद्‌भृत्याः सोऽनर्थः सुमहान् स्मृतः ॥ ५० ॥

भोजन और वेतनमें अधिक विलम्ब होनेपर भृत्यगण अपने स्वामीपर कुपित हो जाते हैं और उनका वह कोप महान् अनर्थका कारण बताया गया है ॥ ५० ॥

कच्चित् सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः ।
कच्चित् प्राणांस्तवार्थेषु संत्यजन्ति सदा युधि ॥ ५१ ॥

क्या उत्तम कुलमें उत्पन्न मन्त्री आदि सभी प्रधान अधिकारी तुमसे प्रेम रखते हैं ? क्या वे युद्धमें तुम्हारे हितके लिये अपने प्राणोंतकका त्याग करनेको सदा तैयार रहते हैं ? ॥

कच्चिन्नैको बहूनर्थान् सर्वशः साम्परायिकान् ।
अनुशास्ति यथाकामं कामात्मा शासनातिगः ॥ ५२ ॥

तुम्हारे कर्मचारियोंमें कोई ऐसा तो नहीं है, जो अपनी इच्छाके अनुसार चलनेवाला और तुम्हारे शासनका उल्लङ्घन करनेवाला हो तथा युद्धके सारे साधनों एवं कार्योंको अकेला ही अपनी रुचिके अनुसार चला रहा हो ? ॥ ५२ ॥

कच्चित् पुरुषकारेण पुरुषः कर्म शोभयन् ।
लभते मानमधिकं भूयो वा भक्तवेतनम् ॥ ५३ ॥

(तुम्हारे यहाँ काम करनेवाला) कोई पुरुष अपने पुरुषार्थसे जब किसी कार्यको अच्छे ढंगसे सम्पन्न करता है, तब वह आपसे अधिक सम्मान अथवा अधिक भत्ता और वेतन पाता है न ? ॥

कच्चिद् विद्याविनीतांश्च नराञ्ज्ञानविशारदान् ।
यथार्हं गुणतश्चैव दानेनाभ्युपपद्यसे ॥ ५४ ॥

क्या तुम विद्यासे विनयशील एवं ज्ञाननिपुण मनुष्योंको उनके गुणोंके अनुसार यथायोग्य धन आदि देकर उनका सम्मान करते हो ? ॥ ५४ ॥

कच्चिद् दारान्मनुष्याणां तवार्थे मृत्युमीयुषाम् ।
व्यसनं चाभ्युपेतानां बिभर्षि भरतर्षभ ॥ ५५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो लोग तुम्हारे हितके लिये सहर्ष मृत्युका वरण कर लेते हैं अथवा भारी संकटमें पड़ जाते हैं, उनके बाल-बच्चोंकी रक्षा तुम करते हो न ? ॥ ५५ ॥

कच्चिद् भयादुपगतं क्षीणं वा रिपुमागतम्।
युद्धे वा विजितं पार्थ पुत्रवत् परिरक्षसि ॥ ५६ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो भयसे अथवा अपनी धन-सम्पत्तिका नाश होनेसे तुम्हारी शरणमें आया हो या युद्धमें तुमसे परास्त हो गया हो, ऐसे शत्रुका तुम पुत्रके समान पालन करते हो या नहीं ? ॥ ५६ ॥

कच्चित् त्वमेव सर्वस्याः पृथिव्याः पृथिवीपते।
समश्चानभिशङ्क्यश्च यथा माता यथा पिता ॥ ५७॥

पृथ्वीपते ! क्या समस्त भूमण्डलकी प्रजा तुम्हें ही समदर्शी एवं माता-पिताके समान विश्वसनीय मानती है ? ॥ ५७ ॥

कच्चिद् व्यसनिनं शत्रुं निशम्य भरतर्षभ।
अभियासि जवेनैव समीक्ष्य त्रिविधं बलम् ॥ ५८ ॥

भरतकुलभूषण ! क्या तुम अपने शत्रुको (स्त्री-द्यूत आदि) दुर्व्यसनोंमें फँसा हुआ सुनकर उसके त्रिविध बल (मन्त्र, कोष एवं भृत्य-बल अथवा प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति एवं उत्साहशक्ति) पर विचार करके यदि वह दुर्बल हो तो उसके ऊपर बड़े वेगसे आक्रमण कर देते हो ? ॥ ५८ ॥

यात्रामारभसे दिष्ट्या प्राप्तकालमरिंदम।
पार्ष्णिमूलं च विज्ञाय व्यवसायं पराजयम्।
बलस्य च महाराज दत्त्वा वेतनमग्रतः ॥ ५९ ॥

शत्रुदमन ! क्या तुम पार्ष्णिग्राह आदि बारह[1] व्यक्तियोंके मण्डल (समुदाय) को जानकर अपने कर्तव्यका[2] निश्चय करके और पराजयमूलक व्यसनोंका[3] अपने पक्षमें अभाव तथा शत्रुपक्षमें आधिक्य देखकर उचित अवसर आनेपर दैवका भरोसा करके अपने सैनिकोंको अग्रिम वेतन देकर शत्रुपर चढ़ाई कर देते हो ? ॥ ५९ ॥

कच्चिच्च बलमुख्येभ्यः परराष्ट्रे परंतप।
उपच्छन्नानि रत्नानि प्रयच्छसि यथार्हतः ॥ ६० ॥

परंतप ! शत्रुके राज्यमें जो प्रधान-प्रधान योद्धा हैं, उन्हें छिपे-छिपे यथायोग्य रत्न आदि भेंट करते रहते हो या नहीं ? ॥ ६० ॥

कच्चिदात्मानमेवाग्रे विजित्य विजितेन्द्रियः।
परान् जिगीषसे पार्थ प्रमत्तानजितेन्द्रियान् ॥ ६१ ॥

कुन्तीनन्दन ! क्या तुम पहले अपनी इन्द्रियों और मनको जीतकर ही प्रमादमें पड़े हुए अजितेन्द्रिय शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करते हो ? ॥ ६१ ॥

कच्चित् ते यास्यतः शत्रून् पूर्वं यान्ति स्वनुष्ठिताः।
साम दानं च भेदश्च दण्डश्च विधिवद् गुणाः ॥ ६२ ॥

शत्रुओंपर तुम्हारे आक्रमण करनेसे पहले अच्छी तरह प्रयोगमें लाये हुए तुम्हारे साम, दान, भेद और दण्ड—ये चार गुण विधिपूर्वक उन शत्रुओंतक पहुँच जाते हैं न ? (क्योंकि शत्रुओंको वशमें करनेके लिये इनका प्रयोग आवश्यक है।) ॥ ६२ ॥

कच्चिन्मूलं दृढं कृत्वा परान् यासि विशाम्पते।
तांश्च विक्रमसे जेतुं जित्वा च परिरक्षसि ॥ ६३ ॥

महाराज ! तुम अपने राज्यकी नींवको दृढ़ करके शत्रुओंपर धावा करते हो न ? उन शत्रुओंको जीतनेके लिये पूरा पराक्रम प्रकट करते हो न ? और उन्हें जीतकर उनकी पूर्णरूपसे रक्षा तो करते रहते हो न ? ॥ ६३ ॥

कच्चिदष्टाङ्गसंयुक्ता चतुर्विधबला चमूः।
बलमुख्यैः सुनीता ते द्विषतां प्रतिवर्धिनी ॥ ६४ ॥

क्या धनरक्षक, द्रव्यसंग्राहक, चिकित्सक, गुप्तचर, पाचक, सेवक, लेखक और प्रहरी—इन आठ अङ्गों और हाथी, घोड़े, रथ एवं पैदल—इन चार* प्रकारके बलोंसे युक्त तुम्हारी सेना सुयोग्य सेनापतियोंद्वारा अच्छी तरह संचालित होकर शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ होती है ? ॥ ६४ ॥

---

१. विजयके इच्छुक राजाके आगे खड़े होनेवाले उसके शत्रुके शत्रु २, उन शत्रुओंके मित्र २, उन मित्रोंके मित्र २—ये छः व्यक्ति युद्धमें आगे खड़े होते हैं। विजिगीषुके पीछे पार्ष्णिग्राह (पृष्ठरक्षक) और आक्रन्द (उत्साह दिलानेवाला)—ये दो व्यक्ति खड़े होते हैं। इन दोनोंकी सहायता करनेवाले एक-एक व्यक्ति इनके पीछे खड़े होते हैं, जिनकी आसार संज्ञा है। ये क्रमशः पार्ष्णिग्राहासार और आक्रन्दासार कहे जाते हैं। इस प्रकार आगेके छः और पीछेके चार मिलकर दस होते हैं। विजिगीषुके पार्श्वभागमें मध्यम और उसके भी पार्श्वभागमें उदासीन होता है। इन दोनोंको जोड़ लेनेसे इन सबकी संख्या बारह होती है। इन्हींको द्वादश राजमण्डल अथवा 'पार्ष्णिमूल' कहते हैं। अपने और शत्रुपक्षके इन व्यक्तियोंको जानना चाहिये।

२. नीतिशास्त्रके अनुसार विजयकी इच्छा रखनेवाले राजाको चाहिये कि वह शत्रुपक्षके सैनिकोंमेंसे जो लोभी हो, किंतु जिसे वेतन न मिला हो, जो मानी हो किंतु किसी तरह अपमानित हो गया हो, जो क्रोधी हो और उसे क्रोध दिलाया गया हो, जो स्वभावसे ही डरनेवाला हो और उसे पुनः डरा दिया गया हो—इन चार प्रकारके लोगोंको फोड़ ले और अपने पक्षमें ऐसे लोग हों, तो उन्हें उचित सम्मान देकर मिला ले।

३. व्यसन दो प्रकारके हैं—दैव और मानुष। दैव व्यसन पाँच प्रकारके हैं—अग्नि, जल, व्याधि, दुर्भिक्ष और महामारी। मानुष व्यसन भी पाँच प्रकारका है—मूर्ख पुरुषोंसे, चोरोंसे, शत्रुओंसे, राजाके प्रिय व्यक्तिसे तथा राजाके लोभसे प्रजाको प्राप्त भय।

[नीलकंठी टीकाके अनुसार]

* आठ अङ्ग और चार बल भारतकौमुदीटीकाके अनुसार लिये गये हैं।

कच्चिल्लवं च मुष्टिं च परराष्ट्रे परंतप ।
अविहाय महाराज निहंसि समरे रिपून् ॥ ६५ ॥

शत्रुओंको संतप्त करनेवाले महाराज ! तुम शत्रुओंके राज्यमें अनाज काटने और दुर्भिक्षके समयकी उपेक्षा न करके रणभूमिमें शत्रुओंको मारते हो न ? ॥ ६५ ॥

कच्चित् स्वपरराष्ट्रेषु बहवोऽधिकृतास्तव ।
अर्थान् समधितिष्ठन्ति रक्षन्ति च परस्परम् ॥ ६६ ॥

क्या अपने और शत्रुके राष्ट्रोंमें तुम्हारे बहुत-से अधिकारी स्थान-स्थानमें घूम-फिरकर प्रजाको वशमें करने एवं कर लेने आदि प्रयोजनोंको सिद्ध करते हैं और परस्पर मिलकर राष्ट्र एवं अपने पक्षके लोगोंकी रक्षामें लगे रहते हैं ?॥ ६६ ॥

कच्चिदभ्यवहार्याणि गात्रसंस्पर्शनानि च ।
घ्रेयाणि च महाराज रक्षन्त्यनुमतास्तव ॥ ६७ ॥

महाराज ! तुम्हारे खाद्य पदार्थ, शरीरमें धारण करनेके वस्त्र आदि तथा सूँघनेके उपयोगमें आनेवाले सुगन्धित द्रव्योंकी रक्षा विश्वस्त पुरुष ही करते हैं न ? ॥ ६७ ॥

कच्चित् कोषश्च कोष्ठं च वाहनं द्वारमायुधम् ।
आयश्च कृतकल्याणैस्तव भक्तैरनुष्ठितः ॥ ६८ ॥

तुम्हारे कल्याणके लिये सदा प्रयत्नशील रहनेवाले, स्वामि-भक्त मनुष्योंद्वारा ही तुम्हारे धन-भण्डार, अन्न-भण्डार, वाहन, प्रधान द्वार, अस्त्र-शस्त्र तथा आयके साधनोंकी रक्षा एवं देख-भाल की जाती है न ? ॥ ६८ ॥

कच्चिदाभ्यन्तरेभ्यश्च बाह्येभ्यश्च विशाम्पते ।
रक्षस्यात्मानमेवाग्रे तांश्च स्वेभ्यो मिथश्च तान् ॥६९॥

प्रजापालक नरेश ! क्या तुम रसोइये आदि भीतरी सेवकों तथा सेनापति आदि बाह्य सेवकोंद्वारा भी पहले अपनी ही रक्षा करते हो, फिर आत्मीय जनोंद्वारा एवं परस्पर एक-दूसरेसे उन सबकी रक्षापर भी ध्यान देते हो ? ॥ ६९ ॥

कच्चिन्न पाने द्यूते वा क्रीडासु प्रमदासु च ।
प्रतिजानन्ति पूर्वाह्णे व्ययं व्यसनजं तव ॥ ७० ॥

तुम्हारे सेवक पूर्वाह्णकालमें (जो कि धर्माचरणका समय है) तुमसे मद्यपान, द्यूत, क्रीड़ा और युवती स्त्री आदि दुर्व्यसनोंमें तुम्हारा समय और धनको व्यर्थ नष्ट करनेके लिये प्रस्ताव तो नहीं करते ? ॥ ७० ॥

कच्चिदायस्य चार्धेन चतुर्भागेन वा पुनः ।
पादभागैस्त्रिभिर्वापि व्ययः संशुद्ध्यते तव ॥ ७१ ॥

क्या तुम्हारी आयके एक चौथाई या आधे अथवा तीन चौथाई भागसे तुम्हारा सारा खर्च चल जाता है ? ॥ ७१ ॥

कच्चिज्ज्ञातीन् गुरून् वृद्धान् वणिजः शिल्पिनः श्रितान् ।
अभीक्ष्णमनुगृह्णासि धनधान्येन दुर्गतान् ॥ ७२ ॥

तुम अपने आश्रित कुटुम्बके लोगों, गुरुजनों, बड़े-बूढ़ों, व्यापारियों, शिल्पियों तथा दीन-दुखियोंको धन-धान्य देकर उनपर सदा अनुग्रह करते रहते हो न ? ॥ ७२ ॥

कच्चिच्चायव्यये युक्ताः सर्वे गणकलेखकाः ।
अनुतिष्ठन्ति पूर्वाह्णे नित्यमायं व्ययं तव ॥ ७३ ॥

तुम्हारी आमदनी और खर्चको लिखने और जोड़नेके काममें लगाये हुए सभी लेखक और गणक प्रतिदिन पूर्वाह्णकालमें तुम्हारे सामने अपना हिसाब पेश करते हैं न ?॥७३॥

कच्चिदर्थेषु सम्प्रौढान् हितकामाननुप्रियान् ।
नापकर्षसि कर्मभ्यः पूर्वमप्राप्य किल्बिषम् ॥ ७४ ॥

किन्हीं कार्योंमें नियुक्त किये हुए प्रौढ़, हितैषी एवं प्रिय कर्मचारियोंको पहले उनके किसी अपराधको जाँच किये बिना तुम कामसे अलग तो नहीं कर देते हो ? ॥ ७४ ॥

कच्चिद् विदित्वा पुरुषानुत्तमाधममध्यमान् ।
त्वं कर्मस्वनुरूपेषु नियोजयसि भारत ॥ ७५ ॥

भारत ! तुम उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणीके मनुष्योंको पहचानकर उन्हें उनके अनुरूप कार्योंमें ही लगाते हो न ? ॥ ७५ ॥

कच्चिन्न लुब्धाश्चौरा वा वैरिणो वा विशाम्पते ।
अप्राप्तव्यवहारा वा तव कर्मस्वनुष्ठिताः ॥ ७६ ॥

राजन् ! तुमने ऐसे लोगोंको तो अपने कामोंपर नहीं लगा रक्खा है ? जो लोभी, चोर, शत्रु अथवा व्यावहारिक अनुभवसे सर्वथा शून्य हों ? ॥ ७६ ॥

कच्चिन्न चौरैर्लुब्धैर्वा कुमारैः स्त्रीबलेन वा ।
त्वया वा पीड्यते राष्ट्रं कच्चित् तुष्टाः कृषीवलाः॥ ७७ ॥

चोरों, लोभियों, राजकुमारों या राजकुलकी स्त्रियोंद्वारा अथवा स्वयं तुमसे ही तुम्हारे राष्ट्रको पीड़ा तो नहीं पहुँच रही है ? क्या तुम्हारे राज्यके किसान संतुष्ट हैं ? ॥ ७७ ॥

कच्चिद् राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहन्ति च ।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका ॥ ७८ ॥

क्या तुम्हारे राज्यके सभी भागोंमें जलसे भरे हुए बड़े-बड़े तालाब बनवाये गये हैं ? केवल वर्षाके पानीके भरोसे ही तो खेती नहीं होती है ? ॥ ७८ ॥

कच्चिन्न भक्तं बीजं च कर्षकस्यावसीदति ।
प्रत्येकं च शतं वृद्ध्या ददास्यृणमनुग्रहम् ॥ ७९ ॥

तुम्हारे राज्यके किसानका अन्न या बीज तो नष्ट नहीं होता ? क्या तुम प्रत्येक किसानपर अनुग्रह करके उसे एक रुपया सैकड़े ब्याजपर ऋण देते हो ? ॥ ७९ ॥

कच्चित् स्वनुष्ठिता तात वार्ता ते साधुभिर्जनैः ।
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ॥ ८० ॥

तात ! तुम्हारे राष्ट्रमें अच्छे पुरुषोंद्वारा वार्ता — कृषि, गोरक्षा तथा व्यापारका काम अच्छी तरह किया जाता है न? क्योंकि उपर्युक्त वार्तावृत्तिपर अवलम्बित रहनेवाले लोग ही सुखपूर्वक उन्नति करते हैं ॥ ८० ॥

कच्चिच्छूराः कृतप्रज्ञाः पञ्च पञ्च स्वनुष्ठिताः ।
क्षेमं कुर्वन्ति संहत्य राजञ्जनपदे तव ॥ ८१ ॥

राजन् ! क्या तुम्हारे जनपदके प्रत्येक गाँवमें शूरवीर, बुद्धिमान् और कार्यकुशल पाँच-पाँच पञ्च मिलकर सुचारुरूपसे जनहितके कार्य करते हुए सबका कल्याण करते हैं ? ॥ ८१ ॥

कच्चिन्नगरगुप्त्यर्थं ग्रामा नगरवत् कृताः ।
ग्रामवच्च कृताः प्रान्तास्ते च सर्वे त्वदर्पणाः ॥ ८२ ॥

क्या नगरोंकी रक्षाके लिये गाँवोंको भी नगरके ही समान बहुत-से शूरवीरोंद्वारा सुरक्षित कर दिया गया है ? सीमावर्ती गाँवोंको भी अन्य गाँवोंकी भाँति सभी सुविधाएँ दी गयी हैं ? तथा क्या वे सभी प्रान्त, ग्राम और नगर तुम्हें (कर-रूपमें एकत्र किया हुआ) धन समर्पित करते हैं* ? ॥ ८२ ॥

कच्चिद् बलेनानुगताः समानि विषमाणि च ।
पुराणि चौरान् निघ्नन्तश्चरन्ति विषये तव ॥ ८३ ॥

क्या तुम्हारे राज्यमें कुछ रक्षक पुरुष सेना साथ लेकर चोर-डाकुओंका दमन करते हुए सुगम एवं दुर्गम नगरोंमें विचरते रहते हैं ? ॥ ८३ ॥

कच्चित् स्त्रियः सान्त्वयसि कच्चित् ताश्च सुरक्षिताः ।
कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद् गुह्यं न भाषसे ॥ ८४ ॥

तुम स्त्रियोंको सान्त्वना देकर संतुष्ट रखते हो न ? क्या वे तुम्हारे यहाँ पूर्णरूपसे सुरक्षित हैं ? तुम उनपर पूरा विश्वास तो नहीं करते ? और विश्वास करके उन्हें कोई गुप्त बात तो नहीं बता देते ? ॥ ८४ ॥

कच्चिदात्ययिकं श्रुत्वा तदर्थमनुचिन्त्य च ।
प्रियाण्यनुभवञ्छेषे न त्वमन्तःपुरे नृप ॥ ८५ ॥

राजन् ! तुम कोई अमङ्गलसूचक समाचार सुनकर और उसके विषयमें बार-बार विचार करके भी प्रिय भोग-विलासोंका आनन्द लेते हुए अन्तःपुरमें ही सोते तो नहीं रह जाते ? ॥ ८५ ॥

कच्चिद् द्वौ प्रथमौ यामौ रात्रेः सुप्त्वा विशाम्पते ।
संचिन्तयसि धर्मार्थौ याम उत्थाय पश्चिमे ॥ ८६ ॥

प्रजानाथ ! क्या तुम रात्रिके (पहले पहरके बाद) जो प्रथम दो (दूसरे-तीसरे) याम हैं, उन्हींमें सोकर अन्तिम पहरमें उठकर बैठ जाते और धर्म एवं अर्थका चिन्तन करते हो ? ॥ ८६ ॥

कच्चिदर्थयसे नित्यं मनुष्यान् समलंकृतः ।
उत्थाय काले कालज्ञैः सह पाण्डव मन्त्रिभिः ॥ ८७ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम प्रतिदिन समयपर उठकर स्नान आदिके पश्चात् वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो देश-कालके ज्ञाता मन्त्रियोंके साथ बैठकर (प्रार्थी या दर्शनार्थी) मनुष्योंकी इच्छा पूर्ण करते हो न ? ॥ ८७ ॥

कच्चिद् रक्ताम्बरधराः खड्गहस्ताः स्वलंकृताः ।
उपासते त्वामभितो रक्षणार्थमरिंदम ॥ ८८ ॥

शत्रुदमन ! क्या लाल वस्त्र धारण करके अलंकारोंसे अलंकृत हुए योद्धा अपने हाथोंमें तलवार लेकर तुम्हारी रक्षाके लिये सब ओरसे सेवामें उपस्थित रहते हैं ? ॥ ८८ ॥

कच्चिद् दण्ड्येषु यमवत् पूज्येषु च विशाम्पते ।
परीक्ष्य वर्तसे सम्यगप्रियेषु प्रियेषु च ॥ ८९ ॥

महाराज ! क्या तुम दण्डनीय अपराधियोंके प्रति यमराज और पूजनीय पुरुषोंके प्रति धर्मराजका-सा बर्ताव करते हो ? प्रिय एवं अप्रिय व्यक्तियोंकी भलीभाँति परीक्षा करके ही व्यवहार करते हो न ? ॥ ८९ ॥

कच्चिच्छारीरमाबाधमौषधैर्नियमेन वा ।
मानसं वृद्धसेवाभिः सदा पार्थापकर्षसि ॥ ९० ॥

कुन्तीकुमार ! क्या तुम ओषधिसेवन या पथ्य-भोजन आदि नियमोंके पालनद्वारा अपने शारीरिक कष्टको तथा वृद्ध पुरुषोंकी सेवारूप सत्सङ्गद्वारा मानसिक संतापको सदा दूर करते रहते हो ? ॥ ९० ॥

कच्चिद् वैद्याश्चिकित्सायामष्टाङ्गायां विशारदाः ।
सुहृदश्चानुरक्ताश्च शरीरे ते हिताः सदा ॥ ९१ ॥

तुम्हारे वैद्य अष्टाङ्गचिकित्सामें * कुशल, हितैषी, प्रेमी एवं तुम्हारे शरीरको स्वस्थ रखनेके प्रयत्नमें सदा संलग्न रहनेवाले हैं न ? ॥ ९१ ॥

कच्चिन्न लोभान्मोहाद् वा मानाद् वापि विशाम्पते ।
अर्थिप्रत्यर्थिनः प्राप्तान् न पश्यसि कथंचन ॥ ९२ ॥

नरेश्वर ! कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम अपने यहाँ आये हुए अर्थी (याचक) और प्रत्यर्थी (राजाकी ओरसे मिली हुई वृत्ति बंद हो जानेसे दुखी हो पुनः उसीको पानेके लिये प्रार्थी) की ओर लोभ, मोह अथवा अभिमानवश किसी प्रकार आँख उठाकर देखतेतक नहीं ? ॥ ९२ ॥

कच्चिन्न लोभान्मोहाद् वा विश्रम्भात् प्रणयेन वा ।
आश्रितानां मनुष्याणां वृत्तिं त्वं संरुणत्सि वै ॥ ९३ ॥

* सीमावर्ती गाँवका अधिपति अपने यहाँका राजकीय कर एकत्र करके ग्रामाधिपतिको दे, ग्रामाधिपति नगराधिपतिको, वह देशाधिपतिको और देशाधिपति साक्षात् राजाको वह धन अर्पित करे ।

* नाड़ी, मल, मूत्र, जिह्वा, नेत्र, रूप, शब्द तथा स्पर्श—ये आठ चिकित्साके प्रकार कहे जाते हैं ।

कहीं अपने आश्रित जनोंकी जीविकावृत्तिको तुम लोभ, मोह, आत्मविश्वास अथवा आसक्तिसे बंद तो नहीं कर देते ? ॥ ९३ ॥

कच्चित् पौरा न सहिता ये च ते राष्ट्रवासिनः।
त्वया सह विरुध्यन्ते परैः क्रीताः कथंचन ॥ ९४ ॥

तुम्हारे नगर तथा राष्ट्रके निवासी मनुष्य संगठित होकर तुम्हारे साथ विरोध तो नहीं करते ? शत्रुओंने उन्हें किसी तरह घूस देकर खरीद तो नहीं लिया है ? ॥ ९४ ॥

कच्चिन्न दुर्बलः शत्रुर्बलेन परिपीडितः।
मन्त्रेण बलवान् कश्चिदुभाभ्यां च कथंचन ॥ ९५ ॥

कोई दुर्बल शत्रु जो तुम्हारे द्वारा पहले बलपूर्वक पीड़ित किया गया (किंतु मारा नहीं गया), अब मन्त्रणाशक्तिसे अथवा मन्त्रणा और सेना दोनों ही शक्तियोंसे किसी तरह बलवान् होकर सिर तो नहीं उठा रहा है ? ॥ ९५ ॥

कच्चित् सर्वेऽनुरक्तास्त्वां भूमिपालाः प्रधानतः।
कच्चित् प्राणांस्त्वदर्थेषु संत्यजन्ति त्वयाऽऽदृताः॥ ९६ ॥

क्या सभी मुख्य-मुख्य भूपाल तुमसे प्रेम रखते हैं ? क्या वे तुम्हारे द्वारा सम्मान पाकर तुम्हारे लिये अपने प्राणोंकी बलि दे सकते हैं ? ॥ ९६ ॥

कच्चित् ते सर्वविद्यासु गुणतोऽर्चा प्रवर्तते।
ब्राह्मणानां च साधूनां तव नैःश्रेयसी शुभा।
दक्षिणास्त्वं ददास्येषां नित्यं स्वर्गापवर्गदाः ॥ ९७ ॥

क्या तुम्हारे मनमें सभी विद्याओंके प्रति गुणके अनुसार आदरका भाव है ? क्या तुम ब्राह्मणों तथा साधु-संतोंकी सेवा-पूजा करते हो ? जो तुम्हारे लिये शुभ एवं कल्याणकारिणी है। इन ब्राह्मणोंको तुम सदा दक्षिणा तो देते रहते हो न ? क्योंकि वह स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति करानेवाली है ॥ ९७ ॥

कच्चिद् धर्मे त्रयीमूले पूर्वैराचरिते जनैः।
यतमानस्तथा कर्तुं तस्मिन् कर्मणि वर्तसे ॥ ९८ ॥

तीनों वेद ही जिसके मूल हैं और पूर्वपुरुषोंने जिसका आचरण किया है, उस धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये तुम अपने पूर्वजोंकी ही भाँति प्रयत्नशील तो रहते हो ? धर्मानुकूल कर्ममें ही तुम्हारी प्रवृत्ति तो रहती है ? ॥ ९८ ॥

कच्चित्तव गृहेऽन्नानि स्वादून्यश्नन्ति वै द्विजाः।
गुणवन्ति गुणोपेतास्तवाध्यक्षं सदक्षिणम् ॥ ९९ ॥

क्या तुम्हारे महलमें तुम्हारी आँखोंके सामने गुणवान् ब्राह्मण स्वादिष्ट और गुणकारक अन्न भोजन करते हैं ? और भोजनके पश्चात् उन्हें दक्षिणा दी जाती है ? ॥ ९९ ॥

कच्चित् क्रतूनेकचित्तो वाजपेयांश्च सर्वशः।
पुण्डरीकांश्च कार्त्स्न्येन यतसे कर्तुमात्मवान् ॥ १०० ॥

अपने मनको वशमें करके एकाग्रचित्त हो वाजपेय और पुण्डरीक आदि सभी यज्ञ-यागोंका तुम पूर्णरूपसे अनुष्ठान करनेका प्रयत्न तो करते हो न ? ॥ १०० ॥

कच्चिज्ज्ञातीन् गुरून् वृद्धान् दैवतांस्तापसानपि।
चैत्यांश्च वृक्षान् कल्याणान् ब्राह्मणांश्च नमस्यसि॥ १०१॥

जाति-भाई, गुरुजन, वृद्ध पुरुष, देवता, तपस्वी, चैत्यवृक्ष (पीपल) आदि तथा कल्याणकारी ब्राह्मणोंको नमस्कार तो करते हो न ? ॥ १०१ ॥

कच्चिच्छोको न मन्युर्वा त्वया प्रोत्पाद्यतेऽनघ।
अपि मङ्गलहस्तश्च जनः पार्श्वे नु तिष्ठति ॥ १०२॥

निष्पाप नरेश ! तुम किसीके मनमें शोक या क्रोध तो नहीं पैदा करते ? तुम्हारे पास कोई मनुष्य हाथमें मङ्गल-सामग्री लेकर सदा उपस्थित रहता है न ? ॥ १०२ ॥

कच्चिदेषा च ते बुद्धिर्वृत्तिरेषा च तेऽनघ।
आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थदर्शिनी ॥ १०३॥

पापरहित युधिष्ठिर ! अबतक जैसा बतलाया गया है, उसके अनुसार ही तुम्हारी बुद्धि और वृत्ति (विचार और आचार) हैं न ? ऐसी धर्मानुकूल बुद्धि और वृत्ति आयु तथा यशको बढ़ानेवाली एवं धर्म, अर्थ तथा कामको पूर्ण करनेवाली है ॥ १०३ ॥

एतया वर्तमानस्य बुद्ध्या राष्ट्रं न सीदति।
विजित्य च महीं राजा सोऽत्यन्तसुखमेधते ॥ १०४॥

जो ऐसी बुद्धिके अनुसार बर्ताव करता है, उसका राष्ट्र कभी संकटमें नहीं पड़ता। वह राजा सारी पृथ्वीको जीतकर बड़े सुखसे दिनोंदिन उन्नति करता है ॥ १०४ ॥

कच्चिदार्यो विशुद्धात्मा क्षारितश्चौरकर्मणि।
अदृष्टशास्त्रकुशलैर्न लोभाद् वध्यते शुचिः ॥ १०५॥

कहीं ऐसा तो नहीं होता कि शास्त्रकुशल विद्वानोंका सङ्ग न करनेवाले तुम्हारे मूर्ख मन्त्रियोंने किसी विशुद्ध हृदयवाले श्रेष्ठ एवं पवित्र पुरुषपर चोरीका अपराध लगाकर उसका सारा धन हड़प लिया हो ? और फिर अधिक धनके लोभसे वे उसे प्राणदण्ड देते हों ? ॥ १०५ ॥

दुष्टो गृहीतस्तत्कारी तज्ज्ञैर्दृष्टः सकारणः।
कच्चिन्न मुच्यते स्तेनो द्रव्यलोभान्नरर्षभ ॥ १०६॥

नरश्रेष्ठ ! कोई ऐसा दुष्ट चोर जो चोरी करते समय गृहरक्षकोंद्वारा देख लिया गया और चोरीके मालसहित पकड़ लिया गया हो, धनके लोभसे छोड़ तो नहीं दिया जाता ? ॥ १०६ ॥

उत्पन्नान् कच्चिदाढ्यस्य दरिद्रस्य च भारत।
अर्थान् न मिथ्या पश्यन्ति तवामात्या हृता जनैः॥ १०७॥

भारत ! तुम्हारे मन्त्री चुगली करनेवाले लोगोंके बहकावेमें आकर विवेकशून्य हो किसी धनीके या दरिद्रके थोड़े समयमें ही अचानक पैदा हुए अधिक धनको मिथ्यादृष्टिसे तो नहीं देखते ?

या उनके बढ़े हुए धनको चोरी आदिसे लाया हुआ तो नहीं मान लेते ? ॥ १०७ ॥

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम्।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम्।
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च चिन्तनम् ॥१०८॥
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम्।
मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः ॥१०९॥
कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूलापि पार्थिवाः ॥११०॥

युधिष्ठिर ! तुम नास्तिकता, झूठ, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानियोंका संग न करना, आलस्य, पाँचों इन्द्रियों-के विषयोंमें आसक्ति, प्रजाजनोंपर अकेले ही विचार करना, अर्थशास्त्रको न जाननेवाले मूर्खोंके साथ विचार-विमर्श, निश्चित कार्योंके आरम्भ करनेमें विलम्ब या टालमटोल, गुप्त मन्त्रणाको सुरक्षित न रखना, माङ्गलिक उत्सव आदि न करना तथा एक साथ ही सभी शत्रुओंपर चढ़ाई कर देना—इन राजसम्बन्धी चौदह दोषोंका त्याग तो करते हो न ? क्योंकि जिनके राज्यकी जड़ जम गयी है, ऐसे राजा भी इन दोषोंके कारण नष्ट हो जाते हैं ॥ १०८–११० ॥

कच्चित् ते सफला वेदाः कच्चित् ते सफलं धनम्।
कच्चित् ते सफला दाराः कच्चित् ते सफलं श्रुतम्॥१११॥

क्या तुम्हारे वेद सफल हैं ? क्या तुम्हारा धन सफल है ? क्या तुम्हारी स्त्री सफल है ? और क्या तुम्हारा शास्त्र-ज्ञान सफल है ? ॥ १११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं वै सफला वेदाः कथं वै सफलं धनम्।
कथं वै सफला दाराः कथं वै सफलं श्रुतम् ॥११२॥

युधिष्ठिरने पूछा—देवर्षे ! वेद कैसे सफल होते हैं, धनकी सफलता कैसे होती है ? स्त्रीकी सफलता कैसे मानी गयी है तथा शास्त्रज्ञान कैसे सफल होता है ? ॥ ११२ ॥

नारद उवाच

अग्निहोत्रफला वेदा दत्तभुक्तफलं धनम्।
रतिपुत्रफला दाराः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ॥११३॥

नारदजीने कहा—राजन् ! वेदोंकी सफलता अग्नि-होत्रसे होती है, दान और भोगसे ही धन सफल होता है, स्त्रीका फल है—रति और पुत्रकी प्राप्ति तथा शास्त्रज्ञानका फल है, शील और सदाचार ॥ ११३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतदाख्याय स मुनिर्नारदो वै महातपाः।
पप्रच्छानन्तरमिदं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥११४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यह कहकर महातपस्वी नारद मुनिने धर्मात्मा युधिष्ठिरसे पुनः इस प्रकार प्रश्न किया ॥

नारद उवाच

कच्चिदभ्यागता दूराद् वणिजो लाभकारणात्।
यथोक्तमवहार्यन्ते शुल्कं शुल्कोपजीविभिः ॥११५॥

नारदजीने पूछा—राजन् ! कर वसूलनेका काम करने-वाले तुम्हारे कर्मचारीलोग दूरसे लाभ उठानेके लिये आये हुए व्यापारियोंसे ठीक-ठीक कर वसूल करते हैं न ? (अधिक तो नहीं लेते ?) ॥ ११५ ॥

कच्चित् ते पुरुषा राजन् पुरे राष्ट्रे च मानिताः।
उपानयन्ति पण्यानि उपधाभिरवञ्चिताः ॥११६॥

महाराज ! वे व्यापारीलोग आपके नगर और राष्ट्रमें सम्मानित हो विक्रीके लिये उपयोगी सामान लाते हैं न ! उन्हें तुम्हारे कर्मचारी छलसे ठगते तो नहीं ? ॥११६॥

कच्चिच्छृणोषि वृद्धानां धर्मार्थसहिता गिरः।
नित्यमर्थविदां तात यथाधर्मार्थदर्शिनाम् ॥११७॥

तात ! तुम सदा धर्म और अर्थके ज्ञाता एवं अर्थशास्त्रके पूरे पण्डित बड़े-बूढ़े लोगोंकी धर्म और अर्थसे युक्त बातें सुनते रहते हो न ? ॥ ११७ ॥

कच्चित् ते कृषितन्त्रेषु गोषु पुष्पफलेषु च।
धर्मार्थं च द्विजातिभ्यो दीयते मधुसर्पिषी ॥११८॥

क्या तुम्हारे यहाँ खेतीसे उत्पन्न होनेवाले अन्न तथा फल-फूल एवं गौओंसे प्राप्त होनेवाले दूध, घी आदिमेंसे मधु (अन्न) और घृत आदि धर्मके लिये ब्राह्मणोंको दिये जाते हैं ? ॥ ११८ ॥

द्रव्योपकरणं किंचित् सर्वदा सर्वशिल्पिनाम्।
चातुर्मास्यावरं सम्यङ् नियतं सम्प्रयच्छसि ॥११९॥

नरेश्वर ! क्या तुम सदा नियमसे सभी शिल्पियोंको व्यवस्थापूर्वक एक साथ इतनी वस्तु-निर्माणकी सामग्री दे देते हो, जो कम-से कम चौमासे भर चल सके ॥ ११९ ॥

कच्चित् कृतं विजानीषे कर्तारं च प्रशंससि।
सतां मध्ये महाराज सत्करोषि च पूजयन् ॥१२०॥

महाराज ! क्या तुम्हें किसीके किये हुए उपकारका पता चलता है ? क्या तुम उस उपकारीकी प्रशंसा करते हो और साधु पुरुषोंसे भरी हुई सभाके बीच उस उपकारीके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उसका आदर-सत्कार करते हो ? ॥ १२० ॥

कच्चित् सूत्राणि सर्वाणि गृह्णासि भरतर्षभ।
हस्तिसूत्राश्वसूत्राणि रथसूत्राणि वा विभो ॥१२१॥

भरतश्रेष्ठ ! क्या तुम संक्षेपसे सिद्धान्तका प्रतिपादन

करनेवाले सभी सूत्रग्रन्थ—हस्तिसूत्र, अश्वसूत्र एवं रथसूत्र आदिका संग्रह (पठन एवं अभ्यास) करते रहते हो ? ॥

कच्चिदभ्यस्यते सम्यग् गृहे ते भरतर्षभ ।
धनुर्वेदस्य सूत्रं वै यन्त्रसूत्रं च नागरम् ॥१२२॥

भरतकुलभूषण ! क्या तुम्हारे घरपर धनुर्वेद-सूत्र, यन्त्र-सूत्र[1] और नागरिक[2] सूत्रका अच्छी तरह अभ्यास किया जाता है ? ॥ १२२ ॥

कच्चिदस्त्राणि सर्वाणि ब्रह्मदण्डश्च तेऽनघ ।
विषयोगास्तथा सर्वे विदिताः शत्रुनाशनाः ॥१२३॥

निष्पाप नरेश ! तुम्हें सब प्रकारके अस्त्र (जो मन्त्रबलसे प्रयुक्त होते हैं), वेदोक्त दण्ड-विधान तथा शत्रुओंका नाश करनेवाले सब प्रकारके विषप्रयोग ज्ञात हैं न ? ॥ १२३ ॥

कच्चिदग्निभयाच्चैव सर्वं व्यालभयात् तथा ।
रोगरक्षोभयाच्चैव राष्ट्रं स्वं परिरक्षसि ॥१२४॥

क्या तुम अग्नि, सर्प, रोग तथा राक्षसोंके भयसे अपने सम्पूर्ण राष्ट्रकी रक्षा करते हो ? ॥ १२४ ॥

कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च पङ्गून् व्यङ्गानबान्धवान् ।
पितेव पासि धर्मज्ञ तथा प्रव्रजितानपि ॥१२५॥

धर्मज्ञ ! क्या तुम अंधों, गूँगों, पङ्गुओं, अङ्गहीनों और बन्धु-बान्धवोंसे रहित अनाथों तथा संन्यासियोंका भी पिताकी भाँति पालन करते हो ? ॥ १२५ ॥

षडनर्था महाराज कच्चित् ते पृष्ठतः कृताः ।
निद्राऽऽलस्यं भयं क्रोधोऽमार्दवं दीर्घसूत्रता ॥१२६॥

महाराज ! क्या तुमने निद्रा, आलस्य, भय, क्रोध, कठोरता और दीर्घसूत्रता—इन छः दोषोंको पीछे कर दिया (त्याग दिया) है ? ॥ १२६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कुरूणामृषभो महात्मा
श्रुत्वा गिरो ब्राह्मणसत्तमस्य ।
प्रणम्य पादावभिवाद्य तुष्टो
राजाब्रवीन्नारदं देवरूपम् ॥१२७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुरुश्रेष्ठ महात्मा राजा युधिष्ठिरने ब्रह्माके पुत्रोंमें श्रेष्ठ नारदजीका यह वचन सुनकर उनके दोनों चरणोंमें प्रणाम एवं अभिवादन किया और अत्यन्त संतुष्ट हो देवस्वरूप नारदजीसे कहा ॥१२७॥

युधिष्ठिर उवाच

एवं करिष्यामि यथा त्वयोक्तं
प्रज्ञा हि मे भूय एवाभिवृद्धा ।
उक्त्वा तथा चैव चकार राजा
लेभे महीं सागरमेखलां च ॥१२८॥

युधिष्ठिर बोले—देवर्षे ! आपने जैसा उपदेश दिया है, वैसा ही करूँगा । आपके इस प्रवचनसे मेरी प्रज्ञा और भी बढ़ गयी है ।

ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिरने वैसा ही आचरण किया और इसीसे समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका राज्य पा लिया ॥ १२८ ॥

नारद उवाच

एवं यो वर्तते राजा चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे ।
स विहृत्येह सुसुखी शक्रस्यैति सलोकताम् ॥१२९॥

नारदजीने कहा—जो राजा इस प्रकार चारों वर्णों (और वर्णाश्रमधर्म) की रक्षामें संलग्न रहता है, वह इस लोकमें अत्यन्त सुखपूर्वक विहार करके अन्तमें देवराज इन्द्रके लोकमें जाता है ॥ १२९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि नारदप्रश्नमुखेन राजधर्मानुशासने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें नारदजीके द्वारा प्रश्नके व्याजसे राजधर्मका उपदेशविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी दिव्य सभाओंके विषयमें जिज्ञासा

वैशम्पायन उवाच

सम्पूज्याथाभ्यनुज्ञातो महर्षेर्वचनात् परम् ।
प्रत्युवाचानुपूर्व्येण धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवर्षि नारदका यह उपदेश पूर्ण होनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने भलीभाँति उनकी पूजा की; तदनन्तर उनसे आज्ञा लेकर उनके प्रश्नका उत्तर दिया ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् न्याय्यमाहैतं यथावद् धर्मनिश्चयम् ।
यथाशक्ति यथान्यायं क्रियतेऽयं विधिर्मया ॥ २ ॥

१. लोहेकी बनी हुई उन मशीनोंको, जिनके द्वारा बारूदके बलसे शीशे, काँसे और पत्थरकी गोलियाँ चलायी जाती हैं—यन्त्र कहते हैं । उन यन्त्रोंके प्रयोगकी विधिके प्रतिपादक संक्षिप्त वाक्य ही यन्त्रसूत्र हैं ।

२. नगरकी रक्षा तथा उन्नतिके साधनोंको बतानेवाले संक्षिप्त वाक्योंको ही यहाँ नागरिक सूत्र कहा गया है ।

युधिष्ठिर बोले—भगवन् ! आपने जो यह राजधर्मका यथार्थ सिद्धान्त बताया है, वह सर्वथा न्यायोचित है। मैं आपके इस न्यायानुकूल आदेशका यथाशक्ति पालन करता हूँ ॥ २ ॥

राजभिर्यद् यथा कार्यं पुरा वैतन्न संशयः।
यथान्यायोपनीतार्थं कृतं हेतुमदर्थवत् ॥ ३ ॥

इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन कालके राजाओंने जो कार्य जैसे सम्पन्न किया, वह प्रत्येक न्यायोचित, सकारण और किसी विशेष प्रयोजनसे युक्त होता था ॥ ३ ॥

वयं तु सत्पथं तेषां यातुमिच्छामहे प्रभो।
न तु शक्यं तथा गन्तुं यथा तैर्नियतात्मभिः ॥ ४ ॥

प्रभो ! हम भी उन्हींके उत्तम मार्गसे चलना चाहते हैं, परंतु उस प्रकार (सर्वथा) चल नहीं पाते; जैसे वे नियतात्मा महापुरुष चला करते थे ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा वाक्यं तदभिपूज्य च।
मुहूर्तात् प्राप्तकालं च दृष्ट्वा लोकचरं मुनिम् ॥ ५ ॥
नारदं सुस्थमासीनमुपासीनो युधिष्ठिरः।
अपृच्छत् पाण्डवस्तत्र राजमध्ये महाद्युतिः ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर धर्मात्मा युधिष्ठिरने नारदजीके पूर्वोक्त प्रवचनकी बड़ी प्रशंसा की। फिर सम्पूर्ण लोकोंमें विचरनेवाले नारद मुनि जब शान्तिपूर्वक बैठ गये, तब दो घड़ीके बाद ठीक अवसर जानकर महातेजस्वी पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर भी उनके निकट आ बैठे और सम्पूर्ण राजाओंके बीच वहाँ उनसे इस प्रकार पूछने लगे ॥ ५-६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भवान् संचरते लोकान् सदा नानाविधान् बहून्।
ब्रह्मणा निर्मितान् पूर्वं प्रेक्षमाणो मनोजवः ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—मुनिवर ! आप मनके समान वेगशाली हैं, अतः ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जिनका निर्माण किया है, उन अनेक प्रकारके बहुत-से लोकोंका दर्शन करते हुए आप उनमें सदा बेरोक-टोक विचरते रहते हैं ॥ ७ ॥

ईदृशी भवता काचिद् दृष्टपूर्वा सभा क्वचित्।
इतो वा श्रेयसी ब्रह्मंस्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ८ ॥

ब्रह्मन् ! क्या आपने पहले कहीं ऐसी या इससे भी अच्छी कोई सभा देखी है ? मैं जानना चाहता हूँ, अतः आप मुझसे यह बात बतावें ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा नारदस्तस्य धर्मराजस्य भाषितम्।
पाण्डवं प्रत्युवाचेदं स्मयन् मधुरया गिरा ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिरका यह प्रश्न सुनकर देवर्षि नारदजी मुसकराने लगे और उन पाण्डुकुमारको इसका उत्तर देते हुए मधुर वाणीमें बोले ॥ ९ ॥

नारद उवाच

मानुषेषु न मे तात दृष्टपूर्वा न च श्रुता।
सभा मणिमयी राजन् यथेयं तव भारत ॥ १० ॥

नारदजीने कहा—तात ! भरतवंशी नरेश ! मणि एवं रत्नोंकी बनी हुई जैसी तुम्हारी यह सभा है, ऐसी सभा मैंने मनुष्यलोकमें न तो पहले कभी देखी है और न कानोंसे ही सुनी है ॥ १० ॥

सभां तु पितृराजस्य वरुणस्य च धीमतः।
कथयिष्ये तथेन्द्रस्य कैलासनिलयस्य च ॥ ११ ॥
ब्रह्मणश्च सभां दिव्यां कथयिष्ये गतक्लमाम्।
दिव्यादिव्यैरभिप्रायैरुपेतां विश्वरूपिणीम् ॥ १२ ॥
देवैः पितृगणैः साध्यैर्यज्वभिर्नियतात्मभिः।
जुष्टां मुनिगणैः शान्तैर्वेदयज्ञैः सदक्षिणैः।
यदि ते श्रवणे बुद्धिर्वर्तते भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यदि तुम्हारा मन दिव्य सभाओंका वर्णन सुननेको उत्सुक हो तो मैं तुम्हें पितृराज यम, बुद्धिमान् वरुण, स्वर्गवासी इन्द्र, कैलासनिवासी कुबेर तथा ब्रह्माजीकी दिव्य सभाका वर्णन सुनाऊँगा, जहाँ किसी प्रकारका क्लेश नहीं है एवं जो दिव्य और अदिव्य भोगोंसे सम्पन्न तथा संसारके अनेक रूपोंसे अलंकृत है। वह देवता, पितृगण, साध्यगण, याजक तथा मनको वशमें रखनेवाले शान्त मुनिगणोंसे सेवित है। वहाँ उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त वैदिक यज्ञोंका अनुष्ठान होता रहता है ॥ ११—१३ ॥

नारदेनैवमुक्तस्तु धर्मराजो युधिष्ठिरः।
प्राञ्जलिर्भ्रातृभिः सार्धं तैश्च सर्वैर्द्विजोत्तमैः ॥ १४ ॥
नारदं प्रत्युवाचेदं धर्मराजो महामनाः।
सभाः कथय ताः सर्वाः श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ १५ ॥

नारदजीके ऐसा कहनेपर भाइयों तथा सम्पूर्ण श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ महामनस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने हाथ जोड़कर उनसे इस प्रकार कहा—'महर्षे ! हम सभी दिव्य सभाओंका वर्णन सुनना चाहते हैं। आप उनके विषयमें सब बातें बताइये ॥ १४-१५ ॥

किंद्रव्यास्ताः सभा ब्रह्मन् किंविस्ताराः किमायताः।
पितामहं च के तस्यां सभायां पर्युपासते ॥ १६ ॥

'ब्रह्मन् ! उन सभाओंका निर्माण किस द्रव्यसे हुआ है ? उनकी लंबाई-चौड़ाई कितनी है ? ब्रह्माजीकी उस दिव्य सभामें कौन-कौन सभासद् उन्हें चारों ओरसे घेरकर बैठते हैं ?॥ १६ ॥

वासवं देवराजं च यमं वैवस्वतं च के।
वरुणं च कुबेरं च सभायां पर्युपासते ॥ १७ ॥

'इसी प्रकार देवराज इन्द्र, वैवस्वत यम, वरुण तथा कुबेरकी सभामें कौन-कौन लोग उनकी उपासना करते हैं ?॥ १७॥

एतत् सर्वं यथान्यायं ब्रह्मर्षे वदतस्तव।
श्रोतुमिच्छाम सहिताः परं कौतूहलं हि नः ॥ १८ ॥

'ब्रह्मर्षे ! हम सब लोग आपके मुखसे ये सब बातें यथोचित रीतिसे सुनना चाहते हैं । हमारे मनमें उसके लिये बड़ा कौतूहल है' ॥ १८ ॥

एवमुक्तः पाण्डवेन नारदः प्रत्यभाषत।
क्रमेण राजन् दिव्यास्ताः श्रूयन्तामिह नः सभाः॥ १९ ॥

पाण्डुकुमार युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर नारदजीने उत्तर दिया—'राजन् ! तुम हमसे यहाँ उन सभी दिव्य सभाओंका क्रमशः वर्णन सुनो' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि युधिष्ठिरसभाजिज्ञासायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें युधिष्ठिरकी दिव्य सभाओंके विषयमें जिज्ञासा-विषयक छठा अध्याय पूरा हुआ

सप्तमोऽध्यायः

इन्द्रसभाका वर्णन

नारद उवाच

शक्रस्य तु सभा दिव्या भास्वरा कर्मनिर्मिता।
स्वयं शक्रेण कौरव्य निर्जितार्कसमप्रभा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! इन्द्रकी तेजोमयी दिव्य सभा सूर्यके समान प्रकाशित होती है । (विश्वकर्माके) प्रयत्नोंसे उसका निर्माण हुआ है । स्वयं इन्द्रने (सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके) उसपर विजय पायी है ॥ १ ॥

विस्तीर्णा योजनशतं शतमध्यर्धमायता।
वैहायसी कामगमा पञ्चयोजनमुच्छ्रिता ॥ २ ॥

उसकी लंबाई डेढ़ सौ और चौड़ाई सौ योजनकी है । वह आकाशमें विचरनेवाली और इच्छाके अनुसार तीव्र या मन्द गतिसे चलनेवाली है । उसकी ऊँचाई भी पाँच योजनकी है ॥ २ ॥

जराशोकक्लमापेता निरातङ्का शिवा शुभा।
वेश्मासनवती रम्या दिव्यपादपशोभिता ॥ ३ ॥

उसमें जीर्णता, शोक और थकावट आदिका प्रवेश नहीं है । वहाँ भय नहीं है, वह मङ्गलमयी और शोभासम्पन्न है । उसमें ठहरनेके लिये सुन्दर-सुन्दर महल और बैठनेके लिये उत्तमोत्तम सिंहासन बने हुए हैं । वह रमणीय सभा दिव्य वृक्षोंसे सुशोभित होती है ॥ ३ ॥

तस्यां देवेश्वरः पार्थ सभायां परमासने।
आस्ते शच्या महेन्द्राण्या श्रिया लक्ष्म्या च भारत॥ ४ ॥

भारत ! कुन्तीनन्दन ! उस सभामें सर्वश्रेष्ठ सिंहासनपर देवराज इन्द्र शोभामें लक्ष्मीके समान प्रतीत होनेवाली इन्द्राणी शचीके साथ विराजते हैं ॥ ४ ॥

बिभ्रद् वपुरनिर्देश्यं किरीटी लोहिताङ्गदः।
विरजोऽम्बरश्चित्रमाल्यो ह्रीकीर्तिद्युतिभिः सह ॥ ५ ॥

उस समय वे अवर्णनीय रूप धारण करते हैं । उनके मस्तकपर किरीट रहता है और दोनों भुजाओंमें लाल रंगके बाजूबंद शोभा पाते हैं । उनके शरीरपर स्वच्छ वस्त्र और कण्ठमें विचित्र माला सुशोभित होती है । वे लज्जा, कीर्ति और कान्ति—इन देवियोंके साथ उस दिव्य सभामें विराजमान होते हैं ॥ ५ ॥

तस्यामुपासते नित्यं महात्मानं शतक्रतुम्।
मरुतः सर्वशो राजन् सर्वे च गृहमेधिनः ॥ ६ ॥

राजन् ! उस दिव्य सभामें सभी मरुद्गण और गृहवासी देवता सौ यज्ञोंका अनुष्ठान पूर्ण कर लेनेवाले महात्मा इन्द्रकी प्रतिदिन सेवा करते हैं ॥ ६ ॥

सिद्धा देवर्षयश्चैव साध्या देवगणास्तथा।
मरुत्वन्तश्च सहिता भास्वन्तो हेममालिनः ॥ ७ ॥
एते सानुचराः सर्वे दिव्यरूपाः स्वलंकृताः।
उपासते महात्मानं देवराजमरिंदमम् ॥ ८ ॥

सिद्ध, देवर्षि, साध्यदेवगण तथा मरुत्वान्—ये सभी सुवर्ण-मालाओंसे सुशोभित हो तेजस्वी रूप धारण किये एक साथ उस दिव्य सभामें बैठकर शत्रुदमन महामना देवराज इन्द्रकी उपासना करते हैं । वे सभी देवता अपने अनुचरों (सेवकों) के साथ वहाँ विराजमान होते हैं । वे दिव्यरूपधारी होनेके साथ ही उत्तमोत्तम अलंकारोंसे अलंकृत रहते हैं ॥ ७-८ ॥

तथा देवर्षयः सर्वे पार्थ शक्रमुपासते।
अमला धूतपाप्मानो दीप्यमाना इवाग्नयः ॥ ९ ॥

कुन्तीनन्दन ! इसी प्रकार जिनके पाप धुल गये हैं, वे अग्निके समान उद्दीप्त होनेवाले सभी निर्मल देवर्षि वहाँ इन्द्रकी उपासना करते हैं ॥ ९ ॥

तेजस्विनः सोमसुतो विशोका विगतज्वराः।

वे देवर्षिगण तेजस्वी, सोमयाग करनेवाले तथा शोक और चिन्तासे शून्य हैं ॥ ९½ ॥

पराशरः पर्वतश्च तथा सावर्णिगालवौ ॥ १० ॥
शङ्खश्च लिखितश्चैव तथा गौरशिरा मुनिः ।
दुर्वासाः क्रोधनः श्येनस्तथा दीर्घतमा मुनिः ॥ ११ ॥
पवित्रपाणिः सावर्णिर्याज्ञवल्क्योऽथ भालुकिः ।
उद्दालकः श्वेतकेतुस्ताण्ड्यो भाण्डायनिस्तथा ॥ १२ ॥
हविष्मांश्च गरिष्ठश्च हरिश्चन्द्रश्च पार्थिवः ।
हृद्यश्चोदरशाण्डिल्यः पाराशर्यः कृषीवलः ॥ १३ ॥
वातस्कन्धो विशाखश्च विधाता काल एव च ।
करालदन्तस्त्वष्टा च विश्वकर्मा च तुम्बुरुः ॥ १४ ॥
अयोनिजा योनिजाश्च वायुभक्षा हुताशिनः ।
ईशानं सर्वलोकस्य वज्रिणं समुपासते ॥ १५ ॥

पराशर, पर्वत, सावर्णि, गालव, शङ्ख, लिखित, गौरशिरा मुनि, दुर्वासा, क्रोधन, श्येन, दीर्घतमा मुनि, पवित्रपाणि, सावर्णि (द्वितीय), याज्ञवल्क्य, भालुकि, उद्दालक, श्वेतकेतु, ताण्ड्य, भाण्डायनि, हविष्मान्, गरिष्ठ, राजा हरिश्चन्द्र, हृद्य, उदरशाण्डिल्य, पराशरनन्दन व्यास, कृषीवल, वातस्कन्ध, विशाख, विधाता, काल, करालदन्त, त्वष्टा, विश्वकर्मा तथा तुम्बुरु—ये और दूसरे अयोनिज या योनिज मुनि एवं वायु पीकर रहनेवाले तथा हविष्य-पदार्थोंको खानेवाले महर्षि सम्पूर्ण लोकोंके अधीश्वर वज्रधारी इन्द्रकी उपासना करते हैं ॥ १०—१५ ॥

सहदेवः सुनीथश्च वाल्मीकिश्च महातपाः ।
शमीकः सत्यवाक् चैव प्रचेताः सत्यसंगरः ॥ १६ ॥
मेधातिथिर्वामदेवः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
मरुत्तश्च मरीचिश्च स्थाणुश्चात्र महातपाः ॥ १७ ॥
कक्षीवान् गौतमस्तार्क्ष्यस्तथा वैश्वानरो मुनिः ।
(षडर्तुः कवषो धूम्रो रैभ्यो नलपरावसू ।
स्वस्त्यात्रेयो जरत्कारुः कहोलः काश्यपस्तथा ।
विभाण्डकर्ष्यशृङ्गौ च उन्मुखो विमुखस्तथा ॥)
मुनिः कालकवृक्षीय आश्राव्योऽथ हिरण्मयः ॥ १८ ॥
संवर्तो देवहव्यश्च विष्वक्सेनश्च वीर्यवान् ।
(कण्वः कात्यायनो राजन् गार्ग्यः कौशिक एव च ।)
दिव्या आपस्तथौषध्यः श्रद्धा मेधा सरस्वती ॥ १९ ॥
अर्थो धर्मश्च कामश्च विद्युतश्चैव पाण्डव ।
जलवाहस्तथा मेघा वायवः स्तनयित्नवः ॥ २० ॥
प्राची दिग् यज्ञवाहाश्च पावकाः सप्तविंशतिः ।
अग्नीषोमौ तथेन्द्राग्नी मित्रश्च सवितार्यमा ॥ २१ ॥
भगो विश्वे च साध्याश्च गुरुः शुक्रस्तथैव च ।
विश्वावसुश्चित्रसेनः सुमनस्तरुणस्तथा ॥ २२ ॥
यज्ञाश्च दक्षिणाश्चैवं ग्रहास्ताराश्च भारत ।
यज्ञवाहश्च ये मन्त्राः सर्वे तत्र समासते ॥ २३ ॥

भरतवंशी नरेश पाण्डुनन्दन ! सहदेव, सुनीथ, महातपस्वी वाल्मीकि, सत्यवादी शमीक, सत्यप्रतिज्ञ प्रचेता, मेधातिथि, वामदेव, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, मरुत्त, मरीचि, महातपस्वी स्थाणु, कक्षीवान्, गौतम, तार्क्ष्य, वैश्वानरमुनि, षडर्तु, कवष, धूम्र, रैभ्य, नल, परावसु, स्वस्त्यात्रेय, जरत्कारु, कहोल, काश्यप, विभाण्डक, ऋष्यशृङ्ग, उन्मुख, विमुख, कालकवृक्षीय मुनि, आश्राव्य, हिरण्मय, संवर्त, देवहव्य, पराक्रमी विष्वक्सेन, कण्व, कात्यायन, गार्ग्य, कौशिक, दिव्य जल, ओषधियाँ, श्रद्धा, मेधा, सरस्वती, अर्थ, धर्म, काम, विद्युत्, जलधर मेघ, वायु, गर्जना करनेवाले बादल, प्राची दिशा, यज्ञके हविष्यको वहन करनेवाले सत्ताईस पावक,* सम्मिलित अग्नि और सोम, संयुक्त इन्द्र और अग्नि, मित्र, सविता, अर्यमा, भग, विश्वेदेव, साध्य, बृहस्पति, शुक्र, विश्वावसु, चित्रसेन, सुमन, तरुण, विविध यज्ञ, दक्षिणा, ग्रह, तारा और यज्ञनिर्वाहक मन्त्र—ये सभी वहाँ इन्द्रसभामें बैठते हैं ॥ १६—२३ ॥

तथैवाप्सरसो राजन् गन्धर्वाश्च मनोरमाः ।
नृत्यवादित्रगीतैश्च हास्यैश्च विविधैरपि ॥ २४ ॥
रमयन्ति स्म नृपते देवराजं शतक्रतुम् ।

राजन् ! इसी प्रकार मनोहर अप्सराएँ तथा सुन्दर गन्धर्व नृत्य, वाद्य, गीत एवं नाना प्रकारके हास्योंद्वारा देवराज इन्द्रका मनोरञ्जन करते हैं ॥ २४½ ॥

स्तुतिभिर्मङ्गलैश्चैव स्तुवन्तः कर्मभिस्तथा ॥ २५ ॥
विक्रमैश्च महात्मानं बलवृत्रनिषूदनम् ।

इतना ही नहीं, वे स्तुति, मङ्गलपाठ और पराक्रमसूचक कर्मोंके गायनद्वारा बल और वृत्रनामक असुरोंके नाशक महात्मा इन्द्रका स्तवन करते हैं ॥ २५½ ॥

ब्रह्मराजर्षयश्चैव सर्वे देवर्षयस्तथा ॥ २६ ॥
विमानैर्विविधैर्दिव्यैर्दीप्यमाना इवाग्नयः ।
स्रग्विणो भूषिताः सर्वे यान्ति चायान्ति चापरे ॥ २७ ॥

ब्रह्मर्षि, राजर्षि तथा सम्पूर्ण देवर्षि माला पहने एवं वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो, नाना प्रकारके दिव्य विमानोंद्वारा अग्निके समान देदीप्यमान होते हुए वहाँ आते-जाते रहते हैं ॥ २६-२७ ॥

बृहस्पतिश्च शुक्रश्च नित्यमास्तां हि तत्र वै ।
एते चान्ये च बहवो महात्मानो यतव्रताः ॥ २८ ॥
विमानैश्चन्द्रसंकाशैः सोमवत्प्रियदर्शनाः ।
ब्रह्मणः सदृशा राजन् भृगुः सप्तर्षयस्तथा ॥ २९ ॥

---

* नीलकण्ठने अपनी टीकामें इन सत्ताईस पावकोंके नाम इस प्रकार बताये हैं—अङ्गिरा, दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि, आहवनीयाग्नि, निर्मन्थ्य, वैद्युत, शूर, संवर्त, लौकिक, जठराग्नि, विषग, क्रव्यात्, क्षेमवान्, वैष्णव, दस्युमान्, बलद, शान्त, पुष्ट, विभावसु, ज्योतिष्मान्, भरत, भद्र, स्विष्टकृत्, वसुमान्, क्रतु, सोम और पितृमान् ।

बृहस्पति और शुक्र वहाँ नित्य विराजते हैं। ये तथा और भी बहुतसे संयमी महात्मा जिनका दर्शन चन्द्रमाके समान प्रिय है, चन्द्रमाकी भाँति चमकीले विमानोंद्वारा वहाँ उपस्थित होते हैं। राजन्! भृगु और सप्तर्षि, जो साक्षात् ब्रह्माजीके समान प्रभावशाली हैं, ये भी इन्द्र-सभाकी शोभा बढ़ाते हैं ॥२८-२९॥

एषा सभा मया राजन् दृष्टा पुष्करमालिनी।
शतक्रतोर्महाबाहो याम्यामपि सभां शृणु ॥ ३० ॥

महाबाहु नरेश! शतक्रतु इन्द्रकी यह कमल-मालाओंसे सुशोभित सभा मैंने अपनी आँखों देखी है। अब यमराजकी सभाका वर्णन सुनो ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि इन्द्रसभावर्णनं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें इन्द्र-सभा-वर्णन नामक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ३२ श्लोक हैं)

अष्टमोऽध्यायः

यमराजकी सभाका वर्णन

नारद उवाच

कथयिष्ये सभां याम्यां युधिष्ठिर निबोध ताम्।
वैवस्वतस्य यां पार्थ विश्वकर्मा चकार ह ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! अब मैं सूर्यपुत्र यमकी सभाका वर्णन करता हूँ, सुनो। उसकी रचना भी विश्वकर्माने ही की है ॥ १ ॥

तैजसी सा सभा राजन् बभूव शतयोजना।
विस्तारायामसम्पन्ना भूयसी चापि पाण्डव ॥ २ ॥

राजन्! वह तेजोमयी विशाल सभा लम्बाई और चौड़ाईमें भी सौ योजन है तथा पाण्डुनन्दन! सम्भव है, इससे भी कुछ बड़ी हो ॥ २ ॥

अर्कप्रकाशा भ्राजिष्णुः सर्वतः कामरूपिणी।
नातिशीता न चात्युष्णा मनसश्च प्रहर्षिणी ॥ ३ ॥

उसका प्रकाश सूर्यके समान है। इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली वह सभा सब ओरसे प्रकाशित होती है। वह न तो अधिक शीतल है, न अधिक गर्म। मनको अत्यन्त आनन्द देनेवाली है ॥ ३ ॥

न शोको न जरा तस्यां क्षुत्पिपासे न चाप्रियम्।
न च दैन्यं क्लमो वापि प्रतिकूलं न चाप्युत ॥ ४ ॥

उसके भीतर न शोक है, न जीर्णता; न भूख लगती है, न प्यास। वहाँ कोई भी अप्रिय घटना नहीं घटित होती। दीनता, थकावट अथवा प्रतिकूलताका तो वहाँ नाम भी नहीं है ॥ ४ ॥

सर्वे कामाः स्थितास्तस्यां ये दिव्या ये च मानुषाः।
सारवच्च प्रभूतं च भक्ष्यं भोज्यमरिंदम ॥ ५ ॥

शत्रुदमन! वहाँ दिव्य और मानुष, सभी प्रकारके भोग उपस्थित रहते हैं। सरस एवं स्वादिष्ट भक्ष्य-भोज्य पदार्थ प्रचुर मात्रामें संचित रहते हैं ॥ ५ ॥

लेह्यं चोष्यं च पेयं च हृद्यं स्वादु मनोहरम्।
पुण्यगन्धाः स्रजस्तत्र नित्यं कामफला द्रुमाः ॥ ६ ॥

इसके सिवा चाटने योग्य, चूसने योग्य, पीने योग्य तथा हृदयको प्रिय लगनेवाली और भी स्वादिष्ट एवं मनोहर वस्तुएँ वहाँ सदा प्रस्तुत रहती हैं। उस सभामें पवित्र सुगन्ध फैलानेवाली पुष्प-मालाएँ और सदा इच्छानुसार फल देनेवाले वृक्ष लहलहाते रहते हैं ॥ ६ ॥

रसवन्ति च तोयानि शीतान्युष्णानि चैव हि।
तस्यां राजर्षयः पुण्यास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ७ ॥
यमं वैवस्वतं तात प्रहृष्टाः पर्युपासते।

वहाँ ठंडे और गर्म स्वादिष्ट जल नित्य उपलब्ध होते हैं। तात! वहाँ बहुतसे पुण्यात्मा राजर्षि और निर्मल हृदय-वाले ब्रह्मर्षि प्रसन्नतापूर्वक बैठकर सूर्यपुत्र यमकी उपासना करते हैं ॥ ७½ ॥

ययातिर्नहुषः पूरुर्मान्धाता सोमको नृगः ॥ ८ ॥
त्रसदस्युश्च राजर्षिः कृतवीर्यः श्रुतश्रवाः।
अरिष्टनेमिः सिद्धश्च कृतवेगः कृतिर्निमिः ॥ ९ ॥
प्रतर्दनः शिबिर्मत्स्यः पृथुलाक्षो बृहद्रथः।
वार्तो मरुत्तः कुशिकः सांकाश्यः सांकृतिर्ध्रुवः ॥ १० ॥
चतुरश्वः सदश्वोर्मिः कार्तवीर्यश्च पार्थिवः।
भरतः सुरथश्चैव सुनीथो निशठो नलः ॥ ११ ॥
दिवोदासश्च सुमना अम्बरीषो भगीरथः।
व्यश्वः सदश्वो वध्र्यश्वः पृथुवेगः पृथुश्रवाः ॥ १२ ॥
पृषदश्वो वसुमनाः क्षुपश्च सुमहाबलः।
रुषद्गुर्वृषसेनश्च पुरुकुत्सो ध्वजी रथी ॥ १३ ॥
आर्ष्टिषेणो दिलीपश्च महात्मा चाप्युशीनरः।
औशीनरिः पुण्डरीकः शर्यातिः शरभः शुचिः ॥ १४ ॥
अङ्गोऽरिष्टश्च वेनश्च दुष्यन्तः सृञ्जयो जयः।
भाङ्गासुरिः सुनीथश्च निषधोऽथ वहीनरः ॥ १५ ॥
करन्धमो बाह्लिकश्च सुद्युम्नो बलवान् मधुः।
ऐलो मरुत्तश्च तथा बलवान् पृथिवीपतिः ॥ १६ ॥
कपोतरोमा तृणकः सहदेवार्जुनौ तथा।
व्यश्वः साश्वः कृशाश्वश्च शशबिन्दुश्च पार्थिवः ॥ १७ ॥

राजा दशरथश्चैव ककुत्स्थोऽथ प्रवर्धनः।
अलर्कः कक्षसेनश्च गयो गौराश्व एव च ॥ १८ ॥
जामदग्न्यश्च रामश्च नाभागसगरौ तथा।
भूरिद्युम्नो महाश्वश्च पृथाश्वो जनकस्तथा ॥ १९ ॥
राजा वैन्यो वारिसेनः पुरुजिज्जनमेजयः।
ब्रह्मदत्तस्त्रिगर्तश्च राजोपरिचरस्तथा ॥ २० ॥
इन्द्रद्युम्नो भीमजानुर्गौरपृष्ठोऽनघो लयः।
पद्मोऽथ मुचुकुन्दश्च भूरिद्युम्नः प्रसेनजित् ॥ २१ ॥
अरिष्टनेमिः सुद्युम्नः पृथुलाश्वोऽष्टकस्तथा।
शतं मत्स्या नृपतयः शतं नीपाः शतं गयाः ॥ २२ ॥
धृतराष्ट्राश्चैकशतमशीतिर्जनमेजयाः।
शतं च ब्रह्मदत्तानां वीरिणामीरिणां शतम् ॥ २३ ॥
भीष्माणां द्वे शतेऽप्यत्र भीमानां तु तथा शतम्।
शतं च प्रतिविन्ध्यानां शतं नागाः शतं हयाः ॥ २४ ॥
पलाशानां शतं ज्ञेयं शतं काशकुशादयः।
शान्तनुश्चैव राजेन्द्र पाण्डुश्चैव पिता तव ॥ २५ ॥
उशङ्गवः शतरथो देवराजो जयद्रथः।
वृषदर्भश्च राजर्षिर्बुद्धिमान् सह मन्त्रिभिः ॥ २६ ॥
अथापरे सहस्राणि ये गताः शशबिन्दवः।
इष्ट्वाश्वमेधैर्बहुभिर्महद्भिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २७ ॥
एते राजर्षयः पुण्याः कीर्तिमन्तो बहुश्रुताः।
तस्यां सभायां राजेन्द्र वैवस्वतमुपासते ॥ २८ ॥

ययाति, नहुष, पूरु, मान्धाता, सोमक, नृग, त्रसद्दस्यु, राजर्षि कृतवीर्य, श्रुतश्रवा, अरिष्टनेमि, सिद्ध, कृतवेग, कृति, निमि, प्रतर्दन, शिबि, मत्स्य, पृथुलाक्ष, बृहद्रथ, वार्त, मरुत्त, कुशिक, सांकाश्य, सांकृति, ध्रुव, चतुरश्व, सदश्वोर्मि, राजा कार्तवीर्य अर्जुन, भरत, सुरथ, सुनीथ, निशठ, नल, दिवोदास, सुमना, अम्बरीष, भगीरथ, व्यश्व, सदश्व, वध्यश्व, पृथुवेग, पृथुश्रवा, पृषदश्व, वसुमना, महाबली क्षुप, रुषद्गु, वृषसेन, रथ और ध्वजासे युक्त पुरुकुत्स, आर्ष्टिषेण, दिलीप, महात्मा उशीनर, औशीनरि, पुण्डरीक, शर्याति, शरभ, शुचि, अङ्ग, अरिष्ट, वेन, दुष्यन्त, सृञ्जय, जय, भाङ्गासुरि, सुनीथ, निषधेश्वर, वहीनर, करन्धम, बाह्लिक, सुद्युम्न, बलवान् मधु, इला-नन्दन पुरूरवा, बलवान् राजा मरुत्त, कपोतरोमा, तृणक, सहदेव, अर्जुन, व्यश्व, साश्व, कृशाश्व, राजा शशबिन्दु, महाराज दशरथ, ककुत्स्थ, प्रवर्धन, अलर्क, कक्षसेन, गय, गौराश्व, जमदग्निनन्दन परशुराम, नाभाग, सगर, भूरिद्युम्न, महाश्व, पृथाश्व, जनक, राजा पृथु, वारिसेन, पुरुजित्, जनमेजय, ब्रह्मदत्त, त्रिगर्त, राजा उपरिचर, इन्द्रद्युम्न, भीमजानु, गौरपृष्ठ, अनघ, लय, पद्म, मुचुकुन्द, भूरिद्युम्न, प्रसेनजित्, अरिष्टनेमि, सुद्युम्न, पृथुलाश्व, अष्टक, एक सौ मत्स्य, एक सौ नीप, एक सौ गय, एक सौ धृतराष्ट्र, अस्सी जनमेजय, सौ ब्रह्मदत्त, सौ वीरी, सौ ईरी, दो सौ भीष्म, एक सौ भीम, एक सौ प्रतिविन्ध्य, एक सौ नाग तथा एक सौ हय, सौ पलाश, सौ काश और सौ कुश राजा एवं शान्तनु, तुम्हारे पिता पाण्डु, उशङ्गव, शतरथ, देवराज, जयद्रथ, मन्त्रियोंसहित बुद्धिमान् राजर्षि वृषदर्भ तथा इनके सिवा सहस्रों शशबिन्दुनामक राजा, जो अधिक दक्षिणावाले अनेक महान् अश्वमेधयज्ञोंद्वारा यजन करके धर्मराजके लोकमें गये हुए हैं। राजेन्द्र ! ये सभी पुण्यात्मा, कीर्तिमान् और बहुश्रुत राजर्षि उस सभामें सूर्य-पुत्र यमकी उपासना करते हैं ॥ ८–२८ ॥

अगस्त्योऽथ मतङ्गश्च कालो मृत्युस्तथैव च।
यज्वानश्चैव सिद्धाश्च ये च योगशरीरिणः ॥ २९ ॥
अग्निष्वात्ताश्च पितरः फेनपाश्चोष्मपाश्च ये।
स्वधावन्तो बर्हिषदो मूर्तिमन्तस्तथापरे ॥ ३० ॥
कालचक्रं च साक्षाच्च भगवान् हव्यवाहनः।
नरा दुष्कृतकर्माणो दक्षिणायनमृत्यवः ॥ ३१ ॥
कालस्य नयने युक्ता यमस्य पुरुषाश्च ये।
तस्यां शिंशपपालाशास्तथा काशकुशादयः।
उपासते धर्मराजं मूर्तिमन्तो जनाधिप ॥ ३२ ॥

अगस्त्य, मतङ्ग, काल, मृत्यु, यज्ञकर्ता, सिद्ध, योग-शरीरधारी, अग्निष्वात्त पितर, फेनप, ऊष्मप, स्वधावान्, बर्हिषद् तथा दूसरे मूर्तिमान् पितर, साक्षात् कालचक्र (संवत्सर आदि कालविभागके अभिमानी देवता), भगवान् हव्य-वाहन (अग्नि), दक्षिणायनमें मरनेवाले तथा सकामभावसे दुष्कर (श्रमसाध्य) कर्म करनेवाले मनुष्य, जनेश्वर कालकी आज्ञामें तत्पर यमदूत, शिंशप एवं पलाश, काश और कुश आदिके अभिमानी देवता मूर्तिमान् होकर उस सभामें धर्म-राजकी उपासना करते हैं ॥ २९–३२ ॥

एते चान्ये च बहवः पितृराजसभासदः।
न शक्याः परिसंख्यातुं नामभिः कर्मभिस्तथा ॥ ३३ ॥

ये तथा और भी बहुत-से लोग पितृराज यमकी सभाके सदस्य हैं, जिनके नामों और कर्मोंकी गणना नहीं की जा सकती ॥ ३३ ॥

असम्बाधा हि सा पार्थ रम्या कामगमा सभा।
दीर्घकालं तपस्तप्त्वा निर्मिता विश्वकर्मणा ॥ ३४ ॥

कुन्तीनन्दन ! वह सभा बाधारहित है। वह रमणीय तथा इच्छानुसार गमन करनेवाली है। विश्वकर्माने दीर्घकाल-तक तपस्या करके उसका निर्माण किया है ॥ ३४ ॥

ज्वलन्ती भासमाना च तेजसा स्वेन भारत।
तामुग्रतपसो यान्ति सुव्रताः सत्यवादिनः ॥ ३५ ॥
शान्ताः संन्यासिनः शुद्धाः पूताः पुण्येन कर्मणा।
सर्वे भास्वरदेहाश्च सर्वे च विरजोऽम्बराः ॥ ३६ ॥

भारत ! वह सभा अपने तेजसे प्रज्वलित तथा उद्भासित होती रहती है । कठोर तपस्या और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले, सत्यवादी, शान्त, संन्यासी तथा अपने पुण्यकर्मसे शुद्ध एवं पवित्र हुए पुरुष उस सभामें जाते हैं । उन सबके शरीर तेजसे प्रकाशित होते रहते हैं । सभी निर्मल वस्त्र धारण करते हैं ॥ ३५-३६ ॥

चित्राङ्गदाश्चित्रमाल्याः सर्वे ज्वलितकुण्डलाः ।
सुकृतैः कर्मभिः पुण्यैः पारिबर्हैश्च भूषिताः ॥ ३७ ॥

सभी अद्भुत बाजूबंद, विचित्र हार और जगमगाते हुए कुण्डल धारण करते हैं । वे अपने पवित्र शुभ कर्मों तथा वस्त्राभूषणोंसे भी विभूषित होते हैं ॥ ३७ ॥

गन्धर्वाश्च महात्मानः सङ्घशश्चाप्सरोगणाः ।
वादित्रं नृत्यगीतं च हास्यं लास्यं च सर्वशः ॥ ३८ ॥

कितने ही महामना गन्धर्व और झुंड-की-झुंड अप्सराएँ उस सभामें उपस्थित हो सब प्रकारके वाद्य, नृत्य, गीत, हास्य और लास्यकी उत्तम कलाका प्रदर्शन करती हैं ॥ ३८ ॥

पुण्याश्च गन्धाः शब्दाश्च तस्यां पार्थ समन्ततः ।
दिव्यानि चैव माल्यानि उपतिष्ठन्ति नित्यशः ॥ ३९ ॥

कुन्तीकुमार ! उस सभामें सदा सब ओर पवित्र गन्ध, मधुर शब्द और दिव्य मालाओंके सुखद स्पर्श प्राप्त होते रहते हैं ॥ ३९ ॥

शतं शतसहस्राणि धर्मिणां तं प्रजेश्वरम् ।
उपासते महात्मानं रूपयुक्ता मनस्विनः ॥ ४० ॥

सुन्दर रूप धारण करनेवाले एक करोड़ धर्मात्मा एवं मनस्वी पुरुष महात्मा यमकी उपासना करते हैं ॥ ४० ॥

ईदृशी सा सभा राजन् पितृराज्ञो महात्मनः ।
वरुणस्यापि वक्ष्यामि सभां पुष्करमालिनीम् ॥ ४१ ॥

राजन् ! पितृराज महात्मा यमकी सभा ऐसी ही है । अब मैं वरुणकी मूर्तिमान् पुष्कर आदि तीर्थमालाओंसे सुशोभित सभाका भी वर्णन करूँगा ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि यमसभावर्णनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें यम-सभा-वर्णननामक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

वरुणकी सभाका वर्णन

नारद उवाच

युधिष्ठिर सभा दिव्या वरुणस्यामितप्रभा ।
प्रमाणेन यथा याम्या शुभप्राकारतोरणा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! वरुणदेवकी दिव्य सभा अपनी अनन्त कान्तिसे प्रकाशित होती रहती है । उसकी भी लम्बाई-चौड़ाईका मान वही है, जो यमराजकी सभाका है । उसके परकोटे और फाटक बड़े सुन्दर हैं ॥ १ ॥

अन्तःसलिलमास्थाय विहिता विश्वकर्मणा ।
दिव्यै रत्नमयैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युता ॥ २ ॥

विश्वकर्माने उस सभाको जलके भीतर रहकर बनाया है । वह फल-फूल देनेवाले दिव्य रत्नमय वृक्षोंसे सुशोभित होती है ॥ २ ॥

नीलपीतासितश्यामैः सितैर्लोहितकैरपि ।
अवतानैस्तथा गुल्मैर्मञ्जरीजालधारिभिः ॥ ३ ॥

उस सभाके भिन्न-भिन्न प्रदेश नीले-पीले, काले, सफेद और लाल रंगके लतागुल्मोंसे आच्छादित हैं । उन लताओंने मनोहर मञ्जरीपुञ्ज धारण कर रक्खे हैं ॥ ३ ॥

तथा शकुनयस्तस्यां विचित्रा मधुरस्वराः ।
अनिर्देश्या वपुष्मन्तः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ४ ॥

सभाभवनके भीतर विचित्र और मधुर स्वरसे बोलनेवाले सैकड़ों-हजारों पक्षी चहकते रहते हैं । उनके विलक्षण रूप-सौन्दर्यका वर्णन नहीं हो सकता । उनकी आकृति बड़ी सुन्दर है ॥ ४ ॥

सा सभा सुखसंस्पर्शा न शीता न च घर्मदा ।
वेश्मासनवती रम्या सिता वरुणपालिता ॥ ५ ॥

वरुणकी सभाका स्पर्श बड़ा ही सुखद है, वहाँ न सर्दी है, न गर्मी । उसका रंग श्वेत है, उसमें कितने ही कमरे और आसन (दिव्य मञ्च आदि) सजाये गये हैं । वरुणजीके द्वारा सुरक्षित वह सभा बड़ी रमणीय जान पड़ती है ॥ ५ ॥

यस्यामास्ते स वरुणो वारुण्या च समन्वितः ।
दिव्यरत्नाम्बरधरो दिव्याभरणभूषितः ॥ ६ ॥

उसमें दिव्य रत्नों और वस्त्रोंको धारण करनेवाले तथा दिव्य अलङ्कारोंसे अलंकृत वरुणदेव वारुणी देवीके साथ विराजमान होते हैं ॥ ६ ॥

स्रग्विणो दिव्यगन्धाश्च दिव्यगन्धानुलेपनाः ।
आदित्यास्तत्र वरुणं जलेश्वरमुपासते ॥ ७ ॥

उस सभामें दिव्य हार, दिव्य सुगन्ध तथा दिव्य चन्दनका अङ्गराग धारण करनेवाले आदित्यगण जलके स्वामी वरुणकी उपासना करते हैं ॥ ७ ॥

वासुकिस्तक्षकश्चैव नागश्चैरावतस्तथा ।
कृष्णश्च लोहितश्चैव पद्मश्चित्रश्च वीर्यवान् ॥ ८ ॥

वासुकि नाग, तक्षक, ऐरावतनाग, कृष्ण, लोहित, पद्म और पराक्रमी चित्र, ॥ ८ ॥

कम्बलाश्वतरौ नागौ धृतराष्ट्रबलाहकौ ।
(मणिनागश्च नागश्च मणिः शङ्खनखस्तथा ।
कौरव्यः स्वस्तिकश्चैव एलापत्रश्च वामनः ॥
अपराजितश्च दोषश्च नन्दकः पूरणस्तथा ।
अभीकः शिभिकः श्वेतो भद्रो भद्रेश्वरस्तथा ॥)
मणिमान् कुण्डधारश्च कर्कोटकधनंजयौ ॥ ९ ॥

कम्बल, अश्वतर, धृतराष्ट्र, बलाहक, मणिनाग, नाग, मणि, शङ्खनख, कौरव्य, स्वस्तिक, एलापत्र, वामन, अपराजित, दोष, नन्दक, पूरण, अभीक, शिभिक, श्वेत, भद्र, भद्रेश्वर, मणिमान्, कुण्डधार, कर्कोटक, धनञ्जय, ॥ ९ ॥

पाणिमान् कुण्डधारश्च बलवान् पृथिवीपते ।
प्रह्लादो मूषिकादश्च तथैव जनमेजयः ॥ १० ॥
पताकिनो मण्डलिनः फणावन्तश्च सर्वशः ।
(अनन्तश्च महानागो यं स दृष्ट्वा जलेश्वरः ।
अभ्यर्चयति सत्कारैरासनेन च तं विभुम् ॥
वासुकिप्रमुखाश्चैव सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ।
अनुज्ञाताश्च शेषेण यथार्हमुपविश्य च ॥)
एते चान्ये च बहवः सर्पास्तस्यां युधिष्ठिर ।
उपासते महात्मानं वरुणं विगतक्लमाः ॥ ११ ॥

पाणिमान्, बलवान् कुण्डधार, प्रह्लाद, मूषिकाद, जनमेजय आदि नाग जो पताका, मण्डल और फणोंसे सुशोभित वहाँ उपस्थित होते हैं, महानाग भगवान् अनन्त भी वहाँ स्थित होते हैं, जिन्हें देखते ही जलके स्वामी वरुण आसन आदि देते और सत्कारपूर्वक उनका पूजन करते हैं । वासुकि आदि सभी नाग हाथ जोड़कर उनके सामने खड़े होते और भगवान् शेषकी आज्ञा पाकर यथायोग्य आसनोंपर बैठकर वहाँकी शोभा बढ़ाते हैं । युधिष्ठिर ! ये तथा और भी बहुत-से नाग उस सभामें क्लेशरहित हो महात्मा वरुणकी उपासना करते हैं ॥ १०-११ ॥

बलिर्वैरोचनो राजा नरकः पृथिवींजयः ।
प्रह्लादो विप्रचित्तिश्च कालखञ्जाश्च दानवाः ॥ १२ ॥
सुहनुर्दुर्मुखः शङ्खः सुमनाः सुमतिस्ततः ।
घटोदरो महापार्श्वः क्रथनः पिठरस्तथा ॥ १३ ॥
विश्वरूपः स्वरूपश्च विरूपोऽथ महाशिराः ।
दशग्रीवश्च वाली च मेघवासा दशावरः ॥ १४ ॥
टिट्टिभो विटभूतश्च संह्रादश्चेन्द्रतापनः ।
दैत्यदानवसङ्घाश्च सर्वे रुचिरकुण्डलाः ॥ १५ ॥
स्रग्विणो मौलिनश्चैव तथा दिव्यपरिच्छदाः ।
सर्वे लब्धवराः शूराः सर्वे विगतमृत्यवः ॥ १६ ॥
ते तस्यां वरुणं देवं धर्मपाशधरं सदा ।
उपासते महात्मानं सर्वे सुचरितव्रताः ॥ १७ ॥

विरोचनपुत्र राजा बलि, पृथ्वीविजयी नरकासुर, प्रह्लाद, विप्रचित्ति, कालखञ्ज दानव, सुहनु, दुर्मुख, शङ्ख, सुमना, सुमति, घटोदर, महापार्श्व, क्रथन, पिठर, विश्वरूप, स्वरूप, विरूप, महाशिरा, दशमुख रावण, वाली, मेघवासा, दशावर, टिट्टिभ, विटभूत, संह्राद तथा इन्द्रतापन आदि सभी दैत्यों और दानवोंके समुदाय मनोहर कुण्डल, सुन्दर हार, किरीट तथा दिव्य वस्त्राभूषण धारण किये उस सभामें धर्मपाशधारी महात्मा वरुणदेवकी सदा उपासना करते हैं । वे सभी दैत्य वरदान पाकर शौर्यसम्पन्न हो मृत्यु-रहित हो गये हैं । उनका चरित्र एवं व्रत बहुत उत्तम है ॥ १२–१७ ॥

तथा समुद्राश्चत्वारो नदी भागीरथी च सा ।
कालिन्दी विदिशा वेणा नर्मदा वेगवाहिनी ॥ १८ ॥

चारों समुद्र, भागीरथी नदी, कालिन्दी, विदिशा, वेणा, नर्मदा, वेगवाहिनी, ॥ १८ ॥

विपाशा च शतद्रुश्च चन्द्रभागा सरस्वती ।
इरावती वितस्ता च सिन्धुर्देवनदी तथा ॥ १९ ॥

विपाशा, शतद्रु, चन्द्रभागा, सरस्वती, इरावती, वितस्ता, सिन्धु, देवनदी, ॥ १९ ॥

गोदावरी कृष्णवेणा कावेरी च सरिद्वरा ।
किम्पुना च विशल्या च तथा वैतरणी नदी ॥ २० ॥

गोदावरी, कृष्णवेणा, सरिताओंमें श्रेष्ठ कावेरी, किम्पुना, विशल्या, वैतरणी, ॥ २० ॥

तृतीया ज्येष्ठिला चैव शोणश्चापि महानदः ।
चर्मण्वती तथा चैव पर्णाशा च महानदी ॥ २१ ॥

तृतीया, ज्येष्ठिला, महानद शोण, चर्मण्वती, पर्णाशा, महानदी, ॥ २१ ॥

सरयूर्वारवत्याथ लाङ्गली च सरिद्वरा ।
करतोया तथात्रेयी लौहित्यश्च महानदः ॥ २२ ॥

सरयू, वारवत्या, सरिताओंमें श्रेष्ठ लाङ्गली, करतोया, आत्रेयी, महानद लौहित्य, ॥ २२ ॥

लङ्घती गोमती चैव संध्या त्रिःस्रोतसी तथा ।
एताश्चान्याश्च राजेन्द्र सुतीर्था लोकविश्रुताः ॥ २३ ॥

भरतवंशी राजेन्द्र युधिष्ठिर ! लङ्घती, गोमती, संध्या और त्रिस्रोतसी, ये तथा दूसरे लोकविख्यात उत्तम तीर्थ (वहाँ वरुणकी उपासना करते हैं) ॥ २३ ॥

सरितः सर्वतश्चान्यास्तीर्थानि च सरांसि च ।
कूपाश्च सप्रस्रवणा देहवन्तो युधिष्ठिर ॥ २४ ॥
पल्वलानि तडागानि देहवन्त्यथ भारत ।
दिशस्तथा मही चैव तथा सर्वे महीधराः ॥ २५ ॥
उपासते महात्मानं सर्वे जलचरास्तथा ।

समस्त सरिताएँ, जलाशय, सरोवर, कूप, झरने, पोखरे और तालाब, सम्पूर्ण दिशाएँ, पृथ्वी, पर्वत तथा सम्पूर्ण जलचर जीव अपने-अपने स्वरूप धारण करके महात्मा वरुणकी उपासना करते हैं ॥ २४-२५½ ॥

गीतवादित्रवन्तश्च गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ २६ ॥
स्तुवन्तो वरुणं तस्यां सर्व एव समासते ।

सभी गन्धर्व और अप्सराओंके समुदाय भी गीत गाते और बाजे बजाते हुए उस सभामें वरुणदेवताकी स्तुति एवं उपासना करते हैं ॥ २६½ ॥

महीधरा रत्नवन्तो रसा ये च प्रतिष्ठिताः ॥ २७ ॥
कथयन्तः सुमधुराः कथास्तत्र समासते ।

रत्नयुक्त पर्वत और प्रतिष्ठित रस (मूर्तिमान् होकर) अत्यन्त मधुर कथाएँ कहते हुए वहाँ निवास करते हैं ॥ २७½ ॥

वारुणश्च तथा मन्त्री सुनाभः पर्युपासते ॥ २८ ॥
पुत्रपौत्रैः परिवृतो गोनाम्ना पुष्करेण च ।

वरुणका मन्त्री सुनाभ अपने पुत्र-पौत्रोंसे घिरा हुआ गौ तथा पुष्कर नामवाले तीर्थके साथ वरुणदेवकी उपासना करता है ॥ २८½ ॥

सर्वे विग्रहवन्तस्ते तमीश्वरमुपासते ॥ २९ ॥

ये सभी शरीर धारण करके लोकेश्वर वरुणकी उपासना करते रहते हैं ॥ २९ ॥

एषा मया सम्पतता वारुणी भरतर्षभ ।
दृष्टपूर्वा सभा रम्या कुबेरस्य सभां शृणु ॥ ३० ॥

भरतश्रेष्ठ ! पहले सब ओर घूमते हुए मैंने वरुणजीकी इस रमणीय सभाका भी दर्शन किया है । अब तुम कुबेरकी सभाका वर्णन सुनो ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि वरुणसभावर्णने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें वरुण-सभा-वर्णनविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३४ श्लोक हैं)

दशमोऽध्यायः

कुबेरकी सभाका वर्णन

नारद उवाच

सभा वैश्रवणी राजञ्छतयोजनमायता ।
विस्तीर्णा सप्ततिश्चैव योजनानि सितप्रभा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन् ! कुबेरकी सभा सौ योजन लंबी और सत्तर योजन चौड़ी है, वह अत्यन्त श्वेतप्रभासे युक्त है ॥ १ ॥

तपसा निर्जिता राजन् स्वयं वैश्रवणेन सा ।
शशिप्रभा प्रावरणा कैलासशिखरोपमा ॥ २ ॥

युधिष्ठिर ! विश्रवाके पुत्र कुबेरने स्वयं ही तपस्या करके उस सभाको प्राप्त किया है । वह अपनी धवल कान्तिसे चन्द्रमाकी चाँदनीको भी तिरस्कृत कर देती है और देखनेमें कैलासशिखर-सी जान पड़ती है ॥ २ ॥

गुह्यकैरुह्यमाना सा खे विषक्तेव शोभते ।
दिव्या हेममयैरुच्चैः प्रासादैरुपशोभिता ॥ ३ ॥

गुह्यकगण जब उस सभाको उठाकर ले चलते हैं, उस समय वह आकाशमें सटी हुई-सी सुशोभित होती है । यह दिव्य सभा ऊँचे सुवर्णमय महलोंसे शोभायमान होती है ॥ ३ ॥

महारत्नवती चित्रा दिव्यगन्धा मनोरमा ।
सिताभ्रशिखराकारा प्लवमानेव दृश्यते ॥ ४ ॥

महान् रत्नोंसे उसका निर्माण हुआ है । उसकी झाँकी बड़ी विचित्र है । उससे दिव्य सुगन्ध फैलती रहती है और वह दर्शकके मनको अपनी ओर खींच लेती है । श्वेत बादलोंके शिखर-सी प्रतीत होनेवाली वह सभा आकाशमें तैरती-सी दिखायी देती है ॥ ४ ॥

दिव्या हेममयैरङ्गैर्विद्युद्भिरिव चित्रिता ।

उस दिव्य सभाकी दीवारें विद्युत्के समान उद्दीप्त होनेवाले सुनहले रंगोंसे चित्रित की गयी हैं ॥ ४½ ॥

तस्यां वैश्रवणो राजा विचित्राभरणाम्बरः ॥ ५ ॥
स्त्रीसहस्रैर्वृतः श्रीमानास्ते ज्वलितकुण्डलः ।
दिवाकरनिभे पुण्ये दिव्यास्तरणसंवृते ।
दिव्यपादोपधाने च निषण्णः परमासने ॥ ६ ॥

उस सभामें सूर्यके समान चमकीले दिव्य बिछौनोंसे ढके हुए तथा दिव्य पादपीठोंसे सुशोभित श्रेष्ठ सिंहासनपर कानोंमें ज्योतिसे जगमगाते कुण्डल और अङ्गोंमें विचित्र वस्त्र एवं आभूषण धारण करनेवाले श्रीमान् राजा वैश्रवण (कुबेर) सहस्रों स्त्रियोंसे घिरे हुए बैठते हैं ॥ ५-६ ॥

मन्दाराणामुदाराणां वनानि परिलोडयन् ।
सौगन्धिकवनानां च गन्धं गन्धवहो वहन् ॥ ७ ॥

नलिन्याश्चालकाख्याया नन्दनस्य वनस्य च ।
शीतो हृदयसंह्लादी वायुस्तमुपसेवते ॥ ८ ॥

(अपने पास आये हुए याचककी प्रत्येक इच्छा पूर्ण करनेमें अत्यन्त) उदार मन्दार वृक्षोंके वनोंको आन्दोलित करता तथा सौगन्धिक कानन, अलका नामक पुष्करिणी और नन्दन वनकी सुगन्धका भार वहन करता हुआ हृदयको आनन्द प्रदान करनेवाला गन्धवाही शीतल समीर उस सभामें कुबेरकी सेवा करता है ॥ ७-८ ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वा गणैरप्सरसां वृताः ।
दिव्यतानैर्महाराज गायन्ति स्म सभागताः ॥ ९ ॥

महाराज ! देवता और गन्धर्व अप्सराओंके साथ उस सभामें आकर दिव्य तानोंसे युक्त गीत गाते हैं ॥ ९ ॥

मिश्रकेशी च रम्भा च चित्रसेना शुचिस्मिता ।
चारुनेत्रा घृताची च मेनका पुञ्जिकस्थला ॥ १० ॥
विश्वाची सहजन्या च प्रम्लोचा उर्वशी इरा ।
वर्गा च सौरभेयी च समीची बुद्बुदा लता ॥ ११ ॥
एताः सहस्रशश्चान्या नृत्यगीतविशारदाः ।
उपतिष्ठन्ति धनदं गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ १२ ॥

मिश्रकेशी, रम्भा, चित्रसेना, शुचिस्मिता, चारुनेत्रा, घृताची, मेनका, पुञ्जिकस्थला, विश्वाची, सहजन्या, प्रम्लोचा, उर्वशी, इरा, वर्गा, सौरभेयी, समीची, बुद्बुदा तथा लता आदि नृत्य और गीतमें कुशल सहस्रों अप्सराओं और गन्धर्वोंके गण कुबेरकी सेवामें उपस्थित होते हैं ॥ १०–१२ ॥

अनिशं दिव्यवादित्रैर्नृत्यगीतैश्च सा सभा ।
अशून्या रुचिरा भाति गन्धर्वाप्सरसां गणैः ॥ १३ ॥

गन्धर्व और अप्सराओंके समुदायसे भरी तथा दिव्य वाद्य, नृत्य एवं गीतोंसे निरन्तर गूँजती हुई कुबेरकी वह सभा बड़ी मनोहर जान पड़ती है ॥ १३ ॥

किन्नरा नाम गन्धर्वा नरा नाम तथा परे ॥ १४ ॥
मणिभद्रोऽथ धनदः श्वेतभद्रश्च गुह्यकः ।
कशेरको गण्डकण्डूः प्रद्योतश्च महाबलः ॥ १५ ॥
कुस्तुम्बुरुः पिशाचश्च गजकर्णो विशालकः ।
वराहकर्णस्ताम्रोष्ठः फलकक्षः फलोदकः ॥ १६ ॥
हंसचूडः शिखावर्तो हेमनेत्रो विभीषणः ।
पुष्पाननः पिङ्गलकः शोणितोदः प्रवालकः ॥ १७ ॥
वृक्षवास्यनिकेतश्च चीरवासाश्च भारत ।
एते चान्ये च बहवो यक्षाः शतसहस्रशः ॥ १८ ॥

किन्नर तथा नर नामवाले गन्धर्व, मणिभद्र, धनद, श्वेतभद्र गुह्यक, कशेरक, गण्डकण्डू, महाबली प्रद्योत, कुस्तुम्बुरु पिशाच, गजकर्ण, विशालक, वराहकर्ण, ताम्रोष्ठ, फलकक्ष, फलोदक, हंसचूड, शिखावर्त, हेमनेत्र, विभीषण, पुष्पानन, पिङ्गलक, शोणितोद, प्रवालक, वृक्षवासी, अनिकेत तथा चीरवासा, भारत! ये तथा दूसरे बहुत-से यक्ष लाखोंकी संख्यामें उपस्थित होकर उस सभामें कुबेरकी सेवा करते हैं ॥ १४–१८ ॥

सदा भगवती लक्ष्मीस्तत्रैव नलकूबरः ।
अहं च बहुशस्तस्यां भवन्त्यन्ये च मद्विधाः ॥ १९ ॥

धन-सम्पत्तिकी अधिष्ठात्री देवी भगवती लक्ष्मी, नलकूबर, मैं तथा मेरे-जैसे और भी बहुत-से लोग प्रायः उस सभामें उपस्थित होते हैं ॥ १९ ॥

ब्रह्मर्षयो भवन्त्यत्र तथा देवर्षयोऽपरे ।
क्रव्यादाश्च तथैवान्ये गन्धर्वाश्च महाबलाः ॥ २० ॥
उपासते महात्मानं तस्यां धनदमीश्वरम् ।

ब्रह्मर्षि, देवर्षि तथा अन्य ऋषिगण उस सभामें विराजमान होते हैं। इनके सिवा, बहुत-से पिशाच और महाबली गन्धर्व वहाँ लोकपाल महात्मा धनदकी उपासना करते हैं ॥ २०½ ॥

भगवान् भूतसङ्घैश्च वृतः शतसहस्रशः ॥ २१ ॥
उमापतिः पशुपतिः शूलभृद् भगनेत्रहा ।
त्र्यम्बको राजशार्दूल देवी च विगतक्लमा ॥ २२ ॥
वामनैर्विकटैः कुब्जैः क्षतजाक्षैर्महारवैः ।
मेदोमांसाशनैरुग्रैरुग्रधन्वा महाबलः ॥ २३ ॥
नानाप्रहरणैरुग्रैर्वातैरिव महाजवैः ।
वृतः सखायमन्वास्ते सदैव धनदं नृप ॥ २४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! लाखों भूतसमूहोंसे घिरे हुए उग्र धनुर्धर महाबली पशुपति (जीवोंके स्वामी), शूलधारी, भगदेवताके नेत्र नष्ट करनेवाले तथा त्रिलोचन भगवान् उमापति और क्लेशरहित देवी पार्वती ये दोनों वामन, विकट, कुब्ज, लाल नेत्रोंवाले, महान् कोलाहल करनेवाले, मेदा और मांस खानेवाले, अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले तथा वायुके समान महान् वेगशाली भयानक भूत-प्रेतादिके साथ उस सभामें सदैव धन देनेवाले अपने मित्र कुबेरके पास बैठते हैं ॥ २२–२४ ॥

प्रहृष्टाः शतशश्चान्ये बहुशः सपरिच्छदाः ।
गन्धर्वाणां च पतयो विश्वावसुर्हहाहुहूः ॥ २५ ॥
तुम्बुरुः पर्वतश्चैव शैलूषश्च तथापरः ।
चित्रसेनश्च गीतज्ञस्तथा चित्ररथोऽपि च ॥ २६ ॥
एते चान्ये च गन्धर्वा धनेश्वरमुपासते ।

इनके सिवा और भी विविध वस्त्राभूषणोंसे विभूषित और प्रसन्नचित्त सैकड़ों गन्धर्वपति विश्वावसु, हाहा, हूहू, तुम्बुरु, पर्वत, शैलूष, संगीतज्ञ चित्रसेन तथा चित्ररथ—ये और अन्य गन्धर्व भी धनाध्यक्ष कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ २५-२६½ ॥

विद्याधराधिपश्चैव चक्रधर्मा सहानुजैः ॥ २७ ॥
उपाचरति तत्र स धनानामीश्वरं प्रभुम् ॥ २८ ॥

विद्याधरोंके अधिपति चक्रधर्मा भी अपने छोटे भाइयोंके साथ वहाँ धनेश्वर भगवान् कुबेरकी आराधना करते हैं ॥ २७-२८ ॥

आसते चापि राजानो भगदत्तपुरोगमाः ।
द्रुमः किम्पुरुषेशश्च उपास्ते धनदेश्वरम् ॥ २९ ॥

भगदत्त आदि राजा भी उस सभामें बैठते हैं तथा किन्नरोंके स्वामी द्रुम कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ २९ ॥

राक्षसाधिपतिश्चैव महेन्द्रो गन्धमादनः ।
सह यक्षैः सगन्धर्वैः सह सर्वैर्निशाचरैः ॥ ३० ॥
विभीषणश्च धर्मिष्ठ उपास्ते भ्रातरं प्रभुम् ।

महेन्द्र, गन्धमादन एवं धर्मनिष्ठ राक्षसराज विभीषण भी यक्षों, गन्धर्वों तथा सम्पूर्ण निशाचरोंके साथ अपने भाई भगवान् कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ ३०½ ॥

हिमवान् पारियात्रश्च विन्ध्यकैलासमन्दराः ॥ ३१ ॥
मलयो दर्दुरश्चैव महेन्द्रो गन्धमादनः ।
इन्द्रकीलः सुनाभश्च तथा दिव्यौ च पर्वतौ ॥ ३२ ॥
एते चान्ये च बहवः सर्वे मेरुपुरोगमाः ।
उपासते महात्मानं धनानामीश्वरं प्रभुम् ॥ ३३ ॥

हिमवान्, पारियात्र, विन्ध्य, कैलास, मन्दराचल, मलय, दर्दुर, महेन्द्र, गन्धमादन और इन्द्रकील तथा सुनाभ नामवाले दोनों दिव्य पर्वत—ये तथा अन्य सब मेरु आदि बहुत-से पर्वत धनके स्वामी महामना प्रभु कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ ३१—३३ ॥

नन्दीश्वरश्च भगवान् महाकालस्तथैव च ।
शङ्कुकर्णमुखाः सर्वे दिव्याः पारिषदास्तथा ॥ ३४ ॥
काष्ठः कुटीमुखो दन्ती विजयश्च तपोऽधिकः ।
श्वेतश्च वृषभस्तत्र नर्दन्नास्ते महाबलः ॥ ३५ ॥

भगवान् नन्दीश्वर, महाकाल तथा शङ्कुकर्ण आदि भगवान् शिवके सभी दिव्य-पार्षद काष्ठ, कुटीमुख, दन्ती, तपस्वी विजय तथा गर्जनशील महाबली श्वेत वृषभ वहाँ उपस्थित रहते हैं ॥ ३४-३५ ॥

धनदं राक्षसाश्चान्ये पिशाचाश्च उपासते ।
पारिषदैः परिवृतमुपायान्तं महेश्वरम् ॥ ३६ ॥
सदा हि देवदेवेशं शिवं त्रैलोक्यभावनम् ।
प्रणम्य मूर्ध्ना पौलस्त्यो बहुरूपमुमापतिम् ॥ ३७ ॥
ततोऽभ्यनुज्ञां सम्प्राप्य महादेवाद् धनेश्वरः ।
आस्ते कदाचिद् भगवान् भवो धनपतेः सखा ॥ ३८ ॥

दूसरे-दूसरे राक्षस और पिशाच भी धनदाता कुबेरकी उपासना करते हैं । पार्षदोंसे घिरे हुए देवदेवेश्वर, त्रिभुवन-भावन, बहुरूपधारी, कल्याणस्वरूप, उमावल्लभ भगवान् महेश्वर जब उस सभामें पधारते हैं, तब पुलस्त्यनन्दन धनाध्यक्ष कुबेर उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करते और उनकी आज्ञा ले उन्हींके पास बैठ जाते हैं । उनका सदाका यही नियम है । कुबेरके सखा भगवान् शङ्कर कभी-कभी उस सभामें पदार्पण किया करते हैं ॥ ३६—३८ ॥

निधिप्रवरमुख्यौ च शङ्खपद्मौ धनेश्वरौ ।
सर्वान् निधीन् प्रगृह्याथ उपासाते धनेश्वरम् ॥ ३९ ॥

श्रेष्ठ निधियोंमें प्रमुख और धनके अधीश्वर शङ्ख तथा पद्म—ये दोनों (मूर्तिमान् हो) अन्य सब निधियोंको साथ ले धनाध्यक्ष कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ ३९ ॥

सा सभा तादृशी रम्या मया दृष्टान्तरिक्षगा ।
पितामहसभां राजन् कीर्तयिष्ये निबोध ताम् ॥ ४० ॥

राजन् ! कुबेरकी वैसी रमणीय सभा जो आकाशमें विचरनेवाली है, मैंने अपनी आँखों देखी है । अब मैं ब्रह्माजीकी सभाका वर्णन करूँगा, उसे सुनो ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि धनदसभावर्णनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें कुबेर-सभावर्णननामक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

ब्रह्माजीकी सभाका वर्णन

नारद उवाच

पितामहसभां तात कथ्यमानां निबोध मे ।
शक्यते या न निर्देष्टुमेवंरूपेति भारत ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तात भारत ! अब तुम मेरे मुखसे कही हुई पितामह ब्रह्माजीकी सभाका वर्णन सुनो ! वह सभा ऐसी है, इस रूपसे नहीं बतलायी जा सकती ॥ १ ॥

पुरा देवयुगे राजन्नादित्यो भगवान् दिवः ।
आगच्छन्मानुषं लोकं दिदृक्षुर्विगतक्लमः ॥ २ ॥
चरन् मानुषरूपेण सभां दृष्ट्वा स्वयम्भुवः ।
स तामकथयन्मह्यं ब्राह्मीं तत्त्वेन पाण्डव ॥ ३ ॥

राजन् ! पहले सत्ययुगकी बात है, भगवान् सूर्य ब्रह्माजीकी सभा देखकर फिर मनुष्यलोकको देखनेके लिये बिना परिश्रमके ही द्युलोकसे उतरकर इस लोकमें आये और मनुष्यरूपसे इधर-उधर विचरने लगे। पाण्डुनन्दन ! सूर्यदेवने मुझसे उस ब्राह्मी सभाका यथार्थतः वर्णन किया ॥ २-३ ॥

अप्रमेयां सभां दिव्यां मानसीं भरतर्षभ।
अनिर्देश्यां प्रभावेण सर्वभूतमनोरमाम्॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वह सभा अप्रमेय, दिव्य, ब्रह्माजीके मानसिक संकल्पसे प्रकट हुई तथा समस्त प्राणियोंके मनको मोह लेनेवाली है। उसका प्रभाव अवर्णनीय है॥ ४ ॥

श्रुत्वा गुणानहं तस्याः सभायाः पाण्डवर्षभ।
दर्शनेप्सुस्तथा राजन्नादित्यमिदमब्रवम्॥ ५ ॥

पाण्डुकुलभूषण युधिष्ठिर ! उस सभाके अलौकिक गुण सुनकर मेरे मनमें उसके दर्शनकी इच्छा जाग उठी और मैंने सूर्यदेवसे कहा—॥ ५ ॥

भगवन् द्रष्टुमिच्छामि पितामहसभां शुभाम्।
येन वा तपसा शक्या कर्मणा वापि गोपते॥ ६ ॥
औषधैर्वा तथा युक्तैरुत्तमा पापनाशिनी।
तन्ममाचक्ष्व भगवन् पश्येयं तां सभां यथा॥ ७ ॥

'भगवन् ! मैं भी ब्रह्माजीकी कल्याणमयी सभाका दर्शन करना चाहता हूँ। किरणोंके स्वामी सूर्यदेव ! जिस तपस्यासे, सत्कर्मसे अथवा उपयुक्त ओषधियोंके प्रभावसे उस पापनाशिनी उत्तम सभाका दर्शन हो सके, वह मुझे बताइये। भगवन् ! मैं जैसे भी उस सभाको देख सकूँ, उस उपायका वर्णन कीजिये' ॥ ६-७ ॥

स तन्मम वचः श्रुत्वा सहस्रांशुर्दिवाकरः।
प्रोवाच भरतश्रेष्ठ व्रतं वर्षसहस्रिकम्॥ ८ ॥
ब्रह्मव्रतमुपास्स्व त्वं प्रयतेनान्तरात्मना।
ततोऽहं हिमवत्पृष्ठे समारब्धो महाव्रतम्॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मेरी वह बात सुनकर सहस्रों किरणोंवाले भगवान् दिवाकरने कहा—'तुम एकाग्रचित्त होकर ब्रह्माजीके व्रतका पालन करो। वह श्रेष्ठ व्रत एक हजार वर्षोंमें पूर्ण होगा।' तब मैंने हिमालयके शिखरपर आकर उस महान् व्रतका अनुष्ठान आरम्भ कर दिया ॥ ८-९ ॥

ततः स भगवान् सूर्यो मामुपादाय वीर्यवान्।
आगच्छत् तां सभां ब्राह्मीं विपाप्मा विगतक्लमः॥ १० ॥

तदनन्तर मेरी तपस्या पूर्ण होनेपर पापरहित, क्लेशशून्य और परम शक्तिशाली भगवान् सूर्य मुझे साथ ले ब्रह्माजीकी उस सभामें गये ॥ १० ॥

एवंरूपेति सा शक्या न निर्देष्टुं नराधिप।
क्षणेन हि बिभर्त्यन्यदनिर्देश्यं वपुस्तथा॥ ११ ॥

राजन् ! वह सभा 'ऐसी ही है' इस प्रकार नहीं बतायी जा सकती; क्योंकि वह एक-एक क्षणमें दूसरा अनिर्वचनीय स्वरूप धारण कर लेती है ॥ ११ ॥

न वेद परिमाणं वा संस्थानं चापि भारत।
न च रूपं मया तादृग् दृष्टपूर्वं कदाचन॥ १२ ॥

भारत ! उसकी लंबाई-चौड़ाई कितनी है अथवा उसकी स्थिति क्या है, यह सब मैं कुछ नहीं जानता। मैंने किसी भी सभाका वैसा स्वरूप पहले कभी नहीं देखा था ॥ १२ ॥

सुसुखा सा सदा राजन् न शीता न च घर्मदा।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिं प्राप्य तां प्राप्नुवन्त्युत॥ १३ ॥

राजन् ! वह सदा उत्तम सुख देनेवाली है। वहाँ न सर्दीका अनुभव होता है, न गर्मीका। उस सभामें पहुँच जानेपर लोगोंको भूख, प्यास और ग्लानिका अनुभव नहीं होता ॥ १३ ॥

नानारूपैरिव कृता मणिभिः सा सुभास्वरैः।
स्तम्भैर्न च धृता सा तु शाश्वती न च सा क्षरा॥१४॥

वह सभा अनेक प्रकारकी अत्यन्त प्रकाशमान मणियोंसे निर्मित हुई है। वह खंभोंके आधारपर नहीं टिकी है और उसमें कभी क्षयरूप विकार न आनेके कारण वह नित्य मानी गयी है * ॥ १४ ॥

दिव्यैर्नानाविधैर्भावैर्भासद्भिरमितप्रभैः॥ १५ ॥
अति चन्द्रं च सूर्यं च शिखिनं च स्वयम्प्रभा।
दीप्यते नाकपृष्ठस्था भर्त्सयन्तीव भास्करम्॥ १६ ॥

अनन्त प्रभावाले नाना प्रकारके प्रकाशमान दिव्य पदार्थोंद्वारा अग्नि, चन्द्रमा और सूर्यसे भी अधिक स्वयं ही प्रकाशित होनेवाली वह सभा अपने तेजसे सूर्यमण्डलको तिरस्कृत करती हुई-सी स्वर्गसे भी ऊपर स्थित हुई प्रकाशित हो रही है ॥ १५-१६ ॥

तस्यां स भगवानास्ते विदधद् देवमायया।
स्वयमेकोऽनिशं राजन् सर्वलोकपितामहः॥ १७ ॥

राजन् ! उस सभामें सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजी देवमायाद्वारा समस्त जगत्की स्वयं ही सृष्टि करते हुए सदा अकेले ही विराजमान होते हैं ॥ १७ ॥

उपतिष्ठन्ति चाप्येनं प्रजानां पतयः प्रभुम्।
दक्षः प्रचेताः पुलहो मरीचिः कश्यपः प्रभुः॥ १८ ॥

भारत ! वहाँ दक्ष आदि प्रजापतिगण उन भगवान् ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित होते हैं। दक्ष, प्रचेता, पुलह, मरीचि, प्रभावशाली कश्यप, ॥ १८ ॥

* 'एतत् सत्यं ब्रह्मपुरम्' इस श्रुतिसे भी उसकी नित्यता ही सूचित होती है।

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च गौतमोऽथ तथाङ्गिराः ।
पुलस्त्यश्च क्रतुश्चैव प्रह्लादः कर्दमस्तथा ॥ १९ ॥

भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, गौतम, अङ्गिरा, पुलस्त्य, क्रतु, प्रह्लाद, कर्दम, ॥ १९ ॥

अथर्वाङ्गिरसश्चैव बालखिल्या मरीचिपाः ।
मनोऽन्तरिक्षं विद्याश्च वायुस्तेजो जलं मही ॥ २० ॥
शब्दस्पर्शौ तथा रूपं रसो गन्धश्च भारत ।
प्रकृतिश्च विकारश्च यच्चान्यत् कारणं भुवः ॥ २१ ॥

अथर्वाङ्गिरस, सूर्यकिरणोंका पान करनेवाले बालखिल्य, मन, अन्तरिक्ष, विद्या, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, प्रकृति, विकृति तथा पृथ्वीकी रचनाके जो अन्य कारण हैं, इन सबके अभिमानी देवता, ॥ २०-२१ ॥

अगस्त्यश्च महातेजा मार्कण्डेयश्च वीर्यवान् ।
जमदग्निर्भरद्वाजः संवर्तश्च्यवनस्तथा ॥ २२ ॥

महातेजस्वी अगस्त्य, शक्तिशाली मार्कण्डेय, जमदग्नि, भरद्वाज, संवर्त, च्यवन, ॥ २२ ॥

दुर्वासाश्च महाभाग ऋष्यशृङ्गश्च धार्मिकः ।
सनत्कुमारो भगवान् योगाचार्यो महातपाः ॥ २३ ॥

महाभाग दुर्वासा, धर्मात्मा ऋष्यशृङ्ग, महातपस्वी योगाचार्य भगवान् सनत्कुमार, ॥ २३ ॥

असितो देवलश्चैव जैगीषव्यश्च तत्त्ववित् ।
ऋषभो जितशत्रुश्च महावीर्यस्तथा मणिः ॥ २४ ॥

असित, देवल, तत्त्वज्ञानी जैगीषव्य, शत्रुविजयी ऋषभ, महापराक्रमी मणि, ॥ २४ ॥

आयुर्वेदस्तथाष्टाङ्गो देहवांस्तत्र भारत ।
चन्द्रमाः सह नक्षत्रैरादित्यश्च गभस्तिमान् ॥ २५ ॥

तथा आठ अङ्गोंसे युक्त मूर्तिमान् आयुर्वेद, नक्षत्रोंसहित चन्द्रमा, अंशुमाली सूर्य, ॥ २५ ॥

वायवः क्रतवश्चैव संकल्पः प्राण एव च ।
मूर्तिमन्तो महात्मानो महाव्रतपरायणाः ॥ २६ ॥
एते चान्ये च बहवो ब्रह्माणं समुपस्थिताः ।

वायु, क्रतु, संकल्प और प्राण—ये तथा और भी बहुत-से मूर्तिमान् महान् व्रतधारी महात्मा ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित होते हैं ॥ २६½ ॥

अर्थो धर्मश्च कामश्च हर्षो द्वेषस्तपो दमः ॥ २७ ॥

अर्थ, धर्म, काम, हर्ष, द्वेष, तप और दम—ये भी मूर्तिमान् होकर ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं ॥ २७ ॥

आयान्ति तस्यां सहिता गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
विंशतिः सप्त चैवान्ये लोकपालाश्च सर्वशः ॥ २८ ॥
शुक्रो बृहस्पतिश्चैव बुधोऽङ्गारक एव च ।
शनैश्चरश्च राहुश्च ग्रहाः सर्वे तथैव च ॥ २९ ॥

गन्धर्वों और अप्सराओंके बीस गण एक साथ उस सभामें आते हैं। सात अन्य गन्धर्व भी जो प्रधान हैं, वहाँ उपस्थित होते हैं। समस्त लोकपाल, शुक्र, बृहस्पति, बुध, मङ्गल, शनैश्चर, राहु तथा केतु—ये सभी ग्रह, ॥ २८-२९ ॥

मन्त्रो रथन्तरं चैव हरिमान् वसुमानपि ।
आदित्याः साधिराजानो नामद्वन्द्वैरुदाहृताः ॥ ३० ॥

सामगानसम्बन्धी मन्त्र, रथन्तरसाम, हरिमान्, वसुमान्, अपने स्वामी इन्द्रसहित बारह आदित्य, अग्नि-सोम आदि युगल नामोंसे कहे जानेवाले देवता, ॥ ३० ॥

मरुतो विश्वकर्मा च वसवश्चैव भारत ।
तथा पितृगणाः सर्वे सर्वाणि च हवींष्यथ ॥ ३१ ॥

मरुद्गण, विश्वकर्मा, वसुगण, समस्त पितृगण, सभी हविष्य, ॥ ३१ ॥

ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदश्च पाण्डव ।
अथर्ववेदश्च तथा सर्वशास्त्राणि चैव ह ॥ ३२ ॥

पाण्डुनन्दन ! ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा सम्पूर्ण शास्त्र, ॥ ३२ ॥

इतिहासोपवेदाश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
ग्रहा यज्ञाश्च सोमश्च देवताश्चापि सर्वशः ॥ ३३ ॥

इतिहास, उपवेद,* सम्पूर्ण वेदाङ्ग, ग्रह, यज्ञ, सोम और समस्त देवता, ॥ ३३ ॥

सावित्री दुर्गतरणी वाणी सप्तविधा तथा ।
मेधा धृतिः श्रुतिश्चैव प्रज्ञा बुद्धिर्यशः क्षमा ॥ ३४ ॥

सावित्री, दुर्गम दुःखसे उबारनेवाली दुर्गा, सात प्रकारकी[1] प्रणवरूपा वाणी, मेधा, धृति, श्रुति, प्रज्ञा, बुद्धि, यश और क्षमा, ॥

सामानि स्तुतिगीतानि गाथाश्च विविधास्तथा ।
भाष्याणि तर्कयुक्तानि देहवन्ति विशाम्पते ॥ ३५ ॥
नाटका विविधाः काव्याः कथाख्यायिककारिकाः ।
तत्र तिष्ठन्ति ते पुण्या ये चान्ये गुरुपूजकाः ॥ ३६ ॥

साम, स्तुति, गीत, विविध गाथा तथा तर्कयुक्त भाष्य—ये सभी देहधारी होकर एवं अनेक प्रकारके नाटक, काव्य, कथा, आख्यायिका तथा कारिका आदि उस सभामें मूर्तिमान् होकर रहते हैं। इसी प्रकार गुरुजनोंकी पूजा करनेवाले जो दूसरे पुण्यात्मा पुरुष हैं, वे सभी उस सभामें स्थित होते हैं ॥ ३५-३६ ॥

---

* आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र—ये चार उपवेद माने गये हैं।

१. अकार, उकार, मकार, अर्धमात्रा, नाद, बिन्दु और शक्ति—ये प्रणवके सात प्रकार हैं। अथवा संस्कृत, प्राकृत, पैशाची, अपभ्रंश, ललित, मागध और गद्य—ये वाणीके सात प्रकार जानने चाहिये।

क्षणा लवा मुहूर्ताश्च दिवारात्रिस्तथैव च ।
अर्धमासाश्च मासाश्च ऋतवः षट् च भारत ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर ! क्षण, लव, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, छहों ऋतुएँ, ॥ ३७ ॥

संवत्सराः पञ्च युगमहोरात्रश्चतुर्विधः ।
कालचक्रं च तद् दिव्यं नित्यमक्षयमव्ययम् ॥ ३८ ॥
धर्मचक्रं तथा चापि नित्यमास्ते युधिष्ठिर ।

साठ संवत्सर, पाँच संवत्सरोंका युग, चार प्रकारके दिन-रात (मानव, पितर, देवता और ब्रह्माजीके दिन-रात), नित्य, दिव्य, अक्षय एवं अव्यय कालचक्र तथा धर्मचक्र भी देह धारण करके सदा ब्रह्माजीकी सभामें उपस्थित रहते हैं ॥ ३८½ ॥

अदितिर्दितिर्दनुश्चैव सुरसा विनता इरा ॥ ३९ ॥
कालिका सुरभी देवी सरमा चाथ गौतमी ॥ ४० ॥
प्रभा कद्रूश्च वै देव्यौ देवतानां च मातरः ।
रुद्राणी श्रीश्च लक्ष्मीश्च भद्रा षष्ठी तथापरा ॥ ४१ ॥
पृथ्वी गां गता देवी ह्रीः स्वाहा कीर्तिरेव च ।
सुरा देवी शची चैव तथा पुष्टिररुन्धती ॥ ४२ ॥
संवृत्तिराशा नियतिः सृष्टिर्देवी रतिस्तथा ।
एताश्चान्याश्च वै देव्य उपतस्थुः प्रजापतिम् ॥ ४३ ॥

अदिति, दिति, दनु, सुरसा, विनता, इरा, कालिका, सुरभी देवी, सरमा, गौतमी, प्रभा और कद्रू-ये दो देवियाँ, देवमाताएँ, रुद्राणी, श्री, लक्ष्मी, भद्रा तथा अपरा, षष्ठी, पृथ्वी, भूतलपर उतरी हुई गङ्गादेवी, लज्जा, स्वाहा, कीर्ति, सुरादेवी, शची, पुष्टि, अरुन्धती संवृत्ति, आशा, नियति, सृष्टिदेवी, रति तथा अन्य देवियाँ भी उस सभामें प्रजापति ब्रह्माजीकी उपासना करती हैं ॥ ३९–४३ ॥

आदित्या वसवो रुद्रा मरुतश्चाश्विनावपि ।
विश्वेदेवाश्च साध्याश्च पितरश्च मनोजवाः ॥ ४४ ॥

आदित्य, वसु, रुद्र, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, विश्वेदेव, साध्य तथा मनके समान वेगशाली पितर भी उस सभामें उपस्थित होते हैं ॥ ४४ ॥

पितॄणां च गणान् विद्धि सप्तैव पुरुषर्षभ ।
मूर्तिमन्तो हि चत्वारस्त्रयश्चाप्यशरीरिणः ॥ ४५ ॥

नरश्रेष्ठ ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि पितरोंके सात ही गण होते हैं, जिनमें चार तो मूर्तिमान् हैं और तीन अमूर्त ॥

वैराजाश्च महाभागा अग्निष्वात्ताश्च भारत ।
गार्हपत्या नाकचराः पितरो लोकविश्रुताः ॥ ४६ ॥
सोमपा एकशृङ्गाश्च चतुर्वेदाः कलास्तथा ।
एते चतुर्षु वर्णेषु पूज्यन्ते पितरो नृप ॥ ४७ ॥
एतैराप्यायितैः पूर्वं सोमश्चाप्याय्यते पुनः ।
त एते पितरः सर्वे प्रजापतिमुपस्थिताः ॥ ४८ ॥
उपासते च संहृष्टा ब्रह्माणममितौजसम् ।

भारत ! सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात स्वर्गलोकमें विचरनेवाले महाभाग वैराज, अग्निष्वात्त, सोमपा, गार्हपत्य (ये चार मूर्त हैं), एकशृङ्ग, चतुर्वेद तथा कला (ये तीन अमूर्त हैं) । ये सातों पितर क्रमशः चारों वर्णोंमें पूजित होते हैं । राजन् ! पहले इन पितरोंके तृप्त होनेसे फिर सोम देवता भी तृप्त हो जाते हैं । ये सभी पितर उक्त सभामें उपस्थित हो प्रसन्नतापूर्वक अमित तेजस्वी प्रजापति ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं ॥ ४६–४८½ ॥

राक्षसाश्च पिशाचाश्च दानवा गुह्यकास्तथा ॥ ४९ ॥
नागाः सुपर्णाः पशवः पितामहमुपासते ।
स्थावरा जङ्गमाश्चैव महाभूतास्तथापरे ॥ ५० ॥
पुरंदरश्च देवेन्द्रो वरुणो धनदो यमः ।
महादेवः सहोमोऽत्र सदा गच्छति सर्वशः ॥ ५१ ॥

इसी प्रकार राक्षस, पिशाच, दानव, गुह्यक, नाग, सुपर्ण तथा श्रेष्ठ पशु भी वहाँ पितामह ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं । स्थावर और जङ्गम महाभूत, देवराज इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम तथा पार्वतीसहित महादेवजी—ये सब सदा उस सभामें पधारते हैं ॥ ४९–५१ ॥

महासेनश्च राजेन्द्र सदोपास्ते पितामहम् ।
देवो नारायणस्तस्यां तथा देवर्षयश्च ये ॥ ५२ ॥
ऋषयो वालखिल्याश्च योनिजायोनिजास्तथा ।

राजेन्द्र ! स्वामी कार्तिकेय भी वहाँ उपस्थित होकर सदा ब्रह्माजीकी सेवा करते हैं । भगवान् नारायण, देवर्षिगण, बालखिल्य ऋषि तथा दूसरे अयोनिज और योनिज ऋषि उस सभामें ब्रह्माजीकी आराधना करते हैं ॥ ५२½ ॥

यच्च किंचित् त्रिलोकेऽस्मिन् दृश्यते स्थाणु जङ्गमम् ।
सर्वं तस्यां मया दृष्टमिति विद्धि नराधिप ॥ ५३ ॥

नरेश्वर ! संक्षेपमें यह समझ लो कि तीनों लोकोंमें स्थावर-जङ्गम भूतोंके रूपमें जो कुछ भी दिखायी देता है, वह सब मैंने उस सभामें देखा था ॥ ५३ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि ऋषीणामूर्ध्वरेतसाम् ।
प्रजावतां च पञ्चाशदृषीणामपि पाण्डव ॥ ५४ ॥

पाण्डुनन्दन ! अट्ठासी हजार ऊर्ध्वरेता ऋषि और पचास संतानवान् महर्षि उस सभामें उपस्थित होते हैं ॥५४॥

ते स्म तत्र यथाकामं दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः ।
प्रणम्य शिरसा तस्मै सर्वे यान्ति यथाऽऽगतम् ॥ ५५ ॥

वे सब महर्षि तथा सम्पूर्ण देवता वहाँ इच्छानुसार ब्रह्माजीका दर्शन करके उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम करते और आज्ञा लेकर जैसे आये होते हैं, वैसे ही चले जाते हैं ॥५५॥

अतिथीनागतान् देवान् दैत्यान् नागांस्तथा द्विजान्।
यक्षान् सुपर्णान् कालेयान् गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ५६ ॥
महाभागानमितधीर्ब्रह्मा लोकपितामहः ।
दयावान् सर्वभूतेषु यथार्हं प्रतिपद्यते ॥ ५७ ॥

अगाध बुद्धिवाले दयालु लोकपितामह ब्रह्माजी अपने यहाँ आये हुए सभी महाभाग अतिथियों—देवता, दैत्य, नाग, पक्षी, यक्ष, सुपर्ण, कालेय, गन्धर्व तथा अप्सराओं एवं सम्पूर्ण भूतोंसे यथायोग्य मिलते हैं और उन्हें अनुगृहीत करते हैं ॥ ५६–५७ ॥

प्रतिगृह्य तु विश्वात्मा स्वयम्भूरमितद्युतिः ।
सान्त्वमानार्थसम्भोगैर्युनक्ति मनुजाधिप ॥ ५८ ॥

मनुजेश्वर ! अमित तेजस्वी विश्वात्मा स्वयम्भू उन सब अतिथियोंको अपनाकर उन्हें सान्त्वना देते, उनका सम्मान करते, उनके प्रयोजनकी पूर्ति करके उन सबको आवश्यकता तथा रुचिके अनुसार भोगसामग्री प्रदान करते हैं ॥ ५८ ॥

तथा तैरुपयातैश्च प्रतियद्भिश्च भारत ।
आकुला सा सभा तात भवति स्म सुखप्रदा ॥ ५९ ॥

तात भारत ! इस प्रकार वहाँ आने-जानेवाले लोगोंसे भरी हुई वह सभा बड़ी सुखदायिनी जान पड़ती है ॥ ५९ ॥

सर्वतेजोमयी दिव्या ब्रह्मर्षिगणसेविता ।
ब्राह्म्या श्रिया दीप्यमाना शुशुभे विगतक्लमा ॥ ६० ॥
सा सभा तादृशी दृष्टा मया लोकेषु दुर्लभा ।
सभेयं राजशार्दूल मनुष्येषु यथा तव ॥ ६१ ॥

नृपश्रेष्ठ ! वह सभा सम्पूर्ण तेजसे सम्पन्न, दिव्य तथा ब्रह्मर्षियोंके समुदायसे सेवित और पापरहित एवं ब्राह्मी श्रीसे उद्भासित और सुशोभित होती रहती है । वैसी उस सभाका मैंने दर्शन किया है । जैसे मनुष्यलोकमें तुम्हारी यह सभा दुर्लभ है, वैसे ही सम्पूर्ण लोकोंमें ब्रह्माजीकी सभा परम दुर्लभ है ॥ ६०–६१ ॥

एता मया दृष्टपूर्वाः सभा देवेषु भारत ।
सभेयं मानुषे लोके सर्वश्रेष्ठतमा तव ॥ ६२ ॥

भारत ! ये सभी सभाएँ मैंने पूर्वकालसे देवलोकमें देखी हैं ! मनुष्यलोकमें तो तुम्हारी यह सभा ही सर्वश्रेष्ठ है ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि ब्रह्मसभावर्णनं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें ब्रह्मसभावर्णननामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

राजा हरिश्चन्द्रका माहात्म्य तथा युधिष्ठिरके प्रति राजा पाण्डुका संदेश

युधिष्ठिर उवाच

प्रायशो राजलोकस्ते कथितो वदतां वर ।
वैवस्वतसभायां तु यथा वदसि मे प्रभो ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ भगवन् ! जैसा आपने मुझसे वर्णन किया है, उसके अनुसार सूर्यपुत्र यमकी सभामें ही अधिकांश राजालोगोंकी स्थिति बतायी गयी है ॥ १ ॥

वरुणस्य सभायां तु नागास्ते कथिता विभो ।
दैत्येन्द्राश्चापि भूयिष्ठाः सरितः सागरास्तथा ॥ २ ॥

प्रभो ! वरुणकी सभामें तो अधिकांश नाग, दैत्येन्द्र, सरिताएँ और समुद्र ही बताये गये हैं ॥ २ ॥

तथा धनपतेर्यक्षा गुह्यका राक्षसास्तथा ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव भगवांश्च वृषध्वजः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार धनाध्यक्ष कुबेरकी सभामें यक्ष, गुह्यक, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा तथा भगवान् शङ्करकी उपस्थितिका वर्णन हुआ है ॥ ३ ॥

पितामहसभायां तु कथितास्ते महर्षयः ।
सर्वे देवनिकायाश्च सर्वशास्त्राणि चैव ह ॥ ४ ॥

ब्रह्माजीकी सभामें आपने महर्षियों, सम्पूर्ण देवगणों तथा समस्त शास्त्रोंकी स्थिति बतायी है ॥ ४ ॥

शक्रस्य तु सभायां तु देवाः संकीर्तिता मुने ।
उद्देशतश्च गन्धर्वा विविधाश्च महर्षयः ॥ ५ ॥

परंतु मुने ! इन्द्रकी सभामें आपने अधिकांश देवताओंकी ही उपस्थितिका वर्णन किया है और थोड़े-से विभिन्न गन्धर्वों एवं महर्षियोंकी भी स्थिति बतायी है ॥ ५ ॥

एक एव तु राजर्षिर्हरिश्चन्द्रो महामुने ।
कथितस्ते सभायां वै देवेन्द्रस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

महामुने ! महात्मा देवराज इन्द्रकी सभामें आपने राजर्षियोंमेंसे एकमात्र हरिश्चन्द्रका ही नाम लिया है ॥ ६ ॥

किं कर्म तेनाचरितं तपो वा नियतव्रत ।
येनासौ सह शक्रेण स्पर्द्धते सुमहायशाः ॥ ७ ॥

नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले महर्षे ! उन्होंने कौन-सा कर्म अथवा कौन-सी तपस्या की है, जिससे वे महान् यशस्वी होकर देवराज इन्द्रसे स्पर्धा कर रहे हैं ॥ ७ ॥

पितृलोकगतश्चैव त्वया विप्र पिता मम ।
दृष्टः पाण्डुर्महाभागः कथं वापि समागतः ॥ ८ ॥

किमुक्तवांश्च भगवंस्तन्ममाचक्ष्व सुव्रत।
त्वत्तः श्रोतुं सर्वमिदं परं कौतूहलं हि मे ॥ ९ ॥

विप्रवर ! आपने पितृलोकमें जाकर मेरे पिता महाभाग पाण्डुको भी देखा था; किस प्रकार वे आपसे मिले थे ? भगवन् ! उन्होंने आपसे क्या कहा ? यह मुझे बताइये। सुव्रत ! आपसे यह सब कुछ सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥८-९॥

नारद उवाच

यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र हरिश्चन्द्रं प्रति प्रभो।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि माहात्म्यं तस्य धीमतः॥ १०॥

नारदजीने कहा—शक्तिशाली राजेन्द्र ! तुमने जो राजर्षि हरिश्चन्द्रके विषयमें मुझसे पूछा है, उसके उत्तरमें मैं उन बुद्धिमान् नरेशका माहात्म्य बता रहा हूँ, सुनो ॥१०॥

(इक्ष्वाकूणां कुले जातस्त्रिशङ्कुर्नाम पार्थिवः।
अयोध्याधिपतिर्वीरो विश्वामित्रेण संस्थितः॥
तस्य सत्यवती नाम पत्नी केकयवंशजा।
तस्यां गर्भः समभवद् धर्मेण कुरुनन्दन॥
सा च काले महाभागा जन्ममासं प्रविश्य वै।
कुमारं जनयामास हरिश्चन्द्रमकल्मषम्॥
स वै राजा हरिश्चन्द्रस्त्रैशङ्कव इति स्मृतः।)

इक्ष्वाकुकुलमें त्रिशङ्कु नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। वीर त्रिशङ्कु अयोध्याके स्वामी थे और वहाँ विश्वामित्र मुनिके साथ रहा करते थे। उनकी पत्नीका नाम सत्यवती था, वह केकय-कुलमें उत्पन्न हुई थी। कुरुनन्दन ! रानी सत्यवतीके धर्मानुकूल गर्भ रहा। फिर समयानुसार जन्ममास प्राप्त होनेपर महाभागा रानीने एक निष्पाप पुत्रको जन्म दिया, उसका नाम हुआ हरिश्चन्द्र। वे त्रिशङ्कुकुमार ही लोक-विख्यात राजा हरिश्चन्द्र कहे गये हैं ॥

स राजा बलवानासीत् सम्राट् सर्वमहीक्षिताम्।
तस्य सर्वे महीपालाः शासनावनताः स्थिताः ॥ ११ ॥

राजा हरिश्चन्द्र बड़े बलवान् और समस्त भूपालोंके सम्राट् थे। भूमण्डलके सभी नरेश उनकी आज्ञाका पालन करनेके लिये सिर झुकाये खड़े रहते थे ॥ ११ ॥

तेनैकं रथमास्थाय जैत्रं हेमविभूषितम्।
शस्त्रप्रतापेन जिता द्वीपाः सप्त जनेश्वर ॥ १२ ॥

जनेश्वर ! उन्होंने एकमात्र स्वर्णविभूषित जैत्र नामक रथपर चढ़कर अपने शस्त्रोंके प्रतापसे सातों द्वीपोंपर विजय प्राप्त कर ली थी ॥ १२ ॥

स निर्जित्य महीं कृत्स्नां सशैलवनकाननाम्।
आजहार महाराज राजसूयं महाक्रतुम् ॥ १३ ॥

महाराज ! पर्वतों और वनोंसहित इस सारी पृथ्वीको जीतकर राजा हरिश्चन्द्रने राजसूय नामक महान् यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ १३ ॥

तस्य सर्वे महीपाला धनान्याजह्रुराज्ञया।
द्विजानां परिवेष्टारस्तस्मिन् यज्ञे च तेऽभवन् ॥१४॥

राजाकी आज्ञासे समस्त भूपालोंने धन लाकर भेंट किये और उस यज्ञमें ब्राह्मणोंको भोजन परोसनेका कार्य किया ॥

प्रादाच्च द्रविणं प्रीत्या याचकानां नरेश्वरः।
यथोक्तवन्तस्ते तस्मिंस्ततः पञ्चगुणाधिकम् ॥ १५ ॥

महाराज हरिश्चन्द्रने बड़ी प्रसन्नताके साथ उस यज्ञमें याचकोंको, जितना उन्होंने माँगा, उससे पाँचगुना अधिक धन दान किया ॥ १५ ॥

अतर्पयच्च विविधैर्वसुभिर्ब्राह्मणांस्तदा।
प्रसर्पकाले सम्प्राप्ते नानादिग्भ्यः समागतान् ॥ १६ ॥

जब अग्निदेवके विसर्जनका अवसर आया, उस समय उन्होंने विभिन्न दिशाओंसे आये हुए ब्राह्मणोंको नाना प्रकार-के धन एवं रत्न देकर तृप्त किया ॥ १६ ॥

भक्ष्यभोज्यैश्च विविधैर्यथाकामपुरस्कृतैः।
रत्नौघतर्पितैस्तुष्टैर्द्विजैश्च समुदाहृतम्।
तेजस्वी च यशस्वी च नृपेभ्योऽभ्यधिकोऽभवत्॥ १७ ॥

नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थ, मनोवाञ्छित वस्तुओंका पुरस्कार तथा रत्नराशिका दान देकर तृप्त एवं संतुष्ट किये हुए ब्राह्मणोंने राजा हरिश्चन्द्रको आशीर्वाद दिये। इसीलिये वे अन्य राजाओंकी अपेक्षा अधिक तेजस्वी और यशस्वी हुए हैं ॥ १७ ॥

एतस्मात् कारणाद् राजन् हरिश्चन्द्रो विराजते।
तेभ्यो राजसहस्रेभ्यस्तद् विद्धि भरतर्षभ ॥ १८ ॥

राजन् ! भरतश्रेष्ठ ! यही कारण है कि उन सहस्रों राजाओंकी अपेक्षा महाराज हरिश्चन्द्र अधिक सम्मानपूर्वक इन्द्रसभामें विराजमान होते हैं—इस बातको तुम अच्छी तरह जान लो ॥ १८ ॥

समाप्य च हरिश्चन्द्रो महायज्ञं प्रतापवान्।
अभिषिक्तश्च शुशुभे साम्राज्येन नराधिप ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! प्रतापी हरिश्चन्द्र उस महायज्ञको समाप्त करके जब सम्राट्के पदपर अभिषिक्त हुए, उस समय उनकी बड़ी शोभा हुई ॥ १९ ॥

ये चान्ये च महीपाला राजसूयं महाक्रतुम्।
यजन्ते ते सहेन्द्रेण मोदन्ते भरतर्षभ ॥ २० ॥

भरतकुलभूषण ! दूसरे भी जो भूपाल राजसूय नामक महायज्ञका अनुष्ठान करते हैं, वे देवराज इन्द्रके साथ रहकर आनन्द भोगते हैं ॥ २० ॥

ये चापि निधनं प्राप्ताः संग्रामेष्वपलायिनः ।
ते तत् सदनमासाद्य मोदन्ते भरतर्षभ ॥ २१ ॥

भरतर्षभ ! जो लोग संग्राममें पीठ न दिखाकर वहीं मृत्युका वरण कर लेते हैं, वे भी देवराज इन्द्रकी उस सभामें जाकर वहाँ आनन्दका उपभोग करते हैं ॥ २१ ॥

तपसा ये च तीव्रेण त्यजन्तीह कलेवरम् ।
ते तत् स्थानं समासाद्य श्रीमन्तो भान्ति नित्यशः॥२२॥

तथा जो लोग कठोर तपस्याके द्वारा यहाँ अपने शरीरका त्याग करते हैं, वे भी उस इन्द्रसभामें जाकर तेजस्वी रूप धारण करके सदा प्रकाशित होते रहते हैं ॥ २२ ॥

पिता च त्वाऽऽह कौन्तेय पाण्डुः कौरवनन्दन ।
हरिश्चन्द्रे श्रियं दृष्ट्वा नृपतौ जातविस्मयः ॥ २३ ॥

कौरवनन्दन कुन्तीकुमार ! तुम्हारे पिता पाण्डुने राजा हरिश्चन्द्रकी सम्पत्ति देखकर अत्यन्त चकित हो तुमसे कहनेके लिये संदेश दिया है ॥ २३ ॥

विज्ञाय मानुषं लोकमायान्तं मां नराधिप ।
प्रोवाच प्रणतो भूत्वा वदेथास्त्वं युधिष्ठिरम् ॥ २४ ॥

नरेश्वर ! मुझे मनुष्यलोकमें आता जान उन्होंने प्रणाम करके मुझसे कहा—'देवर्षे ! आप युधिष्ठिरसे यह कहियेगा—॥

समर्थोऽसि महीं जेतुं भ्रातरस्ते स्थिता वशे ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठमाहरस्वेति भारत ॥ २५ ॥

'भारत ! तुम्हारे भाई तुम्हारी आज्ञाके अधीन हैं, तुम सारी पृथ्वीको जीतनेमें समर्थ हो; अतः राजसूय नामक श्रेष्ठ यज्ञका अनुष्ठान करो ॥ २५ ॥

त्वयीष्टवति पुत्रेऽहं हरिश्चन्द्रवदाशु वै ।
मोदिष्ये बहुलाः शश्वत् समाः शक्रस्य संसदि ॥ २६ ॥

'तुम-जैसे पुत्रके द्वारा वह यज्ञ सम्पन्न होनेपर मैं भी शीघ्र ही राजा हरिश्चन्द्रकी भाँति बहुत वर्षोंतक इन्द्रभवनमें आनन्द भोगूँगा' ॥ २६ ॥

एवं भवतु वक्ष्येऽहं तव पुत्रं नराधिपम् ।
भूलोकं यदि गच्छेयमिति पाण्डुमथाब्रवम् ॥ २७ ॥

तब मैंने पाण्डुसे कहा—'एवमस्तु, यदि मैं भूलोकमें जाऊँगा तो आपके पुत्र राजा युधिष्ठिरसे कह दूँगा' ॥२७॥

तस्य त्वं पुरुषव्याघ्र संकल्पं कुरु पाण्डव ।
गन्तासि त्वं महेन्द्रस्य पूर्वैः सह सलोकताम् ॥ २८ ॥

पुरुषसिंह पाण्डुनन्दन ! तुम अपने पिताके संकल्पको पूरा करो । ऐसा करनेपर तुम पूर्वजोंके साथ देवराज इन्द्रके लोकमें जाओगे ॥ २८ ॥

बहुविघ्नश्च नृपते क्रतुरेष स्मृतो महान् ।
छिद्राण्यस्य तु वाञ्छन्ति यज्ञघ्ना ब्रह्मराक्षसाः ॥ २९ ॥

राजन् ! इस महान् यज्ञमें बहुत-से विघ्न आनेकी सम्भावना रहती है; क्योंकि यज्ञनाशक ब्रह्मराक्षस इसका छिद्र ढूँढ़ते रहते हैं ॥ २९ ॥

युद्धं च क्षत्रशमनं पृथिवीक्षयकारणम् ।
किंचिदेव निमित्तं च भवत्यत्र क्षयावहम् ॥ ३० ॥

तथा इसका अनुष्ठान होनेपर कोई एक ऐसा निमित्त भी बन जाता है, जिससे पृथ्वीपर विनाशकारी युद्ध उपस्थित हो जाता है, जो क्षत्रियोंके संहार और भूमण्डलके विनाशका कारण होता है ॥ ३० ॥

एतत् संचिन्त्य राजेन्द्र यत् क्षेमं तत् समाचर ।
अप्रमत्तोत्थितो नित्यं चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे ॥ ३१ ॥

राजेन्द्र ! यह सब सोच-विचारकर तुम्हें जो हितकर जान पड़े, वह करो । चारों वर्णोंकी रक्षाके लिये सदा सावधान और उद्यत रहो ॥ ३१ ॥

भव एधस्व मोदस्व धनैस्तर्पय च द्विजान् ।
एतत् ते विस्तरेणोक्तं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि दाशार्हनगरीं प्रति ॥ ३२ ॥

संसारमें तुम्हारा अभ्युदय हो, तुम आनन्दित रहो और धनसे ब्राह्मणोंको तृप्त करो । तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, वह सब मैंने विस्तारपूर्वक बता दिया । अब मैं यहाँसे द्वारका जाऊँगा, इसके लिये तुमसे अनुमति चाहता हूँ ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाख्याय पार्थेभ्यो नारदो जनमेजय ।
जगाम तैर्वृतो राजन्नृषिभिर्यैः समागतः ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीकुमारोंसे ऐसा कहकर नारदजी जिन ऋषियोंके साथ आये थे, उन्हींसे घिरे हुए पुनः चले गये ॥ ३३ ॥

गते तु नारदे पार्थो भ्रातृभिः सह कौरवः ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिन्तयामास पार्थिवः ॥ ३४ ॥

नारदजीके चले जानेपर कुरुश्रेष्ठ कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ राजसूय नामक श्रेष्ठ यज्ञके विषयमें विचार करने लगे ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभापर्वणि पाण्डुसंदेशकथने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें पाण्डु-संदेश-कथनविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ३७½ श्लोक हैं)

(राजसूयारम्भपर्व)

त्रयोदशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका राजसूयविषयक संकल्प और उसके विषयमें भाइयों, मन्त्रियों, मुनियों तथा श्रीकृष्णसे सलाह लेना

वैशम्पायन उवाच

ऋषेस्तद् वचनं श्रुत्वा निशश्वास युधिष्ठिरः।
चिन्तयन् राजसूयेष्टिं न लेभे शर्म भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवर्षि नारदका वह वचन सुनकर युधिष्ठिरने लंबी साँस खींची। राजसूययज्ञके सम्बन्धमें चिन्तन करते हुए उन्हें शान्ति नहीं मिली ॥ १ ॥

राजर्षीणां च तं श्रुत्वा महिमानं महात्मनाम्।
यज्वनां कर्मभिः पुण्यैर्लोकप्राप्तिं समीक्ष्य च ॥ २ ॥
हरिश्चन्द्रं च राजर्षिं रोचमानं विशेषतः।
यज्वानं यज्ञमाहर्तुं राजसूयमियेष सः ॥ ३ ॥

राजसूययज्ञ करनेवाले महात्मा राजर्षियोंकी वैसी महिमा सुनकर तथा पुण्यकर्मोंद्वारा उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती देखकर एवं यज्ञ करनेवाले राजर्षि हरिश्चन्द्रका महान् तेज (तथा विशेष वैभव एवं आदर-सत्कार) सुनकर उनके मनमें राजसूययज्ञ करनेकी इच्छा हुई ॥ २-३ ॥

युधिष्ठिरस्ततः सर्वानर्चयित्वा सभासदः।
प्रत्यर्चितश्च तैः सर्वैर्यज्ञायैव मनो दधे ॥ ४ ॥

तदनन्तर युधिष्ठिरने अपने समस्त सभासदोंका सत्कार किया और उन सब सदस्योंने भी उनका बड़ा सम्मान किया। अन्तमें (सबकी सम्मतिसे) उनका मन यज्ञ करनेके ही संकल्पपर दृढ़ हो गया ॥ ४ ॥

स राजसूयं राजेन्द्र कुरूणामृषभस्तदा।
आहर्तुं प्रवणं चक्रे मनः संचिन्त्य चासकृत् ॥ ५ ॥

राजेन्द्र! कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने उस समय बार-बार विचार करके राजसूययज्ञके अनुष्ठानमें ही मन लगाया ॥ ५ ॥

भूयश्चाद्भुतवीर्यौजा धर्ममेवानुचिन्तयन्।
किं हितं सर्वलोकानां भवेदिति मनो दधे ॥ ६ ॥

अद्भुत बल और पराक्रमवाले धर्मराजने पुनः अपने धर्मका ही चिन्तन किया और सम्पूर्ण लोकोंका हित कैसे हो, इसी ओर वे ध्यान देने लगे ॥ ६ ॥

अनुगृह्णन् प्रजाः सर्वाः सर्वधर्मभृतां वरः।
अविशेषेण सर्वेषां हितं चक्रे युधिष्ठिरः ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर समस्त धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ थे। वे सारी प्रजापर अनुग्रह करके सबका समानरूपसे हितसाधन करने लगे ॥ ७ ॥

सर्वेषां दीयतां देयं मुञ्चन् कोपमदावुभौ।
साधु धर्मेति धर्मेति नान्यच्छ्रूयेत भाषितम् ॥ ८ ॥

क्रोध और अभिमानसे रहित होकर राजा युधिष्ठिरने अपने सेवकोंसे कह दिया कि 'देने योग्य वस्तुएँ सबको दी जायँ अथवा सारी जनताका पावना (ऋण) चुका दिया जाय।' उनके राज्यमें 'धर्मराज! आप धन्य हैं। धर्मस्वरूप युधिष्ठिर आपको साधुवाद!' इसके सिवा और कोई बात नहीं सुनी जाती थी ॥ ८ ॥

एवंगते ततस्तस्मिन् पितरीवाश्वसञ्जनाः।
न तस्य विद्यते द्वेष्टा ततोऽस्याजातशत्रुता ॥ ९ ॥

उनका ऐसा व्यवहार देख सारी प्रजा उनके ऊपर पिताके समान भरोसा रखने लगी। उनके प्रति द्वेष रखनेवाला कोई नहीं रहा। इसीलिये वे 'अजातशत्रु' नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ ९ ॥

परिग्रहान्नरेन्द्रस्य भीमस्य परिपालनात्।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव बीभत्सोः सव्यसाचिनः ॥ १० ॥
धीमतः सहदेवस्य धर्माणामनुशासनात्।
वैनत्यात् सर्वतश्चैव नकुलस्य स्वभावतः।
अविग्रहा वीतभयाः स्वधर्मनिरताः सदा ॥ ११ ॥
निकामवर्षाः स्फीताश्च आसञ्जनपदास्तथा।

महाराज युधिष्ठिर सबको आत्मीय जनोंकी भाँति अपनाते, भीमसेन सबकी रक्षा करते, सव्यसाची अर्जुन शत्रुओंके संहारमें लगे रहते, बुद्धिमान् सहदेव सबको धर्मका उपदेश दिया करते और नकुल स्वभावसे ही सबके साथ विनयपूर्ण बर्ताव करते थे। इससे उनके राज्यके सभी जनपद कलहशून्य, निर्भय, स्वधर्मपरायण तथा उन्नतिशील थे। वहाँ उनकी इच्छाके अनुसार समयपर वर्षा होती थी ॥ १०-११½ ॥

वार्धुषी यज्ञसत्त्वानि गोरक्षं कर्षणं वणिक् ॥ १२ ॥
विशेषात् सर्वमेवैतत् संजज्ञे राजकर्मणा।
अनुकर्षं च निष्कर्षं व्याधिपावकमूर्च्छनम् ॥ १३ ॥
सर्वमेव न तत्रासीद् धर्मनित्ये युधिष्ठिरे।

उन दिनों राजाके सुप्रबन्धसे ब्याजकी आजीविका, यज्ञकी सामग्री, गोरक्षा, खेती और व्यापार—इन सबकी विशेष उन्नति होने लगी। निर्धन प्रजाजनोंसे पिछले वर्षका बाकी कर नहीं

लिया जाता था तथा चालू वर्षका कर वसूल करनेके लिये किसीको पीड़ा नहीं दी जाती थी। सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले युधिष्ठिरके शासनकालमें रोग तथा अग्निका प्रकोप आदि कोई भी उपद्रव नहीं था ॥ १२-१३½ ॥

दस्युभ्यो वञ्चकेभ्यश्च राज्ञः प्रति परस्परम् ॥ १४ ॥
राजवल्लभतश्चैव नाश्रूयत मृषा कृतम्।

लुटेरोंसे, ठगोंसे, राजासे तथा राजाके प्रिय व्यक्तियोंसे प्रजाके प्रति अत्याचार या मिथ्या व्यवहार कभी नहीं सुना जाता था और आपसमें भी सारी प्रजा एक दूसरेसे मिथ्या व्यवहार नहीं करती थी ॥ १४½ ॥

प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वकर्मजम् ॥ १५ ॥
अभिहर्तुं नृपाः षट्सु पृथग् जात्यैश्च नैगमैः।
ववृधे विषयस्तत्र धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ॥ १६ ॥
कामतोऽप्युपयुञ्जानै राजसैर्लोभजैर्जनैः।

दूसरे राजालोग विभिन्न देशके कुलीन वैश्योंके साथ धर्मराज युधिष्ठिरका प्रिय करने, उन्हें कर देने, अपने उपार्जित धन-रत्न आदिकी भेंट देने तथा संधि-विग्रहादि छः कार्योंमें राजाको सहयोग देनेके लिये उनके पास आते थे। सदा धर्ममें ही लगे रहनेवाले राजा युधिष्ठिरके शासन-कालमें राजस स्वभाववाले तथा लोभी मनुष्योंद्वारा इच्छानुसार धन आदिका उपभोग किये जानेपर भी उनका देश दिनोंदिन उन्नति करने लगा ॥ १५-१६½ ॥

सर्वव्यापी सर्वगुणी सर्वसाहः स सर्वराट् ॥ १७ ॥

राजा युधिष्ठिरकी ख्याति सर्वत्र फैल रही थी। सभी सद्गुण उनकी शोभा बढ़ा रहे थे। वे शीत एवं उष्ण आदि सभी द्वन्द्वोंको सहनेमें समर्थ तथा अपने राजोचित गुणोंसे सर्वत्र सुशोभित होते थे ॥ १७ ॥

यस्मिन्नधिकृतः सम्राड् भ्राजमानो महायशाः।
यत्र राजन् दश दिशः पितृतो मातृतस्तथा।
अनुरक्ताः प्रजा आसन्नागोपाला द्विजातयः ॥ १८ ॥

राजन्! दसों दिशाओंमें प्रकाशित होनेवाले वे महा-यशस्वी सम्राट् जिस देशपर अधिकार जमाते, वहाँ ग्वालोंसे लेकर ब्राह्मणोंतक सारी प्रजा उनके प्रति पिता-माताके समान भाव रखकर प्रेम करने लगती थी ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

स मन्त्रिणः समानाय्य भ्रातॄंश्च वदतां वरः।
राजसूयं प्रति तदा पुनः पुनरपृच्छत ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने उस समय अपने मन्त्रियों और भाइयों-को बुलाकर उनसे बार-बार पूछा—'राजसूययज्ञके सम्बन्धमें आपलोगोंकी क्या सम्मति है?' ॥ १९ ॥

ते पृच्छ्यमानाः सहिता वचोऽर्थ्यं मन्त्रिणस्तदा।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञं यियक्षुमिदमब्रुवन् ॥ २० ॥

इस प्रकार पूछे जानेपर उन सब मन्त्रियोंने एक साथ यज्ञकी इच्छावाले परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरसे उस समय यह अर्थयुक्त बात कही— ॥ २० ॥

येनाभिषिक्तो नृपतिर्वारुणं गुणमृच्छति।
तेन राजापि तं कृत्स्नं सम्राड्गुणमभीप्सति ॥ २१ ॥

'महाराज! राजसूययज्ञके द्वारा अभिषिक्त होनेपर राजा वरुणके गुणोंको प्राप्त कर लेता है; इसलिये प्रत्येक नरेश उस यज्ञके द्वारा सम्राट्के समस्त गुणोंको पानेकी अभिलाषा रखता है ॥ २१ ॥

तस्य सम्राड्गुणार्हस्य भवतः कुरुनन्दन।
राजसूयस्य समयं मन्यन्ते सुहृदस्तव ॥ २२ ॥

'कुरुनन्दन! आप तो सम्राट्के गुणोंको पानेके सर्वथा योग्य हैं; अतः आपके हितैषी सुहृद् आपके द्वारा राजसूययज्ञके अनुष्ठानका यह उचित अवसर प्राप्त हुआ मानते हैं ॥ २२ ॥

तस्य यज्ञस्य समयः स्वाधीनः क्षत्रसम्पदा।
साम्ना षडग्नयो यस्मिंश्चीयन्ते शंसितव्रतैः ॥ २३ ॥

'उस यज्ञका समय क्षत्रसम्पत्ति यानी सेना आदिके अधीन है। उसमें उत्तम व्रतका आचरण करनेवाले ब्राह्मण सामवेदके मन्त्रोंद्वारा अग्निकी स्थापनाके लिये छः अग्निवेदियों-का निर्माण करते हैं ॥ २३ ॥

दर्वीहोमानुपादाय सर्वान् यः प्राप्नुते क्रतून्।
अभिषेकं च यस्यान्ते सर्वजित् तेन चोच्यते ॥ २४ ॥

'जो उस यज्ञका अनुष्ठान करता है, वह 'दर्वीहोम' (अग्निहोत्र आदि) से लेकर समस्त यज्ञोंके फलको प्राप्त कर लेता है एवं यज्ञके अन्तमें जो अभिषेक होता है, उससे वह यज्ञकर्ता नरेश 'सर्वजित् सम्राट्' कहलाने लगता है ॥ २४ ॥

समर्थोऽसि महाबाहो सर्वे ते वशगा वयम्।
अचिरात् त्वं महाराज राजसूयमवाप्स्यसि ॥ २५ ॥

'महाबाहो! आप उस यज्ञके सम्पादनमें समर्थ हैं। हम सब लोग आपकी आज्ञाके अधीन हैं। महाराज! आप शीघ्र ही राजसूययज्ञ पूर्ण कर सकेंगे ॥ २५ ॥

अविचार्य महाराज राजसूये मनः कुरु।
इत्येवं सुहृदः सर्वे पृथक् च सह चाब्रुवन् ॥ २६ ॥

'अतः किसी प्रकारका सोच-विचार न करके आप राजसूयके अनुष्ठानमें मन लगाइये।' इस प्रकार उनके सभी सुहृदोंने अलग-अलग और सम्मिलित होकर अपनी यही सम्मति प्रकट की ॥

स धर्म्यं पाण्डवस्तेषां वचः श्रुत्वा विशाम्पते।
धृष्टमिष्टं वरिष्ठं च जग्राह मनसारिहा ॥ २७ ॥

प्रजानाथ ! शत्रुसूदन पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने उनका यह साहसपूर्ण, प्रिय एवं श्रेष्ठ वचन सुनकर उसे मन-ही-मन ग्रहण किया ॥ २७ ॥

श्रुत्वा सुहृद्वचस्तच्च जानंश्चाप्यात्मनः क्षमम् ।
पुनः पुनर्मनो दध्रे राजसूयाय भारत ॥ २८ ॥

भारत ! उन्होंने सुहृदोंका वह सम्मतिसूचक वचन सुनकर तथा यह भी जानते हुए कि राजसूययज्ञ अपने लिये साध्य है, उसके विषयमें बारम्बार मन-ही-मन विचार किया ॥२८॥

स भ्रातृभिः पुनर्धीमानृत्विग्भिश्च महात्मभिः ।
मन्त्रिभिश्चापि सहितो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
धौम्यद्वैपायनाद्यैश्च मन्त्रयामास मन्त्रवित् ॥ २९ ॥

फिर मन्त्रणाका महत्त्व जाननेवाले बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयों, महात्मा ऋत्विजों, मन्त्रियों तथा धौम्य एवं व्यास आदि महर्षियोंके साथ इस विषयपर पुनः विचार करने लगे ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

इयं या राजसूयस्य सम्राडर्हस्य सुक्रतोः ।
श्रद्दधानस्य वदतः स्पृहा मे सा कथं भवेत् ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरने कहा—महात्माओ ! राजसूय नामक उत्तम यज्ञ किसी सम्राट्के ही योग्य है, तो भी मैं उसके प्रति श्रद्धा रखने लगा हूँ; अतः आपलोग बताइये, मेरे मनमें जो यह राजसूययज्ञ करनेकी अभिलाषा हुई है, कैसी है ? ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तास्तु ते तेन राज्ञा राजीवलोचन ।
इदमूचुर्वचः काले धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कमलनयन जनमेजय ! राजाके इस प्रकार पूछनेपर वे सब लोग उस समय धर्मराज युधिष्ठिरसे यों बोले—॥ ३१ ॥

अर्हस्त्वमसि धर्मज्ञ राजसूयं महाक्रतुम् ।
अथैवमुक्ते नृपतावृत्विग्भिर्ऋषिभिस्तथा ॥ ३२ ॥
मन्त्रिणो भ्रातरश्चान्ये तद्वचः प्रत्यपूजयन् ।

'धर्मज्ञ ! आप राजसूय महायज्ञ करनेके सर्वथा योग्य हैं ।' ऋत्विजों तथा महर्षियोंने जब राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा, तब उनके मन्त्रियों और भाइयोंने उन महात्माओंके वचनका बड़ा आदर किया ॥ ३२½ ॥

स तु राजा महाप्राज्ञः पुनरेवात्मनाऽऽत्मवान् ॥ ३३ ॥
भूयो विममृशे पार्थो लोकानां हितकाम्यया ।
सामर्थ्ययोगं सम्प्रेक्ष्य देशकालौ व्ययागमौ ॥ ३४ ॥
विमृश्य सम्यक् च धिया कुर्वन् प्राज्ञो न सीदति।
न हि यज्ञसमारम्भः केवलात्मविनिश्चयात् ॥ ३५ ॥
भवतीति समाज्ञाय यत्नतः कार्यमुद्वहन् ।
स निश्चयार्थं कार्यस्य कृष्णमेव जनार्दनम् ॥ ३६ ॥
सर्वलोकात् परं मत्वा जगाम मनसा हरिम् ।
अप्रमेयं महाबाहुं कामाज्जातमजं नृषु ॥ ३७ ॥

तदनन्तर मनको वशमें रखनेवाले महाबुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने सम्पूर्ण लोकोंके हितकी इच्छासे पुनः इस विषयपर मन-ही-मन विचार किया—'जो बुद्धिमान् अपनी शक्ति और साधनोंको देखकर तथा देश, काल, आय और व्ययको बुद्धिके द्वारा भलीभाँति समझ करके कार्य आरम्भ करता है, वह कष्टमें नहीं पड़ता । केवल अपने ही निश्चयसे यज्ञका आरम्भ नहीं किया जाता ।' ऐसा समझकर यत्नपूर्वक कार्यभार वहन करनेवाले युधिष्ठिरने उस कार्यके विषयमें पूर्ण निश्चय करनेके लिये जनार्दन भगवान् श्रीकृष्णको ही सब लोगोंसे उत्तम माना और वे मन-ही-मन उन अप्रमेय महाबाहु श्रीहरिकी शरणमें गये, जो अजन्मा होते हुए भी धर्म एवं साधु पुरुषोंकी रक्षा आदिकी इच्छासे मनुष्यलोकमें अवतीर्ण हुए थे ॥ ३३–३७ ॥

पाण्डवस्तर्कयामास कर्मभिर्देवसम्मतैः ।
नास्य किंचिदविज्ञातं नास्य किंचिदकर्मजम् ॥ ३८ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने श्रीकृष्णके देवपूजित अलौकिक कर्मोंद्वारा यह अनुमान किया कि श्रीकृष्णके लिये कुछ भी अज्ञात नहीं है तथा कोई भी ऐसा कार्य नहीं है, जिसे वे कर न सकें ॥ ३८ ॥

न स किंचिन्न विषहेदिति कृष्णममन्यत ।
स तु तां नैष्ठिकीं बुद्धिं कृत्वा पार्थो युधिष्ठिरः ॥ ३९ ॥
गुरुवद् भूतगुरवे प्राहिणोद् दूतमञ्जसा ।
शीघ्रगेन रथेनाशु स दूतः प्राप्य यादवान् ॥ ४० ॥
द्वारकावासिनं कृष्णं द्वारवत्यां समासदत् ।

उनके लिये कुछ भी असह्य नहीं है । इस तरह उन्होंने उन्हें सर्वशक्तिमान् एवं सर्वज्ञ माना । ऐसी निश्चयात्मक बुद्धि करके कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने गुरुजनोंके प्रति निवेदन करनेकी भाँति समस्त प्राणियोंके गुरु श्रीकृष्णके पास शीघ्र ही एक दूत भेजा । वह दूत शीघ्रगामी रथके द्वारा तुरंत यादवोंके यहाँ पहुँचकर द्वारकावासी श्रीकृष्णसे द्वारकामें ही मिला ॥ ३९–४०½ ॥

(स प्रह्वः प्राञ्जलिर्भूत्वा व्यज्ञापयत माधवम् ॥

उसने विनयपूर्वक हाथ जोड़ भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार निवेदन किया ॥

दूत उवाच

धर्मराजो हृषीकेश धौम्यव्यासादिभिः सह ।

पाञ्चालमात्स्यसहितैर्भ्रातृभिश्चैव सर्वशः ॥
त्वद्दर्शनं महाबाहो काङ्क्षते स युधिष्ठिरः ।

दूतने कहा—महाबाहु हृषीकेश ! धर्मराज युधिष्ठिर धौम्य एवं व्यास आदि महर्षियों, द्रुपद और विराट आदि नरेशों तथा अपने समस्त भाइयोंके साथ आपका दर्शन करना चाहते हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

इन्द्रसेनवचः श्रुत्वा यादवप्रवरो बली ।)
दर्शनाकाङ्क्षिणं पार्थं दर्शनाकाङ्क्षयाच्युतः ॥ ४१ ॥
इन्द्रसेनेन सहित इन्द्रप्रस्थमगात् तदा ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—दूत इन्द्रसेनकी यह बात सुनकर यदुवंशशिरोमणि महाबली भगवान् श्रीकृष्ण दर्शनाभिलाषी युधिष्ठिरके पास स्वयं भी उनके दर्शनकी अभिलाषासे दूत इन्द्रसेनके साथ इन्द्रप्रस्थ नगरमें आये ॥ ४१½ ॥

व्यतीत्य विविधान् देशांस्त्वरावान् क्षिप्रवाहनः ॥४२॥

मार्गमें अनेक देशोंको लाँघते हुए वे बड़ी उतावलीके साथ आगे बढ़ रहे थे । उनके रथके घोड़े बहुत तेज चलनेवाले थे ॥ ४२ ॥

इन्द्रप्रस्थगतं पार्थमभ्यगच्छज्जनार्दनः ।
स गृहे पितृवद् भ्रात्रा धर्मराजेन पूजितः ।
भीमेन च ततोऽपश्यत् स्वसारं प्रीतिमान् पितुः ॥ ४३ ॥

भगवान् जनार्दन इन्द्रप्रस्थमें आकर राजा युधिष्ठिरसे मिले । फुफेरे भाई धर्मराज युधिष्ठिर तथा भीमसेनने अपने घरमें श्रीकृष्णका पिताकी भाँति पूजन किया । तत्पश्चात् श्रीकृष्ण अपनी बुआ कुन्तीसे प्रसन्नतापूर्वक मिले ॥ ४३ ॥

प्रीतः प्रीतेन सुहृदा रेमे स सहितस्तदा ।
अर्जुनेन यमाभ्यां च गुरुवत् पर्युपासितः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर प्रेमी सुहृद् अर्जुनसे मिलकर वे बहुत प्रसन्न हुए । फिर नकुल-सहदेवने गुरुकी भाँति उनकी सेवा-पूजा की ॥ ४४ ॥

तं विश्रान्तं शुभे देशे क्षणिनं कल्पमच्युतम् ।
धर्मराजः समागम्याज्ञापयत् स्वप्रयोजनम् ॥ ४५ ॥

इसके बाद उन्होंने एक उत्तम भवनमें विश्राम किया । थोड़ी देर बाद जब वे मिलनेके योग्य हुए और इसके लिये उन्होंने अवसर निकाल लिया, तब धर्मराज युधिष्ठिरने आकर उनसे अपना सारा प्रयोजन बतलाया ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्रार्थितो राजसूयो मे न चासौ केवलेप्सया ।
प्राप्यते येन तत् ते हि विदितं कृष्ण सर्वशः ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! मैं राजसूययज्ञ करना चाहता हूँ; परंतु वह केवल चाहनेभरसे ही पूरा नहीं हो सकता । जिस उपायसे उस यज्ञकी पूर्ति हो सकती है, वह सब आपको ही ज्ञात है ॥ ४६ ॥

यस्मिन् सर्वं सम्भवति यश्च सर्वत्र पूज्यते ।
यश्च सर्वेश्वरो राजा राजसूयं स विन्दति ॥ ४७ ॥

जिसमें सब कुछ सम्भव है अर्थात् जो सब कुछ कर सकता है, जिसकी सर्वत्र पूजा होती है तथा जो सर्वेश्वर होता है, वही राजा राजसूययज्ञ सम्पन्न कर सकता है ॥ ४७ ॥

तं राजसूयं सुहृदः कार्यमाहुः समेत्य मे ।
तत्र मे निश्चिततमं तव कृष्ण गिरा भवेत् ॥ ४८ ॥

मेरे सब सुहृद् एकत्र होकर मुझसे वही राजसूययज्ञ करनेके लिये कहते हैं; परंतु इसके विषयमें अन्तिम निश्चय तो आपके कहनेसे ही होगा ॥ ४८ ॥

केचिद्धि सौहृदादेव न दोषं परिचक्षते ।
स्वार्थहेतोस्तथैवान्ये प्रियमेव वदन्त्युत ॥ ४९ ॥

कुछ लोग प्रेम-सम्बन्धके नाते ही मेरे दोषों या त्रुटियोंको नहीं बताते हैं । दूसरे लोग स्वार्थवश वही बात कहते हैं, जो मुझे प्रिय लगे ॥ ४९ ॥

प्रियमेव परीप्सन्ते केचिदात्मनि यद्धितम् ।
एवम्प्रायाश्च दृश्यन्ते जनवादाः प्रयोजने ॥ ५० ॥

कुछ लोग जो अपने लिये हितकर है, उसीको मेरे लिये भी प्रिय एवं हितकर समझ बैठते हैं । इस प्रकार अपने-अपने प्रयोजनको लेकर प्रायः लोगोंकी भिन्न-भिन्न बातें देखी जाती हैं ॥ ५० ॥

त्वं तु हेतूनतीत्यैतान् कामक्रोधौ व्युदस्य च ।
परमं यत् क्षमं लोके यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ ५१ ॥

परंतु आप उपर्युक्त सभी हेतुओंसे एवं काम-क्रोधसे रहित होकर (अपने स्वरूपमें स्थित हैं । अतः) इस लोकमें मेरे लिये जो उत्तम एवं करने योग्य हो, उसको ठीक-ठीक बतानेकी कृपा करें ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि वासुदेवागमने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें वासुदेवागमनविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ५३½ श्लोक हैं)

चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीकृष्णकी राजसूययज्ञके लिये सम्मति

कृष्ण उवाच

सर्वैर्गुणैर्महाराज राजसूयं त्वमर्हसि।
जानतस्त्वेव ते सर्वं किंचिद् वक्ष्यामि भारत॥ १॥

श्रीकृष्णने कहा—महाराज! आपमें सभी सद्गुण विद्यमान हैं; अतः आप राजसूययज्ञ करनेके लिये योग्य हैं। भारत! आप सब कुछ जानते हैं, तो भी आपके पूछनेपर मैं इस विषयमें कुछ निवेदन करता हूँ॥ १॥

जामदग्न्येन रामेण क्षत्रं यदवशेषितम्।
तस्मादवरजं लोके यदिदं क्षत्रसंज्ञितम्॥ २॥

जमदग्निनन्दन परशुरामने पूर्वकालमें जब क्षत्रियोंका संहार किया था, उस समय लुक-छिपकर जो क्षत्रिय शेष रह



गये, वे पूर्ववर्ती क्षत्रियोंकी अपेक्षा निम्नकोटिके हैं। इस प्रकार इस समय संसारमें नाममात्रके क्षत्रिय रह गये हैं॥ २॥

कृतोऽयं कुलसंकल्पः क्षत्रियैर्वसुधाधिप।
निदेशवाग्भिस्तत् ते ह विदितं भरतर्षभ॥ ३॥

पृथ्वीपते! इन क्षत्रियोंने पूर्वजोंके कथनानुसार सामूहिकरूपसे यह नियम बना लिया है कि हममेंसे जो समस्त क्षत्रियोंको जीत लेगा, वही सम्राट् होगा। भरतश्रेष्ठ! यह बात आपको भी मालूम ही होगी॥ ३॥

ऐलस्येक्ष्वाकुवंशस्य प्रकृतिं परिचक्षते।
राजानः श्रेणिबद्धाश्च तथान्ये क्षत्रिया भुवि॥ ४॥

इस समय श्रेणिबद्ध (सब-के-सब) राजा तथा भूमण्डलके दूसरे क्षत्रिय भी अपनेको सम्राट् पुरूरवा तथा इक्ष्वाकुकी संतान कहते हैं॥ ४॥

ऐलवंश्यास्तु ये राजंस्तथैवेक्ष्वाकवो नृपाः।
तानि चैकशतं विद्धि कुलानि भरतर्षभ॥ ५॥

भरतश्रेष्ठ राजन्! पुरूरवा तथा इक्ष्वाकुके वंशमें जो नरेश आजकल हैं, उनके एक सौ कुल विद्यमान हैं; यह बात आप अच्छी तरह जान लें॥ ५॥

ययातेस्त्वेव भोजानां विस्तरो गुणतो महान्।
भजतेऽद्य महाराज विस्तरं स चतुर्दिशम्॥ ६॥
तेषां तथैव तां लक्ष्मीं सर्वक्षत्रमुपासते।

महाराज! आजकल राजा ययातिके कुलमें गुणकी दृष्टिसे भोजवंशियोंका ही अधिक विस्तार हुआ है। भोजवंशी बढ़कर चारों दिशाओंमें फैल गये हैं तथा आजके सभी क्षत्रिय उन्हींकी धन-सम्पत्तिका आश्रय ले रहे हैं॥ ६½॥

इदानीमेव वै राजञ्जरासंधो महीपतिः॥ ७॥
अभिभूय श्रियं तेषां कुलानामभिषेचितः।
स्थितो मूर्ध्नि नरेन्द्राणामोजसाऽऽक्रम्य सर्वशः॥ ८॥

राजन्! अभी-अभी भूपाल जरासंध उन समस्त क्षत्रिय-कुलोंकी राजलक्ष्मीको लाँघकर राजाओंद्वारा सम्राट्के पदपर अभिषिक्त हुआ है और वह अपने बल-पराक्रमसे सबपर आक्रमण करके समस्त राजाओंका सिरमौर हो रहा है॥७-८॥

सोऽवनिं मध्यमां भुक्त्वा मिथोभेदममन्यत।
प्रभुर्यस्तु परो राजा यस्मिन्नेकवशे जगत्॥ ९॥

जरासंध मध्यभूमिका उपभोग करते हुए समस्त राजाओं-में परस्पर फूट डालनेकी नीतिको पसंद करता है। इस समय वही सबसे प्रबल एवं उत्कृष्ट राजा है। यह सारा जगत् एक-मात्र उसीके वशमें है॥ ९॥

स साम्राज्यं महाराज प्राप्तो भवति योगतः।
तं स राजा जरासंधं संश्रित्य किल सर्वशः॥ १०॥
राजन् सेनापतिर्जातः शिशुपालः प्रतापवान्।

महाराज! वह अपनी राजनीतिक युक्तियोंसे इस समय सम्राट् बन बैठा है। राजन्! कहते हैं, प्रतापी राजा शिशुपाल सब प्रकारसे जरासंधका आश्रय लेकर ही उसका प्रधान सेनापति हो गया है॥ १०½॥

तमेव च महाराज शिष्यवत् समुपस्थितः॥ ११॥
वक्रः करूषाधिपतिर्मायायोधी महाबलः।

युधिष्ठिर! मायायुद्ध करनेवाला महाबली करूषराज दन्तवक्र भी जरासंधके सामने शिष्यकी भाँति हाथ जोड़े खड़ा रहता है॥ ११½॥

अपरौ च महावीर्यौ महात्मानौ समाश्रितौ ॥ १२ ॥
जरासंधं महावीर्यं तौ हंसडिम्भकावुभौ ।

विशालकाय अन्य दो महापराक्रमी योद्धा सुप्रसिद्ध हंस और डिम्भक भी महाबली जरासंधकी शरण ले चुके थे ॥

दन्तवक्रः करूषश्च करभो मेघवाहनः ।
मूर्ध्ना दिव्यमणिं बिभ्रद् यमद्भुतमणिं विदुः ॥ १३ ॥

करूषदेशका राजा दन्तवक्र, करभ और मेघवाहन—ये सभी सिरपर दिव्य मणिमय मुकुट धारण करते हुए भी जरासंधको अपने मस्तककी अद्भुत मणि मानते हैं (अर्थात् उसके चरणोंमें सिर झुकाते रहते हैं) ॥ १३ ॥

मुरं च नरकं चैव शास्ति यो यवनाधिपः ।
अपर्यन्तबलो राजा प्रतीच्यां वरुणो यथा ॥ १४ ॥
भगदत्तो महाराज वृद्धस्तव पितुः सखा ।
स वाचा प्रणतस्तस्य कर्मणा च विशेषतः ॥ १५ ॥
स्नेहबद्धश्च मनसा पितृवद् भक्तिमांस्त्वयि ।

महाराज ! जो मुर और नरक नामक देशका शासन करते हैं, जिनकी सेना अनन्त है, जो वरुणके समान पश्चिम दिशाके अधिपति कहे जाते हैं, जिनकी वृद्धावस्था हो चली है तथा जो आपके पिताके मित्र रहे हैं, वे यवनाधिपति राजा भगदत्त भी वाणी तथा क्रियाद्वारा भी जरासंधके सामने विशेषरूपसे नतमस्तक रहते हैं; फिर भी वे मन-ही-मन तुम्हारे स्नेह-पाशमें बँधे हैं और जैसे पिता अपने पुत्रपर प्रेम रखता है, वैसे ही उनका तुम्हारे ऊपर वात्सल्यभाव बना हुआ है ॥

प्रतीच्यां दक्षिणं चान्तं पृथिव्याः प्रति यो नृपः ॥ १६ ॥
मातुलो भवतः शूरः पुरुजित् कुन्तिवर्धनः ।
स ते संनतिमानेकः स्नेहतः शत्रुसूदनः ॥ १७ ॥

जो भारतभूमिके पश्चिमसे लेकर दक्षिणतकके भागपर शासन करते हैं, आपके मामा वे शत्रुसंहारक शूरवीर कुन्ति-भोजकुलवर्द्धक पुरुजित् अकेले ही स्नेहवश आपके प्रति प्रेम और आदरका भाव रखते हैं ॥ १६-१७ ॥

जरासंधं गतस्त्वेव पुरा यो न मया हतः ।
पुरुषोत्तमविज्ञातो योऽसौ चेदिषु दुर्मतिः ॥ १८ ॥
आत्मानं प्रतिजानाति लोकेऽस्मिन् पुरुषोत्तमम् ।
आदत्ते सततं मोहाद् यः स चिह्नं च मामकम् ॥ १९ ॥
वङ्गपुण्ड्रकिरातेषु राजा बलसमन्वितः ।
पौण्ड्रको वासुदेवेति योऽसौ लोकेऽभिविश्रुतः ॥ २० ॥

जिसे मैंने पहले मारा नहीं, उपेक्षावश छोड़ रक्खा है, जिसकी बुद्धि बड़ी खोटी है, जो चेदिदेशमें पुरुषोत्तम समझा जाता है, इस जगत्‌में जो अपने-आपको पुरुषोत्तम ही कहकर बताया करता है और मोहवश सदा मेरे शङ्ख-चक्र आदि चिह्नोंको धारण करता है; वङ्ग, पुण्ड्र तथा किरातदेशका जो राजा है तथा लोकमें वासुदेवके नामसे जिसकी प्रसिद्धि हो रही है, वह बलवान् राजा पौण्ड्रक भी जरासंधसे ही मिला हुआ है ॥ १८–२० ॥

चतुर्थभाग् महाराज भोज इन्द्रसखो बली ।
विद्याबलाद् यो व्यजयत् सपाण्ड्यक्रथकैशिकान् ॥ २१ ॥
भ्राता यस्याकृतिः शूरो जामदग्न्यसमोऽभवत् ।
स भक्तो मागधं राजा भीष्मकः परवीरहा ॥ २२ ॥

राजन् ! जो पृथ्वीके एक चौथाई भागके स्वामी हैं, इन्द्रके सखा हैं, बलवान् हैं, जिन्होंने अस्त्र-विद्याके बलसे पाण्ड्य, क्रथ और कैशिक देशोंपर विजय पायी है, जिनका भाई आकृति जमदग्निनन्दन परशुरामके समान शौर्यसम्पन्न है, वे भोज-वंशी शत्रुहन्ता राजा भीष्मक (मेरे श्वशुर होते हुए) भी मगध-राज जरासंधके भक्त हैं ॥ २१-२२ ॥

प्रियाण्याचरतः प्रह्वान् सदा सम्बन्धिनस्ततः ।
भजतो न भजत्यस्मानप्रियेषु व्यवस्थितः ॥ २३ ॥

हम सदा उनका प्रिय करते रहते हैं, उनके प्रति नम्रता दिखाते हैं और उनके सगे-सम्बन्धी हैं; तो भी वे हम-जैसे अपने भक्तोंको तो नहीं अपनाते हैं और हमारे शत्रुओंसे मिलते-जुलते हैं ॥ २३ ॥

न कुलं स बलं राजन्नभ्यजानात् तथाऽऽत्मनः ।
पश्यमानो यशो दीप्तं जरासंधमुपस्थितः ॥ २४ ॥

राजन् ! वे अपने बल और कुलकी ओर भी ध्यान नहीं देते, केवल जरासंधके उज्ज्वल यशकी ओर देखकर उसके आश्रित बन गये हैं ॥ २४ ॥

उदीच्याश्च तथा भोजाः कुलान्यष्टादश प्रभो ।
जरासंधभयादेव प्रतीचीं दिशमास्थिताः ॥ २५ ॥

प्रभो ! इसी प्रकार उत्तर दिशामें निवास करनेवाले भोजवंशियोंके अठारह कुल जरासंधके ही भयसे भागकर पश्चिम दिशामें रहने लगे हैं ॥ २५ ॥

शूरसेना भद्रकारा बोधाः शाल्वाः पटच्चराः ।
सुस्थलाश्च सुकुट्टाश्च कुलिन्दाः कुन्तिभिः सह ॥ २६ ॥
शाल्वायनाश्च राजानः सोदर्यानुचरैः सह ।
दक्षिणा ये च पञ्चालाः पूर्वाः कुन्तिषु कोशलाः ॥ २७ ॥
तथोत्तरां दिशं चापि परित्यज्य भयार्दिताः ।
मत्स्याः संन्यस्तपादाश्च दक्षिणां दिशमाश्रिताः ॥ २८ ॥

शूरसेन, भद्रकार, बोध, शाल्व, पटच्चर, सुस्थल, सुकुट्ट, कुलिन्द, कुन्ति तथा शाल्वायन आदि राजा भी अपने भाइयों तथा सेवकोंके साथ दक्षिण दिशामें भाग गये हैं। जो लोग दक्षिण पञ्चाल एवं पूर्वी कुन्तिप्रदेशमें रहते थे, वे सभी क्षत्रिय तथा कोशल, मत्स्य, संन्यस्तपाद आदि राजपूत

भी जरासंधके भयसे पीड़ित हो उत्तर दिशाको छोड़कर दक्षिण दिशाका ही आश्रय ले चुके हैं ॥ २६–२८ ॥

तथैव सर्वपञ्चाला जरासंधभयार्दिताः ।
स्वराज्यं सम्परित्यज्य विद्रुताः सर्वतो दिशम् ॥ २९ ॥

उसी प्रकार समस्त पञ्चालदेशीय क्षत्रिय जरासंधके भयसे दुःखी हो अपना राज्य छोड़कर चारों दिशाओंमें भाग गये हैं ॥ २९ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य कंसो निर्मथ्य यादवान् ।
बार्हद्रथसुते देव्यावुपागच्छद् वृथामतिः ॥ ३० ॥

कुछ समय पहलेकी बात है, व्यर्थ बुद्धिवाले कंसने समस्त यादवोंको कुचलकर जरासंधकी दो पुत्रियोंके साथ विवाह किया ॥ ३० ॥

अस्तिः प्राप्तिश्च नाम्ना ते सहदेवानुजेऽबले ।
बलेन तेन स्वज्ञातीनभिभूय वृथामतिः ॥ ३१ ॥
श्रैष्ठ्यं प्राप्तः स तस्यासीदतीवापनयो महान् ।

उनके नाम थे अस्ति और प्राप्ति । वे दोनों अबलाएँ सहदेवकी छोटी बहिनें थीं । निःसार बुद्धिवाला कंस जरासंधके ही बलसे अपने जाति-भाइयोंको अपमानित करके सबका प्रधान बन बैठा था । यह उसका बहुत बड़ा अत्याचार था ॥ ३१½ ॥

भोजराजन्यवृद्धैश्च पीड्यमानैर्दुरात्मना ॥ ३२ ॥
ज्ञातित्राणमभीप्सद्भिरस्मत्सम्भावना कृता ।

उस दुरात्मासे पीड़ित हो भोजराजवंशके बड़े-बूढ़े लोगोंने जाति-भाइयोंकी रक्षाके लिये हमसे प्रार्थना की ॥ ३२½ ॥

दत्त्वाक्रूराय सुतनुं तामाहुकसुतां तदा ॥ ३३ ॥
संकर्षणद्वितीयेन ज्ञातिकार्यं मया कृतम् ।
हतौ कंससुनामानौ मया रामेण चाप्युत ॥ ३४ ॥

तब मैंने आहुककी पुत्री सुतनुका विवाह अक्रूरसे करा दिया और बलरामजीको साथी बनाकर जाति-भाइयोंका कार्य सिद्ध किया । मैंने और बलरामजीने कंस और सुनामाको मार डाला ॥३३-३४ ॥

भये तु समतिक्रान्ते जरासंधे समुद्यते ।
मन्त्रोऽयं मन्त्रितो राजन् कुलैरष्टादशावरैः ॥३५ ॥

इससे कंसका भय तो जाता रहा; परंतु जरासंध कुपित हो हमसे बदला लेनेको उद्यत हो गया । राजन् ! उस समय भोजवंशके अठारह कुलों (मन्त्री-पुरोहित आदि) ने मिलकर इस प्रकार विचार-विमर्श किया—॥ ३५ ॥

अनारभन्तो निघ्नन्तो महास्त्रैः शत्रुघातिभिः ।
न हन्यामो वयं तस्य त्रिभिर्वर्षशतैर्बलम् ॥ ३६ ॥

'यदि हमलोग शत्रुओंका अन्त करनेवाले बड़े-बड़े अस्त्रोंद्वारा निरन्तर आघात करते रहें, तो भी तीन सौ वर्षोंमें भी उसकी सेनाका नाश नहीं कर सकते ॥ ३६ ॥

तस्य ह्यमरसंकाशौ बलेन बलिनां वरौ ।
नामभ्यां हंसडिम्भकावशस्त्रनिधनावुभौ ॥ ३७ ॥

'क्योंकि बलवानोंमें श्रेष्ठ हंस और डिम्भक उसके सहायक हैं, जो बलमें देवताओंके समान हैं । उन दोनोंको यह वरदान प्राप्त है कि वे किसी अस्त्र-शस्त्रसे नहीं मारे जा सकते' ॥ ३७ ॥

तावुभौ सहितौ वीरौ जरासंधश्च वीर्यवान् ।
त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ॥ ३८ ॥

भैया युधिष्ठिर ! मेरा तो ऐसा विश्वास है कि एक साथ रहनेवाले वे दोनों वीर हंस और डिम्भक तथा पराक्रमी जरासंध—ये तीनों मिलकर तीनों लोकोंका सामना करनेके लिये पर्याप्त थे ॥ ३८ ॥

न हि केवलमस्माकं यावन्तोऽन्ये च पार्थिवाः ।
तथैव तेषामासीच्च बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ॥ ३९ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ नरेश ! यह केवल मेरा ही मत नहीं है, दूसरे भी जितने भूमिपाल हैं, उन सबका यही विचार रहा है ॥ ३९ ॥

अथ हंस इति ख्यातः कश्चिदासीन्महान् नृपः ।
रामेण स हतस्तत्र संग्रामेऽष्टादशावरे ॥ ४० ॥

जरासंधके साथ जब सत्रहवीं बार युद्ध हो रहा था, उसमें हंस नामसे प्रसिद्ध कोई दूसरा राजा भी लड़ने आया था, वह उस युद्धमें बलरामजीके हाथसे मारा गया ॥ ४० ॥

हतो हंस इति प्रोक्तमथ केनापि भारत ।
तच्छ्रुत्वा डिम्भको राजन् यमुनाम्भस्यमज्जत ॥ ४१ ॥

भारत ! यह देख किसी सैनिकने चिल्लाकर कहा—'हंस मारा गया ।' राजन् ! उसकी वह बात कानमें पड़ते ही डिम्भक अपने भाईको ही मरा हुआ जान यमुनाजीमें कूद पड़ा ॥ ४१ ॥

विना हंसेन लोकेऽस्मिन् नाहं जीवितुमुत्सहे ।
इत्येतां मतिमास्थाय डिम्भको निधनं गतः ॥ ४२ ॥

मैं हंसके बिना इस संसारमें जीवित नहीं रह सकता ।' ऐसा निश्चय करके डिम्भकने अपनी जान दे दी ॥

तथा तु डिम्भकं श्रुत्वा हंसः परपुरंजयः ।
प्रपेदे यमुनामेव सोऽपि तस्यां न्यमज्जत ॥ ४३ ॥

डिम्भककी इस प्रकार मृत्यु हुई सुनकर शत्रुनगरीको जीतनेवाला हंस भी भाईके शोकसे यमुनामें ही कूद पड़ा और उसीमें डूबकर मर गया ॥ ४३ ॥

तौ स राजा जरासंधः श्रुत्वा च निधनं गतौ ।
पुरं शून्येन मनसा प्रययौ भरतर्षभ ॥ ४४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उन दोनोंकी मृत्यु हुई सुनकर राजा जरासंध हताश हो गया और उत्साहशून्य हृदयसे अपनी राजधानीको लौट गया ॥ ४४ ॥

ततो वयममित्रघ्न तस्मिन् प्रतिगते नृपे ।
पुनरानन्दिनः सर्वे मथुरायां वसामहे ॥ ४५ ॥

शत्रुसूदन ! उसके इस प्रकार लौट जानेपर हम सब लोग पुनः मथुरामें आनन्दपूर्वक रहने लगे ॥ ४५ ॥

यदा त्वभ्येत्य पितरं सा वै राजीवलोचना ।
कंसभार्या जरासंधं दुहिता मागधं नृपम् ।
चोदयत्येव राजेन्द्र पतिव्यसनदुःखिता ॥ ४६ ॥
पतिघ्नं मे जहीत्येवं पुनः पुनररिंदम ।

शत्रुदमन राजेन्द्र ! फिर जब पतिके शोकसे पीड़ित हुई कंसकी कमललोचना भार्या अपने पिता मगधनरेश जरासंधके पास जाकर उसे बार-बार उकसाने लगी कि मेरे पतिके घातकको मार डालो, ॥ ४६½ ॥

ततो वयं महाराज तं मन्त्रं पूर्वमन्त्रितम् ॥ ४७ ॥
संस्मरन्तो विमनसो व्यपयाता नराधिप ।

तब हमलोग भी पहलेकी की हुई गुप्त मन्त्रणाको स्मरण करके उदास हो गये । महाराज ! फिर तो हम मथुरासे भाग खड़े हुए ॥ ४७-½ ॥

पृथक्त्वेन महाराज संक्षिप्य महतीं श्रियम् ॥ ४८ ॥
पलायामो भयात् तस्य ससुतज्ञातिबान्धवाः ।
इति संचिन्त्य सर्वे स्म प्रतीचीं दिशमाश्रिताः ॥ ४९ ॥

राजन् ! उस समय हमने यही निश्चय किया कि 'यहाँकी विशाल सम्पत्तिको पृथक्-पृथक् बाँटकर थोड़ी-थोड़ी करके पुत्र एवं भाई-बन्धुओंके साथ शत्रुके भयसे भाग चलें ।' ऐसा विचार करके हम सबने पश्चिम दिशाकी शरण ली ॥४८-४९॥

कुशस्थलीं पुरीं रम्यां रैवतेनोपशोभिताम् ।
ततो निवेशं तस्यां च कृतवन्तो वयं नृप ॥ ५० ॥

और राजन् ! रैवतक पर्वतसे सुशोभित रमणीय कुशस्थली पुरीमें जाकर हमलोग निवास करने लगे ॥ ५० ॥

तथैव दुर्गसंस्कारं देवैरपि दुरासदम् ।
स्त्रियोऽपि यस्यां युध्येयुः किमु वृष्णिमहारथाः॥ ५१ ॥

हमने कुशस्थली दुर्गकी ऐसी मरम्मत करायी कि देवताओंके लिये भी उसमें प्रवेश करना कठिन हो गया । अब तो उस दुर्गमें रहकर स्त्रियाँ भी युद्ध कर सकती हैं, फिर वृष्णिकुलके महारथियोंकी तो बात ही क्या है ?॥५१॥

तस्यां वयममित्रघ्न निवसामोऽकुतोभयाः ।
आलोच्य गिरिमुख्यं तं मागधं तीर्णमेव च ॥ ५२ ॥
माधवाः कुरुशार्दूल परां मुदमवाप्नुवन् ।

शत्रुसूदन ! हमलोग द्वारकापुरीमें सब ओरसे निर्भय होकर रहते हैं । कुरुश्रेष्ठ ! गिरिराज रैवतककी दुर्गमताका विचार करके अपनेको जरासंधके संकटसे पार हुआ मानकर हम सभी मधुवंशियोंको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई है ॥ ५२½ ॥

एवं वयं जरासंधादभितः कृतकिल्बिषाः ॥ ५३ ॥
सामर्थ्यवन्तः सम्बन्धाद् गोमन्तं समुपाश्रिताः ।

राजन् ! हम जरासंधके अपराधी हैं, अतः शक्तिशाली होते हुए भी जिस स्थानसे हमारा सम्बन्ध था, उसे छोड़कर गोमान् (रैवतक) पर्वतके आश्रयमें आ गये हैं ॥ ५३½ ॥

त्रियोजनायतं सद्म त्रिस्कन्धं योजनावधि ॥ ५४ ॥
योजनान्ते शतद्वारं वीरविक्रमतोरणम् ।
अष्टादशावरैर्नद्धं क्षत्रियैर्युद्धदुर्मदैः ॥ ५५ ॥

रैवतक दुर्गकी लम्बाई तीन योजनकी है । एक-एक योजनपर सेनाओंके तीन-तीन दलोंकी छावनी है । प्रत्येक योजनके अन्तमें सौ-सौ द्वार हैं, जो सेनाओंसे सुरक्षित हैं । वीरोंका पराक्रम ही उस गढ़का प्रधान फाटक है । युद्धमें उन्मत्त होकर पराक्रम दिखानेवाले अठारह यादववंशी क्षत्रियोंसे वह दुर्ग सुरक्षित है ॥ ५४-५५ ॥

अष्टादश सहस्राणि भ्रातॄणां सन्ति नः कुले ।
आहुकस्य शतं पुत्रा एकैकस्त्रिदशावरः ॥ ५६ ॥

हमारे कुलमें अठारह हजार भाई हैं । आहुकके सौ पुत्र हैं, जिनमेंसे एक-एक देवताओंके समान पराक्रमी हैं ॥५६॥

चारुदेष्णः सह भ्रात्रा चक्रदेवोऽथ सात्यकिः ।
अहं च रौहिणेयश्च साम्बः प्रद्युम्न एव च ॥ ५७ ॥
एवमतिरथाः सप्त राजन्नन्यान् निबोध मे ।
कृतवर्मा ह्यनाधृष्टिः समीकः समितिंजयः ॥ ५८ ॥
कङ्कः शङ्कुश्च कुन्तिश्च सप्तैते वै महारथाः ।
पुत्रौ चान्धकभोजस्य वृद्धो राजा च ते दश ॥ ५९ ॥

अपने भाईके साथ चारुदेष्ण, चक्रदेव, सात्यकि, मैं, बलरामजी, साम्ब और प्रद्युम्न—ये सात अतिरथी वीर हैं । राजन् ! अब मुझसे दूसरोंका परिचय सुनिये । कृतवर्मा, अनाधृष्टि, समीक, समितिंजय, कङ्क, शङ्कु और कुन्ति—ये सात महारथी हैं । अन्धक भोजके दो पुत्र और बूढ़े राजा उग्रसेनको भी गिन लेनेपर उन महारथियोंकी संख्या दस हो जाती है ॥ ५७–५९ ॥

वज्रसंहनना वीरा वीर्यवन्तो महारथाः ।
स्मरन्तो मध्यमं देशं वृष्णिमध्ये व्यवस्थिताः ॥ ६० ॥

ये सभी वीर वज्रके समान सुदृढ़ शरीरवाले, पराक्रमी और महारथी हैं, जो मध्यदेशका स्मरण करते हुए वृष्णिकुलमें निवास करते हैं ॥ ६० ॥

(वितद्रुर्झल्लिबभ्रू च उद्धवोऽथ विदूरथः ।
वसुदेवोग्रसेनौ च सप्तैते मन्त्रिपुङ्गवाः ॥
प्रसेनजिच्च यमलो राजराजगुणान्वितः ।
स्यमन्तको मणिर्यस्य रुक्मं निस्रवते बहु ॥)

वितद्रु, झल्लि, बभ्रु, उद्धव, विदूरथ, वसुदेव तथा उग्रसेन—ये सात मुख्य मन्त्री हैं । प्रसेनजित् और सत्राजित्—ये दोनों जुड़वें बन्धु कुबेरोपम सद्गुणोंसे सुशोभित हैं ।उनके पास जो 'स्यमन्तक' नामक मणि है, उससे प्रचुर-मात्रामें सुवर्ण झरता रहता है ॥

स त्वं सम्राड्गुणैर्युक्तः सदा भरतसत्तम ।
क्षत्रे सम्राजमात्मानं कर्तुमर्हसि भारत ॥ ६१ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! आप सदा ही सम्राट्के गुणोंसे युक्त हैं । अतः भारत ! आपको क्षत्रियसमाजमें अपनेको सम्राट् बना लेना चाहिये ॥ ६१ ॥

(दुर्योधनं शान्तनवं द्रोणं द्रौणायनिं कृपम् ।
कर्णं च शिशुपालं च रुक्मिणं च धनुर्धरम् ॥
एकलव्यं द्रुमं श्वेतं शैब्यं शकुनिमेव च ।
एतानजित्वा संग्रामे कथं शक्नोषि तं क्रतुम् ॥
अथैते गौरवेणैव न योत्स्यन्ति नराधिपाः ।)

दुर्योधन, भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कर्ण, शिशुपाल, रुक्मी, धनुर्धर एकलव्य, द्रुम, श्वेत, शैब्य तथा शकुनि—इन सब वीरोंको संग्राममें जीते बिना आप कैसे वह यज्ञ कर सकते हैं ? परंतु ये नरश्रेष्ठ आपका गौरव मानकर युद्ध नहीं करेंगे ॥

न तु शक्यं जरासंधे जीवमाने महाबले ।
राजसूयस्त्वयावाप्तुमेषा राजन् मतिर्मम ॥ ६२ ॥

किंतु राजन् ! मेरी सम्मति यह है कि जबतक महाबली जरासंध जीवित है, तबतक आप राजसूय यज्ञ पूर्ण नहीं कर सकते ॥ ६२ ॥

तेन रुद्धा हि राजानः सर्वे जित्वा गिरिव्रजे ।
कन्दरे पर्वतेन्द्रस्य सिंहेनेव महाद्विपाः ॥ ६३ ॥

उसने सब राजाओंको जीतकर गिरिव्रजमें इस प्रकार कैद कर रक्खा है, मानो सिंहने किसी महान् पर्वतकी गुफामें बड़े-बड़े गजराजोंको रोक रक्खा हो ॥ ६३ ॥

स हि राजा जरासंधो यियक्षुर्वसुधाधिपैः ।
महादेवं महात्मानमुमापतिमरिंदम ॥ ६४ ॥
आराध्य तपसोग्रेण निर्जितास्तेन पार्थिवाः ।
प्रतिज्ञायाश्च पारं स गतः पार्थिवसत्तम ॥ ६५ ॥

शत्रुदमन ! राजा जरासंधने उमावल्लभ महात्मा महादेवजीकी उग्र तपस्याके द्वारा आराधना करके एक विशेष प्रकारकी शक्ति प्राप्त कर ली है; इसीलिये वे सभी राजा उससे परास्त हो गये हैं । वह राजाओंकी बलि देकर एक यज्ञ करना चाहता है । नृपश्रेष्ठ ! वह अपनी प्रतिज्ञा प्रायः पूरी कर चुका है ॥६४-६५॥

स हि निर्जित्य निर्जित्य पार्थिवान् पृतनागतान् ।
पुरमानीय बद्ध्वा च चकार पुरुषव्रजम् ॥ ६६ ॥

क्योंकि उसने सेनाके साथ आये हुए राजाओंको एक-एक करके जीता है और अपनी राजधानीमें लाकर उन्हें कैद करके राजाओंका बहुत बड़ा समुदाय एकत्र कर लिया है ॥ ६६ ॥

वयं चैव महाराज जरासंधभयात् तदा ।
मथुरां सम्परित्यज्य गता द्वारवतीं पुरीम् ॥ ६७ ॥

महाराज ! उस समय हम भी जरासंधके भयसे ही पीडित हो मथुराको छोड़कर द्वारकापुरीमें चले गये (और अबतक वहीं निवास करते हैं) ॥ ६७ ॥

यदि त्वेनं महाराज यज्ञं प्राप्तुमभीप्ससि ।
यतस्व तेषां मोक्षाय जरासंधवधाय च ॥ ६८ ॥

राजन् ! यदि आप इस यज्ञको पूर्णरूपसे सम्पन्न करना चाहते हैं तो उन कैदी राजाओंको छुड़ाने और जरासंधको मारनेका प्रयत्न कीजिये ॥ ६८ ॥

समारम्भो न शक्योऽयमन्यथा कुरुनन्दन ।
राजसूयश्च कात्स्न्येन कर्तुं मतिमतां वर ॥ ६९ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुरुनन्दन ! ऐसा किये बिना राजसूय यज्ञका आयोजन पूर्णरूपसे सफल न हो सकेगा ॥ ६९ ॥

(जरासंधवधोपायश्चिन्त्यतां भरतर्षभ ।
तस्मिन् जिते जितं सर्वं सकलं पार्थिवं बलम् ॥)

भरतश्रेष्ठ ! आप जरासंधके वधका उपाय सोचिये । उसके जीत लिये जानेपर समस्त भूपालोंकी सेनाओंपर विजय प्राप्त हो जायगी ॥

इत्येषा मे मती राजन् यथा वा मन्यसेऽनघ ।
एवंगते ममाचक्ष्व स्वयं निश्चित्य हेतुभिः ॥ ७० ॥

निष्पाप नरेश ! मेरा मत तो यही है, फिर आप जैसा उचित समझें, करें । ऐसी दशामें स्वयं हेतु और युक्तियोंद्वारा कुछ निश्चय करके मुझे बताइये ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि कृष्णवाक्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ७५½ श्लोक हैं)

पञ्चदशोऽध्यायः

जरासंधके विषयमें राजा युधिष्ठिर, भीम और श्रीकृष्णकी बातचीत

युधिष्ठिर उवाच

उक्तं त्वया बुद्धिमता यन्नान्यो वक्तुमर्हति ।
संशयानां हि निर्मोक्ता त्वन्नान्यो विद्यते भुवि ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! आप परम बुद्धिमान् हैं, आपने जैसी बात कही है, वैसी दूसरा कोई नहीं कह सकता। इस पृथ्वीपर आपके सिवा समस्त संशयोंको मिटानेवाला और कोई नहीं है ॥ १ ॥

गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः ।
न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट्छब्दो हि कृच्छ्रभाक् ॥

आजकल तो घर-घरमें राजा हैं और सभी अपना-अपना प्रिय कार्य करते हैं, परंतु वे सम्राट्पदको नहीं प्राप्त कर सके; क्योंकि सम्राट्की पदवी बड़ी कठिनाईसे मिलती है ॥ २ ॥

कथं परानुभावज्ञः स्वं प्रशंसितुमर्हति ।
परेण समवेतस्तु यः प्रशस्यः स पूज्यते ॥ ३ ॥

जो दूसरोंके प्रभावको जानता है, वह अपनी प्रशंसा कैसे कर सकता है ? दूसरेके साथ मुकाबला होनेपर भी जो प्रशंसनीय बना रह जाय, उसीकी सर्वत्र पूजा होती है ॥ ३ ॥

विशाला बहुला भूमिर्बहुरत्नसमाचिता ।
दूरं गत्वा विजानाति श्रेयो वृष्णिकुलोद्वह ॥ ४ ॥

वृष्णिकुलभूषण ! यह पृथ्वी बहुत विशाल है, अनेक प्रकारके रत्नोंसे भरी हुई है, मनुष्य दूर जाकर (सत्पुरुषोंका संग करके) यह समझ पाता है कि अपना कल्याण कैसे होगा ॥ ४ ॥

शममेव परं मन्ये शमात् क्षेमं भवेन्मम ।
आरम्भे पारमेष्ठ्ये तु न प्राप्यमिति मे मतिः ॥ ५ ॥

मैं तो मन और इन्द्रियोंके संयमको ही सबसे उत्तम मानता हूँ, उसीसे मेरा भला होगा। राजसूय यज्ञका आरम्भ करनेपर भी उसके फलस्वरूप ब्रह्मलोककी प्राप्ति अपने लिये असम्भव है—मेरी तो यही धारणा है ॥ ५ ॥

एवमेते हि जानन्ति कुले जाता मनस्विनः ।
कश्चित् कदाचिदेतेषां भवेच्छ्रेष्ठो जनार्दन ॥ ६ ॥

जनार्दन ! ये उत्तम कुलमें उत्पन्न मनस्वी सभासद् ऐसा जानते हैं कि इनमें कभी कोई श्रेष्ठ (सर्वविजयी) भी हो सकता है ॥ ६ ॥

वयं चैव महाभाग जरासंधभयात् तदा ।
शङ्किताः स्म महाभाग दौरात्म्यात् तस्य चानघ ॥ ७ ॥
अहं हि तव दुर्धर्ष भुजवीर्याश्रयः प्रभो ।
नात्मानं बलिनं मन्ये त्वयि तस्माद् विशङ्किते ॥ ८ ॥

पापरहित महाभाग ! हम भी जरासंधके भयसे तथा उसकी दुष्टतासे सदा शङ्कित रहते हैं। किसीसे परास्त न होनेवाले प्रभो! मैं तो आपके ही बाहुबलका भरोसा रखता हूँ। जब आप ही जरासंधसे शङ्कित हैं, तब तो मैं अपनेको उसके सामने कदापि बलवान् नहीं मान सकता ॥ ७-८ ॥

त्वत्सकाशाच्च रामाच्च भीमसेनाच्च माधव ।
अर्जुनाद् वा महाबाहो हन्तुं शक्यो न वेति वै ।
एवं जानन् हि वार्ष्णेय विमृशामि पुनः पुनः ॥ ९ ॥

महाबाहु माधव ! आपसे, बलरामजीसे, भीमसेनसे अथवा अर्जुनसे वह मारा जा सकता है या नहीं ? वार्ष्णेय! (आपकी शक्ति अनन्त है,) यह जानते हुए भी मैं बार-बार इसी बातपर विचार करता रहता हूँ ॥ ९ ॥

त्वं मे प्रमाणभूतोऽसि सर्वकार्येषु केशव ।
तच्छ्रुत्वा चाब्रवीद् भीमो वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ १० ॥

केशव ! मेरे लिये सभी कार्योंमें आप ही प्रमाण हैं। युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर बोलनेमें चतुर भीमसेनने यह वचन कहा ॥

भीम उवाच

अनारम्भपरो राजा वल्मीक इव सीदति ।
दुर्बलश्चानुपायेन बलिनं योऽधितिष्ठति ॥ ११ ॥

भीमसेन बोले— महाराज ! जो राजा उद्योग नहीं करता तथा जो दुर्बल होकर भी उचित उपाय अथवा युक्तिसे काम न लेकर किसी बलवान्से भिड़ जाता है, वे दोनों दीमकोंके बनाये हुए मिट्टीके ढेरके समान नष्ट हो जाते हैं ॥ ११ ॥

अतन्द्रितश्च प्रायेण दुर्बलो बलिनं रिपुम् ।
जयेत् सम्यक् प्रयोगेण नीत्यार्थानात्मनो हितान् ॥ १२ ॥

परंतु जो आलस्य त्यागकर उत्तम युक्ति एवं नीतिसे काम लेता है, वह दुर्बल होनेपर भी बलवान् शत्रुको जीत लेता है और अपने लिये हितकर एवं अभीष्ट अर्थ प्राप्त करता है ॥ १२ ॥

कृष्णे नयो मयि बलं जयः पार्थे धनंजये ।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाग्नयः ॥ १३ ॥

श्रीकृष्णमें नीति है, मुझमें बल है और अर्जुनमें विजयकी शक्ति है। हम तीनों मिलकर मगधराज जरासंधके वधका कार्य पूरा कर लेंगे; ठीक उसी तरह, जैसे तीनों अग्नियाँ यज्ञकी सिद्धि कर देती हैं ॥ १३ ॥

(त्वद्बुद्धिबलमाश्रित्य सर्वं प्राप्स्यति धर्मराट् ।
जयोऽस्माकं हि गोविन्द येषां नाथो भवान् सदा ॥)

गोविन्द ! आपके बुद्धिबलका आश्रय लेकर धर्मराज युधिष्ठिर सब कुछ पा सकते हैं। जिनकी सदा रक्षा करनेवाले आप हैं, उनकी—हम पाण्डवोंकी विजय निश्चित है ॥

कृष्ण उवाच

अर्थानारभते बालो नानुबन्धमवेक्षते।
तस्मादरिं न मृष्यन्ति बालमर्थपरायणम् ॥ १४ ॥
जित्वा जय्यान् यौवनाश्विः पालनाच्च भगीरथः।
कार्तवीर्यस्तपोवीर्याद् बलात् तु भरतो विभुः ॥ १५ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! अज्ञानी मनुष्य बड़े-बड़े कार्योंका आरम्भ तो कर देता है, परंतु उनके परिणामकी ओर नहीं देखता। अतः केवल अपने स्वार्थसाधनमें लगे हुए विवेकशून्य शत्रुके व्यवहारको वीर पुरुष नहीं सह सकते। युवनाश्वके पुत्र मान्धाताने जीतने योग्य शत्रुओंको जीतकर सम्राट्का पद प्राप्त किया था। भगीरथ प्रजाका पालन करनेसे, कार्तवीर्य (सहस्रबाहु अर्जुन) तपोबलसे तथा राजा भरत स्वाभाविक बलसे सम्राट् हुए थे ॥ १४-१५ ॥

ऋद्ध्या मरुत्तस्तान् पञ्च सम्राजस्त्वनुशुश्रुम।
साम्राज्यमिच्छतस्ते तु सर्वाकारं युधिष्ठिर ॥ १६ ॥
निग्राह्यलक्षणं प्राप्तिर्धर्मार्थनयलक्षणैः ॥ १७ ॥

इसी प्रकार राजा मरुत्त अपनी समृद्धिके प्रभावसे सम्राट् बने थे। अबतक उन पाँच सम्राटोंका ही नाम हम सुनते आ रहे हैं। युधिष्ठिर ! वे मान्धाता आदि एक-एक गुणसे ही सम्राट् हो सके थे; परंतु आप तो सम्पूर्णरूपसे सम्राट्-पद प्राप्त करना चाहते हैं। साम्राज्य-प्राप्तिके जो पाँच गुण—शत्रुविजय, प्रजापालन, तपःशक्ति, धन-समृद्धि और उत्तम नीति हैं, उन सबसे आप सम्पन्न हैं ॥ १६-१७ ॥

बार्हद्रथो जरासंधस्तद् विद्धि भरतर्षभ।
न चैनमनुरुद्ध्यन्ते कुलान्येकशतं नृपाः।
तस्मादिह बलादेव साम्राज्यं कुरुते हि सः ॥ १८ ॥

परंतु भरतश्रेष्ठ ! आपके मार्गमें बृहद्रथका पुत्र जरासंध बाधक है, यह आपको जान लेना चाहिये। क्षत्रियोंके जो एक सौ कुल हैं, वे कभी उसका अनुसरण नहीं करते, अतः वह बलसे ही अपना साम्राज्य स्थापित कर रहा है ॥ १८ ॥

रत्नभाजो हि राजानो जरासंधमुपासते।
न च तुष्यति तेनापि बाल्यादनयमास्थितः ॥ १९ ॥

जो रत्नोंके अधिपति हैं, ऐसे राजालोग (धन देकर) जरासंधकी उपासना करते हैं, परंतु वह उससे भी संतुष्ट नहीं होता। अपनी विवेकशून्यताके कारण अन्यायका आश्रय ले उनपर अत्याचार ही करता है ॥ १९ ॥

मूर्धाभिषिक्तं नृपतिं प्रधानपुरुषो बलात्।
आदत्ते न च नो दृष्टोऽभागः पुरुषतः क्वचित् ॥ २० ॥

आजकल वह प्रधान पुरुष बनकर मूर्धाभिषिक्त राजाको बलपूर्वक बंदी बना लेता है। जिनका विधिपूर्वक राज्यपर अभिषेक हुआ है, ऐसे पुरुषोंमेंसे कहीं किसी एकको भी हमने ऐसा नहीं देखा, जिसे उसने बलिका भाग न बना लिया हो—कैदमें न डाल रक्खा हो ॥ २० ॥

एवं सर्वान् वशे चक्रे जरासंधः शतावरान्।
तं दुर्बलतरो राजा कथं पार्थ उपैष्यति ॥ २१ ॥

इस प्रकार जरासंधने लगभग सौ राजकुलोंके राजाओंमेंसे कुछको छोड़कर सबको वशमें कर लिया है। कुन्तीनन्दन ! कोई अत्यन्त दुर्बल राजा उससे भिड़नेका साहस कैसे करेगा ॥ २१ ॥

प्रोक्षितानां प्रमृष्टानां राज्ञां पशुपतेर्गृहे।
पशूनामिव का प्रीतिर्जीविते भरतर्षभ ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! रुद्रदेवताको बलि देनेके लिये जल छिड़ककर एवं मार्जन करके शुद्ध किये हुए पशुओंकी भाँति जो पशुपतिके मन्दिरमें कैद हैं, उन राजाओंको अब अपने जीवनमें क्या प्रीति रह गयी है ? ॥ २२ ॥

क्षत्रियः शस्त्रमरणो यदा भवति सत्कृतः।
ततः स मागधं संख्ये प्रतिबाधेम यद् वयम् ॥ २३ ॥

क्षत्रिय जब युद्धमें अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा मारा जाता है, तब यह उसका सत्कार है; अतः हमलोग जरासंधको द्वन्द्व-युद्धमें मार डालें ॥ २३ ॥

षडशीतिः समानीताः शेषा राजंश्चतुर्दश।
जरासंधेन राजानस्ततः क्रूरं प्रवर्त्स्यते ॥ २४ ॥

राजन् ! जरासंधने सौमेंसे छियासी (प्रतिशत) राजाओंको तो कैद कर लिया है, केवल चौदह (प्रतिशत) बाकी हैं। उनको भी बंदी बनानेके पश्चात् वह क्रूर कर्ममें प्रवृत्त होगा ॥ २४ ॥

प्राप्नुयात् स यशो दीप्तं तत्र यो विघ्नमाचरेत्।
जयेद् यश्च जरासंधं स सम्राण्नियतं भवेत् ॥ २५ ॥

जो उसके इस कर्ममें विघ्न डालेगा, वह उज्ज्वल यशका भागी होगा तथा जो जरासंधको जीत लेगा, वह निश्चय ही सम्राट् होगा ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि कृष्णवाक्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

षोडशोऽध्यायः

जरासंधको जीतनेके विषयमें युधिष्ठिरके उत्साहहीन होनेपर अर्जुनका उत्साहपूर्ण उद्‌गार

युधिष्ठिर उवाच

सम्राड्गुणमभीप्सन् वै युष्मान् स्वार्थपरायणः ।
कथं प्रहिणुयां कृष्ण सोऽहं केवलसाहसात् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! मैं सम्राट्‌के गुणोंको प्राप्त करनेकी इच्छा रखकर स्वार्थसाधनमें तत्पर हो केवल साहसके भरोसे आपलोगोंको जरासंधके पास कैसे भेज दूँ ? ॥

भीमार्जुनावुभौ नेत्रे मनो मन्ये जनार्दनम् ।
मनश्चक्षुर्विहीनस्य कीदृशं जीवितं भवेत् ॥ २ ॥

भीमसेन और अर्जुन मेरे दोनों नेत्र हैं और जनार्दन आपको मैं अपना मन मानता हूँ । अपने मन और नेत्रोंको खो देनेपर मेरा यह जीवन कैसा हो जायगा ? ॥ २ ॥

जरासंधबलं प्राप्य दुष्पारं भीमविक्रमम् ।
यमोऽपि न विजेताऽऽजौ तत्र वः किं विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

जरासंधकी सेनाका पार पाना कठिन है । उसका पराक्रम भयानक है । युद्धमें उस सेनाका सामना करके यमराज भी विजयी नहीं हो सकते, फिर वहाँ आपलोगोंका प्रयत्न क्या कर सकता है ? ॥ ३ ॥

(कथं जित्वा पुनर्यूयमस्मान् सम्प्रति यास्यथ ।)
अस्मिंस्त्वर्थान्तरे युक्तमनर्थः प्रतिपद्यते ।
तस्मान्न प्रतिपत्तिस्तु कार्या युक्ता मता मम ॥ ४ ॥

आपलोग किस प्रकार उसे जीतकर फिर हमारे पास लौट सकेंगे ? यह कार्य हमारे लिये इष्ट फलके विपरीत फल देनेवाला जान पड़ता है । इसमें लगे हुए मनुष्यको निश्चय ही अनर्थकी प्राप्ति होती है। इसलिये अबतक हम जिसे करना चाहते थे, उस राजसूय यज्ञकी ओर ध्यान देना उचित नहीं जान पड़ता ॥ ४ ॥

यथाहं विमृशाम्येकस्तत् तावच्छ्रूयतां मम ।
संन्यासं रोचये साधु कार्यस्यास्य जनार्दन ।
प्रतिहन्ति मनो मेऽद्य राजसूयो दुराहरः ॥ ५ ॥

जनार्दन ! इस विषयमें मैं अकेले जैसा सोचता हूँ, मेरे उस विचारको आप सुनें । मुझे तो इस कार्यको छोड़ देना ही अच्छा लगता है । राजसूयका अनुष्ठान बहुत कठिन है । अब यह मेरे मनको निरुत्साह कर रहा है ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

पार्थः प्राप्य धनुः श्रेष्ठमक्षय्ये च महेषुधी ।
रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीनन्दन अर्जुन उत्तम गाण्डीव धनुष, दो अक्षय तूणीर, दिव्य रथ, ध्वजा और सभा प्राप्त कर चुके थे; इससे उत्साहित होकर वे युधिष्ठिरसे बोले ॥ ६ ॥

अर्जुन उवाच

धनुः शस्त्रं शरा वीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम् ।
प्राप्तमेतन्मया राजन् दुष्प्रापं यदभीप्सितम् ॥ ७ ॥

अर्जुनने कहा—राजन् ! धनुष, शस्त्र, बाण, पराक्रम, श्रेष्ठ सहायक, भूमि, यश और बलकी प्राप्ति बड़ी कठिनाईसे होती है; किंतु ये सभी दुर्लभ वस्तुएँ मुझे अपनी इच्छाके अनुकूल प्राप्त हुई हैं ॥ ७ ॥

कुले जन्म प्रशंसन्ति वैद्याः साधु सुनिष्ठिताः ।
बलेन सदृशं नास्ति वीर्यं तु मम रोचते ॥ ८ ॥

अनुभवी विद्वान् उत्तम कुलमें जन्मकी बड़ी प्रशंसा करते हैं; परंतु बलके समान वह भी नहीं है । मुझे तो बल-पराक्रम ही श्रेष्ठ जान पड़ता है ॥ ८ ॥

कृतवीर्यकुले जातो निर्वीर्यः किं करिष्यति ।
निर्वीर्ये तु कुले जातो वीर्यवांस्तु विशिष्यते ॥ ९ ॥

महापराक्रमी राजा कृतवीर्यके कुलमें उत्पन्न होकर भी जो स्वयं निर्बल है, वह क्या करेगा ? निर्बल कुलमें जन्म लेकर भी जो बलवान् और पराक्रमी है, वही श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

क्षत्रियः सर्वशो राजन् यस्य वृत्तिर्द्विषज्जये ।
सर्वैर्गुणैर्विहीनोऽपि वीर्यवान् हि तरेद् रिपून् ॥ १० ॥

महाराज ! शत्रुओंको जीतनेमें जिसकी प्रवृत्ति हो, वही सब प्रकारसे श्रेष्ठ क्षत्रिय है । बलवान् पुरुष सब गुणोंसे हीन हो, तो भी वह शत्रुओंके संकटसे पार हो सकता है ॥

सर्वैरपि गुणैर्युक्तो निर्वीर्यः किं करिष्यति ।
गुणीभूता गुणाः सर्वे तिष्ठन्ति हि पराक्रमे ॥ ११ ॥

जो निर्बल है, वह सर्वगुणसम्पन्न होकर भी क्या करेगा ? पराक्रममें सभी गुण उसके अङ्ग बनकर रहते हैं ॥

जयस्य हेतुः सिद्धिर्हि कर्म दैवं च संश्रितम् ।
संयुक्तो हि बलैः कश्चित् प्रमादान्नोपयुज्यते ॥ १२ ॥

महाराज ! सिद्धि (मनोयोग) और प्रारब्धके अनुकूल पुरुषार्थ ही विजयका हेतु है । कोई बलसे संयुक्त होनेपर भी प्रमाद करे—कर्तव्यमें मन न लगावे, तो वह अपने उद्देश्यमें सफल नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

तेन द्वारेण शत्रुभ्यः क्षीयते सबलो रिपुः ॥ १३ ॥

प्रमादरूप छिद्रके कारण बलवान् शत्रु भी अपने शत्रुओं-द्वारा मारा जाता है ॥ १३ ॥

दैन्यं यथा बलवति तथा मोहो बलान्विते।
तावुभौ नाशकौ हेतू राज्ञा त्याज्यौ जयार्थिना ॥ १४ ॥

बलवान् पुरुषमें जैसे दीनताका होना बड़ा भारी दोष है, वैसे ही बलिष्ठ पुरुषमें मोहका होना भी महान् दुर्गुण है। दीनता और मोह दोनों विनाशके कारण हैं; अतः विजय चाहनेवाले राजाके लिये वे दोनों ही त्याज्य हैं ॥ १४ ॥

जरासंधविनाशं च राज्ञां च परिरक्षणम्।
यदि कुर्याम यज्ञार्थं किं ततः परमं भवेत् ॥ १५ ॥

यदि हम राजसूय यज्ञकी सिद्धिके लिये जरासंधका विनाश तथा कैदमें पड़े हुए राजाओंकी रक्षा कर सकें तो इससे उत्तम और क्या हो सकता है? ॥ १५ ॥

अनारम्भे हि नियतो भवेदगुणनिश्चयः।
गुणान्निःसंशयाद् राजन् नैर्गुण्यं मन्यसे कथम् ॥ १६ ॥

यदि हम यज्ञका आरम्भ नहीं करते हैं तो निश्चय ही हमारी अयोग्यता एवं दुर्बलता प्रकट होती है; अतः राजन्! सुनिश्चित गुणकी उपेक्षा करके आप निर्गुणताका कलङ्क क्यों स्वीकार कर रहे हैं? ॥ १६ ॥

काषायं सुलभं पश्चान्मुनीनां शममिच्छताम्।
साम्राज्यं तु भवेच्छक्यं वयं योत्स्यामहे परान् ॥ १७ ॥

ऐसा करनेपर तो शान्तिकी इच्छा रखनेवाले संन्यासियोंका गेरुआ वस्त्र ही हमें सुलभ होगा, परंतु हमलोग साम्राज्यको प्राप्त करनेमें समर्थ हैं; अतः हमलोग शत्रुओंसे अवश्य युद्ध करेंगे ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासंधवधमन्त्रणे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें जरासंधवधके लिये मन्त्रणाविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनकी बातका अनुमोदन तथा युधिष्ठिरको जरासंधकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग सुनाना

वासुदेव उवाच

जातस्य भारते वंशे तथा कुन्त्याः सुतस्य च।
या वै युक्ता मतिः सेयमर्जुनेन प्रदर्शिता ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन्! भरतवंशमें उत्पन्न पुरुष और कुन्ती-जैसी माताके पुत्रकी जैसी बुद्धि होनी चाहिये, अर्जुनने यहाँ उसीका परिचय दिया है ॥ १ ॥

न स्म मृत्युं वयं विद्म रात्रौ वा यदि वा दिवा।
न चापि कंचिदमरमयुद्धेनानुशुश्रुम ॥ २ ॥

महाराज! हमलोग यह नहीं जानते कि मौत कब आयेगी? रातमें आयेगी या दिनमें? (क्योंकि उसके नियत समयका ज्ञान किसीको नहीं है।) हमने यह भी नहीं सुना है कि युद्ध न करनेके कारण कोई अमर हो गया हो ॥ २ ॥

एतावदेव पुरुषैः कार्यं हृदयतोषणम्।
नयेन विधिदृष्टेन यदुपक्रमते परान् ॥ ३ ॥

अतः वीर पुरुषोंका इतना ही कर्तव्य है कि वे अपने हृदयके संतोषके लिये नीतिशास्त्रमें बतायी हुई नीतिके अनुसार शत्रुओंपर आक्रमण करें ॥ ३ ॥

सुनयस्यानपायस्य संयोगे परमः क्रमः।
संगत्या जायतेऽसाम्यं साम्यं च न भवेद् द्वयोः ॥ ४ ॥

दैव आदिकी प्रतिकूलतासे रहित अच्छी नीति एवं सलाह प्राप्त होनेपर आरम्भ किया हुआ कार्य पूर्णरूपसे सफल होता है। शत्रुके साथ भिड़नेपर ही दोनों पक्षोंका अन्तर ज्ञात होता है। दोनों दल सभी बातोंमें समान ही हों, ऐसा सम्भव नहीं ॥ ४ ॥

अनयस्यानुपायस्य संयुगे परमः क्षयः।
संशयो जायते साम्याज्जयश्च न भवेद् द्वयोः ॥ ५ ॥

जिसने अच्छी नीति नहीं अपनायी है और उत्तम उपायसे काम नहीं लिया है, उसका युद्धमें सर्वथा विनाश होता है। यदि दोनों पक्षोंमें समानता हो, तो संशय ही रहता है तथा दोनोंमेंसे किसीकी भी जय अथवा पराजय नहीं होती ।५।

ते वयं नयमास्थाय शत्रुदेहसमीपगाः।
कथमन्तं न गच्छेम वृक्षस्येव नदीरयाः।
पररन्ध्रे पराक्रान्ताः स्वरन्ध्रावरणे स्थिताः ॥ ६ ॥

जब हमलोग नीतिका आश्रय लेकर शत्रुके शरीरके निकटतक पहुँच जायँगे, तब जैसे नदीका वेग किनारेके वृक्षको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार हम शत्रुका अन्त क्यों न कर डालेंगे? हम अपने छिद्रोंको छिपाये रखकर शत्रुके छिद्रको देखेंगे और अवसर मिलते ही उसपर बलपूर्वक आक्रमण कर देंगे ॥ ६ ॥

व्यूढानीकैरतिबलैर्न युद्ध्येदरिभिः सह।
इति बुद्धिमतां नीतिस्तन्ममापीह रोचते ॥ ७ ॥

जिनकी सेनाएँ मोर्चा बाँधकर खड़ी हों और जो अत्यन्त बलवान् हों, ऐसे शत्रुओंके साथ (सम्मुख होकर) युद्ध नहीं करना चाहिये; यह बुद्धिमानोंकी नीति है। यही नीति यहाँ मुझे भी अच्छी लगती है ॥ ७ ॥

अनवद्या ह्यसम्बुद्धाः प्रविष्टाः शत्रुसद्म तत्।
शत्रुदेहमुपाक्रम्य तं कामं प्राप्नुयामहे ॥ ८ ॥

यदि हम छिपे-छिपे शत्रुके घरतक पहुँच जायँ तो यह

हमारे लिये कोई निन्दाकी बात नहीं होगी। फिर हम शत्रुके शरीरपर आक्रमण करके अपना काम बना लेंगे ॥ ८ ॥

एको ह्येव श्रियं नित्यं बिभर्ति पुरुषर्षभः।
अन्तरात्मेव भूतानां तत्क्षयं नैव लक्षये ॥ ९ ॥

यह पुरुषोंमें श्रेष्ठ जरासंध प्राणियोंके भीतर स्थित आत्माकी भाँति सदा अकेला ही साम्राज्यलक्ष्मीका उपभोग करता है; अतः उसका और किसी उपायसे नाश होता नहीं दिखायी देता (उसके विनाशके लिये हमें स्वयं प्रयत्न करना होगा) ॥ ९ ॥

अथवैनं निहत्याजौ शेषेणापि समाहताः।
प्राप्नुयाम ततः स्वर्गं ज्ञातित्राणपरायणाः ॥ १० ॥

अथवा यदि जरासंधको युद्धमें मारकर उसके पक्षमें रहनेवाले शेष सैनिकोंद्वारा हम भी मारे गये, तो भी हमें कोई हानि नहीं है। अपने जातिभाइयोंकी रक्षामें संलग्न होनेके कारण हमें स्वर्गकी ही प्राप्ति होगी ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच

कृष्ण कोऽयं जरासंधः किंवीर्यः किम्पराक्रमः।
यस्त्वां स्पृष्ट्वाग्निसदृशं न दग्धः शलभो यथा ॥ ११ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—श्रीकृष्ण! यह जरासंध कौन है? उसका बल और पराक्रम कैसा है? जो प्रज्वलित अग्निके समान आपका स्पर्श करके भी पतंगके समान जलकर भस्म नहीं हो गया? ॥ ११ ॥

कृष्ण उवाच

शृणु राजञ्जरासंधो यद्वीर्यो यत्पराक्रमः।
यथा चोपेक्षितोऽस्माभिर्बहुशः कृतविप्रियः ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राजन्! जरासंधका बल और पराक्रम कैसा है तथा अनेक बार हमारा अप्रिय करनेपर भी हमलोगोंने क्यों उसकी उपेक्षा कर दी, यह सब बता रहा हूँ, सुनिये ॥ १२ ॥

अक्षौहिणीनां तिसृणां पतिः समरदर्पितः।
राजा बृहद्रथो नाम मगधाधिपतिर्बली ॥ १३ ॥

मगधदेशमें बृहद्रथ नामसे प्रसिद्ध एक बलवान् राजा राज्य करते थे। वे तीन अक्षौहिणी सेनाओंके स्वामी और युद्धमें बड़े अभिमानके साथ लड़नेवाले थे ॥ १३ ॥

रूपवान् वीर्यसम्पन्नः श्रीमानतुलविक्रमः।
नित्यं दीक्षाङ्किततनुः शतक्रतुरिवापरः ॥ १४ ॥

राजा बृहद्रथ बड़े ही रूपवान्, बलवान्, धनवान् और अनुपम पराक्रमी थे। उनका शरीर दूसरे इन्द्रकी भाँति सदा यज्ञकी दीक्षाके चिह्नोंसे ही सुशोभित होता रहता था ॥ १४ ॥

तेजसा सूर्यसंकाशः क्षमया पृथिवीसमः।
यमान्तकसमः क्रोधे श्रिया वैश्रवणोपमः ॥ १५ ॥

वे तेजमें सूर्य, क्षमामें पृथ्वी, क्रोधमें यमराज और धन-सम्पत्तिमें कुबेरके समान थे ॥ १५ ॥

तस्याभिजनसंयुक्तैर्गुणैर्भरतसत्तम।
व्याप्तेयं पृथिवी सर्वा सूर्यस्येव गभस्तिभिः ॥ १६ ॥

भरतश्रेष्ठ! जैसे सूर्यकी किरणोंसे यह सारी पृथ्वी आच्छादित हो जाती है, उसी प्रकार उनके उत्तम कुलोचित सद्गुणोंसे समस्त भूमण्डल व्याप्त हो रहा था—सर्वत्र उनके गुणोंकी चर्चा एवं प्रशंसा होती रहती थी ॥ १६ ॥

स काशिराजस्य सुते यमजे भरतर्षभ।
उपयेमे महावीर्यो रूपद्रविणसंयुते।
तयोश्चकार समयं मिथः स पुरुषर्षभः ॥ १७ ॥
नातिवर्तिष्य इत्येवं पत्नीभ्यां संनिधौ तदा।
स ताभ्यां शुशुभे राजा पत्नीभ्यां वसुधाधिपः ॥ १८ ॥
प्रियाभ्यामनुरूपाभ्यां करेणुभ्यामिव द्विपः।

भरतकुलभूषण! महापराक्रमी राजा बृहद्रथने काशिराजकी दो जुड़वीं कन्याओंके साथ, जो अपनी रूप-सम्पत्तिसे अपूर्व शोभा पा रही थीं, विवाह किया और उन नरश्रेष्ठने एकान्तमें अपनी दोनों पत्नियोंके समीप यह प्रतिज्ञा की कि मैं तुम दोनोंके साथ कभी विषम व्यवहार नहीं करूँगा (अर्थात् दोनोंके प्रति समानरूपसे मेरा प्रेमभाव बना रहेगा)। जैसे दो हथिनियोंके साथ गजराज सुशोभित होता है, उसी प्रकार वे महाराज बृहद्रथ अपने मनके अनुरूप दोनों प्रिय पत्नियोंके साथ शोभा पाने लगे ॥ १७-१८½ ॥

तयोर्मध्यगतश्चापि रराज वसुधाधिपः ॥ १९ ॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये मूर्तिमानिव सागरः।

जब वे दोनों पत्नियोंके बीचमें विराजमान होते, उस समय ऐसा जान पड़ता, मानो गङ्गा और यमुनाके बीचमें मूर्तिमान् समुद्र सुशोभित हो रहा हो ॥ १९½ ॥

विषयेषु निमग्नस्य तस्य यौवनमभ्यगात् ॥ २० ॥
न च वंशकरः पुत्रस्तस्याजायत कश्चन।
मङ्गलैर्बहुभिर्होमैः पुत्रकामाभिरिष्टिभिः।
नाससाद नृपश्रेष्ठः पुत्रं कुलविवर्धनम् ॥ २१ ॥

विषयोंमें डूबे हुए राजाकी सारी जवानी बीत गयी, परंतु उन्हें कोई वंश चलानेवाला पुत्र नहीं प्राप्त हुआ। उन श्रेष्ठ नरेशने बहुत-से माङ्गलिक कृत्य, होम और पुत्रेष्टियज्ञ कराये, तो भी उन्हें वंशकी वृद्धि करनेवाले पुत्रकी प्राप्ति नहीं हुई ॥ २०-२१ ॥

अथ काक्षीवतः पुत्रं गौतमस्य महात्मनः।
शुश्राव तपसि श्रान्तमुदारं चण्डकौशिकम् ॥ २२ ॥
यदृच्छयाऽऽगतं तं तु वृक्षमूलमुपाश्रितम्।
पत्नीभ्यां सहितो राजा सर्वरत्नैरतोषयत् ॥ २३ ॥

एक दिन उन्होंने सुना कि गौतमगोत्रीय महात्मा काक्षीवान्‌के पुत्र परम उदार चण्डकौशिक मुनि तपस्यासे उपरत होकर अकस्मात् इधर आ गये हैं और एक वृक्षके नीचे बैठे हैं। यह समाचार पाकर राजा बृहद्रथ अपनी दोनों पत्नियों (एवं पुरवासियों) के साथ उनके पास गये तथा सब प्रकारके रत्नों (मुनिजनोचित उत्कृष्ट वस्तुओं) की भेंट देकर उन्हें संतुष्ट किया ॥ २२-२३ ॥

(बृहद्रथं च स ऋषिः यथावत् प्रत्यनन्दत ।
उपविष्टश्च तेनाथ अनुज्ञातो महात्मना ॥
तमपृच्छत् तदा विप्रः किमागमनमित्यथ ।
पौरैरनुगतस्यैव पत्नीभ्यां सहितस्य च ॥

महर्षिने भी यथोचित बर्तावद्वारा बृहद्रथको प्रसन्न किया। उन महात्माकी आज्ञा पाकर राजा उनके निकट बैठे। उस समय ब्रह्मर्षि चण्डकौशिकने उनसे पूछा—'राजन्! अपनी दोनों पत्नियों और पुरवासियोंके साथ यहाँ तुम्हारा आगमन किस उद्देश्यसे हुआ है?' ॥

स उवाच मुनिं राजा भगवन् नास्ति मे सुतः ।
अपुत्रस्य वृथा जन्म इत्याहुर्मुनिसत्तम ॥

तब राजाने मुनिसे कहा—'भगवन्! मेरे कोई पुत्र नहीं है। मुनिश्रेष्ठ! लोग कहते हैं कि पुत्रहीन मनुष्यका जन्म व्यर्थ है ॥

तादृशस्य हि राज्येन वृद्धत्वे किं प्रयोजनम्।
सोऽहं तपश्चरिष्यामि पत्नीभ्यां सहितो वने ॥

'इस बुढ़ापेमें पुत्रहीन रहकर मुझे राज्यसे क्या प्रयोजन है? इसलिये अब मैं दोनों पत्नियोंके साथ तपोवनमें रहकर तपस्या करूँगा ॥

नाप्रजस्य मुने कीर्तिः स्वर्गश्चैवाक्षयो भवेत् ।
एवमुक्तस्य राज्ञा तु मुनेः कारुण्यमागतम् ॥)

'मुने! संतानहीन मनुष्यको न तो इस लोकमें कीर्ति प्राप्त होती है और न परलोकमें अक्षय स्वर्ग ही प्राप्त होता है।' राजाके ऐसा कहनेपर महर्षिको दया आ गयी ॥

तमब्रवीत् सत्यधृतिः सत्यवागृषिसत्तमः ।
परितुष्टोऽस्मि राजेन्द्र वरं वरय सुव्रत ॥ २४ ॥
ततः सभार्यः प्रणतस्तमुवाच बृहद्रथः ।
पुत्रदर्शननैराश्याद् बाष्पसंदिग्धया गिरा ॥ २५ ॥

तब धैर्यसे सम्पन्न और सत्यवादी मुनिवर चण्डकौशिकने राजा बृहद्रथसे कहा—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजेन्द्र! मैं तुमपर संतुष्ट हूँ। तुम इच्छानुसार वर माँगो।' यह सुनकर राजा बृहद्रथ अपनी दोनों रानियोंके साथ मुनिके चरणोंमें पड़ गये और पुत्रदर्शनसे निराश होनेके कारण नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए गद्‌गद वाणीमें बोले ॥ २४-२५ ॥

राजोवाच

भगवन् राज्यमुत्सृज्य प्रस्थितोऽहं तपोवनम् ।
किं वरेणाल्पभाग्यस्य किं राज्येनाप्रजस्य मे ॥ २६ ॥

राजाने कहा—भगवन्! मैं तो अब राज्य छोड़कर तपोवनकी ओर चल पड़ा हूँ। मुझ अभागे और संतानहीनको वर अथवा राज्यकी क्या आवश्यकता? ॥ २६ ॥

कृष्ण उवाच

एतच्छ्रुत्वा मुनिर्ध्यानमगमत् क्षुभितेन्द्रियः ।
तस्यैव चाम्रवृक्षस्यच्छायायां समुपाविशत् ॥ २७ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—राजाका यह कातर वचन सुनकर मुनिकी इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो गयीं (उनका हृदय पिघल गया)। तब वे ध्यानस्थ हो गये और उसी आम्रवृक्षकी छायामें बैठे रहे ॥ २७ ॥

तस्योपविष्टस्य मुनेरुत्सङ्गे निपपात ह ।
अवातमशुकादष्टमेकमाम्रफलं किल ॥ २८ ॥

उसी समय वहाँ बैठे हुए मुनिकी गोदमें एक आमका फल गिरा। वह न हवाके चलनेसे गिरा था, न किसी तोतेने ही उस फलमें अपनी चोंच गड़ायी थी ॥ २८ ॥

तत् प्रगृह्य मुनिश्रेष्ठो हृदयेनाभिमन्त्र्य च ।
राज्ञे ददावप्रतिमं पुत्रसम्प्राप्तिकारणम् ॥ २९ ॥

मुनिश्रेष्ठ चण्डकौशिकने उस अनुपम फलको हाथमें ले लिया और उसे मन-ही-मन अभिमन्त्रित करके पुत्रकी प्राप्ति करानेके लिये राजाको दे दिया ॥ २९ ॥

उवाच च महाप्राज्ञस्तं राजानं महामुनिः ।
गच्छ राजन् कृतार्थोऽसि निवर्तस्व नराधिप ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् उन महाज्ञानी महामुनिने राजासे कहा—'राजन्! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो गया। नरेश्वर! अब तुम अपनी राजधानीको लौट जाओ ॥ ३० ॥

(एष ते तनयो राजन् मा तप्सीस्त्वं तपो वने ।
प्रजाः पालय धर्मेण एष धर्मो महीक्षिताम् ॥

'महाराज! यह फल तुम्हें पुत्रप्राप्ति करायेगा, अब तुम वनमें जाकर तपस्या न करो; धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करो। यही राजाओंका धर्म है ॥

यजस्व विविधैर्यज्ञैरिन्द्रं तर्पय चेन्दुना ।
पुत्रं राज्ये प्रतिष्ठाप्य तत आश्रममाव्रज ॥

'नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करो और देवराज इन्द्रको सोमरससे तृप्त करो। फिर पुत्रको राज्य-सिंहासनपर बिठाकर वानप्रस्थाश्रममें आ जाना ॥

अष्टौ वरान् प्रयच्छामि तव पुत्रस्य पार्थिव ।
ब्रह्मण्यतामजेयत्वं युद्धेषु च तथा रतिम् ॥

'भूपाल ! मैं तुम्हारे पुत्रके लिये आठ वर देता हूँ— वह ब्राह्मणभक्त होगा, युद्धमें अजेय होगा, उसकी युद्ध-विषयक रुचि कभी कम न होगी, ।

प्रियातिथेयतां चैव दीनानामन्ववेक्षणम् ।
तथा बलं च सुमहल्लोके कीर्तिं च शाश्वतीम् ॥
अनुरागं प्रजानां च ददौ तस्मै स कौशिकः ।)

'वह अतिथियोंका प्रेमी होगा, दीन-दुखियोंपर उसकी सदा कृपा-दृष्टि बनी रहेगी, उसका बल महान् होगा, लोकमें उसकी अक्षय कीर्तिका विस्तार होगा और प्रजाजनोंपर उसका सदा स्नेह बना रहेगा।' इस प्रकार चण्डकौशिक मुनिने उसके लिये ये आठ वर दिये ॥

एतच्छ्रुत्वा मुनेर्वाक्यं शिरसा प्रणिपत्य च ।
मुनेः पादौ महाप्राज्ञः स नृपः स्वगृहं गतः ॥ ३१ ॥

मुनिका यह वचन सुनकर उन परम बुद्धिमान् राजा बृहद्रथने उनके दोनों चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और अपने घरको लौट गये ॥ ३१ ॥

यथासमयमाज्ञाय तदा स नृपसत्तमः ।
द्वाभ्यामेकं फलं प्रादात् पत्नीभ्यां भरतर्षभ ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उन उत्तम नरेशने उचित कालका विचार करके दोनों पत्नियोंके लिये वह एक फल दे दिया ॥ ३२ ॥

ते तदाम्रं द्विधा कृत्वा भक्षयामासतुः शुभे ।
भावित्वादपि चार्थस्य सत्यवाक्यतया मुनेः ॥ ३३ ॥
तयोः समभवद् गर्भः फलप्राशनसम्भवः ।
ते च दृष्ट्वा स नृपतिः परां मुदमवाप ह ॥ ३४ ॥

उन दोनों शुभस्वरूपा रानियोंने उस आमके दो टुकड़े करके एक-एक टुकड़ा खा लिया । होनेवाली बात होकर ही रहती है, इसलिये तथा मुनिकी सत्यवादिताके प्रभावसे वह फल खानेके कारण दोनों रानियोंके गर्भ रह गये । उन्हें गर्भवती हुई देखकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३३-३४ ॥

अथ काले महाप्राज्ञ यथासमयमागते ।
प्रजायेतामुभे राजञ्छरीरशकले तदा ॥ ३५ ॥

महाप्राज्ञ युधिष्ठिर ! प्रसवकाल पूर्ण होनेपर उन दोनों रानियोंने यथासमय अपने गर्भसे शरीरका एक-एक टुकड़ा पैदा किया ॥ ३५ ॥

एकाक्षिबाहुचरणे अर्धोदरमुखस्फिचे ।
दृष्ट्वा शरीरशकले प्रवेपतुरुभे भृशम् ॥ ३६ ॥

प्रत्येक टुकड़ेमें एक आँख, एक हाथ, एक पैर,



आधा पेट, आधा मुँह और कटिके नीचेका आधा भाग था । एक शरीरके उन टुकड़ोंको देखकर वे दोनों भयके मारे थर-थर काँपने लगीं ॥ ३६ ॥

उद्विग्ने सह सम्मन्त्र्य ते भगिन्यौ तदाबले ।
सजीवे प्राणिशकले तत्यजाते सुदुःखिते ॥ ३७ ॥

उनका हृदय उद्विग्न हो उठा; अबला ही तो थीं । उन दोनों बहिनोंने अत्यन्त दुखी होकर परस्पर सलाह करके उन दोनों टुकड़ोंको, जिनमें जीव तथा प्राण विद्यमान थे, त्याग दिया ॥ ३७ ॥

तयोर्धात्र्यौ सुसंवीते कृत्वा ते गर्भसम्प्लवे ।
निर्गम्यान्तःपुरद्वारात् समुत्सृज्याभिजग्मतुः ॥ ३८ ॥

उन दोनोंकी धायें गर्भके उन टुकड़ोंको कपड़ेसे ढककर अन्तःपुरके दरवाजेसे बाहर निकलीं और चौराहेपर फेंककर चली गयीं ॥ ३८ ॥

ते चतुष्पथनिक्षिप्ते जरा नामाथ राक्षसी ।
जग्राह मनुजव्याघ्र मांसशोणितभोजना ॥ ३९ ॥

पुरुषसिंह ! चौराहेपर फेंके हुए उन टुकड़ोंको रक्त और मांस खानेवाली जरा नामकी एक राक्षसीने उठा लिया ॥

कर्तुकामा सुखवहे शकले सा तु राक्षसी ।
संयोजयामास तदा विधानबलचोदिता ॥ ४० ॥

विधाताके विधानसे प्रेरित होकर उस राक्षसीने उन दोनों टुकड़ोंको सुविधापूर्वक ले जाने योग्य बनानेकी इच्छासे उस समय जोड़ दिया ॥ ४० ॥

ते समानीतमात्रे तु शकले पुरुषर्षभ ।
एकमूर्तिधरो वीरः कुमारः समपद्यत ॥ ४१ ॥

नरश्रेष्ठ ! उन टुकड़ोंका परस्पर संयोग होते ही एक



शरीरधारी वीर कुमार बन गया ॥ ४१ ॥

ततः सा राक्षसी राजन् विस्मयोत्फुल्ललोचना ।
न शशाक समुद्वोढुं वज्रसारमयं शिशुम् ॥ ४२ ॥

राजन् ! यह देखकर राक्षसीके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे । उसे वह शिशु वज्रके सारतत्त्वका बना जान पड़ा । राक्षसी उसे उठाकर ले जानेमें असमर्थ हो गयी ॥ ४२ ॥

बालस्ताम्रतलं मुष्टिं कृत्वा चास्ये निधाय सः ।
प्राक्रोशदतिसंरब्धः सतोय इव तोयदः ॥ ४३ ॥

उस बालकने अपने लाल हथेलीवाले हाथोंकी मुट्ठी बाँधकर मुँहमें डाल ली और अत्यन्त क्रुद्ध होकर जलसे भरे मेघकी भाँति गम्भीर स्वरसे रोना शुरू कर दिया ॥ ४३ ॥

तेन शब्देन सम्भ्रान्तः सहसान्तःपुरे जनः ।
निर्जगाम नरव्याघ्र राज्ञा सह परंतप ॥ ४४ ॥

परंतप नरव्याघ्र ! बालकके उस रोने-चिल्लानेके शब्दसे रनिवासकी सब स्त्रियाँ घबरा उठीं तथा राजाके साथ सहसा बाहर निकलीं ॥ ४४ ॥

ते चाबले परिम्लाने पयःपूर्णपयोधरे ।
निराशे पुत्रलाभाय सहसैवाभ्यगच्छताम् ॥ ४५ ॥

दूधसे भरे हुए स्तनोंवाली वे दोनों अबला रानियाँ भी, जो पुत्रप्राप्तिकी आशा छोड़ चुकीं थीं, मलिन मुख हो सहसा बाहर निकल आयीं ॥ ४५ ॥

अथ दृष्ट्वा तथाभूते राजानं चेष्टसंततिम् ।
तं च बालं सुबलिनं चिन्तयामास राक्षसी ॥ ४६ ॥

नार्हामि विषये राज्ञो वसन्ती पुत्रगृद्धिनः ।
बालं पुत्रमिमं हन्तुं धार्मिकस्य महात्मनः ॥ ४७ ॥

उन दोनों रानियोंको उस प्रकार उदास, राजाको संतान पानेके लिये उत्सुक तथा उस बालकको अत्यन्त बलवान् देखकर राक्षसीने सोचा, 'मैं इस राजाके राज्यमें रहती हूँ । यह पुत्रकी इच्छा रखता है; अतः इस धर्मात्मा तथा महात्मा नरेशके बालक पुत्रकी हत्या करना मेरे लिये उचित नहीं है' ॥

सा तं बालमुपादाय मेघलेखेव भास्करम् ।
कृत्वा च मानुषं रूपमुवाच वसुधाधिपम् ॥ ४८ ॥

ऐसा विचारकर उस राक्षसीने मानवीका रूप धारण किया और जैसे मेघमाला सूर्यको धारण करे, उसी प्रकार वह उस बालकको गोदमें उठाकर भूपालसे बोली ॥ ४८ ॥

राक्षस्युवाच

बृहद्रथ सुतस्तेऽयं मया दत्तः प्रगृह्यताम् ।
तव पत्नीद्वये जातो द्विजातिवरशासनात् ।
धात्रीजनपरित्यक्तो मयायं परिरक्षितः ॥ ४९ ॥

राक्षसीने कहा—बृहद्रथ ! यह तुम्हारा पुत्र है, जिसे मैंने तुम्हें दिया है । तुम इसे ग्रहण करो । ब्रह्मर्षिके वरदान एवं आशीर्वादसे तुम्हारी दोनों पत्नियोंके गर्भसे इसका जन्म हुआ है । धायोंने इसे घरके बाहर लाकर डाल दिया था; किंतु मैंने इसकी रक्षा की है ॥ ४९ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

ततस्ते भरतश्रेष्ठ काशिराजसुते शुभे ।
तं बालमभिपद्याशु प्रस्रवैरभ्यषिञ्चताम् ॥ ५० ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—भरतकुलभूषण ! तब काशिराजकी उन दोनों शुभलक्षणा कन्याओंने उस बालकको तुरंत गोदमें लेकर उसे स्तनोंके दूधसे सींच दिया ॥ ५० ॥

ततः स राजा संहृष्टः सर्वं तदुपलभ्य च ।
अपृच्छद्धेमगर्भाभां राक्षसीं तामराक्षसीम् ॥ ५१ ॥

यह सब देख-सुनकर राजाके हर्षकी सीमा न रही । उन्होंने सुवर्णकी-सी कान्तिवाली उस राक्षसीसे, जो स्वरूपसे राक्षसी नहीं जान पड़ती थी, इस प्रकार पूछा ॥ ५१ ॥

राजोवाच

का त्वं कमलगर्भाभे मम पुत्रप्रदायिनी ।
कामया ब्रूहि कल्याणि देवता प्रतिभासि मे ॥ ५२ ॥

राजाने कहा—कमलके भीतरी भागके समान मनोहर कान्तिवाली कल्याणी ! मुझे पुत्र प्रदान करनेवाली तुम कौन हो ? बताओ । मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि तुम इच्छानुसार विचरनेवाली कोई देवी हो ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासंधोत्पत्तौ सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें जरासंधकी उत्पत्ति-विषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९½ श्लोक मिलाकर कुल ६१½ श्लोक हैं)

अष्टादशोऽध्यायः

जरा राक्षसीका अपना परिचय देना और उसीके नामपर बालकका नामकरण होना

राक्षस्युवाच

जरा नामास्मि भद्रं ते राक्षसी कामरूपिणी।
तव वेश्मनि राजेन्द्र पूजिता न्यवसं सुखम्॥ १ ॥

राक्षसीने कहा—राजेन्द्र ! तुम्हारा कल्याण हो। मेरा नाम जरा है। मैं इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली राक्षसी हूँ और तुम्हारे घरमें पूजित हो सुखपूर्वक रहती चली आयी हूँ॥ १ ॥

गृहे गृहे मनुष्याणां नित्यं तिष्ठामि राक्षसी।
गृहदेवीति नाम्ना वै पुरा सृष्टा स्वयंभुवा॥ २ ॥

मैं मनुष्योंके घर-घरमें सदा मौजूद रहती हूँ। कहनेको तो मैं राक्षसी ही हूँ; किंतु पूर्वकालमें ब्रह्माजीने गृहदेवीके नामसे मेरी सृष्टि की थी॥ २ ॥

दानवानां विनाशाय स्थापिता दिव्यरूपिणी।
यो मां भक्त्या लिखेत् कुड्ये सपुत्रां यौवनान्विताम्॥३॥
गृहे तस्य भवेद् वृद्धिरन्यथा क्षयमाप्नुयात्।
त्वद्गृहे तिष्ठमानाहं पूजिताहं सदा विभो॥ ४ ॥

और उन्होंने मुझे दानवोंके विनाशके लिये नियुक्त किया था। मैं दिव्य रूप धारण करनेवाली हूँ। जो अपने घरकी दीवारपर मुझे अनेक पुत्रोंसहित युवती स्त्रीके रूपमें भक्तिपूर्वक लिखता है (मेरा चित्र अङ्कित करता है), उसके घरमें सदा वृद्धि होती है; अन्यथा उसे हानि उठानी पड़ती है। प्रभो ! मैं तुम्हारे घरमें रहकर सदा पूजित होती चली आयी हूँ॥३-४॥

लिखिता चैव कुड्येषु पुत्रैर्बहुभिरावृता।
गन्धपुष्पैस्तथा धूपैर्भक्ष्यभोज्यैः सुपूजिता॥ ५ ॥

एवं तुम्हारे घरकी दीवारोंपर मेरा ऐसा चित्र अङ्कित किया गया है, जिसमें मैं अनेक पुत्रोंसे घिरी हुई खड़ी हूँ। उस चित्रके रूपमें मेरा गन्ध, पुष्प, धूप और भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंद्वारा भलीभाँति पूजन होता आ रहा है॥ ५ ॥

साहं प्रत्युपकारार्थं चिन्तयाम्यनिशं तव।
तवेमे पुत्रशकले दृष्टवत्यस्मि धार्मिक॥ ६ ॥
संश्लेषिते मया दैवात् कुमारः समपद्यत।
तव भाग्यान्महाराज हेतुमात्रमहं त्विह॥ ७ ॥

अतः मैं उस पूजनके बदले तुम्हारा कोई उपकार करनेकी बात सदा सोचती रहती थी। धर्मात्मन् ! मैंने तुम्हारे पुत्रके शरीरके इन दोनों टुकड़ोंको देखा और दोनोंको जोड़ दिया। महाराज ! दैववश तुम्हारे भाग्यसे ही उन टुकड़ोंके जुड़नेसे यह राजकुमार प्रकट हो गया है। मैं तो इसमें केवल निमित्तमात्र बन गयी हूँ॥ ६-७ ॥

(तस्य बालस्य यत् कृत्यं तत् कुरुष्व नराधिप।
मम नाम्ना च लोकेऽस्मिन् ख्यात एष भविष्यति॥)

राजन् ! अब इस बालकके लिये जो आवश्यक संस्कार हैं, उन्हें करो। यह इस संसारमें मेरे ही नामसे विख्यात होगा॥

मेरुं वा खादितुं शक्ता किं पुनस्तव बालकम्।
गृहसम्पूजनात् तुष्टया मया प्रत्यर्पितस्तव॥ ८ ॥

मुझमें सुमेरु पर्वतको भी निगल जानेकी शक्ति है; फिर तुम्हारे इस बच्चेको खा जाना कौन बड़ी बात है ? किंतु तुम्हारे घरमें जो मेरी भलीभाँति पूजा होती आयी है, उसीसे संतुष्ट होकर मैंने तुम्हें यह बालक समर्पित किया है॥ ८ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

एवमुक्त्वा तु सा राजंस्तत्रैवान्तरधीयत।
स संगृह्य कुमारं तं प्रविवेश गृहं नृपः॥ ९ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर जरा राक्षसी वहीं अन्तर्धान हो गयी और राजा उस बालकको लेकर अपने महलमें चले आये॥ ९ ॥

तस्य बालस्य यत् कृत्यं तच्चकार नृपस्तदा।
आज्ञापयच्च राक्षस्या मगधेषु महोत्सवम्॥ १० ॥

उस समय राजाने उस बालकके जातकर्म आदि सभी आवश्यक संस्कार सम्पन्न किये और मगधदेशमें जरा राक्षसी (गृहदेवी) के पूजनका महान् उत्सव मनानेकी आज्ञा दी॥१०॥

तस्य नामाकरोच्चैव पितामहसमः पिता।
जरया संधितो यस्माज्जरासंधो भवत्वयम्॥ ११ ॥

ब्रह्माजीके समान प्रभावशाली राजा बृहद्रथने उस बालकका नाम रखते हुए कहा—'इसको जराने संधित किया (जोड़ा) है, इसलिये इसका नाम जरासंध होगा।' ॥ ११ ॥

सोऽवर्धत महातेजा मगधाधिपतेः सुतः।
प्रमाणबलसम्पन्नो हुताहुतिरिवानलः।
मातापित्रोर्नन्दिकरः शुक्लपक्षे यथा शशी॥ १२ ॥

मगधराजका वह महातेजस्वी बालक माता-पिताको आनन्द प्रदान करते हुए आकार और बलसे सम्पन्न हो घीकी आहुति दी जानेसे प्रज्वलित हुई अग्नि और शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति दिनोंदिन बढ़ने लगा॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासंधोत्पत्तौ अष्टादशोऽध्यायः॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें जरासंधकी उत्पत्ति-विषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १३ श्लोक हैं)

एकोनविंशोऽध्यायः

चण्डकौशिक मुनिके द्वारा जरासंधका भविष्यकथन तथा पिताके द्वारा उसका राज्याभिषेक करके वनमें जाना

श्रीकृष्ण उवाच

कस्यचित् त्वथ कालस्य पुनरेव महातपाः ।
मगधेषूपचक्राम भगवांश्चण्डकौशिकः ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! कुछ कालके पश्चात् महातपस्वी भगवान् चण्डकौशिक मुनि पुनः मगधदेशमें घूमते हुए आये ॥ १ ॥

तस्यागमनसंहृष्टः सामात्यः सपुरःसरः ।
सभार्यः सह पुत्रेण निर्जगाम बृहद्रथः ॥ २ ॥

उनके आगमनसे राजा बृहद्रथको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे मन्त्री, अग्रगामी सेवक, रानी तथा पुत्रके साथ मुनिके पास गये ॥ २ ॥

पाद्यार्घ्याचमनीयैस्तमर्चयामास भारत ।
स नृपो राज्यसहितं पुत्रं तस्मै न्यवेदयत् ॥ ३ ॥

भारत! पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय आदिके द्वारा राजाने महर्षिका पूजन किया और अपने सारे राज्यके सहित पुत्रको उन्हें सौंप दिया ॥ ३ ॥

प्रतिगृह्य च तां पूजां पार्थिवाद् भगवानृषिः ।
उवाच मागधं राजन् प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ४ ॥
सर्वमेतन्मया ज्ञातं राजन् दिव्येन चक्षुषा ।
पुत्रस्तु शृणु राजेन्द्र यादृशोऽयं भविष्यति ॥ ५ ॥

महाराज! राजाकी ओरसे प्राप्त हुई उस पूजाको स्वीकार करके ऐश्वर्यशाली महर्षिने मगधनरेशको सम्बोधित करके प्रसन्न चित्तसे कहा—'राजन्! जरासंधके जन्मसे लेकर अबतककी सारी बातें मुझे दिव्य दृष्टिसे ज्ञात हो चुकी हैं। राजेन्द्र! अब यह सुनो कि तुम्हारा पुत्र भविष्यमें कैसा होगा? ॥ ४-५ ॥

अस्य रूपं च सत्त्वं च बलमूर्जितमेव च ।
एष श्रिया समुदितः पुत्रस्तव न संशयः ॥ ६ ॥

'इसमें रूप, सत्त्व, बल और ओजका विशेष आविर्भाव होगा। इसमें संदेह नहीं कि तुम्हारा यह पुत्र साम्राज्यलक्ष्मीसे सम्पन्न होगा ॥ ६ ॥

प्रापयिष्यति तत् सर्वं विक्रमेण समन्वितः ।
अस्य वीर्यवतो वीर्यं नानुयास्यन्ति पार्थिवाः ॥ ७ ॥
पततो वैनतेयस्य गतिमन्ये यथा खगाः ।
विनाशमुपयास्यन्ति ये चास्य परिपन्थिनः ॥ ८ ॥

'यह पराक्रमयुक्त होकर सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर लेगा। जैसे उड़ते हुए गरुडके वेगको दूसरे पक्षी नहीं पा सकते, उसी प्रकार इस बलवान् राजकुमारके शौर्यका अनुसरण दूसरे राजा नहीं कर सकेंगे। जो लोग इससे शत्रुता करेंगे, वे नष्ट हो जायँगे ॥ ७-८ ॥

देवैरपि विसृष्टानि शस्त्राण्यस्य महीपते ।
न रुजं जनयिष्यन्ति गिरेरिव नदीरयाः ॥ ९ ॥

'महीपते! जैसे नदीका वेग किसी पर्वतको पीड़ा नहीं पहुँचा सकता, उसी प्रकार देवताओंके छोड़े हुए अस्त्र-शस्त्र भी इसे चोट नहीं पहुँचा सकेंगे ॥ ९ ॥

सर्वमूर्धाभिषिक्तानामेष मूर्ध्नि ज्वलिष्यति ।
प्रभाहरोऽयं सर्वेषां ज्योतिषामिव भास्करः ॥ १० ॥

'जिनके मस्तकपर राज्याभिषेक हुआ है, उन सभी राजाओंके ऊपर रहकर यह अपने तेजसे प्रकाशित होता रहेगा। जैसे सूर्य समस्त ग्रह-नक्षत्रोंकी कान्ति हर लेते हैं, उसी प्रकार यह राजकुमार समस्त राजाओंके तेजको तिरस्कृत कर देगा ॥ १० ॥

एनमासाद्य राजानः समृद्धबलवाहनाः ।
विनाशमुपयास्यन्ति शलभा इव पावकम् ॥ ११ ॥

'जैसे फतिंगे आगमें जलकर भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार सेना और सवारियोंसे भरे-पूरे समृद्धिशाली नरेश भी इससे टक्कर लेते ही नष्ट हो जायँगे ॥ ११ ॥

एष श्रियः समुदिताः सर्वराज्ञां ग्रहीष्यति ।
वर्षास्विवोदीर्णजला नदीर्नदनदीपतिः ॥ १२ ॥

'यह समस्त राजाओंकी संगृहीत सम्पदाओंको उसी प्रकार अपने अधिकारमें कर लेगा, जैसे नदों और नदियोंका अधिपति समुद्र वर्षा-ऋतुमें बढ़े हुए जलवाली नदियोंको अपनेमें मिला लेता है ॥ १२ ॥

एष धारयिता सम्यक् चातुर्वर्ण्यं महाबलः ।
शुभाशुभमिव स्फीता सर्वसस्यधरा धरा ॥ १३ ॥

'यह महाबली राजकुमार चारों वर्णोंको भलीभाँति धारण करेगा (उन्हें आश्रय देगा;) ठीक वैसे ही, जैसे सभी प्रकारके धान्योंको धारण करनेवाली समृद्धिशालिनी पृथ्वी शुभ और अशुभ सबको आश्रय देती है ॥ १३ ॥

अस्याज्ञावशगाः सर्वे भविष्यन्ति नराधिपाः ।
सर्वभूतात्मभूतस्य वायोरिव शरीरिणः ॥ १४ ॥

'जैसे सब देहधारी समस्त प्राणियोंके आत्मारूप वायुदेवके अधीन होते हैं, उसी प्रकार सभी नरेश इसकी आज्ञाके अधीन होंगे ॥ १४ ॥

एष रुद्रं महादेवं त्रिपुरान्तकरं हरम् ।
सर्वलोकेष्वतिबलः साक्षाद् द्रक्ष्यति मागधः ॥ १५ ॥

'यह मगधराज सम्पूर्ण लोकोंमें अत्यन्त बलवान् होगा और त्रिपुरासुरका नाश करनेवाले सर्वदुःखहारी महादेव रुद्रकी आराधना करके उनका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करेगा' ॥ १५ ॥

एवं ब्रुवन्नेव मुनिः स्वकार्यमिव चिन्तयन् ।
विसर्जयामास नृपं बृहद्रथमथारिहन् ॥ १६ ॥

शत्रुसूदन नरेश ! ऐसा कहकर अपने कार्यके चिन्तनमें लगे हुए मुनिने राजा बृहद्रथको विदा कर दिया ॥ १६ ॥

प्रविश्य नगरीं चापि ज्ञातिसम्बन्धिभिर्वृतः ।
अभिषिच्य जरासंधं मगधाधिपतिस्तदा ॥ १७ ॥
बृहद्रथो नरपतिः परां निर्वृतिमाययौ ।
अभिषिक्ते जरासंधे तदा राजा बृहद्रथः ।
पत्नीद्वयेनानुगतस्तपोवनचरोऽभवत् ॥ १८ ॥

राजधानीमें प्रवेश करके अपने जाति-भाइयों और सगे-सम्बन्धियोंसे घिरे हुए मगधनरेश बृहद्रथने उसी समय जरासंधका राज्याभिषेक कर दिया। ऐसा करके उन्हें बड़ा संतोष हुआ। जरासंधका अभिषेक हो जानेपर महाराज बृहद्रथ अपनी दोनों पत्नियोंके साथ तपोवनमें चले गये ॥ १७-१८ ॥

ततो वनस्थे पितरि मात्रोश्चैव विशाम्पते ।
जरासंधः स्ववीर्येण पार्थिवानकरोद् वशे ॥ १९ ॥

महाराज ! दोनों माताओं और पिताके वनवासी हो जानेपर जरासंधने अपने पराक्रमसे समस्त राजाओंको वशमें कर लिया ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथ दीर्घस्य कालस्य तपोवनचरो नृपः ।
सभार्यः स्वर्गमगमत् तपस्तप्त्वा बृहद्रथः ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर दीर्घकालतक तपोवनमें रहकर तपस्या करते हुए महाराज बृहद्रथ अपनी पत्नियोंके साथ स्वर्गवासी हो गये ॥ २० ॥

जरासंधोऽपि नृपतिर्यथोक्तं कौशिकेन तत् ।
वरप्रदानमखिलं प्राप्य राज्यमपालयत् ॥ २१ ॥

इधर जरासंध भी चण्डकौशिक मुनिके कथनानुसार भगवान् शङ्करसे सारा वरदान पाकर राज्यकी रक्षा करने लगा ॥ २१ ॥

निहते वासुदेवेन तदा कंसे महीपतौ ।
जातो वै वैरनिर्बन्धः कृष्णेन सह तस्य वै ॥ २२ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके द्वारा अपने जामाता राजा कंसके मारे जानेपर श्रीकृष्णके साथ उसका वैर बहुत बढ़ गया ॥ २२ ॥

भ्रामयित्वा शतगुणमेकोनं येन भारत ।
गदा क्षिप्ता बलवता मागधेन गिरिव्रजात् ॥ २३ ॥
तिष्ठतो मथुरायां वै कृष्णस्याद्भुतकर्मणः ।
एकोनयोजनशते सा पपात गदा शुभा ॥ २४ ॥

भारत ! उसी वैरके कारण बलवान् मगधराजने अपनी गदा निन्यानबे बार घुमाकर गिरिव्रजसे मथुराकी ओर फेंकी। उन दिनों अद्भुत कर्म करनेवाले श्रीकृष्ण मथुरामें ही रहते थे। वह उत्तम गदा निन्यानबे योजन दूर मथुरामें जाकर गिरी ॥ २३-२४ ॥

दृष्ट्वा पौरैस्तदा सम्यग् गदा चैव निवेदिता ।
गदावसानं तत् ख्यातं मथुरायाः समीपतः ॥ २५ ॥

पुरवासियोंने उसे देखकर उसकी सूचना भगवान् श्रीकृष्णको दी। मथुराके समीपका वह स्थान, जहाँ गदा गिरि थी, गदावसानके नामसे विख्यात हुआ ॥ २५ ॥

तस्यास्तां हंसडिम्भकावशस्त्रनिधनावुभौ ।
मन्त्रे मतिमतां श्रेष्ठौ नीतिशास्त्रे विशारदौ ॥ २६ ॥

जरासंधको सलाह देनेके लिये बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ तथा नीतिशास्त्रमें निपुण दो मन्त्री थे, जो हंस और डिम्भकके नामसे विख्यात थे। वे दोनों किसी भी शस्त्रसे मरनेवाले नहीं थे ॥ २६ ॥

यौ तौ मया ते कथितौ पूर्वमेव महाबलौ ।
त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ॥ २७ ॥

जनमेजय ! उन दोनों महाबली वीरोंका परिचय मैंने तुम्हें पहले ही दे दिया है। मेरा ऐसा विश्वास है, जरासंध और वे तीनों मिलकर तीनों लोकोंका सामना करनेके लिये पर्याप्त थे ॥

एवमेव तदा वीर बलिभिः कुकुरान्धकैः ।
वृष्णिभिश्च महाराज नीतिहेतोरुपेक्षितः ॥ २८ ॥

वीरवर महाराज ! इस प्रकार नीतिका पालन करनेके लिये ही उस समय बलवान् कुकुर, अन्धक और वृष्णिवंशके योद्धाओंने जरासंधकी उपेक्षा कर दी ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासंधप्रशंसायामेकोनविंशतितमोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें जरासंधप्रशंसाविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

(जरासंधवधपर्व)

विंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके अनुमोदन करनेपर श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेनकी मगध-यात्रा

वासुदेव उवाच

पतितौ हंसडिम्भकौ कंसश्च सगणो हतः।
जरासंधस्य निधने कालोऽयं समुपागतः॥ १॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—धर्मराज ! जरासंधके मुख्य सहायक हंस और डिम्भक यमुनाजीमें डूब मरे। कंस भी अपने सेवकों और सहायकोंसहित कालके गालमें चला गया। अब जरासंधके नाशका यह उचित अवसर आ पहुँचा है॥ १॥

न शक्योऽसौ रणे जेतुं सर्वैरपि सुरासुरैः।
बाहुयुद्धेन जेतव्यः स इत्युपलभामहे॥ २॥

युद्धमें तो सम्पूर्ण देवता और असुर भी उसे जीत नहीं सकते, अतः मेरी समझमें यही आता है कि उसे बाहुयुद्धके द्वारा जीतना चाहिये॥ २॥

मयि नीतिर्बलं भीमे रक्षिता चावयोर्जयः।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाग्नयः॥ ३॥

मुझमें नीति है, भीमसेनमें बल है और अर्जुन हम दोनोंकी रक्षा करनेवाले हैं; अतः जैसे तीन अग्नियाँ यज्ञकी सिद्धि करती हैं, उसी प्रकार हम तीनों मिलकर जरासंधके वधका काम पूरा कर लेंगे॥ ३॥

त्रिभिरासादितोऽस्माभिर्विजने स नराधिपः।
न संदेहो यथा युद्धमेकेनाप्युपयास्यति॥ ४॥
अवमानाच्च लोभाच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः।
भीमसेनेन युद्धाय ध्रुवमप्युपयास्यति॥ ५॥

जब हम तीनों एकान्तमें राजा जरासंधसे मिलेंगे, तब वह हम तीनोंमेंसे किसी एकके साथ द्वन्द्वयुद्ध करना स्वीकार कर लेगा; इसमें संदेह नहीं है। अपमानके भयसे, बड़े योद्धा भीमसेनके साथ लड़नेके लोभसे तथा अपने बाहुबलसे घमंडमें चूर होनेसे जरासंध निश्चय ही भीमसेनके साथ युद्ध करनेको उद्यत होगा॥ ४-५॥

अलं तस्य महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः।
लोकस्य समुदीर्णस्य निधनायान्तको यथा॥ ६॥

जैसे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत्के विनाशके लिये एक ही यमराज काफी हैं, उसी प्रकार महाबली महाबाहु भीमसेन जरासंधके वधके लिये पर्याप्त हैं॥ ६॥

यदि मे हृदयं वेत्सि यदि ते प्रत्ययो मयि।
भीमसेनार्जुनौ शीघ्रं न्यासभूतौ प्रयच्छ मे॥ ७॥

राजन् ! यदि आप मेरे हृदयको जानते हैं और यदि आपका मुझपर विश्वास है तो भीमसेन और अर्जुनको शीघ्र ही धरोहरके रूपमें मुझे दे दीजिये॥ ७॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो भगवता प्रत्युवाच युधिष्ठिरः।
भीमार्जुनौ समालोक्य सम्प्रहृष्टमुखौ स्थितौ॥ ८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान्के ऐसा कहनेपर वहाँ खड़े हुए भीमसेन और अर्जुनका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा। उस समय उन दोनोंकी ओर देखकर युधिष्ठिरने इस प्रकार उत्तर दिया॥ ८॥

युधिष्ठिर उवाच

अच्युताच्युत मा मैवं व्याहरामित्रकर्शन।
पाण्डवानां भवान् नाथो भवन्तं चाश्रिता वयम्॥ ९॥

युधिष्ठिर बोले—अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले शत्रुसूदन अच्युत ! आप ऐसी बात न कहें, न कहें। आप हम सब पाण्डवोंके स्वामी हैं, रक्षक हैं; हम सब लोग आपकी शरणमें हैं॥ ९॥

यथा वदसि गोविन्द सर्वं तदुपपद्यते।
न हि त्वमग्रतस्तेषां येषां लक्ष्मीः पराङ्मुखी॥ १०॥

गोविन्द ! आप जैसा कहते हैं, वह सब ठीक है। जिनकी राज्यलक्ष्मी विमुख हो चुकी है, उनके सम्मुख आप आते ही नहीं हैं॥ १०॥

निहतश्च जरासंधो मोक्षिताश्च महीक्षितः।
राजसूयश्च मे लब्धो निदेशे तव तिष्ठतः॥ ११॥

आपकी आज्ञाके अनुसार चलनेमात्रसे मैं यह मानता हूँ कि जरासंध मारा गया। समस्त राजा उसकी कैदसे छुटकारा पा गये और मेरा राजसूय यज्ञ भी पूरा हो गया॥

क्षिप्रमेव यथा त्वेतत् कार्यं समुपपद्यते।
अप्रमत्तो जगन्नाथ तथा कुरु नरोत्तम॥ १२॥
त्रिभिर्भवद्भिर्हि विना नाहं जीवितुमुत्सहे।
धर्मकामार्थरहितो रोगार्त इव दुःखितः॥ १३॥
न शौरिणा विना पार्थो न शौरिः पाण्डवं विना।
नाजेयोऽस्त्यनयोर्लोके कृष्णयोरिति मे मतिः॥ १४॥

जगन्नाथ ! पुरुषोत्तम ! आप सावधान होकर वही उपाय कीजिये, जिससे यह कार्य शीघ्र ही पूरा हो जाय। जैसे धर्म,

काम और अर्थसे रहित रोगातुर मनुष्य अत्यन्त दुखी हो जीवनसे हाथ धो बैठता है, उसी प्रकार मैं भी आप तीनोंके बिना जीवित नहीं रह सकता। श्रीकृष्णके बिना अर्जुन और पाण्डुपुत्र अर्जुनके बिना श्रीकृष्ण नहीं रह सकते। इन दोनों कृष्णनामधारी वीरोंके लिये लोकमें कोई भी अजेय नहीं है; ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १२-१४ ॥

अयं च बलिनां श्रेष्ठः श्रीमानपि वृकोदरः।
युवाभ्यां सहितो वीरः किं न कुर्यान्महायशाः ॥ १५ ॥

यह बलवानोंमें श्रेष्ठ महायशस्वी कान्तिमान् वीर भीमसेन भी आप दोनोंके साथ रहकर क्या नहीं कर सकता ? ॥ १५ ॥

सुप्रणीतो बलौघो हि कुरुते कार्यमुत्तमम्।
अंधं बलं जडं प्राहुः प्रणेतव्यं विचक्षणैः ॥ १६ ॥

चतुर सेनापतियोंद्वारा अच्छी तरह संचालित की हुई सेना उत्तम कार्य करती है, अन्यथा उस सेनाको अंधी और जड कहते हैं; अतः नीतिनिपुण पुरुषोंद्वारा ही सेनाका संचालन होना चाहिये ॥ १६ ॥

यतो हि निम्नं भवति नयन्ति हि ततो जलम्।
यतश्छिद्रं ततश्चापि नयन्ते धीवरा जलम् ॥ १७ ॥

जिधर नीची जमीन होती है, उधर ही लोग जल बहाकर ले जाते हैं। जहाँ गड्ढा होता है, उधर ही धीवर भी जल बहाते हैं (इसी प्रकार आपलोग भी जैसे कार्य-साधनमें सुविधा हो, वैसा ही करें) ॥ १७ ॥

तस्मान्नयविधानज्ञं पुरुषं लोकविश्रुतम्।
वयमाश्रित्य गोविन्दं यतामः कार्यसिद्धये ॥ १८ ॥

इसीलिये हम नीतिविधानके ज्ञाता लोकविख्यात महापुरुष श्रीगोविन्दकी शरण लेकर कार्यसिद्धिके लिये प्रयत्न करते हैं ॥

एवं प्रज्ञानयबलं क्रियोपायसमन्वितम्।
पुरस्कुर्वीत कार्येषु कृष्णं कार्यार्थसिद्धये ॥ १९ ॥

इसी प्रकार सबके लिये यह उचित है कि कार्य और प्रयोजनकी सिद्धिके लिये सभी कार्योंमें बुद्धि, नीति, बल, प्रयत्न और उपायसे युक्त श्रीकृष्णको ही आगे रक्खे ॥

एवमेव यदुश्रेष्ठ यावत्कार्यार्थसिद्धये।
अर्जुनः कृष्णमन्वेतु भीमोऽन्वेतु धनंजयम्।
नयो जयो बलं चैव विक्रमे सिद्धिमेष्यति ॥ २० ॥

यदुश्रेष्ठ ! इसी प्रकार समस्त कार्योंकी सिद्धिके लिये आपका आश्रय लेना परम आवश्यक है। अर्जुन आप श्रीकृष्णका अनुसरण करें और भीमसेन अर्जुनका। नीति, विजय और बल तीनों मिलकर पराक्रम करें, तो उन्हें अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तास्ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः।
वार्ष्णेयः पाण्डवेयौ च प्रतस्थुर्मागधं प्रति ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर वे सब महातेजस्वी भाई—श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेन मगधराज जरासंधसे भिड़नेके लिये उसकी राजधानीकी ओर चल दिये ॥ २१ ॥

वर्चस्विनां ब्राह्मणानां स्नातकानां परिच्छदम्।
आच्छाद्य सुहृदां वाक्यैर्मनोज्ञैरभिनन्दिताः ॥ २२ ॥

उन्होंने तेजस्वी स्नातक ब्राह्मणोंके-से वस्त्र पहनकर उनके द्वारा अपने क्षत्रियरूपको छिपाकर यात्रा की। उस समय हितैषी सुहृदोंने मनोहर वचनोंद्वारा उन सबका अभिनन्दन किया ॥ २२ ॥

अमर्षादभितप्तानां ज्ञात्यर्थं मुख्यतेजसाम्।
रविसोमाग्निवपुषां दीप्तमासीत् तदा वपुः ॥ २३ ॥
हतं मेने जरासंधं दृष्ट्वा भीमपुरोगमौ।
एककार्यसमुद्यन्तौ कृष्णौ युद्धेऽपराजितौ ॥ २४ ॥

जरासंधके प्रति रोषके कारण वे प्रज्वलित-से हो रहे थे। जातिभाइयोंके उद्धारके लिये उनका महान् तेज प्रकट हुआ था। उस समय सूर्य, चन्द्रमा और अग्निके समान तेजस्वी शरीरवाले उन तीनोंका स्वरूप अत्यन्त उद्भासित हो रहा था। एक ही कार्यके लिये उद्यत हुए और युद्धमें कभी पराजित न होनेवाले उन दोनों (कृष्णोंको अर्थात् नर-नारायण-रूप कृष्ण और अर्जुन) को भीमसेनको आगे लिये जाते देख युधिष्ठिरको यह निश्चय हो गया कि जरासंध अवश्य मारा जायगा ॥ २३-२४ ॥

ईशौ हि तौ महात्मानौ सर्वकार्यप्रवर्तिनौ।
धर्मकामार्थलोकानां कार्याणां च प्रवर्तकौ ॥ २५ ॥

क्योंकि वे दोनों महात्मा निमेष-उन्मेषसे लेकर महाप्रलय-पर्यन्त समस्त कार्योंके नियन्ता तथा धर्म, काम और अर्थ-साधनमें लगे हुए लोगोंको तत्सम्बन्धी कार्योंमें लगानेवाले ईश्वर (नर-नारायण) हैं ॥ २५ ॥

कुरुभ्यः प्रस्थितास्ते तु मध्येन कुरुजाङ्गलम्।
रम्यं पद्मसरो गत्वा कालकूटमतीत्य च ॥ २६ ॥
गण्डकीं च महाशोणं सदानीरां तथैव च।
एकपर्वतके नद्यः क्रमेणैत्याव्रजन्त ते ॥ २७ ॥

वे तीनों कुरुदेशसे प्रस्थित हो कुरुजाङ्गलके बीचसे होते हुए रमणीय पद्मसरोवरपर पहुँचे। फिर कालकूट पर्वतको लाँघकर गण्डकी, महाशोण, सदानीरा एवं एकपर्वतक प्रदेश-की सब नदियोंको क्रमशः पार करते हुए आगे बढ़ते गये ॥

उत्तीर्य सरयूं रम्यां दृष्ट्वा पूर्वांश्च कोसलान् ।
अतीत्य जग्मुर्मिथिलां पश्यन्तो विपुला नदीः ॥ २८ ॥
अतीत्य गङ्गां शोणं च त्रयस्ते प्राङ्मुखास्तदा ।
कुशचीरच्छदा जग्मुर्मागधं क्षेत्रमच्युताः ॥ २९ ॥

इससे पहले मार्गमें उन्होंने रमणीय सरयू नदी पार करके पूर्वी कोसलप्रदेशमें भी पदार्पण किया था । कोसल पार करके बहुत-सी नदियोंका अवलोकन करते हुए वे मिथिलामें गये । गङ्गा और शोणभद्रको पार करके वे तीनों अच्युत वीर पूर्वाभिमुख होकर चलने लगे । उन्होंने कुश एवं चीरसे ही अपने शरीरको ढक रक्खा था । जाते-जाते वे मगधक्षेत्रकी सीमामें पहुँच गये ॥ २८-२९ ॥

ते शश्वद् गोधनाकीर्णमम्बुमन्तं शुभद्रुमम् ।
गोरथं गिरिमासाद्य ददृशुर्मागधं पुरम् ॥ ३० ॥

फिर सदा गोधनसे भरे-पूरे, जलसे परिपूर्ण तथा सुन्दर वृक्षोंसे सुशोभित गोरथ पर्वतपर पहुँचकर उन्होंने मगधकी राजधानीको देखा ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि कृष्णपाण्डवमागधयात्रायां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें कृष्ण, अर्जुन एवं भीमसेनकी मगधयात्रा-विषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

एकविंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा मगधकी राजधानीकी प्रशंसा, चैत्यक पर्वतशिखर और नगाड़ोंको तोड़-फोड़कर तीनोंका नगर एवं राजभवनमें प्रवेश तथा श्रीकृष्ण और जरासंधका संवाद

वासुदेव उवाच

एष पार्थ महान् भाति पशुमान् नित्यमम्बुमान् ।
निरामयः सुवेश्माढ्यो निवेशो मागधः शुभः ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण बोले—कुन्तीनन्दन ! देखो, यह मगधदेशकी सुन्दर एवं विशाल राजधानी कैसी शोभा पा रही है । यहाँ पशुओंकी अधिकता है । जलकी भी सदा पूर्ण सुविधा रहती है । यहाँ रोग-व्याधिका प्रकोप नहीं होता । सुन्दर महलोंसे भरा-पूरा यह नगर बड़ा मनोहर प्रतीत होता है ॥ १ ॥

वैहारो विपुलः शैलो वराहो वृषभस्तथा ।
तथा ऋषिगिरिस्तात शुभाश्चैत्यकपञ्चमाः ॥ २ ॥
एते पञ्च महाशृङ्गाः पर्वताः शीतलद्रुमाः ।
रक्षन्तीवाभिसंहत्य संहताङ्गा गिरिव्रजम् ॥ ३ ॥

तात ! यहाँ विहारोपयोगी विपुल, वराह, वृषभ (ऋषभ), ऋषिगिरि (मातङ्ग) तथा पाँचवाँ चैत्यक नामक पर्वत है । बड़े-बड़े शिखरोंवाले ये पाँचों सुन्दर पर्वत शीतल छायावाले वृक्षोंसे सुशोभित हैं और एक साथ मिलकर एक-दूसरेके शरीरका स्पर्श करते हुए मानो गिरिव्रज नगरकी रक्षा कर रहे हैं ।२-३।

पुष्पवेष्टितशाखाग्रैर्गन्धवद्भिर्मनोहरैः ।
निगूढा इव लोध्राणां वनैः कामिजनप्रियैः ॥ ४ ॥

वहाँ लोध नामक वृक्षोंके कई मनोहर वन हैं, जिनसे वे पाँचों पर्वत ढके हुए-से जान पड़ते हैं । उनकी शाखाओंके अग्रभागमें फूल-ही-फूल दिखायी देते हैं । लोधोंके ये सुगन्धित वन कामीजनोंको बहुत प्रिय हैं ॥ ४ ॥

शूद्रायां गौतमो यत्र महात्मा संशितव्रतः ।
औशीनर्यामजनयत् काक्षीवाद्यान् सुतान् मुनिः॥ ५ ॥

यहीं अत्यन्त कठोर व्रतका पालन करनेवाले महामना गौतमने उशीनरदेशकी शूद्रजातीय कन्याके गर्भसे काक्षीवान् आदि पुत्रोंको उत्पन्न किया था ॥ ५ ॥

गौतमः प्रणयात् तस्माद् यथासौ तत्र सद्मनि ।
भजते मागधं वंशं स नृपाणामनुग्रहात् ॥ ६ ॥

इसी कारण वह गौतम मुनि राजाओंके प्रेमसे वहाँ आश्रममें रहता तथा मगधदेशीय राजवंशकी सेवा करता है ॥ ६ ॥

अङ्गवङ्गादयश्चैव राजानः सुमहाबलाः ।
गौतमक्षयमभ्येत्य रमन्ते स्म पुरार्जुन ॥ ७ ॥

अर्जुन ! पूर्वकालमें अङ्ग-वङ्ग आदि महाबली राजा भी गौतमके घरमें आकर आनन्दपूर्वक रहते थे ॥ ७ ॥

वनराजीस्तु पश्येमाः पिप्पलानां मनोरमाः ।
लोध्राणां च शुभाः पार्थ गौतमौकःसमीपजाः ॥ ८ ॥

पार्थ ! गौतमके आश्रमके निकट लहलहाती हुई पीपल और लोधोंकी इन सुन्दर एवं मनोरम वनपङ्क्तियोंको तो देखो ॥ ८ ॥

अर्बुदः शक्रवापी च पन्नगौ शत्रुतापनौ ।
स्वस्तिकस्यालयश्चात्र मणिनागस्य चोत्तमः ॥ ९ ॥

यहाँ अर्बुद और शक्रवापी नामवाले दो नाग रहते हैं, जो अपने शत्रुओंको संतप्त करनेवाले हैं । यहीं स्वस्तिक नाग और मणि नागके भी उत्तम भवन हैं ॥ ९ ॥

अपरिहार्या मेघानां मागधा मनुना कृताः ।
कौशिको मणिमांश्चैव चक्राते चाप्यनुग्रहम् ॥ १० ॥

मनुने मगधदेशके निवासियोंको मेघोंके लिये अपरिहार्य (अनुग्राह्य) कर दिया है; (अतः वहाँ सदा ही

बादल समयपर यथेष्ट वर्षा करते हैं)। चण्डकौशिक मुनि और मणिमान् नाग भी मगधदेशपर अनुग्रह कर चुके हैं ॥

(पाण्डरे विपुले चैव तथा वाराहकेऽपि च ।
चैत्यके च गिरिश्रेष्ठे मातङ्गे च शिलोच्चये ॥
एतेषु पर्वतेन्द्रेषु सर्वसिद्धमहालयाः ।
यतीनामाश्रमाश्चैव मुनीनां च महात्मनाम् ॥

श्वेतवर्णके वृषभ, विपुल, वाराह, गिरिश्रेष्ठ चैत्यक तथा मातङ्ग गिरि—इन सभी श्रेष्ठ पर्वतोंपर सम्पूर्ण सिद्धोंके विशाल भवन हैं तथा यतियों, मुनियों और महात्माओंके बहुत-से आश्रम हैं ॥

वृषभस्य तमालस्य महावीर्यस्य वै तथा ।
गन्धर्वरक्षसां चैव नागानां च तथाऽऽलयाः ॥)

वृषभ, महापराक्रमी तमाल, गन्धर्वों, राक्षसों तथा नागोंके भी निवासस्थान उन पर्वतोंकी शोभा बढ़ाते हैं ॥

एवं प्राप्य पुरं रम्यं दुराधर्षं समन्ततः ।
अर्थसिद्धिं त्वनुपमां जरासंधोऽभिमन्यते ॥ ११ ॥

इस प्रकार चारों ओरसे दुर्धर्ष उस रमणीय नगरको पाकर जरासंधको यह अभिमान बना रहता है कि मुझे अनुपम अर्थसिद्धि प्राप्त होगी ॥ ११ ॥

वयमासादने तस्य दर्पमद्य हरेमहि ।

आज हमलोग उसके घरपर ही चलकर उसका सारा घमंड हर लेंगे ॥ ११½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः ॥ १२ ॥
वार्ष्णेयः पाण्डवौ चैव प्रतस्थुर्मागधं पुरम् ।
हृष्टपुष्टजनोपेतं चातुर्वर्ण्यसमाकुलम् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसी बातें करते हुए वे सभी महातेजस्वी भाई श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेन मगधकी राजधानीमें प्रवेश करनेके लिये चल पड़े। वह नगर चारों वर्णोंके लोगोंसे भरा-पूरा था। उसमें रहनेवाले सभी लोग हृष्ट-पुष्ट दिखायी देते थे ॥ १२-१३ ॥

स्फीतोत्सवमनाधृष्यमासेदुश्च गिरिव्रजम् ।
ततो द्वारमनासाद्य पुरस्य गिरिमुच्छ्रितम् ॥ १४ ॥
बार्हद्रथैः पूज्यमानं तथा नगरवासिभिः ।
मगधानां सुरुचिरं चैत्यकान्तं समाद्रवन् ॥ १५ ॥

वहाँ अधिकाधिक उत्सव होते रहते थे। कोई भी उसको जीत नहीं सकता था। ऐसे गिरिव्रजके निकट वे तीनों जा पहुँचे। वे मुख्य फाटकपर न जाकर नगरके चैत्यक नामक ऊँचे पर्वतपर चले गये। उस नगरमें निवास करनेवाले मनुष्य तथा बृहद्रथ-परिवारके लोग उस पर्वतकी पूजा किया करते थे। मगधदेशकी प्रजाको यह चैत्यक पर्वत बहुत ही प्रिय था ॥ १४-१५ ॥

यत्र मांसादमृषभमाससाद बृहद्रथः ।
तं हत्वा मासतालाभिस्तिस्रो भेरीरकारयत् ॥ १६ ॥

उस स्थानपर राजा बृहद्रथने (वृषभरूपधारी) ऋषभ नामक एक मांसभक्षी राक्षससे युद्ध किया और उसे मारकर उसकी खालसे तीन बड़े-बड़े नगाड़े तैयार कराये, जिनपर चोट करनेसे महीनेभरतक आवाज होती रहती थी ॥ १६ ॥

स्वपुरे स्थापयामास तेन चानह्य चर्मणा ।
यत्र ताः प्राणदन् भेर्यो दिव्यपुष्पावचूर्णिताः ॥ १७ ॥

राजाने उन नगाड़ोंको उस राक्षसके ही चमड़ेसे मढ़ाकर अपने नगरमें रखवा दिया। जहाँ वे नगाड़े बजते थे, वहाँ दिव्य फूलोंकी वर्षा होने लगती थी ॥ १७ ॥

भङ्क्त्वा भेरीत्रयं तेऽपि चैत्यप्राकारमाद्रवन् ।
द्वारतोऽभिमुखाः सर्वे ययुर्नानाऽऽयुधास्तदा ॥ १८ ॥
मागधानां सुरुचिरं चैत्यकं तं समाद्रवन् ।
शिरसीव समाघ्नन्तो जरासंधं जिघांसवः ॥ १९ ॥

इन तीनों वीरोंने उपर्युक्त तीनों नगाड़ोंको फोड़कर चैत्यक पर्वतके परकोटेपर आक्रमण किया। उन सबने अनेक प्रकारके आयुध लेकर द्वारके सामने मगधनिवासियोंके परम प्रिय उस चैत्यक पर्वतपर धावा किया था। जरासंधको मारनेकी इच्छा रखकर मानो वे उसके मस्तकपर आघात कर रहे थे ॥

स्थिरं सुविपुलं शृङ्गं सुमहत् तत् पुरातनम् ।
अर्चितं गन्धमाल्यैश्च सततं सुप्रतिष्ठितम् ॥ २० ॥
विपुलैर्बाहुभिर्वीरास्तेऽभिहत्याभ्यपातयन् ।
ततस्ते मागधं हृष्टाः पुरं प्रविविशुस्तदा ॥ २१ ॥

उस चैत्यकका विशाल शिखर बहुत पुराना, किंतु सुदृढ़ था। मगधदेशमें उसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। गन्ध और पुष्पकी मालाओंसे उसकी सदा पूजा की जाती थी। श्रीकृष्ण आदि तीनों वीरोंने अपनी विशाल भुजाओंसे टक्कर मारकर उस चैत्यक पर्वतके शिखरको गिरा दिया। तदनन्तर वे अत्यन्त प्रसन्न होकर मगधकी राजधानी गिरिव्रजके भीतर घुसे ॥

एतस्मिन्नेव काले तु ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
दृष्ट्वा तु दुर्निमित्तानि जरासंधमदर्शयन् ॥ २२ ॥

इसी समय वेदोंके पारगामी विद्वान् ब्राह्मणोंने अनेक अपशकुन देखकर राजा जरासंधको उनके विषयमें सूचित किया ॥ २२ ॥

पर्यग्न्यकुर्वंश्च नृपं द्विरदस्थं पुरोहिताः ।
ततस्तच्छान्तये राजा जरासंधः प्रतापवान् ।
दीक्षितो नियमस्थोऽसावुपवासपरोऽभवत् ॥ २३ ॥

पुरोहितोंने राजाको हाथीपर बिठाकर उसके चारों ओर प्रज्वलित आग घुमायी। प्रतापी राजा जरासंधने अनिष्टकी

शान्तिके लिये व्रतकी दीक्षा ले नियमोंका पालन करते हुए उपवास किया ॥ २३ ॥

स्नातकव्रतिनस्ते तु बाहुशस्त्रा निरायुधाः ।
युयुत्सवः प्रविविशुर्जरासंधेन भारत ॥ २४ ॥

भारत ! इधर भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन और अर्जुन स्नातक-व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंके वेषमें अस्त्र-शस्त्रोंका परित्याग करके अपनी भुजाओंसे ही आयुधोंका काम लेते हुए जरासंधके साथ युद्ध करनेकी इच्छा रखकर नगरमें प्रविष्ट हुए ॥ २४ ॥

भक्ष्यमाल्यापणानां च ददृशुः श्रियमुत्तमाम् ।
स्फीतां सर्वगुणोपेतां सर्वकामसमृद्धिनीम् ॥ २५ ॥
तां तु दृष्ट्वा समृद्धिं ते वीथ्यां तस्यां नरोत्तमाः ।
राजमार्गेण गच्छन्तः कृष्णभीमधनंजयाः ।
बलाद् गृहीत्वा माल्यानि मालाकारान्महाबलाः॥ २६ ॥

उन्होंने खाने-पीनेकी वस्तुओं, फूल-मालाओं तथा अन्य आवश्यक पदार्थोंकी दूकानोंसे सजे हुए हाट-बाटकी अपूर्व शोभा और सम्पदा देखी । नगरका वह वैभव बहुत बढ़ा-चढ़ा, सर्वगुणसम्पन्न तथा समस्त कामनाओंकी पूर्ति करनेवाला था । उस गलीकी अद्भुत समृद्धिको देखकर वे महाबली नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण, भीम और अर्जुन एक मालीसे बलपूर्वक बहुत-सी मालाएँ लेकर नगरकी प्रधान सड़कसे चलने लगे ॥२५-२६॥

विरागवसनाः सर्वे स्रग्विणो मृष्टकुण्डलाः ।
निवेशनमथाजग्मुर्जरासंधस्य धीमतः ॥ २७ ॥

उन सबके वस्त्र अनेक रंगके थे । उन्होंने गलेमें हार और कानोंमें चमकीले कुण्डल पहन रक्खे थे । वे क्रमशः बुद्धिमान् राजा जरासंधके महलके समीप जा पहुँचे ॥ २७ ॥

गोवासमिव वीक्षन्तः सिंहा हैमवता यथा ।
शालस्तम्भनिभास्तेषां चन्दनागुरुरूषिताः ॥ २८ ॥
अशोभन्त महाराज बाहवो युद्धशालिनाम् ।

जैसे हिमालयकी गुफाओंमें रहनेवाले सिंह गौओंका स्थान ढूँढ़ते हुए आगे बढ़ते हों, उसी प्रकार वे तीनों वीर राजभवनकी तलाश करते हुए वहाँ पहुँचे थे । महाराज ! युद्धमें विशेष शोभा पानेवाले उन तीनों वीरोंकी भुजाएँ साखूके लट्ठे-जैसी सुशोभित हो रही थीं । उनपर चन्दन और अगुरुका लेप किया गया था ॥ २८½ ॥

तान् दृष्ट्वा द्विरदप्रख्याञ्शालस्कन्धानिवोद्गतान्।
व्यूढोरस्कान् मागधानां विस्मयः समपद्यत ॥ २९ ॥

शालवृक्षके तनेके समान ऊँचे डील और चौड़ी छातीवाले गजराजसदृश उन बलवान् वीरोंको देखकर मगधनिवासियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ २९ ॥

ते त्वतीत्य जनाकीर्णाः कक्षास्तिस्रो नरर्षभाः ।
अहंकारेण राजानमुपतस्थुर्गतव्यथाः ॥ ३० ॥

वे नरश्रेष्ठ लोगोंसे भरी हुई तीन ड्योढ़ियोंको पार करके निर्भय एवं निश्चिन्त हो बड़े अभिमानके साथ राजा जरासंधके निकट गये ॥ ३० ॥

तान् पाद्यमधुपर्कार्हान् गवार्हान् सत्कृतिं गतान् ।
प्रत्युत्थाय जरासंध उपतस्थे यथाविधि ॥ ३१ ॥

वे पाद्य, मधुपर्क और गोदान पानेके योग्य थे । उनका सर्वत्र सत्कार होता था । उन्हें आया देख जरासंध उठकर खड़ा हो गया और उसने विधिपूर्वक उनका आतिथ्य-सत्कार किया ॥

उवाच चैतान् राजासौ स्वागतं वोऽस्त्विति प्रभुः ।
मौनमासीत् तदा पार्थभीमयोर्जनमेजय ॥ ३२ ॥
तेषां मध्ये महाबुद्धिः कृष्णो वचनमब्रवीत् ।
वक्तुं नायाति राजेन्द्र एतयोर्नियमस्थयोः ॥ ३३ ॥
अर्वाङ्निशीथात् परतस्त्वया सार्धं वदिष्यतः ।

तदनन्तर शक्तिशाली राजाने इन तीनों अतिथियोंसे कहा—'आपलोगोंका स्वागत है ।' जनमेजय ! उस समय अर्जुन और भीमसेन तो मौन थे । उनमेंसे महाबुद्धिमान् श्रीकृष्णने यह बात कही—'राजेन्द्र ! ये दोनों एक नियम ले चुके हैं; अतः आधी रातसे पहले नहीं बोलते । आधी रातके बाद ये दोनों आपसे बात करेंगे' ॥ ३२-३३½ ॥

यज्ञागारे स्थापयित्वा राजा राजगृहं गतः ॥ ३४ ॥
ततोऽर्धरात्रे सम्प्राप्ते यातो यत्र स्थिता द्विजाः ।
तस्य ह्येतद् व्रतं राजन् बभूव भुवि विश्रुतम् ॥ ३५ ॥

तब राजा उन्हें यज्ञशालामें ठहराकर स्वयं राजभवनमें चला गया । फिर आधी रात होनेपर जहाँ वे ब्राह्मण ठहरे थे, वहाँ वह गया । राजन् ! उसका यह नियम भूमण्डलमें विख्यात था ॥ ३४-३५ ॥

स्नातकान् ब्राह्मणान् प्राप्ताञ्छ्रुत्वा स समितिंजयः ।
अप्यर्धरात्रे नृपतिः प्रत्युद्गच्छति भारत ॥ ३६ ॥

भारत ! युद्धविजयी राजा जरासंध स्नातक ब्राह्मणोंका आगमन सुनकर आधी रातके समय भी उनकी आवभगतके लिये उनके पास चला जाता था ॥ ३६ ॥

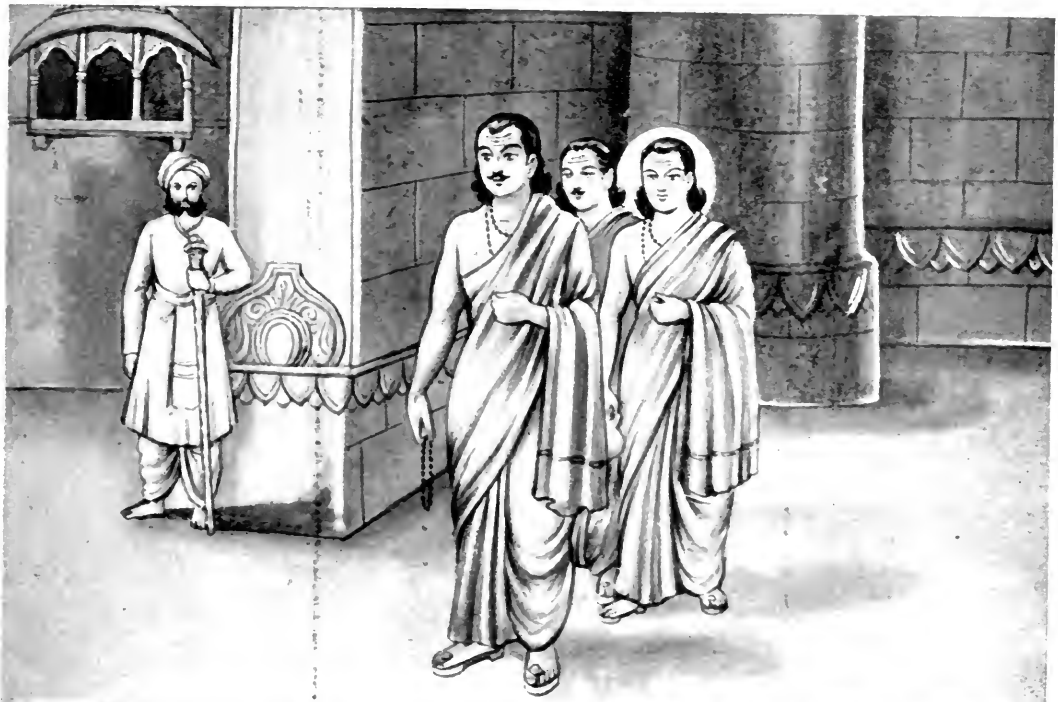
तांस्त्वपूर्वेण वेषेण दृष्ट्वा स नृपसत्तमः ।
उपतस्थे जरासंधो विस्मितश्चाभवत् तदा ॥ ३७ ॥

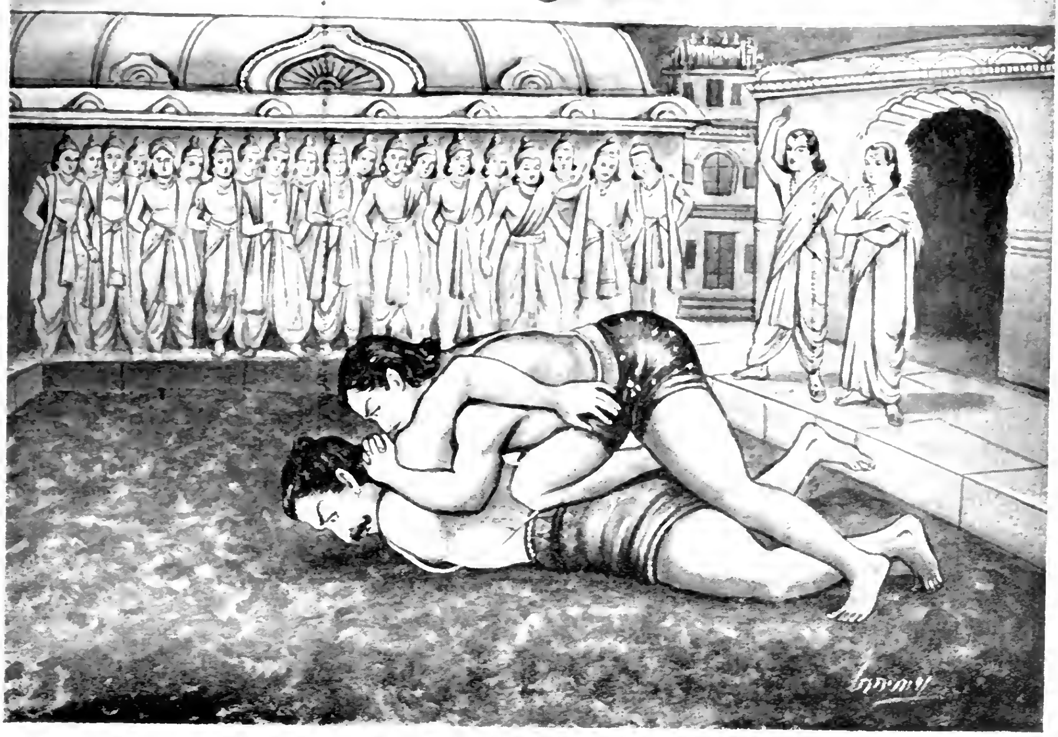
उन तीनोंको अपूर्व वेषमें देखकर नृपश्रेष्ठ जरासंधको बड़ा विस्मय हुआ । वह उनके पास गया ॥ ३७ ॥

ते तु दृष्ट्वैव राजानं जरासंधं नरर्षभाः ।
इदमूचुरमित्रघ्नाः सर्वे भरतसत्तम ॥ ३८ ॥
स्वस्त्यस्तु कुशलं राजन्निति तत्र व्यवस्थिताः ।
तं नृपं नृपशार्दूल प्रेक्षमाणाः परस्परम् ॥ ३९ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! शत्रुओंका नाश करनेवाले वे सभी नरश्रेष्ठ राजा जरासंधको देखते ही इस प्रकार बोले—'महाराज !

जरासंधके भवनमें श्रीकृष्ण, भीमसेन और अर्जुन





भीमसेन और जरासंधका युद्ध

आपका कल्याण हो।' जनमेजय ! ऐसा कहकर वे तीनों खड़े हो गये तथा कभी राजा जरासंधको और कभी आपसमें एक दूसरेको देखने लगे ॥ ३८-३९ ॥

तानब्रवीज्जरासंधस्तथा पाण्डवयादवान्।
आस्यतामिति राजेन्द्र ब्राह्मणच्छद्मसंवृतान् ॥ ४० ॥

राजेन्द्र ! ब्राह्मणोंके छद्मवेषमें छिपे हुए उन पाण्डव तथा यादव वीरोंको लक्ष्य करके जरासंधने कहा—'आपलोग बैठ जायँ' ॥ ४० ॥

अथोपविविशुः सर्वे त्रयस्ते पुरुषर्षभाः।
सम्प्रदीप्तास्त्रयो लक्ष्म्या महाध्वर इवाग्नयः ॥ ४१ ॥

फिर वे सभी बैठ गये। वे तीनों पुरुषसिंह महान् यज्ञमें प्रज्वलित तीन अग्नियोंकी भाँति अपनी अपूर्व शोभासे उद्भासित हो रहे थे ॥ ४१ ॥

तानुवाच जरासंधः सत्यसंधो नराधिपः।
विगर्हमाणः कौरव्य वेषग्रहणवैकृतान्।
न स्नातकव्रता विप्रा बहिर्माल्यानुलेपनाः ॥ ४२ ॥
भवन्तीति नृलोकेऽस्मिन् विदितं मम सर्वशः।
के यूयं पुष्पवन्तश्च भुजैर्ज्याकृतलक्षणैः ॥ ४३ ॥

कुरुनन्दन ! उस समय सत्यप्रतिज्ञ राजा जरासंधने वेषग्रहणके विपरीत आचरणवाले उन तीनोंकी निन्दा करते हुए कहा—'ब्राह्मणो ! इस मानव-जगत्में सर्वत्र प्रसिद्ध है कि स्नातक-व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण समावर्तन आदि विशेष निमित्तके बिना माला और चन्दन नहीं धारण करते। मुझे भी यह अच्छी तरह मालूम है। आपलोग कौन हैं ? आपके गलेमें फूलोंकी माला है और भुजाओंमें धनुषकी प्रत्यञ्चाकी रगड़का चिह्न स्पष्ट दिखायी देता है ॥ ४२-४३ ॥

बिभ्रतः क्षात्रमोजश्च ब्राह्मण्यं प्रतिजानथ।
एवं विरागवसना बहिर्माल्यानुलेपनाः।
सत्यं वदत के यूयं सत्यं राजसु शोभते ॥ ४४ ॥

'आपलोग क्षत्रियोचित तेज धारण करते हैं, परंतु ब्राह्मण होनेका परिचय दे रहे हैं। इस प्रकार भाँति-भाँतिके रंगीन कपड़े पहने और अकारण माला तथा चन्दन लगाये हुए आप कौन हैं ? सच बताइये। राजाओंमें सत्यकी ही शोभा होती है ॥ ४४ ॥

चैत्यकस्य गिरेः शृङ्गं भित्त्वा किमिह छद्मना।
अद्वारेण प्रविष्टाः स्थ निर्भया राजकिल्बिषात् ॥ ४५ ॥

'चैत्यक पर्वतके शिखरको तोड़कर राजाका अपराध करके भी उससे भयभीत न हो छद्मवेष धारण किये द्वारके बिना ही इस नगरमें जो आपलोग घुस आये हैं, इसका क्या कारण है ? ॥ ४५ ॥

वदध्वं वाचि वीर्यं च ब्राह्मणस्य विशेषतः।
कर्म चैतद् विलिङ्गस्थं किं वोऽद्य प्रसमीक्षितम् ॥ ४६ ॥

'बताइये, ब्राह्मणके तो प्रायः वचनमें ही वीरता होती है, उसकी क्रियामें नहीं। आपलोगोंने जो यह पर्वतशिखर तोड़नेका काम किया है, यह आपके वर्ण तथा वेषके सर्वथा विपरीत है, बताइये आपने आज क्या सोच रक्खा है ?॥४६॥

एवं च मामुपास्थाय कस्माच्च विधिनार्हणाम्।
प्रतीतां नानुगृह्णीत कार्यं किं वास्मदागमे ॥ ४७ ॥

'इस प्रकार मेरे यहाँ उपस्थित हो मेरेद्वारा विधिपूर्वक अर्पित की हुई इस पूजाको आपलोग ग्रहण क्यों नहीं करते हैं ? फिर मेरे यहाँ आनेका प्रयोजन ही क्या है ?' ॥४७॥

एवमुक्ते ततः कृष्णः प्रत्युवाच महामनाः।
स्निग्धगम्भीरया वाचा वाक्यं वाक्यविशारदः॥ ४८ ॥

जरासंधके ऐसा कहनेपर बोलनेमें चतुर महामना श्रीकृष्ण स्निग्ध एवं गम्भीर वाणीमें इस प्रकार बोले ॥४८॥

श्रीकृष्ण उवाच

स्नातकान् ब्राह्मणान् राजन् विद्ध्यस्मांस्त्वं नराधिप।
स्नातकव्रतिनो राजन् ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ॥ ४९ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! तुम हमें (वेषके अनुसार) स्नातक ब्राह्मण समझ सकते हो। वैसे तो स्नातक व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णोंके लोग होते हैं ॥ ४९ ॥

विशेषनियमाश्चैषामविशेषाश्च सन्त्युत।
विशेषवांश्च सततं क्षत्रियः श्रियमृच्छति ॥ ५० ॥

इन स्नातकोंमें कुछ विशेष नियमका पालन करनेवाले होते हैं और कुछ साधारण। विशेष नियमका पालन करनेवाला क्षत्रिय सदा लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

पुष्पवत्सु ध्रुवा श्रीश्च पुष्पवन्तस्ततो वयम्।
क्षत्रियो बाहुवीर्यस्तु न तथा वाक्यवीर्यवान्।
अप्रगल्भं वचस्तस्य तस्माद् बार्हद्रथेरितम् ॥ ५१ ॥

जो पुष्प धारण करनेवाले हैं, उनमें लक्ष्मीका निवास ध्रुव है, इसीलिये हमलोग पुष्पमालाधारी हैं। क्षत्रियका बल और पराक्रम उसकी भुजाओंमें होता है, वह बोलनेमें वैसा वीर नहीं होता। बृहद्रथनन्दन ! इसीलिये क्षत्रियका वचन धृष्टतारहित (विनययुक्त) बताया गया है ॥ ५१ ॥

स्ववीर्यं क्षत्रियाणां तु बाह्वोर्धाता न्यवेशयत्।
तद् दिदृक्षसि चेद् राजन् द्रष्टास्यद्य न संशयः॥ ५२ ॥

विधाताने क्षत्रियोंका अपना बल उनकी भुजाओंमें ही भर दिया है। राजन् ! यदि आज उसे देखना चाहते हो, तो निश्चय ही देख लोगे ॥ ५२ ॥

अद्वारेण रिपोर्गेहं द्वारेण सुहृदो गृहान्।
प्रविशन्ति नरा धीरा द्वाराण्येतानि धर्मतः ॥ ५३ ॥

धीर मनुष्य शत्रुके घरमें बिना दरवाजेके और मित्रके घरमें दरवाजेसे जाते हैं। शत्रु और मित्रके लिये ये धर्मतः द्वार बतलाये गये हैं ॥ ५३ ॥

कार्यवन्तो गृहानेत्य शत्रुतो नार्हणां वयम्।
प्रतिगृह्णीम तद् विद्धि एतन्नः शाश्वतं व्रतम् ॥ ५४ ॥

हम अपने कार्यसे तुम्हारे घर आये हैं; अतः शत्रुसे पूजा नहीं ग्रहण कर सकते। इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो। यह हमारा सनातन व्रत है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि कृष्णजरासंधसंवादे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें श्रीकृष्णजरासंधसंवादविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२१॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ५७ श्लोक हैं)

द्वाविंशोऽध्यायः

जरासंध और श्रीकृष्णका संवाद तथा जरासंधकी युद्धके लिये तैयारी एवं जरासंधका श्रीकृष्णके साथ वैर होनेके कारणका वर्णन

जरासंध उवाच

न स्मरामि कदा वैरं कृतं युष्माभिरित्युत।
चिन्तयंश्च न पश्यामि भवतां प्रति वैकृतम् ॥ १ ॥

जरासंध बोला—ब्राह्मणो ! मुझे याद नहीं आता कि कब मैंने आपलोगोंके साथ वैर किया है ? बहुत सोचनेपर भी मुझे आपके प्रति अपने द्वारा किया हुआ अपराध नहीं दिखायी देता ॥ १ ॥

वैकृते चासति कथं मन्यध्वं मामनागसम्।
अरिं वै ब्रूत हे विप्राः सतां समय एष हि ॥ २ ॥

विप्रगण ! जब मुझसे अपराध ही नहीं हुआ है, तब मुझ निरपराधको आपलोग शत्रु कैसे मान रहे हैं ? यह बताइये। क्या यही साधु पुरुषोंका बर्ताव है ? ॥ २ ॥

अथ धर्मोपघाताद्धि मनः समुपतप्यते।
योऽनागसि प्रसजति क्षत्रियो हि न संशयः ॥ ३ ॥
अतोऽन्यथा चरँल्लोके धर्मज्ञः सन् महारथः।
वृजिनां गतिमाप्नोति श्रेयसोऽप्युपहन्ति च ॥ ४ ॥

किसीके धर्म (और अर्थ) में बाधा डालनेसे अवश्य ही मनको बड़ा संताप होता है। जो धर्मज्ञ महारथी क्षत्रिय लोकमें धर्मके विपरीत आचरण करता हुआ किसी निरपराध व्यक्तिपर दूसरोंके धन और धर्मके नाशका दोष लगाता है, वह कष्टमयी गतिको प्राप्त होता है और अपनेको कल्याणसे भी वञ्चित कर लेता है; इसमें संशय नहीं है ॥ ३-४ ॥

त्रैलोक्ये क्षत्रधर्मो हि श्रेयान् वै साधुचारिणाम्।
नान्यं धर्मं प्रशंसन्ति ये च धर्मविदो जनाः ॥ ५ ॥

सत्कर्म करनेवाले क्षत्रियोंके लिये तीनों लोकोंमें क्षत्रिय-धर्म ही श्रेष्ठ है। धर्मज्ञ पुरुष क्षत्रियके लिये अन्य धर्मकी प्रशंसा नहीं करते ॥ ५ ॥

तस्य मेऽद्य स्थितस्येह स्वधर्मे नियतात्मनः।
अनागसं प्रजानां च प्रमादादिव जल्पथ ॥ ६ ॥

मैं अपने मनको वशमें रखकर सदा स्वधर्म (क्षत्रिय-धर्म) में स्थित रहता हूँ। प्रजाओंका भी कोई अपराध नहीं करता, ऐसी दशामें भी आपलोग प्रमादसे ही मुझे शत्रु या अपराधी बता रहे हैं ॥ ६ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

कुलकार्यं महाबाहो कश्चिदेकः कुलोद्वहः।
वहते यस्तन्नियोगाद् वयमभ्युद्यतास्त्वयि ॥ ७ ॥

श्रीकृष्णने कहा—महाबाहो ! समूचे कुलमें कोई एक ही पुरुष कुलका भार सँभालता है। उस कुलके सभी लोगोंकी रक्षा आदिका कार्य सम्पन्न करता है। जो वैसे महापुरुष हैं, उन्हींकी आज्ञासे हमलोग आज तुम्हें दण्ड देनेको उद्यत हुए हैं ॥ ७ ॥

त्वया चोपहृता राजन् क्षत्रिया लोकवासिनः।
तदागः क्रूरमुत्पाद्य मन्यसे किमनागसम् ॥ ८ ॥

राजन् ! तुमने भूलोकनिवासी क्षत्रियोंको कैद कर लिया है। ऐसे क्रूर अपराधका आयोजन करके भी तुम अपनेको निरपराध कैसे मानते हो ? ॥ ८ ॥

राजा राज्ञः कथं साधून् हिंस्यान्नृपतिसत्तम।
तद् राज्ञः संनिगृह्य त्वं रुद्रायोपजिहीर्षसि ॥ ९ ॥

नृपश्रेष्ठ ! एक राजा दूसरे श्रेष्ठ राजाओंकी हत्या कैसे कर सकता है ? तुम राजाओंको कैद करके उन्हें रुद्रदेवताकी भेंट चढ़ाना चाहते हो ? ॥ ९ ॥

अस्मांस्तदेनो गच्छेद्धि कृतं बार्हद्रथ त्वया।
वयं हि शक्ता धर्मस्य रक्षणे धर्मचारिणः ॥ १० ॥

बृहद्रथकुमार ! तुम्हारे द्वारा किया हुआ यह पाप हम सब लोगोंपर लागू होगा; क्योंकि हम धर्मकी रक्षा करनेमें समर्थ और धर्मका पालन करनेवाले हैं ॥ १० ॥

मनुष्याणां समालम्भो न च दृष्टः कदाचन।
स कथं मानुषैर्देवं यष्टुमिच्छसि शंकरम् ॥ ११ ॥

किसी देवताकी पूजाके लिये मनुष्योंका वध कभी नहीं देखा गया। फिर तुम कल्याणकारी देवता भगवान् शिवकी पूजा मनुष्योंकी हिंसाद्वारा कैसे करना चाहते हो ? ॥ ११ ॥

सवर्णो हि सवर्णानां पशुसंज्ञां करिष्यसि।
कोऽन्य एवं यथा हि त्वं जरासंध वृथामतिः ॥ १२ ॥

जरासंध ! तुम्हारी बुद्धि मारी गयी है, तुम भी उसी वर्णके हो, जिस वर्णके वे राजालोग हैं। क्या तुम अपने ही वर्णके लोगोंको पशुनाम देकर उनकी हत्या करोगे ? तुम्हारे-जैसा क्रूर दूसरा कौन है ? ॥ १२ ॥

यस्यां यस्यामवस्थायां यद् यत् कर्म करोति यः।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत् फलं समवाप्नुयात् ॥ १३ ॥

जो जिस-जिस अवस्थामें जो-जो कर्म करता है, वह उसी-उसी अवस्थामें उसके फलको प्राप्त करता है ॥ १३ ॥

ते त्वां ज्ञातिक्षयकरं वयमार्तानुसारिणः।
ज्ञातिवृद्धिनिमित्तार्थं विनिहन्तुमिहागताः ॥ १४ ॥

तुम अपने ही जाति-भाइयोंके हत्यारे हो और हमलोग संकटमें पड़े हुए दीन-दुखियोंकी रक्षा करनेवाले हैं; अतः सजातीय बन्धुओंकी वृद्धिके उद्देश्यसे हम तुम्हारा वध करनेके लिये यहाँ आये हैं ॥ १४ ॥

नास्ति लोके पुमानन्यः क्षत्रियेष्विति चैव तत्।
मन्यसे स च ते राजन् सुमहान् बुद्धिविप्लवः ॥ १५ ॥

राजन् ! तुम जो यह मान बैठे हो कि इस जगत्के क्षत्रियोंमें मेरे समान दूसरा कोई नहीं है, यह तुम्हारी बुद्धिका बहुत बड़ा भ्रम है ॥ १५ ॥

को हि जानन्नभिजनमात्मवान् क्षत्रियो नृप।
नाविशेत् स्वर्गमतुलं रणानन्तरमव्ययम् ॥ १६ ॥

नरेश्वर ! कौन ऐसा स्वाभिमानी क्षत्रिय होगा जो अपने अभिजनको (जातीय बन्धुओंकी रक्षा परम धर्म है, इस बातको) जानते हुए भी युद्ध करके अनुपम एवं अक्षय स्वर्गलोकमें जाना नहीं चाहेगा ? ॥ १६ ॥

स्वर्गं ह्येव समास्थाय रणयज्ञेषु दीक्षिताः।
जयन्ति क्षत्रिया लोकांस्तद् विद्धि मनुजर्षभ ॥ १७ ॥

नरश्रेष्ठ ! स्वर्गप्राप्तिका ही उद्देश्य रखकर रणयज्ञकी दीक्षा लेनेवाले क्षत्रिय अपने अभीष्ट लोकोंपर विजय पाते हैं, यह बात तुम्हें भलीभाँति जाननी चाहिये ॥ १७ ॥

स्वर्गयोनिर्महद् ब्रह्म स्वर्गयोनिर्महद् यशः।
स्वर्गयोनिस्तपो युद्धे मृत्युः सोऽव्यभिचारवान् ॥ १८ ॥

वेदाध्ययन स्वर्गप्राप्तिका कारण है, परोपकाररूप महान् यश भी स्वर्गका हेतु है, तपस्याको भी स्वर्गलोकका साधन बताया गया है; परंतु क्षत्रियके लिये इन तीनोंकी अपेक्षा युद्धमें मृत्युका वरण करना ही स्वर्गप्राप्तिका अमोघ साधन है। १८।

एष ह्यैन्द्रो वैजयन्तो गुणैर्नित्यं समाहितः।
येनासुरान् पराजित्य जगत् पाति शतक्रतुः ॥ १९ ॥

क्षत्रियका यह युद्धमें मरण इन्द्रका वैजयन्त नामक प्रासाद (राजमहल) है। यह सदा सभी गुणोंसे परिपूर्ण है। इसी युद्धके द्वारा शतक्रतु इन्द्र असुरोंको परास्त करके सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करते हैं ॥ १९ ॥

स्वर्गमार्गाय कस्य स्याद् विग्रहो वै यथा तव।
मागधैर्विपुलैः सैन्यैर्बाहुल्यबलदर्पितः ॥ २० ॥
मावमंस्थाः परान् राजन्नस्ति वीर्यं नरे नरे।
समं तेजस्त्वया चैव विशिष्टं वा नरेश्वर ॥ २१ ॥

हमारे साथ जो तुम्हारा युद्ध होनेवाला है, वह तुम्हारे लिये जैसा स्वर्गलोककी प्राप्तिका साधक हो सकता है, वैसा युद्ध और किसको सुलभ है ? मेरे पास बहुत बड़ी सेना एवं शक्ति है, इस घमंडमें आकर मगधदेशकी अगणित सेनाओंद्वारा तुम दूसरोंका अपमान न करो । राजन् ! प्रत्येक मनुष्यमें बल एवं पराक्रम होता है। महाराज ! किसीमें तुम्हारे समान तेज है तो किसीमें तुमसे अधिक भी है ॥ २०-२१ ॥

यावदेतदसम्बुद्धं तावदेव भवेत् तव।
विषह्यमेतदस्माकमतो राजन् ब्रवीमि ते ॥ २२ ॥

भूपाल ! जबतक तुम इस बातको नहीं जानते थे, तभीतक तुम्हारा घमंड बढ़ रहा था। अब तुम्हारा यह अभिमान हमलोगोंके लिये असह्य हो उठा है, इसलिये मैं तुम्हें यह सलाह देता हूँ ॥ २२ ॥

जहि त्वं सदृशेष्वेव मानं दर्पं च मागध।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥ २३ ॥

मगधराज ! तुम अपने समान वीरोंके साथ अभिमान और घमंड करना छोड़ दो। इस घमंडको रखकर अपने पुत्र, मन्त्री और सेनाके साथ यमलोकमें जानेकी तैयारी न करो ॥

दम्भोद्भवः कार्तवीर्य उत्तरश्च बृहद्रथः।
श्रेयसो ह्यवमन्येह विनेशुः सबला नृपाः ॥ २४ ॥

दम्भोद्भव, कार्तवीर्य अर्जुन, उत्तर तथा बृहद्रथ—ये सभी नरेश अपनेसे बड़ोंका अपमान करके अपनी सेनासहित नष्ट हो गये ॥ २४ ॥

युयुक्षमाणास्त्वत्तो हि न वयं ब्राह्मणा ध्रुवम्।
शौरिरस्मि हृषीकेशो नृवीरौ पाण्डवाविमौ।
अनयोर्मातुलेयं च कृष्णं मां विद्धि ते रिपुम् ॥ २५ ॥

तुमसे युद्धकी इच्छा रखनेवाले हमलोग अवश्य ही ब्राह्मण नहीं हैं। मैं वसुदेवपुत्र हृषीकेश हूँ और ये दोनों पाण्डुपुत्र वीरवर भीमसेन और अर्जुन हैं। मैं इन दोनोंके मामाका पुत्र और तुम्हारा प्रसिद्ध शत्रु श्रीकृष्ण हूँ। मुझे अच्छी तरह पहचान लो ॥ २५ ॥

त्वामाह्वयामहे राजन् स्थिरो युध्यस्व मागध ।
मुञ्च वा नृपतीन् सर्वान् गच्छ वा त्वं यमक्षयम् ।२६।

मगधनरेश ! हम तुम्हें युद्धके लिये ललकारते हैं। तुम डटकर युद्ध करो । तुम या तो समस्त राजाओंको छोड़ दो अथवा यमलोककी राह लो ॥ २६ ॥

जरासंध उवाच

नाजितान् वै नरपतीनहमादद्मि कांश्चन ।
अजितः पर्यवस्थाता कोऽत्र यो न मया जितः ॥ २७ ॥

जरासंधने कहा—श्रीकृष्ण ! मैं युद्धमें जीते बिना किन्हीं राजाओंको कैद करके यहाँ नहीं लाता हूँ। यहाँ कौन ऐसा शत्रु राजा है, जो दूसरोंसे अजेय होनेपर भी मेरेद्वारा जीत न लिया गया हो ?॥ २७ ॥

क्षत्रियस्यैतदेवाहुर्धर्म्यं कृष्णोपजीवनम् ।
विक्रम्य वशमानीय कामतो यत् समाचरेत् ॥ २८ ॥

श्रीकृष्ण ! क्षत्रियके लिये तो यह धर्मानुकूल जीविका बतायी गयी है कि वह पराक्रम करके शत्रुको अपने वशमें लाकर फिर उसके साथ मनमाना बर्ताव करे ॥ २८ ॥

देवतार्थमुपाहृत्य राज्ञः कृष्ण कथं भयात् ।
अहमद्य विमुच्येयं क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् ॥ २९ ॥

श्रीकृष्ण ! मैं क्षत्रियके व्रतको सदा याद रखता हुआ देवताको बलि देनेके लिये उपहारके रूपमें लाये हुए इन राजाओंको आज तुम्हारे भयसे कैसे छोड़ सकता हूँ ? ॥ २९ ॥

सैन्यं सैन्येन व्यूढेन एक एकेन वा पुनः ।
द्वाभ्यां त्रिभिर्वा योत्स्येऽहं युगपत् पृथगेव वा ॥३०॥

तुम्हारी सेना मेरी व्यूहरचनायुक्त सेनाके साथ लड़ ले अथवा तुममेंसे कोई एक मुझ अकेलेके साथ युद्ध करे अथवा मैं अकेला ही तुममेंसे दो या तीनोंके साथ बारी-बारीसे या एक ही साथ युद्ध कर सकता हूँ ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा जरासंधः सहदेवाभिषेचनम् ।
आज्ञापयत् तदा राजा युयुत्सुर्भीमकर्मभिः ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर भयानक कर्म करनेवाले उन तीनों वीरोंके साथ युद्धकी इच्छा रखकर राजा जरासंधने अपने पुत्र सहदेवके राज्याभिषेककी आज्ञा दे दी ॥ ३१ ॥

स तु सेनापतिं राजा सस्मार भरतर्षभ ।
कौशिकं चित्रसेनं च तस्मिन् युद्ध उपस्थिते ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर मगधनरेशने वह युद्ध उपस्थित होनेपर अपने सेनापति कौशिक और चित्रसेनका स्मरण किया (जो उस समय जीवित नहीं थे) ॥ ३२ ॥

ययोस्ते नामनी राजन् हंसेति डिम्भकेति च ।
पूर्वं संकथितं पुम्भिर्नृलोके लोकसत्कृते ॥ ३३ ॥

राजन् ! ये वे ही थे, जिनके नाम पहले तुमसे हंस और डिम्भक बताये हैं । मनुष्यलोकके सभी पुरुष उनके प्रति बड़े आदरका भाव रखते थे ॥ ३३ ॥

तं तु राजन् विभुः शौरी राजानं बलिनां वरम् ।
स्मृत्वा पुरुषशार्दूलः शार्दूलसमविक्रमम् ॥ ३४ ॥
सत्यसंधो जरासंधं भुवि भीमपराक्रमम् ।
भागमन्यस्य निर्दिष्टमवध्यं मधुभिर्मृधे ॥ ३५ ॥
नात्मनाऽऽत्मवतां मुख्य इयेष मधुसूदनः ।
ब्राह्मीमाज्ञां पुरस्कृत्य हन्तुं हलधरानुजः ॥ ३६ ॥

जनमेजय ! मनस्वी पुरुषोंमें सर्वश्रेष्ठ, सत्यप्रतिज्ञ, मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी, वसुदेवपुत्र एवं बलरामके छोटे भाई भगवान् मधुसूदनने दिव्य दृष्टिसे स्मरण करके यह जान लिया था कि सिंहके समान पराक्रमी, बलवानोंमें श्रेष्ठ और भयानक पुरुषार्थ प्रकट करनेवाला यह राजा जरासंध युद्धमें दूसरे वीरका भाग (वध्य) नियत किया गया है । यदुवंशियोंमेंसे किसीके हाथसे उसकी मृत्यु नहीं हो सकती, अतः ब्रह्माजीके आदेशकी रक्षा करनेके लिये उन्होंने स्वयं उसे मारनेकी इच्छा नहीं की ॥ ३४—३६ ॥

(जनमेजय उवाच

किमर्थं वैरिणावास्तामुभौ तौ कृष्णमागधौ ।
कथं च निर्जितः संख्ये जरासंधेन माधवः ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! भगवान् श्रीकृष्ण और मगधराज जरासंध दोनों एक-दूसरेके शत्रु क्यों हो गये थे ? तथा जरासंधने यदुकुलतिलक श्रीकृष्णको युद्धमें कैसे परास्त किया ? ॥

कश्च कंसो मागधस्य यस्य हेतोः स वैरवान् ।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं वैशम्पायन तत्त्वतः ॥

कंस मगधराज जरासंधका कौन था, जिसके लिये उसने भगवान्से वैर ठान लिया । वैशम्पायनजी ! ये सब बातें मुझे यथार्थरूपसे बताइये ॥

वैशम्पायन उवाच

यादवानामन्ववाये वसुदेवो महामतिः ।
उदपद्यत वार्ष्णेयो ह्युग्रसेनस्य मन्त्रभृत् ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! यदुकुलमें परम बुद्धिमान् वसुदेव उत्पन्न हुए, जो वृष्णिवंशके राजकुमार तथा राजा उग्रसेनके विश्वसनीय मन्त्री थे ॥

उग्रसेनस्य कंसस्तु बभूव बलवान् सुतः ।
ज्येष्ठो बहूनां कौरव्य सर्वशस्त्रविशारदः ॥

उग्रसेनका पुत्र बलवान् कंस हुआ, जो उनके अनेक पुत्रोंमें सबसे बड़ा था । कुरुनन्दन ! कंसने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी विद्यामें निपुणता प्राप्त की थी ॥

जरासंधस्य दुहिता तस्य भार्यातिविश्रुता ।
राज्यशुल्केन दत्ता सा जरासंधेन धीमता ॥

जरासंधकी पुत्री उसकी सुप्रसिद्ध पत्नी थी, जिसे बुद्धिमान् जरासंधने इस शर्तके साथ दिया था कि इसके पतिको तत्काल राजाके पदपर अभिषिक्त किया जाय ॥

तदर्थमुग्रसेनस्य मथुरायां सुतस्तदा ।
अभिषिक्तस्तदामात्यैः स वै तीव्रपराक्रमः ॥

इस शुल्ककी पूर्तिके लिये उग्रसेनके उस दुःसह पराक्रमी पुत्रको मन्त्रियोंने मथुराके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥

ऐश्वर्यबलमत्तस्तु स तदा बलमोहितः ।
निगृह्य पितरं भुङ्क्ते तद् राज्यं मन्त्रिभिः सह ॥

तब ऐश्वर्यके बलसे उन्मत्त और शारीरिक शक्तिसे मोहित हो कंस अपने पिताको कैद करके मन्त्रियोंके साथ उनका राज्य भोगने लगा ॥

वसुदेवस्य तत् कृत्यं न शृणोति स मन्दधीः ।
स तेन सह तद् राज्यं धर्मतः पर्यपालयत् ॥

मन्दबुद्धि कंस वसुदेवजीके कर्तव्य-विषयक उपदेशको नहीं सुनता था, तो भी उसके साथ रहकर वसुदेवजी मथुराके राज्यका धर्मपूर्वक पालन करने लगे ॥

प्रीतिमान् स तु दैत्येन्द्रो वसुदेवस्य देवकीम् ।
उवाह भार्यां स तदा दुहिता देवकस्य या ॥

दैत्यराज कंसने अत्यन्त प्रसन्न होकर वसुदेवजीके साथ देवकीका ब्याह कर दिया, जो उग्रसेनके भाई देवककी पुत्री थी ॥

तस्यामुद्वाह्यमानायां रथेन जनमेजय ।
उपारुरोह वार्ष्णेयं कंसो भूमिपतिस्तदा ॥

जनमेजय ! जब रथपर बैठकर देवकी विदा होने लगी, तब राजा कंस भी उसे पहुँचानेके लिये वृष्णिवंशविभूषण वसुदेवजीके पास उस रथपर जा बैठा ॥

ततोऽन्तरिक्षे वागासीद् देवदूतस्य कस्यचित् ।
वसुदेवश्च शुश्राव तां वाचं पार्थिवश्च सः ॥

इसी समय आकाशमें किसी देवदूतकी वाणी स्पष्ट सुनायी देने लगी। वसुदेवजीने तो उसे सुना ही, राजा कंसने भी सुना ॥

यामेतां वहमानोऽद्य कंसोद्वहसि देवकीम् ।
अस्या यश्चाष्टमो गर्भः स ते मृत्युर्भविष्यति ॥

देवदूत कह रहा था—'कंस ! आज तू जिस देवकीको रथपर बिठाकर लिये जा रहा है, उसका आठवाँ गर्भ तेरी मृत्युका कारण होगा' ॥

सोऽवतीर्य ततो राजा खड्गमुद्धृत्य निर्मलम् ।
इयेष तस्या मूर्धानं छेत्तुं परमदुर्मतिः ॥

यह आकाशवाणी सुनते ही अत्यन्त खोटी बुद्धिवाले राजा कंसने म्यानसे चमचमाती हुई तलवार खींच ली और देवकीका सिर काट लेनेका विचार किया ॥

स सान्त्वयंस्तदा कंसं हसन् क्रोधवशानुगम् ।
राजन्ननुनयामास वसुदेवो महामतिः ॥

राजन् ! उस समय परम बुद्धिमान् वसुदेवजी हँसते हुए क्रोधके वशीभूत हुए कंसको सान्त्वना दे उसकी अनुनय-विनय करने लगे— ॥

अहिंस्यां प्रमदामाहुः सर्वधर्मेषु पार्थिव ।
अकस्मादबलां नारीं हन्तासीमामनागसीम् ॥

'पृथ्वीपते ! प्रायः सभी धर्मोंमें नारीको अवध्य बताया गया है। क्या तुम इस निर्बल एवं निरपराध नारीको सहसा मार डालोगे ? ॥

यच्च तेऽत्र भयं राजन् शक्यते बाधितुं त्वया ।
इयं च शक्या पालयितुं समयश्चैव रक्षितुम् ॥

'राजन् ! इससे जो तुम्हें भय प्राप्त होनेवाला है, उसका तो तुम निवारण कर सकते हो। तुम्हें इसकी रक्षा करनी चाहिये और मुझे इसकी प्राणरक्षाके लिये जो शर्त निश्चित हो, उसका पालन करना चाहिये ॥

अस्यास्त्वमष्टमं गर्भं जातमात्रं महीपते ।
विध्वंसय तदा प्राप्तमेवं परिहृतं भवेत् ॥

'राजन् ! इसके आठवें गर्भको तुम पैदा होते ही नष्ट कर देना। इस प्रकार तुमपर आयी हुई विपत्ति टल सकती है' ॥

एवं स राजा कथितो वसुदेवेन भारत ।
तस्य तद् वचनं चक्रे शूरसेनाधिपस्तदा ॥
ततस्तस्यां सम्बभूवुः कुमाराः सूर्यवर्चसः ।
जाताञ्जातांस्तु तान् सर्वाञ्जघान मथुरेश्वरः ॥

भरतनन्दन ! वसुदेवजीके ऐसा कहनेपर शूरसेनदेशके राजा कंसने उनकी बात मान ली। तदनन्तर देवकीके गर्भसे सूर्यके समान तेजस्वी अनेक कुमार क्रमशः उत्पन्न हुए। मथुरानरेश कंसने जन्म लेते ही उन सबको मार डालता था ॥

अथ तस्यां समभवद् बलदेवस्तु सप्तमः ।
याम्यया मायया तं तु यमो राजा विशाम्पते ॥
देवक्या गर्भमतुलं रोहिण्या जठरेऽक्षिपत् ।
आकृष्य कर्षणात् सम्यक् संकर्षण इति स्मृतः ॥
बलश्रेष्ठतया तस्य बलदेव इति स्मृतः ।

तदनन्तर देवकीके उदरमें सातवें गर्भके रूपमें बलदेवका आगमन हुआ। राजन् ! यमराजने यमसम्बन्धिनी मायाके द्वारा उस अनुपम गर्भको देवकीके उदरसे निकालकर रोहिणी-की कुक्षिमें स्थापित कर दिया। आकर्षण होनेके कारण उस बालकका नाम संकर्षण हुआ। बलमें प्रधान होनेसे उसका नाम बलदेव हुआ ॥

पुनस्तस्यां समभवदष्टमो मधुसूदनः ॥
तस्य गर्भस्य रक्षां तु चक्रे सोऽभ्यधिकं नृपः ।

तत्पश्चात् देवकीके उदरमें आठवें गर्भके रूपमें साक्षात् भगवान् मधुसूदनका आविर्भाव हुआ। राजा कंसने बड़े यत्नसे उस गर्भकी रक्षा की ॥

ततः काले रक्षणार्थं वसुदेवस्य सात्वतः ॥
उग्रः प्रयुक्तः कंसेन सचिवः क्रूरकर्मकृत् ।
विमूढेषु प्रभावेन बालस्योत्तीर्य तत्र वै ॥
उपागम्य स घोषे तु जगाम स महाद्युतिः ।
जातमात्रं वासुदेवमथाकृष्य पिता ततः ॥
उपजह्रे परिक्रीतां सुतां गोपस्य कस्यचित् ।

तदनन्तर प्रसवकाल आनेपर सात्वतवंशी वसुदेवपर कड़ी नजर रखनेके लिये कंसने उग्र स्वभाववाले अपने क्रूरकर्मा मन्त्रीको नियुक्त किया। परंतु बालस्वरूप श्रीकृष्णके प्रभावसे रक्षकोंके निद्रासे मोहित हो जानेपर वहाँसे उठकर महातेजस्वी वसुदेवजी बालकके साथ व्रजमें चले गये। नवजात वासुदेवको मथुरासे हटाकर पिता वसुदेवने उसके बदलेमें किसी गोपकी पुत्रीको लाकर कंसको भेंट कर दिया ॥

मुमुक्षमाणस्तं शब्दं देवदूतस्य पार्थिवः ॥
जघान कंसस्तां कन्यां प्रहसन्ती जगाम सा ।
आर्येति वाशती शब्दं तस्मादार्येति कीर्तिता ॥

देवदूतके कहे हुए पूर्वोक्त शब्दका स्मरण करके उसके भयसे छूटनेकी इच्छा रखनेवाले कंसने उस कन्याको भी पृथ्वीपर दे मारा। परंतु वह कन्या उसके हाथसे छूटकर हँसती और आर्य शब्दका उच्चारण करती हुई वहाँसे चली गयी। इसीलिये उसका नाम 'आर्या' हुआ ॥

एवं तं वञ्चयित्वा च राजानं स महामतिः ।
वासुदेवं महात्मानं वर्धयामास गोकुले ॥

परम बुद्धिमान् वसुदेवने इस प्रकार राजा कंसको चकमा देकर गोकुलमें अपने महात्मा पुत्र वासुदेवका पालन कराया ॥

वासुदेवोऽपि गोपेषु ववृधेऽब्जमिवाम्भसि ।
अज्ञायमानः कंसेन गूढोऽग्निरिव दारुषु ॥

वासुदेव भी पानीमें कमलकी भाँति गोपोंमें रहकर बड़े हुए। काठमें छिपी हुई अग्निकी भाँति वे अज्ञातभावसे वहाँ रहने लगे। कंसको उनका पता न चला ॥

विप्रचक्रेऽथ तान् सर्वान् बलवान् मधुरेश्वरः ।
वर्धमानो महाबाहुस्तेजोबलसमन्वितः ॥

मथुरानरेश कंस उन सब गोपोंको बहुत सताया करता था। इधर महाबाहु श्रीकृष्ण बड़े होकर तेज और बलसे सम्पन्न हो गये ॥

ततस्ते क्लिश्यमानास्तु पुण्डरीकाक्षमच्युतम् ।
भयेन कामादपरे गणशः पर्यवारयन् ॥

राजाके सताये हुए गोपगण भय तथा कामनासे झुंड-के-झुंड एकत्र हो कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको घेरकर संगठित होने लगे ॥

स तु लब्ध्वा बलं राजन्नुग्रसेनस्य सम्मतः ।
वसुदेवात्मजः सर्वैर्भ्रातृभिः सहितः पुनः ॥
निर्जित्य युधि भोजेन्द्रं हत्वा कंसं महाबलः ।
अभ्यषिञ्चत् ततो राज्य उग्रसेनं विशाम्पते ॥

राजन्! इस प्रकार बलका संग्रह करके महाबली वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने उग्रसेनकी सम्मतिके अनुसार समस्त भाइयोंसहित भोजराज कंसको मारकर पुनः उग्रसेनको ही मथुराके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥

ततः श्रुत्वा जरासंधो माधवेन हतं युधि ।
शूरसेनाधिपं चक्रे कंसपुत्रं तदा नृपः ॥

राजन्! जरासंधने जब यह सुना कि श्रीकृष्णने कंसको युद्धमे मार डाला है, तब उसने कंसके पुत्रको शूरसेनदेशका राजा बनाया ॥

स सैन्यं महदुत्थाप्य वासुदेवं प्रसह्य च ।
अभ्यषिञ्चत् सुतं तत्र सुताया जनमेजय ॥

जनमेजय! उसने बड़ी भारी सेना लेकर आक्रमण किया और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको हराकर अपनी पुत्रीके पुत्रको वहाँ राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥

उग्रसेनं च वृष्णींश्च महाबलसमन्वितः ।
स तत्र विप्रकुरुते जरासंधः प्रतापवान् ॥
एतद् वैरं कौरवेय जरासंधस्य माधवे ।

जनमेजय! प्रतापी जरासंध महान् बल और सैनिक-शक्तिसे सम्पन्न था। वह उग्रसेन तथा वृष्णिवंशको सदा क्लेश पहुँचाया करता था। कुरुनन्दन! जरासंध और श्रीकृष्णके वैरका यही वृत्तान्त है ॥

आशासितार्थे राजेन्द्र संरुरोध विनिर्जितान् ।
पार्थिवैस्तैर्नृपतिभिर्यक्ष्यमाणः समृद्धिमान् ॥
देवश्रेष्ठं महादेवं कृत्तिवासं त्रियम्बकम् ।
एतत् सर्वं यथा वृत्तं कथितं भरतर्षभ ॥
यथा तु स हतो राजा भीमसेनेन तच्छृणु ।)

राजेन्द्र! समृद्धिशाली जरासंध कृत्तिवासा और त्र्यम्बक नामोंसे प्रसिद्ध देवश्रेष्ठ महादेवजीको भूमण्डलके राजाओंकी बलि देकर उनका यजन करना चाहता था और इसी मनोवाञ्छित

प्रयोजनकी सिद्धिके लिये उसने अपने जीते हुए समस्त राजाओंको कैदमें डाल रक्खा था। भरतश्रेष्ठ ! यह सब वृत्तान्त तुम्हें यथावत् बताया गया। अब जिस प्रकार भीमसेनने राजा जरासंधका वध किया, वह प्रसङ्ग सुनो ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि जरासंधयुद्धोद्योगे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें जरासंधका युद्धके लिये उद्योगविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३९ श्लोक मिलाकर कुल ७५ श्लोक हैं)

त्रयोविंशोऽध्यायः

जरासंधका भीमसेनके साथ युद्ध करनेका निश्चय, भीम और जरासंधका भयानक युद्ध और जरासंधकी थकावट

वैशम्पायन उवाच

ततस्तं निश्चितात्मानं युद्धाय यदुनन्दनः।
उवाच वाग्मी राजानं जरासंधमधोक्षजः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा जरासंधने अपने मनमें युद्धका निश्चय कर लिया है, यह देख बोलनेमें कुशल यदुनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने उससे कहा ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

त्रयाणां केन ते राजन् योद्धुमुत्सहते मनः।
अस्मदन्यतमेनेह सज्जीभवतु को युधि ॥ २ ॥

श्रीकृष्णने पूछा—राजन् ! हम तीनोंमेंसे किस एक व्यक्तिके साथ युद्ध करनेके लिये तुम्हारे मनमें उत्साह हो रहा है ? हममेंसे कौन तुम्हारे साथ युद्धके लिये तैयार हो ? ॥२॥

एवमुक्तः स नृपतिर्युद्धं वव्रे महाद्युतिः।
जरासंधस्ततो राजा भीमसेनेन मागधः ॥ ३ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर महातेजस्वी मगधनरेश राजा जरासंधने भीमसेनके साथ युद्ध करना स्वीकार किया ॥ ३ ॥

आदाय रोचनां माल्यं मङ्गल्यान्यपराणि च।
धारयन्नगदान् मुख्यान् निर्वृतीर्वेदनानि च।
उपतस्थे जरासंधं युयुत्सुं वै पुरोहितः ॥ ४ ॥

जरासंधको युद्ध करनेके लिये उत्सुक देख उसके पुरोहित गोरोचन, माला, अन्यान्य माङ्गलिक वस्तुएँ तथा उत्तम-उत्तम ओषधियाँ, जो पीड़ाके समय भी सुख देनेवाली और मूर्च्छाकालमें भी होश बनाये रखनेवाली थीं, लेकर उसके पास आये ॥ ४ ॥

कृतस्वस्त्ययनो राजा ब्राह्मणेन यशस्विना।
समनह्यज्जरासंधः क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ५ ॥

यशस्वी ब्राह्मणके द्वारा स्वस्तिवाचन सम्पन्न हो जानेपर जरासंध क्षत्रियधर्मका स्मरण करके युद्धके लिये कमर कसकर तैयार हो गया ॥ ५ ॥

अवमुच्य किरीटं स केशान् समनुगृह्य च।
उदतिष्ठज्जरासंधो वेलातिग इवार्णवः ॥ ६ ॥

जरासंधने किरीट उतारकर केशोंको कसकर बाँध लिया। तत्पश्चात् वह युद्धके लिये उठकर खड़ा हो गया; मानो महासागर अपनी मर्यादा—तटवर्तिनी भूमिको लाँघ जानेको उद्यत हो गया हो ॥ ६ ॥

उवाच मतिमान् राजा भीमं भीमपराक्रमः।
भीम योत्स्ये त्वया सार्धं श्रेयसा निर्जितं वरम् ॥ ७ ॥

उस समय भयानक पराक्रम करनेवाले बुद्धिमान् राजा जरासंधने भीमसेनसे कहा—'भीम ! आओ, मैं तुमसे युद्ध करूँगा; क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषसे लड़कर हारना भी अच्छा है' ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा जरासंधो भीमसेनमरिंदमः।
प्रत्युद्ययौ महातेजाः शक्रं बल इवासुरः ॥ ८ ॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी शत्रुदमन जरासंध भीमसेनकी ओर बढ़ा; मानो बल नामक असुर इन्द्रसे भिड़नेके लिये बढ़ा जा रहा हो ॥ ८ ॥

ततः सम्मन्त्र्य कृष्णेन कृतस्वस्त्ययनो बली।
भीमसेनो जरासंधमाससाद युयुत्सया ॥ ९ ॥

तदनन्तर बलवान् भीमसेन भी श्रीकृष्णसे सलाह लेकर स्वस्तिवाचनके अनन्तर युद्धकी इच्छासे जरासंधके पास आ धमके ॥ ९ ॥

ततस्तौ नरशार्दूलौ बाहुशस्त्रौ समीयतुः।
वीरौ परमसंहृष्टावन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ ॥ १० ॥

फिर तो मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी वे दोनों वीर अत्यन्त हर्ष और उत्साहमें भरकर एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे अपनी भुजाओंसे ही आयुधका काम लेते हुए परस्पर भिड़ गये ॥ १० ॥

करग्रहणपूर्वं तु कृत्वा पादाभिवन्दनम्।
कक्षैः कक्षां विधुन्वानावास्फोटं तत्र चक्रतुः ॥ ११ ॥

पहले उन दोनोंने हाथ मिलाये। फिर एक-दूसरेके चरणोंका अभिवन्दन किया। तत्पश्चात् भुजाओंके मूलभागके

संचालनसे वहाँ बँधे हुए बाजूबंदकी डोरको हिलाते हुए वे दोनों वीर वहीं ताल ठोंकने लगे ॥ ११ ॥

स्कन्धे दोर्भ्यां समाहत्य निहत्य च मुहुर्मुहुः ।
अङ्गमङ्गैः समाश्लिष्य पुनरास्फालनं विभो ॥ १२ ॥

राजन् ! फिर वे दोनों हाथोंसे एक-दूसरेके कंधेपर बार-बार चोट करते हुए अङ्ग-अङ्गसे भिड़कर आपसमें गुँथ गये तथा एक-दूसरेको बार-बार रगड़ने लगे ॥ १२ ॥

चित्रहस्तादिकं कृत्वा कक्षाबन्धं च चक्रतुः ।
गलगण्डाभिघातेन सस्फुलिङ्गेन चाशनिम् ॥ १३ ॥

वे कभी हाथोंको बड़े वेगसे सिकोड़ लेते, कभी फैला देते, कभी ऊपर-नीचे चलाते और कभी मुट्ठी बाँध लेते । इस प्रकार चित्रहस्त आदि दाँव दिखाकर उन दोनोंने कक्षा-बन्धका प्रयोग किया अर्थात् एक-दूसरेकी काख या कमरमें दोनों हाथ डालकर प्रतिद्वन्द्वीको बाँध लेनेकी चेष्टा की । फिर गलेमें और गालमें ऐसे-ऐसे हाथ मारने लगे कि आगकी चिनगारी-सी निकलने लगी और वज्रपातका-सा शब्द होने लगा ॥ १३ ॥

बाहुपाशादिकं कृत्वा पादाहतशिरावुभौ ।
उरोहस्तं ततश्चक्रे पूर्णकुम्भौ प्रयुज्य तौ ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् वे 'बाहुपाश' और 'चरणपाश' आदि दाँव-पेंचोंसे काम लेते हुए एक-दूसरेपर पैरोंसे ऐसा भीषण प्रहार करने लगे कि शरीरकी नस-नाड़ियाँतक पीड़ित हो उठीं । तदनन्तर दोनोंने दोनोंपर 'पूर्णकुम्भ' नामक दाँव लगाया (दोनों हाथोंकी अङ्गुलियोंको परस्पर गूँथकर उन हाथोंकी हथेलियोंसे शत्रुके सिरको दबाया) । इसके बाद 'उरोहस्त'का प्रयोग किया (छातीपर थप्पड़ मारना शुरू कर दिया) ॥ १४ ॥

करसम्पीडनं कृत्वा गर्जन्तौ वारणाविव ।
नर्दन्तौ मेघसंकाशौ बाहुप्रहरणावुभौ ॥ १५ ॥

फिर एक-दूसरेके हाथ दबाकर वे दोनों दो गजराजोंकी भाँति गर्जने लगे । दोनों ही भुजाओंसे प्रहार करते हुए मेघके समान गम्भीर स्वरसे सिंहनाद करने लगे ॥ १५ ॥

तलेनाहन्यमानौ तु अन्योन्यं कृतवीक्षणौ ।
सिंहाविव सुसंक्रुद्धावाकृष्याकृष्य युध्यताम् ॥ १६ ॥

थप्पड़ोंकी मार खाकर वे परस्पर घूर-घूरकर देखते और अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए दो सिंहोंके समान एक-दूसरेको खींच-खींचकर लड़ने लगे ॥ १६ ॥

अङ्गेनाङ्गं समापीड्य बाहुभ्यामुभयोरपि ।
आवृत्य बाहुभिश्चापि उदरं च प्रचक्रतुः ॥ १७ ॥

उस समय दोनों अपने अङ्गों और भुजाओंसे प्रतिद्वन्द्वीके शरीरको दबाकर शत्रुकी पीठमें अपने गलेकी हँसली भिड़ाकर उसके पेटको दोनों बाँहोंसे कस लेते और उठाकर दूर फेंकते थे ॥

उभौ कट्यां सुपार्श्वे तु तक्षवन्तौ च शिक्षितौ ।
अधोहस्तं स्वकण्ठे तूदरस्योरसि चाक्षिपत् ॥ १८ ॥

इसी प्रकार कमरमें और बगलमें भी हाथ लगाकर दोनों प्रतिद्वन्द्वीको पछाड़नेकी चेष्टा करते थे । अपने शरीरको सिकोड़कर शत्रुकी पकड़से छूट जानेकी कला दोनों जानते थे । दोनों ही मल्लयुद्धकी शिक्षामें प्रवीण थे । वे उदरके नीचे हाथ लगाकर दोनों हाथोंसे पेटको लपेट लेते और विपक्षीको कण्ठ एवं छातीतक ऊँचे उठाकर धरतीपर दे मारते थे ॥१८॥



सर्वातिक्रान्तमर्यादं पृष्ठभङ्गं च चक्रतुः ।
सम्पूर्णमूर्च्छां बाहुभ्यां पूर्णकुम्भं प्रचक्रतुः ॥ १९ ॥

फिर वे सारी मर्यादाओंसे ऊँचे उठे हुए 'पृष्ठभङ्ग' नामक दाँव-पेंचसे काम लेने लगे (अर्थात् एक-दूसरेकी पीठको धरतीसे लगा देनेकी चेष्टामें लग गये) । दोनों भुजाओंसे सम्पूर्ण मूर्च्छा (उदर आदिमें आघात करके मूर्च्छित करनेका प्रयत्न) तथा पूर्वोक्त पूर्णकुम्भका प्रयोग करने लगे ॥१९॥

तृणपीडं यथाकामं पूर्णयोगं समुष्टिकम् ।
एवमादीनि युद्धानि प्रकुर्वन्तौ परस्परम् ॥ २० ॥

तदनन्तर वे अपनी इच्छाके अनुसार 'तृणपीड' (रस्सी बनानेके लिये बटे जानेवाले तिनकोंकी भाँति हाथ-पैर आदिको ऐंठना) तथा मुष्टिकाघातसहित पूर्णयोग (मुक्केको एक अङ्गमें मारनेकी चेष्टा दिखाकर दूसरे अङ्गमें आघात करना) आदि युद्धके दाँव-पेंचोंका प्रयोग एक-दूसरेपर करने लगे ॥ २० ॥

तयोर्युद्धं ततो द्रष्टुं समेताः पुरवासिनः ।
ब्राह्मणा वणिजश्चैव क्षत्रियाश्च सहस्रशः ॥ २१ ॥

शूद्राश्च नरशार्दूल स्त्रियो वृद्धाश्च सर्वशः ।
निरन्तरमभूत् तत्र जनौघैरभिसंवृतम् ॥ २२ ॥

जनमेजय ! उस समय उनका मल्लयुद्ध देखनेके लिये हजारों पुरवासी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्रियाँ एवं वृद्ध इकट्ठे हो गये । मनुष्योंकी अपार भीड़से वह स्थान ठसाठस भर गया ॥ २१-२२ ॥

तयोरथ भुजाघातान्निग्रहप्रग्रहात् तथा ।
आसीत् सुभीमसम्पातो वज्रपर्वतयोरिव ॥ २३ ॥

उन दोनोंकी भुजाओंके आघातसे तथा एक-दूसरेके निग्रह-प्रग्रहसे[1] ऐसा भयंकर चटचट शब्द होता था, मानो वज्र और पर्वत परस्पर टकरा रहे हों ॥ २३ ॥

उभौ परमसंहृष्टौ बलेन बलिनां वरौ ।
अन्योन्यस्यान्तरं प्रेप्सू परस्परजयैषिणौ ॥ २४ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ वे दोनों वीर अत्यन्त हर्ष एवं उत्साहमें भरे हुए थे और एक-दूसरेकी दुर्बलता या असावधानीपर दृष्टि रखते हुए परस्पर बलपूर्वक विजय पानेकी इच्छा रखते थे ॥

तद् भीममुत्सार्यजनं युद्धमासीदुपह्वरे ।
बलिनोः संयुगे राजन् वृत्रवासवयोरिव ॥ २५ ॥

राजन्! उस समरभूमिमें, जहाँ वृत्रासुर और इन्द्रकी भाँति उन दोनों बलवान् वीरोंमें संघर्ष छिड़ा था, ऐसा भयंकर युद्ध हुआ कि दर्शकलोग दूर भाग खड़े हुए ॥ २५ ॥

प्रकर्षणाकर्षणाभ्यामनुकर्षविकर्षणैः ।
आचकर्षतुरन्योन्यं जानुभिश्चावजघ्नतुः ॥ २६ ॥

वे एक-दूसरेको पीछे ढकेलते और आगे खींचते थे । बार-बार खींचतान और छीना-झपटी करते थे । दोनोंने अपने प्रहारोंसे एक-दूसरेके शरीरमें खरोंच एवं घाव पैदा कर दिये और दोनों दोनोंको पटककर घुटनोंसे मारने तथा रगड़ने लगे ॥ २६ ॥

ततः शब्देन महता भर्त्सयन्तौ परस्परम् ।
पाषाणसंघातनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः ॥ २७ ॥

फिर बड़े भारी गर्जन-तर्जनके द्वारा आपसमें डाँट बताते हुए एक-दूसरेपर ऐसे प्रहार करने लगे मानो पत्थरोंकी वर्षा कर रहे हों ॥ २७ ॥

व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलावुभौ ।
बाहुभिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव ॥ २८ ॥

दोनोंकी छाती चौड़ी और भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं । दोनों ही मल्लयुद्धमें कुशल थे और लोहेकी परिघ-जैसी मोटी भुजाओंको भिड़ाकर आपसमें गुँथ जाते थे ॥ २८ ॥

कार्तिकस्य तु मासस्य प्रवृत्तं प्रथमेऽहनि ।
अनाहारं दिवारात्रमविश्रान्तमवर्तत ॥ २९ ॥

कार्तिक मासके पहले दिन उन दोनोंका युद्ध प्रारम्भ हुआ और दिन-रात बिना खाये-पिये अविरामगतिसे चलता रहा ॥ २९ ॥

तद् वृत्तं तु त्रयोदश्यां समवेतं महात्मनोः ।
चतुर्दश्यां निशायां तु निवृत्तो मागधः क्लमात् ॥ ३० ॥

उन महात्माओंका वह युद्ध इसी रूपमें त्रयोदशीतक होता रहा । चतुर्दशीकी रातमें मगधनरेश जरासंध क्लेशसे थककर युद्धसे निवृत्त-सा होने लगा ॥ ३० ॥

तं राजानं तथा क्लान्तं दृष्ट्वा राजञ्जनार्दनः ।
उवाच भीमकर्माणं भीमं सम्बोधयन्निव ॥ ३१ ॥

राजन् ! उसे इस प्रकार थका देख भगवान् श्रीकृष्ण भयानक कर्म करनेवाले भीमसेनको समझाते हुए-से बोले—॥ ३१ ॥

क्लान्तः शत्रुर्न कौन्तेय लभ्यः पीडयितुं रणे ।
पीड्यमानो हि कार्त्स्न्येन जह्याज्जीवितमात्मनः ॥ ३२ ॥

'कुन्तीनन्दन ! शत्रु थक गया हो तो युद्धमें उसे अधिक पीड़ा देना उचित नहीं है । यदि उसे पूर्णतः पीड़ा दी जाय तो वह अपने प्राण त्याग देगा ॥ ३२ ॥

तस्मात् ते नैव कौन्तेय पीडनीयो जनाधिपः ।
सममेतेन युध्यस्व बाहुभ्यां भरतर्षभ ॥ ३३ ॥

'अतः पार्थ ! तुम्हें राजा जरासंधको अधिक पीड़ा नहीं देनी चाहिये । भरतश्रेष्ठ ! तुम अपनी भुजाओंद्वारा इनके साथ समभावसे ही युद्ध करो' ॥ ३३ ॥

एवमुक्तः स कृष्णेन पाण्डवः परवीरहा ।
जरासंधस्य तद् रूपं ज्ञात्वा चक्रे मतिं वधे ॥ ३४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले पाण्डुकुमार भीमसेनने जरासंधको थका हुआ जानकर उसके वधका विचार किया ॥ ३४ ॥

ततस्तमजितं जेतुं जरासंधं वृकोदरः ।
संरम्भं बलिनां श्रेष्ठो जग्राह कुरुनन्दनः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले बलवानोंमें श्रेष्ठ वृकोदरने उस अपराजित शत्रु जरासंधको जीतनेके लिये भारी क्रोध धारण किया ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि जरासंधक्लान्तौ त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें जरासंधकी थकावटसे सम्बन्ध रखनेवाला तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

---

१. दोनों हाथोंसे शत्रुका कंधा पकड़कर खींचने और उसे नीचे मुख गिरानेकी चेष्टाका नाम 'निग्रह' है तथा शत्रुको उत्तान गिरा देनेके लिये उसके पैरोंको पकड़कर खींचना 'प्रग्रह' कहलाता है ।

चतुर्विंशोऽध्यायः

भीमके द्वारा जरासंधका वध, बंदी राजाओंकी मुक्ति, श्रीकृष्ण आदिका भेंट लेकर इन्द्रप्रस्थमें आना और वहाँसे श्रीकृष्णका द्वारका जाना

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनस्ततः कृष्णमुवाच यदुनन्दनम् ।
बुद्धिमास्थाय विपुलां जरासंधवधेप्सया ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भीमसेनने विशाल बुद्धिका सहारा ले जरासंधके वधकी इच्छासे यदुनन्दन श्रीकृष्णको सम्बोधित करके कहा—॥ १ ॥

नायं पापो मया कृष्ण युक्तः स्यादनुरोधितुम् ।
प्राणेन यदुशार्दूल बद्धकक्षेण वाससा ॥ २ ॥

'यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! जरासंधने लंगोटसे अपनी कमर खूब कस ली है । यह पापी प्राण रहते मेरे वशमें आनेवाला नहीं जान पड़ता' ॥ २ ॥

एवमुक्तस्ततः कृष्णः प्रत्युवाच वृकोदरम् ।
त्वरयन् पुरुषव्याघ्रो जरासंधवधेप्सया ॥ ३ ॥

उनके ऐसा कहनेपर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने जरासंधके वधके लिये भीमसेनको उत्तेजित करते हुए कहा—॥ ३ ॥

यत् ते दैवं परं सत्त्वं यच्च ते मातरिश्वनः ।
बलं भीम जरासंधे दर्शयाशु तदद्य नः ॥ ४ ॥

'भीम ! तुम्हारा जो सर्वोत्कृष्ट दैवी स्वरूप है और तुम्हें वायुदेवतासे जो दिव्य बल प्राप्त हुआ है, उसे आज हमारे सामने जरासंधपर शीघ्रतापूर्वक दिखाओ ॥ ४ ॥

(तवैष वध्यो दुर्बुद्धिः जरासंधो महारथः ।
इत्यन्तरिक्षे त्वश्रौषं यदा वायुरपोह्यते ॥

'यह खोटी बुद्धिवाला महारथी जरासंध तुम्हारे हाथोंसे ही मारा जा सकता है । यह बात आकाशमें मुझे उस समय सुनायी पड़ी थी जब कि बलरामजीके द्वारा जरासंधके प्राण लेनेकी चेष्टा की जा रही थी ॥

गोमन्ते पर्वतश्रेष्ठे येनैष परिमोक्षितः ।
बलदेवबलं प्राप्य कोऽन्यो जीवेत मागधात् ॥

'इसीलिये गिरिश्रेष्ठ गोमन्तपर भैया बलरामने इसे जीवित छोड़ दिया था; अन्यथा बलदेवजीके काबूमें आ जानेपर इस जरासंधके सिवा दूसरा कौन जीवित बच सकता था ? ॥

तदस्य मृत्युर्विहितः त्वदृते न महाबल ।
वायुं चिन्त्य महाबाहो जहीमं मगधाधिपम् ॥)

'महाबली भीम ! तुम्हारे सिवा और किसीके द्वारा इसकी मृत्यु नहीं होनेवाली है । महाबाहो ! तुम वायुदेवका चिन्तन करके इस मगधराजको मार डालो' ॥

एवमुक्तस्तदा भीमो जरासंधमरिंदमः ।
उत्क्षिप्य भ्रामयामास बलवन्तं महाबलः ॥ ५ ॥

उनके इस तरह संकेत करनेपर शत्रुओंका दमन करनेवाले महाबली भीमने उस समय बलवान् जरासंधको उठाकर आकाशमें वेगसे घुमाना आरम्भ किया ॥ ५ ॥

(ततस्तु भगवान् कृष्णो जरासंधजिघांसया ।
भीमसेनं समालोक्य नलं जग्राह पाणिना ॥
द्विधा चिच्छेद वै तत् तु जरासंधवधं प्रति ।)

तब भगवान् श्रीकृष्णने जरासंधका वध करानेकी इच्छासे भीमसेनकी ओर देखकर एक नरकट* हाथमें ले लिया और उसे (दातुनकी भाँति) दो टुकड़ोंमें चीर डाला (तथा उसे फेंक दिया) । यह जरासंधको मारनेके लिये एक संकेत था ॥

भ्रामयित्वा शतगुणं जानुभ्यां भरतर्षभ ।
बभञ्ज पृष्ठं संक्षिप्य निष्पिष्य विननाद च ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! (भीमने उनके संकेतको समझ लिया और) उन्होंने सौ बार घुमाकर उसे धरतीपर पटक दिया और उसकी पीठको धनुषकी तरह मोड़कर दोनों घुटनोंकी चोटसे उसकी रीढ़ तोड़ डाली, फिर अपने शरीरकी रगड़से पीसते हुए भीमने बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ६ ॥

करे गृहीत्वा चरणं द्वेधा चक्रे महाबलः ॥ ७ ॥

इसके बाद अपने एक हाथसे उसका एक पैर पकड़कर और दूसरे पैरपर अपना पैर रखकर महाबली भीमने उसे दो खण्डोंमें चीर डाला ॥ ७ ॥

(पुनः संधाय तु तदा जरासंधः प्रतापवान् ॥
भीमेन च समागम्य बाहुयुद्धं चकार ह ।
तयोः समभवद् युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम् ॥
सर्वलोकक्षयकरं सर्वभूतभयावहम् ।
पुनः कृष्णस्तमिरिणं द्विधा विच्छिद्य माधवः ॥
व्यत्यस्य प्राक्षिपत् तत् तु जरासंधवधेप्सया ।

तब वे दोनों टुकड़े फिरसे जुड़ गये और प्रतापी जरासंध भीमसे भिड़कर बाहुयुद्ध करने लगा । उन दोनों वीरोंका वह युद्ध अत्यन्त भयंकर और रोमाञ्चकारी था । उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो सम्पूर्ण जगत्का संहार हो जायगा । वह द्वन्द्वयुद्ध सम्पूर्ण प्राणियोंके भयको बढ़ानेवाला था । उस समय भगवान् श्रीकृष्णने पुनः एक नरकट लेकर पहलेकी ही

* नरकट बेंतकी तरह पोले डंठलका एक पौधा होता है, जो कलम बनानेके काम आता है ।

भाँति चीरकर उसके दो टुकड़े कर दिये और उन दोनों टुकड़ोंको अलग-अलग विपरीत दिशामें फेंक दिया। जरासंधके वधके लिये यह दूसरा संकेत था ॥

भीमसेनस्तदा ज्ञात्वा निर्बिभेद च मागधम् ॥
द्विधा व्यत्यस्य पादेन प्राक्षिपच्च ननाद ह ।

भीमसेनने उसे समझकर पुनः मगधराजको दो टुकड़ोंमें चीर डाला और पैरसे ही उन दोनों टुकड़ोंको विपरीत दिशाओंमें करके फेंक दिया। इसके बाद वे विकट गर्जना करने लगे ॥

शुष्कमांसास्थिमेदस्त्वग्भिन्नमस्तिष्कपिण्डकः ॥
शवभूतस्तदा राजन् पिण्डीकृत इवाबभौ ।)

राजन्! उस समय जरासंधका शरीर शवरूप होकर मांसके लोंदे-सा जान पड़ने लगा। उसके शरीरके मांस, हड्डियाँ, मेदा और चमड़ा सभी सूख गये थे। मस्तिष्क और शरीर दो भागोंमें विदीर्ण हो गये थे ॥

तस्य निष्पिष्यमाणस्य पाण्डवस्य च गर्जतः ।
अभवत् तुमुलो नादः सर्वप्राणिभयंकरः ॥ ८ ॥
वित्रेसुर्मागधाः सर्वे स्त्रीणां गर्भाश्च सुस्रुवुः ।
भीमसेनस्य नादेन जरासंधस्य चैव ह ॥ ९ ॥

जब जरासंध रगड़ा जा रहा था और पाण्डुकुमार गर्ज-गर्जकर उसे पीसे डालते थे, उस समय भीमसेनकी गर्जना और जरासंधकी चीत्कारसे जो तुमुल नाद प्रकट हुआ, वह समस्त प्राणियोंको भयभीत करनेवाला था। उसे सुनकर सभी मगधनिवासी भयसे थर्रा उठे। स्त्रियोंके तो गर्भतक गिर गये ॥ ८-९ ॥

किं नु स्याद्धिमवान् भिन्नः किं नु स्विद् दीर्यते मही।
इति वै मागधा जज्ञुर्भीमसेनस्य निःस्वनात् ॥ १० ॥

भीमसेनकी गर्जना सुनकर मगधके लोग भयभीत होकर सोचने लगे कि 'कहीं हिमालय पहाड़ तो नहीं फट पड़ा? कहीं पृथ्वी तो विदीर्ण नहीं हो रही है?' ॥ १० ॥

ततो राज्ञः कुलद्वारि प्रसुप्तमिव तं नृपम् ।
रात्रौ गतासुमुत्सृज्य निश्चक्रमुररिंदमाः ॥ ११ ॥

तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले वे तीनों वीर रातमें राजा जरासंधके प्राणहीन शरीरको सोते हुएके समान राजभवनके द्वारपर छोड़कर वहाँसे चल दिये ॥ ११ ॥

जरासंधरथं कृष्णो योजयित्वा पताकिनम् ।
आरोप्य भ्रातरौ चैव मोक्षयामास बान्धवान् ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णने जरासंधके ध्वजा-पताकामण्डित दिव्य रथको जोत लिया और उसपर दोनों भाई भीमसेन और अर्जुनको बिठाकर पहाड़ी खोहके पास जा वहाँ कैदमें पड़े हुए अपने बान्धवस्वरूप समस्त राजाओंको छुड़ाया ॥ १२ ॥

ते वै रत्नभुजं कृष्णं रत्नार्हाः पृथिवीश्वराः ।
राजानश्चक्रुरासाद्य मोक्षिता महतो भयात् ॥ १३ ॥

उस महान् भयसे छूटे हुए रत्नभोगी नरेशोंने भगवान् श्रीकृष्णसे मिलकर उन्हें विविध रत्नोंसे युक्त कर दिया ॥ १३ ॥

अक्षतः शस्त्रसम्पन्नो जितारिः सह राजभिः ।
रथमास्थाय तं दिव्यं निर्जगाम गिरिव्रजात् ॥ १४ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण क्षतरहित और अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न थे। वे शत्रुपर विजय पा चुके थे, उस अवस्थामें वे उस दिव्य रथपर आरूढ़ हो कैदसे छूटे हुए राजाओंके साथ गिरिव्रज नगरसे बाहर निकले ॥ १४ ॥

यः स सोदर्यवान् नाम द्वियोधी कृष्णसारथिः ।
अभ्यासघाती संदृश्यो दुर्जयः सर्वराजभिः ॥ १५ ॥

उस रथका नाम था सोदर्यवान्, उसमें दो महारथी योद्धा एक साथ बैठकर युद्ध कर सकते थे, इस समय भगवान् श्रीकृष्ण उसके सारथि थे। उस रथमें बार-बार शत्रुओंपर आघात करनेकी सुविधा थी तथा वह दर्शनीय होनेके साथ ही समस्त राजाओंके लिये दुर्जय था ॥ १५ ॥

भीमार्जुनाभ्यां योधाभ्यामास्थितः कृष्णसारथिः ।
शुशुभे रथवर्योऽसौ दुर्जयः सर्वधन्विभिः ॥ १६ ॥
शक्रविष्णू हि संग्रामे चेरतुस्तारकामये ।

भीम और अर्जुन—ये दो योद्धा उस रथपर बैठे थे, श्रीकृष्ण सारथिका काम सँभाल रहे थे, सम्पूर्ण धनुर्धर वीरोंके लिये भी उसे जीतना कठिन था। इन दोनों रथियोंके द्वारा उस श्रेष्ठ रथकी ऐसी शोभा हो रही थी मानो इन्द्र और विष्णु एक साथ बैठकर तारकामय संग्राममें विचर रहे हों ॥ १६½ ॥

रथेन तेन वै कृष्ण उपारुह्य ययौ तदा ॥ १७ ॥
तप्तचामीकराभेण किङ्किणीजालमालिना ।
मेघनिर्घोषनादेन जैत्रेणामित्रघातिना ॥ १८ ॥

वह रथ तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिमान् था। उसमें क्षुद्र घण्टिकाओंसे युक्त झालरें लगी थीं। उसकी घर्घराहट मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान जान पड़ती थी। वह शत्रुओंका विघातक और विजय प्रदान करनेवाला था। उसी रथपर सवार हो उसके द्वारा श्रीकृष्णने उस समय यात्रा की ॥ १७-१८ ॥

येन शक्रो दानवानां जघान नवतीर्नव ।
तं प्राप्य समहृष्यन्त रथं ते पुरुषर्षभाः ॥ १९ ॥

यह वही रथ था, जिसके द्वारा इन्द्रने निन्यानबे दानवोंका वध किया था। उस रथको पाकर वे तीनों नरश्रेष्ठ बहुत प्रसन्न हुए ॥ १९ ॥

ततः कृष्णं महाबाहुं भ्रातृभ्यां सहितं तदा ।
रथस्थं मागधा दृष्ट्वा समपद्यन्त विस्मिताः ॥ २० ॥

तदनन्तर दोनों फुफेरे भाइयोंके साथ रथपर बैठे हुए महाबाहु श्रीकृष्णको देखकर मगधके निवासी बड़े विस्मित हुए ॥ २० ॥

हयैर्दिव्यैः समायुक्तो रथो वायुसमो जवे ।
अधिष्ठितः स शुशुभे कृष्णेनातीव भारत ॥ २१ ॥

वह रथ वायुके समान वेगशाली था, उसमें दिव्य घोड़े जुते हुए थे । भारत ! श्रीकृष्णके बैठ जानेसे उस दिव्य रथकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ २१ ॥

असङ्गो देवविहितस्तस्मिन् रथवरे ध्वजः ।
योजनाद् ददृशे श्रीमानिन्द्रायुधसमप्रभः ॥ २२ ॥

उस उत्तम रथपर देवनिर्मित ध्वज फहराता रहता था, जो रथसे अछूता था (रथके साथ उसका लगाव नहीं था, वह बिना आधारके ही उसके ऊपर लहराया करता था) । इन्द्रधनुषके समान प्रकाशमान बहुरंगी एवं शोभाशाली वह ध्वज एक योजन दूरसे ही दीखने लगता था ॥ २२ ॥

चिन्तयामास कृष्णोऽथ गरुत्मन्तं स चाभ्ययात् ।
क्षणे तस्मिन् स तेनासीच्चैत्यवृक्ष इवोत्थितः ॥ २३ ॥
व्यादितास्यैर्महानादैः सह भूतैर्ध्वजालयैः ।
तस्मिन् रथवरे तस्थौ गरुत्मान् पन्नगाशनः ॥ २४ ॥

उस समय भगवान् श्रीकृष्णने गरुडजीका स्मरण किया । गरुडजी उसी क्षण वहाँ आ गये । उस रथकी ध्वजामें बहुत-से भूत मुँह बाये हुए विकट गर्जना करते रहते थे । उन्हींके साथ सर्पभोजी गरुडजी भी उस श्रेष्ठ रथपर स्थित हो गये । उनके द्वारा वह ध्वज ऊँचे उठे हुए चैत्य वृक्षके समान सुशोभित हो गया ॥ २३-२४ ॥

दुर्निरीक्ष्यो हि भूतानां तेजसाभ्यधिकं बभौ ।
आदित्य इव मध्याह्ने सहस्रकिरणावृतः ॥ २५ ॥
न स सज्जति वृक्षेषु शस्त्रैश्चापि न रिष्यते ।
दिव्यो ध्वजवरो राजन् दृश्यते चेह मानुषैः ॥ २६ ॥

अब वह उत्तम ध्वज सहस्रों किरणोंसे आवृत मध्याह्नकालके सूर्यकी भाँति अपने तेजसे अधिक प्रकाशित होने लगा । प्राणियोंके लिये उसकी ओर देखना कठिन हो गया । वह वृक्षोंमें कहीं अटकता नहीं था, अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा कटता नहीं था । राजन् ! वह दिव्य और श्रेष्ठ ध्वज इस लोकके मनुष्योंको दृष्टिगोचर मात्र होता था ॥ २५-२६ ॥

तमास्थाय रथं दिव्यं पर्जन्यसमनिःस्वनम् ।
निर्ययौ पुरुषव्याघ्रः पाण्डवाभ्यां सहाच्युतः ॥ २७ ॥

मेघके समान गम्भीर घर्घर ध्वनिसे परिपूर्ण उसी दिव्य रथपर भीमसेन और अर्जुनके साथ बैठे हुए पुरुषसिंह भगवान् श्रीकृष्ण नगरसे बाहर निकले ॥ २७ ॥

यं लेभे वासवाद् राजा वसुस्तस्माद् बृहद्रथः ।
बृहद्रथात् क्रमेणैव प्राप्तो बार्हद्रथं नृप ॥ २८ ॥

राजन् ! इन्द्रसे उस रथको राजा वसुने प्राप्त किया था । फिर क्रमशः वसुसे बृहद्रथको और बृहद्रथसे जरासंधको वह रथ मिला था ॥ २८ ॥

स निर्याय महाबाहुः पुण्डरीकेक्षणस्ततः ।
गिरिव्रजाद् बहिस्तस्थौ समदेशे महायशाः ॥ २९ ॥

महायशस्वी कमलनयन महाबाहु श्रीकृष्ण गिरिव्रजसे बाहर आ समतल भूमिपर खड़े हुए ॥ २९ ॥

तत्रैनं नागराः सर्वे सत्कारेणाभ्ययुस्तदा ।
ब्राह्मणप्रमुखा राजन् विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ३० ॥

जनमेजय ! वहाँ ब्राह्मण आदि सभी नागरिकोंने शास्त्रीय विधिसे उनका सत्कार एवं पूजन किया ॥ ३० ॥

बन्धनाद् विप्रमुक्ताश्च राजानो मधुसूदनम् ।
पूजयामासुरूचुश्च स्तुतिपूर्वमिदं वचः ॥ ३१ ॥

कैदसे छूटे हुए राजाओंने भी मधुसूदनकी पूजा की और उनकी स्तुति करते हुए इस प्रकार कहा—॥ ३१ ॥



नैतच्चित्रं महाबाहो त्वयि देवकिनन्दने ।
भीमार्जुनबलोपेते धर्मस्य प्रतिपालनम् ॥ ३२ ॥

'महाबाहो ! आप देवकी देवीको आनन्दित करनेवाले साक्षात् भगवान् हैं, भीमसेन और अर्जुनका बल भी आपके साथ है । आपके द्वारा जो धर्मकी रक्षा हो रही है, वह आप-सरीखे धर्मावतारके लिये आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ ३२ ॥

जरासंधह्रदे घोरे दुःखपङ्के निमज्जताम् ।
राज्ञां समभ्युद्धरणं यदिदं कृतमद्य वै ॥ ३३ ॥

'प्रभो ! हम सब राजा दुःखरूपी पङ्कसे युक्त जरासंध-

रूपी भयानक कुण्डमें डूब रहे थे, आपने जो आज हमारा यह उद्धार किया है, वह आपके योग्य ही है ॥ ३३ ॥

विष्णो समवसन्नानां गिरिदुर्गे सुदारुणे।
दिष्ट्या मोक्षाद् यशो दीप्तमाप्तं ते यदुनन्दन ॥ ३४ ॥

'विष्णो ! अत्यन्त भयंकर पहाड़ी किलेमें कैद हो हम बड़े दुःखसे दिन काट रहे थे। यदुनन्दन ! आपने हमें इस संकटसे मुक्त करके अत्यन्त उज्ज्वल यश प्राप्त किया है; यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ ३४ ॥

किं कुर्मः पुरुषव्याघ्र शाधि नः प्रणतिस्थितान्।
कृतमित्येव तद् विद्धि नृपैर्यद्यपि दुष्करम् ॥ ३५ ॥

'पुरुषसिंह ! हम आपके चरणोंमें पड़े हैं। आप हमें आज्ञा दीजिये, हम क्या सेवा करें ? कोई दुष्कर कार्य हो तो भी आपको यह समझना चाहिये मानो हम सब राजाओंने मिलकर उसे पूर्ण कर ही दिया' ॥ ३५ ॥

तानुवाच हृषीकेशः समाश्वास्य महामनाः।
युधिष्ठिरो राजसूयं क्रतुमाहर्तुमिच्छति ॥ ३६ ॥

तब महामना भगवान् हृषीकेशने उन सबको आश्वासन देकर कहा—'राजाओ ! धर्मराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं ॥ ३६ ॥

तस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः।
सर्वैर्भवद्भिर्विज्ञाय साहाय्यं क्रियतामिति ॥ ३७ ॥

'धर्ममें तत्पर रहते हुए ही उन्हें सम्राट् पद प्राप्त करनेकी इच्छा हुई है। इस कार्यमें तुम सब लोग उनकी सहायता करो' ॥ ३७ ॥

ततः सुप्रीतमनसस्ते नृपा नृपसत्तम।
तथेत्येवाब्रुवन् सर्वे प्रतिगृह्यास्य तां गिरम् ॥ ३८ ॥

नृपश्रेष्ठ जनमेजय ! तब उन सभी राजाओंने प्रसन्नचित्त हो 'तथास्तु' कहकर भगवान्‌की वह आज्ञा शिरोधार्य कर ली ॥ ३८ ॥

रत्नभाजं च दाशार्हं चक्रुस्ते पृथिवीश्वराः।
कृच्छ्राज्जग्राह गोविन्दस्तेषां तदनुकम्पया ॥ ३९ ॥

इतना ही नहीं, उन भूपालोंने दशार्हकुलभूषण भगवान्‌को रत्न भेंट किये। भगवान् गोविन्दने बड़ी कठिनाईसे, उन सबपर कृपा करनेके लिये ही, वह भेंट स्वीकार की ॥ ३९ ॥

जरासंधात्मजश्चैव सहदेवो महामनाः।
निर्ययौ सजनामात्यः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ॥ ४० ॥

तदनन्तर जरासंधका पुत्र महामना सहदेव पुरोहितको आगे करके सेवकों और मन्त्रियोंके साथ नगरसे बाहर निकला ॥

स नीचैः प्रणतो भूत्वा बहुरत्नपुरोगमः।
सहदेवो नृणां देवं वासुदेवमुपस्थितः ॥ ४१ ॥

उसके आगे रत्नोंका बहुत बड़ा भण्डार आ रहा था। सहदेव अत्यन्त विनीतभावसे चरणोंमें पड़कर नरदेव भगवान् वासुदेवकी शरणमें आया था ॥ ४१ ॥

(सहदेव उवाच

यत् कृतं पुरुषव्याघ्र मम पित्रा जनार्दन।
तत् ते हृदि महाबाहो न कार्यं पुरुषोत्तम ॥

सहदेव बोला—पुरुषसिंह जनार्दन ! महाबाहु पुरुषोत्तम ! मेरे पिताने जो अपराध किया है, उसे आप अपने हृदयसे निकाल दें ॥

त्वां प्रपन्नोऽस्मि गोविन्द प्रसादं कुरु मे प्रभो।
पितुरिच्छामि संस्कारं कर्तुं देवकिनन्दन ॥

गोविन्द ! मैं आपकी शरणमें आया हूँ। प्रभो ! आप मुझपर कृपा कीजिये। देवकीनन्दन ! मैं अपने पिताका दाहसंस्कार करना चाहता हूँ ॥

त्वत्तोऽभ्यनुज्ञां सम्प्राप्य भीमसेनात् तथार्जुनात्।
निर्भयो विचरिष्यामि यथाकामं यथासुखम् ॥

आपसे, भीमसेनसे तथा अर्जुनसे आज्ञा लेकर यह कार्य करूँगा और आपकी कृपासे निर्भय हो इच्छानुसार सुखपूर्वक विचरूँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विज्ञाप्यमानस्य सहदेवस्य मारिष।
प्रहृष्टो देवकीपुत्रः पाण्डवौ च महारथौ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सहदेवके इस प्रकार निवेदन करनेपर देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण तथा महारथी भीमसेन और अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए ॥

क्रियतां संस्क्रिया राजन् पितुस्त इति चाब्रुवन्।
तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य पार्थयोश्च स मागधः ॥
प्रविश्य नगरं तूर्णं सह मन्त्रिभिरच्युत।
चितां चन्दनकाष्ठैश्च कालेयसरलैस्तथा ॥
कालागुरुसुगन्धैश्च तैलैश्च विविधैरपि।
घृतधाराक्षतैश्चैव सुमनोभिश्च मागधम् ॥
समन्तादवकीर्यन्त दह्यन्तं मगधाधिपम्।

उन सबने एक स्वरसे कहा—'राजन् ! तुम अपने पिताका अन्त्येष्टि-संस्कार करो।' भगवान् श्रीकृष्ण तथा दोनों कुन्तीकुमारोंका यह आदेश सुनकर मगधराजकुमारने मन्त्रियोंके साथ शीघ्र ही नगरमें प्रवेश किया। फिर चन्दनकी लकड़ी तथा केसर, देवदारु और काला अगुरु आदि सुगन्धित काष्ठोंसे चिता बनाकर उसपर मगधराजका शव रखा गया। तत्पश्चात् जलती चितामें दग्ध होते हुए मगधराजके शरीरपर नाना प्रकारके चन्दनादि सुगन्धित तैल और घीकी धाराएँ गिरायी गयीं। सब ओरसे अक्षत और फूलोंकी वर्षा की गयी ॥

उदकं तस्य चक्रेऽथ सहदेवः सहानुजः ॥
कृत्वा पितुः स्वर्गगतिं निर्ययौ यत्र केशवः ।
पाण्डवौ च महाभागौ भीमसेनार्जुनावुभौ ॥
स प्रह्वः प्राञ्जलिर्भूत्वा विज्ञापयत माधवम् ।

शवदाहके पश्चात् सहदेवने अपने छोटे भाईके साथ पिताके लिये जलाञ्जलि दी। इस प्रकार पिताका पारलौकिक कार्य करके राजकुमार सहदेव नगरसे निकलकर उस स्थानमें गया, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण तथा महाभाग पाण्डुपुत्र भीमसेन और अर्जुन विद्यमान थे। उसने नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा ॥

सहदेव उवाच

इमे रत्नानि भूरीणि गोऽजाविमहिषादयः ।
हस्तिनोऽश्वाश्च गोविन्द वासांसि विविधानि च ॥
दीयतां धर्मराजाय यथा वा मन्यते भवान् ।)

सहदेवने कहा—प्रभो! ये गाय, भैंस, भेड़-बकरे आदि पशु, बहुत-से रत्न, हाथी-घोड़े और नाना प्रकारके वस्त्र आपकी सेवामें प्रस्तुत हैं। गोविन्द! ये सब वस्तुएँ धर्मराज युधिष्ठिरको दीजिये अथवा आपकी जैसी रुचि हो, उसके अनुसार मुझे सेवाके लिये आदेश दीजिये ॥

भयार्ताय ततस्तस्मै कृष्णो दत्त्वाभयं तदा ।
आददेऽस्य महार्हाणि रत्नानि पुरुषोत्तमः ॥ ४२ ॥

वह भयसे पीड़ित हो रहा था; पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने उसे अभयदान देकर उसके लाये हुए बहुमूल्य रत्नोंकी भेंट स्वीकार कर ली ॥ ४२ ॥

अभ्यषिञ्चत तत्रैव जरासंधात्मजं मुदा ।
गत्वैकत्वं च कृष्णेन पार्थाभ्यां चैव सत्कृतः ॥ ४३ ॥

तत्पश्चात् जरासंधकुमारको प्रसन्नतापूर्वक वहीं पिताके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया। श्रीकृष्णने सहदेवको अपना अभिन्न सुहृद् बना लिया, इसलिये भीमसेन और अर्जुनने भी उसका बड़ा सत्कार किया ॥ ४३ ॥

विवेश राजा द्युतिमान् बार्हद्रथपुरं नृप ।
अभिषिक्तो महाबाहुर्जारासंधिर्महात्मभिः ॥ ४४ ॥

राजन्! उन महात्माओंद्वारा अभिषिक्त हो महाबाहु जरासंधपुत्र तेजस्वी राजा सहदेव अपने पिताके नगरमें लौट गया ॥ ४४ ॥

कृष्णस्तु सह पार्थाभ्यां श्रिया परमया युतः ।
रत्नान्यादाय भूरीणि प्रययौ पुरुषर्षभः ॥ ४५ ॥

और पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने सर्वोत्तम शोभासे सम्पन्न हो प्रचुर रत्नोंकी भेंट ले दोनों कुन्तीकुमारोंके साथ वहाँसे प्रस्थान किया ॥ ४५ ॥

इन्द्रप्रस्थमुपागम्य पाण्डवाभ्यां सहाच्युतः ।
समेत्य धर्मराजानं प्रीयमाणोऽभ्यभाषत ॥ ४६ ॥

भीमसेन और अर्जुनके साथ इन्द्रप्रस्थमें आकर भगवान् श्रीकृष्ण धर्मराज युधिष्ठिरसे मिले और अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले—॥ ४६ ॥

दिष्ट्या भीमेन बलवाञ्जरासंधो निपातितः ।
राजानो मोक्षिताश्चैव बन्धनान्नृपसत्तम ॥ ४७ ॥

'नृपश्रेष्ठ! सौभाग्यकी बात है कि महाबली भीमसेनने जरासंधको मार गिराया और समस्त राजाओंको उसकी कैदसे छुड़ा दिया ॥ ४७ ॥

दिष्ट्या कुशलिनौ चेमौ भीमसेनधनंजयौ ।
पुनः स्वनगरं प्राप्तावक्षताविति भारत ॥ ४८ ॥

'भारत! भाग्यसे ही ये दोनों भाई भीमसेन और अर्जुन अपने नगरमें पुनः सकुशल लौट आये और इन्हें कोई क्षति नहीं पहुँची' ॥ ४८ ॥

ततो युधिष्ठिरः कृष्णं पूजयित्वा यथार्हतः ।
भीमसेनार्जुनौ चैव प्रहृष्टः परिषस्वजे ॥ ४९ ॥

तब युधिष्ठिरने श्रीकृष्णका यथायोग्य सत्कार करके भीमसेन और अर्जुनको भी प्रसन्नतापूर्वक गले लगाया ॥४९॥

ततः क्षीणे जरासंधे भ्रातृभ्यां विहितं जयम् ।
अजातशत्रुरासाद्य मुमुदे भ्रातृभिः सह ॥ ५० ॥

तदनन्तर जरासंधके नष्ट होनेपर अपने दोनों भाइयोंद्वारा की हुई विजयको पाकर अजातशत्रु राजा युधिष्ठिर भाइयोंसहित आनन्दमग्न हो गये ॥ ५० ॥

(हृष्टश्च धर्मराड् वाक्यं जनार्दनमभाषत ।

फिर धर्मराजने हर्षमें भरकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा।

युधिष्ठिर उवाच

त्वां प्राप्य पुरुषव्याघ्र भीमसेनेन पातितः ।
मागधोऽसौ बलोन्मत्तो जरासंधः प्रतापवान् ॥

युधिष्ठिर बोले—पुरुषसिंह जनार्दन! आपका सहारा पाकर ही भीमसेनने बलके अभिमानसे उन्मत्त रहनेवाले प्रतापी मगधराज जरासंधको मार गिराया है ॥

राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं प्राप्स्यामि विगतज्वरः ।
त्वद्बुद्धिबलमाश्रित्य यागार्होऽस्मि जनार्दन ॥

अब मैं निश्चिन्त होकर यज्ञोंमें श्रेष्ठ राजसूयका शुभ अवसर प्राप्त करूँगा। प्रभो! आपके बुद्धि-बलका सहारा पाकर मैं यज्ञ करनेयोग्य हो गया ॥

पीतं पृथिव्यां युद्धेन यशस्ते पुरुषोत्तम ।
जरासंधवधेनैव प्राप्तास्ते विपुलाः श्रियः ॥

पुरुषोत्तम! इस युद्धसे भूमण्डलमें आपके यशका विस्तार हुआ। जरासंधके वधसे ही आपको प्रचुर सम्पत्ति प्राप्त हुई है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्भाष्य कौन्तेयः प्रादाद् रथवरं प्रभोः ।
प्रतिगृह्य तु गोविन्दो जरासंधस्य तं रथम् ॥
प्रहृष्टस्तस्य मुमुदे फाल्गुनेन जनार्दनः ।
प्रीतिमानभवद् राजन् धर्मराजपुरस्कृतः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने भगवान्को श्रेष्ठ रथ प्रदान किया। जरासंधके उस रथको पाकर गोविन्द बड़े प्रसन्न हुए और अर्जुनके साथ उसमें बैठकर बड़े हर्षका अनुभव करने लगे। धर्मराज युधिष्ठिरके उस भेंटको अङ्गीकार करके उन्हें बड़ा संतोष हुआ ॥

यथावयः समागम्य भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
सत्कृत्य पूजयित्वा च विससर्ज नराधिपान् ॥ ५१ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर भाइयोंके साथ जाकर समस्त राजाओंसे उनकी अवस्थाके अनुसार क्रमशः मिले; फिर उन सबका यथायोग्य सत्कार एवं पूजन करके उन्होंने सभी नरपतियोंको विदा कर दिया ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिराभ्यनुज्ञातास्ते नृपा हृष्टमानसाः ।
जग्मुः स्वदेशांस्त्वरिता यानैरुच्चावचैस्ततः ॥ ५२ ॥

राजा युधिष्ठिरकी आज्ञा ले वे सब नरेश मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हो अनेक प्रकारकी सवारियोंद्वारा शीघ्रतापूर्वक अपने-अपने देशको चले गये ॥ ५२ ॥

एवं पुरुषशार्दूलो महाबुद्धिर्जनार्दनः ।
पाण्डवैर्घातयामास जरासंधमरिं तदा ॥ ५३ ॥

जनमेजय ! इस प्रकार महाबुद्धिमान् पुरुषसिंह जनार्दनने उस समय पाण्डवोंद्वारा अपने शत्रु जरासंधका वध करवाया ॥

घातयित्वा जरासंधं बुद्धिपूर्वमरिंदमः ।
धर्मराजमनुज्ञाप्य पृथां कृष्णां च भारत ॥ ५४ ॥
सुभद्रां भीमसेनं च फाल्गुनं यमजौ तथा ।
धौम्यमामन्त्रयित्वा च प्रययौ स्वां पुरीं प्रति ॥ ५५ ॥
तेनैव रथमुख्येन मनसस्तुल्यगामिना ।
धर्मराजविसृष्टेन दिव्येनानादयन् दिशः ॥ ५६ ॥

भारत ! जरासंधको बुद्धिपूर्वक मरवाकर शत्रुदमन श्रीकृष्ण धर्मराज युधिष्ठिर, कुन्ती तथा द्रौपदीसे आज्ञा ले, सुभद्रा, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा धौम्यजीसे भी पूछकर धर्मराजके दिये हुए उसी मनके समान वेगशाली दिव्य एवं उत्तम रथके द्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते हुए अपनी द्वारकापुरीको चले गये ॥ ५४—५६ ॥

ततो युधिष्ठिरमुखाः पाण्डवा भरतर्षभ ।
प्रदक्षिणमकुर्वन्त कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ॥ ५७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जाते समय युधिष्ठिर आदि समस्त पाण्डवोंने अनायास ही सब कार्य करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी परिक्रमा की ॥ ५७ ॥

ततो गते भगवति कृष्णे देवकिनन्दने ।
जयं लब्ध्वा सुविपुलं राज्ञां दत्त्वाभयं तदा ॥ ५८ ॥
संवर्धितं यशो भूयः कर्मणा तेन भारत ।
द्रौपद्याः पाण्डवा राजन् परां प्रीतिमवर्धयन् ॥ ५९ ॥

भारत ! महान् विजयको प्राप्त करके और जरासंधके द्वारा कैद किये हुए उन राजाओंको अभयदान देकर देवकी-नन्दन भगवान् श्रीकृष्णके चले जानेपर उक्त कर्मके द्वारा पाण्डवोंके यशका बहुत विस्तार हुआ और वे पाण्डव द्रौपदीकी भी प्रीतिको बढ़ाने लगे ॥ ५८-५९ ॥

तस्मिन् काले तु यद् युक्तं धर्मकामार्थसंहितम् ।
तद् राजा धर्मतश्चक्रे प्रजापालनकीर्तनम् ॥ ६० ॥

उस समय धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये जो उचित कर्तव्य था, उसका राजा युधिष्ठिरने धर्मपूर्वक पालन किया। वे प्रजाओंकी रक्षा करनेके साथ ही उन्हें धर्मका उपदेश भी देते रहते थे ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि जरासंधवधे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें जरासंधवधविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २६ श्लोक मिलाकर कुल ८६ श्लोक हैं)

(दिग्विजयपर्व)

पञ्चविंशोऽध्यायः

अर्जुन आदि चारों भाइयोंकी दिग्विजयके लिये यात्रा

वैशम्पायन उवाच

पार्थः प्राप्य धनुः श्रेष्ठमक्षय्यौ च महेपुधी ।
रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुन श्रेष्ठ धनुष, दो विशाल एवं अक्षय तूणीर, दिव्य रथ, ध्वज और अद्भुत सभाभवन पहले ही प्राप्त कर चुके थे; अब वे युधिष्ठिरसे बोले ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

धनुरस्त्रं शरा वीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम्।
प्राप्तमेतन्मया राजन् दुष्प्रापं यदभीप्सितम्॥ २ ॥

अर्जुनने कहा—राजन्! मुझे धनुष, अस्त्र, बाण, पराक्रम, श्रीकृष्ण-जैसे सहायक, भूमि (राज्य एवं इन्द्रप्रस्थका दुर्ग), यश और बल—ये सभी दुर्लभ एवं मनोवाञ्छित वस्तुएँ प्राप्त हो चुकी हैं॥ २॥

तत्र कृत्यमहं मन्ये कोशस्य परिवर्धनम्।
करमाहारयिष्यामि राज्ञः सर्वान् नृपोत्तम॥ ३ ॥

नृपश्रेष्ठ! अब मैं अपने कोषको बढ़ाना ही आवश्यक कार्य समझता हूँ। मेरी इच्छा है कि समस्त राजाओंको जीतकर उनसे कर वसूल करूँ॥ ३॥

विजयाय प्रयास्यामि दिशं धनदपालिताम्।
तिथावथ मुहूर्ते च नक्षत्रे चाभिपूजिते॥ ४ ॥

आपकी आज्ञा हो तो उत्तम तिथि, मुहूर्त और नक्षत्रमें कुबेरद्वारा पालित उत्तर दिशाको जीतनेके लिये प्रस्थान करूँ॥

(एतच्छ्रुत्वा कुरुश्रेष्ठो धर्मराजः सहानुजः।
प्रहृष्टो मन्त्रिभिश्चैव व्यासधौम्यादिभिः सह॥
ततो व्यासो महाबुद्धिरुवाचेदं वचोऽर्जुनम्।

यह सुनकर भाइयोंसहित कुरुश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरको बड़ी प्रसन्नता हुई। साथ ही मन्त्रियों तथा व्यास, धौम्य आदि महर्षियोंको बड़ा हर्ष हुआ। तत्पश्चात् परम बुद्धिमान् व्यासजीने अर्जुनसे कहा॥

व्यास उवाच

साधु साध्विति कौन्तेय दिष्ट्या ते बुद्धिरीदृशी।
पृथिवीमखिलां जेतुमेकोऽध्यवसितो भवान्॥

व्यासजी बोले—कुन्तीनन्दन! मैं तुम्हें बारंबार साधुवाद देता हूँ। सौभाग्यसे तुम्हारी बुद्धिमें ऐसा संकल्प हुआ है। तुम सारी पृथ्वीको अकेले ही जीतनेके लिये उत्साहित हो रहे हो॥

धन्यः पाण्डुर्महीपालो यस्य पुत्रस्त्वमीदृशः।
सर्वं प्राप्स्यति राजेन्द्रो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः॥
त्वद्वीर्येण स धर्मात्मा सार्वभौमत्वमेष्यति।

राजा पाण्डु धन्य थे, जिनके पुत्र तुम ऐसे पराक्रमी निकले। तुम्हारे पराक्रमसे धर्मपुत्र धर्मात्मा महाराज युधिष्ठिर सब कुछ पा लेंगे। सार्वभौम सम्राट्के पदपर प्रतिष्ठित होंगे॥

त्वद्बाहुबलमाश्रित्य राजसूयमवाप्स्यति॥
सुनयाद् वासुदेवस्य भीमार्जुनबलेन च।
यमयोश्चैव वीर्येण सर्वं प्राप्स्यति धर्मराट्॥

तुम्हारे बाहुबलका सहारा पाकर ये राजसूययज्ञ पूर्ण कर लेंगे। भगवान् श्रीकृष्णकी उत्तम नीति, भीम और अर्जुनके बल तथा नकुल और सहदेवके पराक्रमसे धर्मराज युधिष्ठिरको सब कुछ प्राप्त हो जायगा॥

तस्माद् दिशं देवगुप्तामुदीचीं गच्छ फाल्गुन।
शक्तो भवान् सुराञ्जित्वा रत्नान्याहर्तुमोजसा॥

इसलिये अर्जुन! तुम तो देवताओंद्वारा सुरक्षित उत्तर दिशाकी यात्रा करो; क्योंकि देवताओंको जीतकर वहाँसे बलपूर्वक रत्न ले आनेमें तुम्हीं समर्थ हो॥

प्राचीं भीमो बलश्लाघी प्रयातु भरतर्षभः।
याम्यां तत्र दिशं यातु सहदेवो महारथः॥
प्रतीचीं नकुलो गन्ता वरुणेनाभिपालिताम्।
एषा मे नैष्ठिकी बुद्धिः क्रियतां भरतर्षभाः॥

अपने बलद्वारा दूसरोंसे होड़ लेनेवाले भरतकुलभूषण भीमसेन पूर्व दिशाकी यात्रा करें। महारथी सहदेव दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थान करें और नकुल वरुणपालित पश्चिम दिशापर आक्रमण करें। भरतश्रेष्ठ पाण्डवो! मेरी बुद्धिका ऐसा ही निश्चय है। तुमलोग इसका पालन करो॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा व्यासवचो हृष्टास्तमूचुः पाण्डुनन्दनाः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! व्यासजीकी यह बात सुनकर पाण्डवोंने बड़े हर्षके साथ कहा।

पाण्डवा ऊचुः

एवमस्तु मुनिश्रेष्ठ यथाऽऽज्ञापयसि प्रभो।)

पाण्डव बोले—मुनिश्रेष्ठ! आप जैसी आज्ञा देते हैं वैसा ही हो।

वैशम्पायन उवाच

धनंजयवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः।
स्निग्धगम्भीरनादिन्या तं गिरा प्रत्यभाषत॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनकी पूर्वोक्त बात सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर स्नेहयुक्त गम्भीर वाणीमें उनसे इस प्रकार बोले—॥ ५॥

स्वस्तिवाच्यार्हतो विप्रान् प्रयाहि भरतर्षभ।
दुर्हृदामप्रहर्षाय सुहृदां नन्दनाय च॥ ६ ॥

'भरतकुलभूषण! पूजनीय ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर यात्रा करो। तुम्हारी यह यात्रा शत्रुओंका शोक और सुहृदोंका आनन्द बढ़ानेवाली हो॥ ६॥

विजयस्ते ध्रुवं पार्थ प्रियं काममवाप्स्यसि।

'पार्थ! तुम्हारी विजय सुनिश्चित है, तुम अभीष्ट कामनाओंको प्राप्त करोगे'॥ ६½॥

इत्युक्तः प्रययौ पार्थः सैन्येन महताऽऽवृतः ॥ ७ ॥
अग्निदत्तेन दिव्येन रथेनाद्भुतकर्मणा ।
तथैव भीमसेनोऽपि यमौ च पुरुषर्षभौ ॥ ८ ॥
ससैन्याः प्रययुः सर्वे धर्मराजेन पूजिताः ।

उनके इस प्रकार आदेश देनेपर कुन्तीपुत्र अर्जुन विशाल सेनाके साथ अग्निके दिये हुए अद्भुतकर्मा दिव्य रथ-द्वारा वहाँसे प्रस्थित हुए। इसी प्रकार भीमसेन तथा नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेव इन सभी भाइयोंने धर्मराजसे सम्मानित हो सेनाओंके साथ दिग्विजयके लिये प्रस्थान किया ॥ ७-८½ ॥

दिशं धनपतेरिष्टामजयत् पाकशासनिः ॥ ९ ॥
भीमसेनस्तथा प्राचीं सहदेवस्तु दक्षिणाम् ।
प्रतीचीं नकुलो राजन् दिशं व्यजयतास्त्रवित् ॥ १० ॥

राजन्! इन्द्रकुमार अर्जुनने कुबेरकी प्रिय उत्तर दिशा-पर विजय पायी। भीमसेनने पूर्व दिशा, सहदेवने दक्षिण दिशा तथा अस्त्रवेत्ता नकुलने पश्चिम दिशाको जीता ॥ ९-१० ॥

खाण्डवप्रस्थमध्यस्थो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
आसीत् परमया लक्ष्म्या सुहृद्गणवृतः प्रभुः ॥ ११ ॥

केवल धर्मराज युधिष्ठिर सुहृदोंसे घिरे हुए अपनी उत्तम राजलक्ष्मीके साथ खाण्डवप्रस्थमें रह गये थे ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि दिग्विजयसंक्षेपकथने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें दिग्विजयका संक्षिप्त वर्णनविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९½ श्लोक मिलाकर कुल २०½ श्लोक हैं)

षड्विंशोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा अनेक देशों, राजाओं तथा भगदत्तकी पराजय

जनमेजय उवाच

दिशामभिजयं ब्रह्मन् विस्तरेणानुकीर्तय ।
न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—ब्रह्मन्! दिग्विजयका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये। अपने पूर्वजोंके इस महान् चरित्रको सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

धनंजयस्य वक्ष्यामि विजयं पूर्वमेव ते ।
यौगपद्येन पार्थैर्हि निर्जितेयं वसुन्धरा ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यद्यपि कुन्तीके चारों पुत्रोंने एक ही समय इन चारों दिशाओंकी पृथ्वीपर विजय प्राप्त की थी, तो भी पहले तुम्हें अर्जुनका दिग्विजय-वृत्तान्त सुनाऊँगा ॥ २ ॥

पूर्वं कुलिन्दविषये वशे चक्रे महीपतीन् ।
धनंजयो महाबाहुर्नातितीव्रेण कर्मणा ॥ ३ ॥

महाबाहु धनंजयने अत्यन्त दुःसह पराक्रम प्रकट किये बिना ही पहले पुलिन्द देशके भूमिपालोंको अपने वशमें किया ॥

आनर्तान् कालकूटांश्च कुलिन्दांश्च विजित्य सः ।
सुमण्डलं च विजितं कृतवान् सहसैनिकम् ॥ ४ ॥

कुलिन्दोंके साथ-साथ कालकूट और आनर्त देशके राजाओंको जीतकर सेनासहित राजा सुमण्डलको भी जीत लिया ॥

स तेन सहितो राजन् सव्यसाची परंतपः ।
विजिग्ये शाकलं द्वीपं प्रतिविन्ध्यं च पार्थिवम् ॥ ५ ॥

राजन्! तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने सुमण्डलको साथी बना लिया और उनके साथ जाकर शाकलद्वीप तथा राजा प्रतिविन्ध्यपर विजय प्राप्त की ॥ ५ ॥

शाकलद्वीपवासाश्च सप्तद्वीपेषु ये नृपाः ।
अर्जुनस्य च सैन्यैस्तैर्विग्रहस्तुमुलोऽभवत् ॥ ६ ॥

शाकलद्वीप तथा अन्य सातों द्वीपोंमें जो राजा रहते थे, उनके साथ अर्जुनके सैनिकोंका घमासान युद्ध हुआ ॥ ६ ॥

स तानपि महेष्वासान् विजिग्ये भरतर्षभ ।
तैरेव सहितः सर्वैः प्राग्ज्योतिषमुपाद्रवत् ॥ ७ ॥

भरतकुलभूषण जनमेजय! अर्जुनने उन महान् धनुर्धरोंको भी जीत लिया और उन सबको साथ लेकर प्राग्ज्योतिषपुरपर धावा किया ॥ ७ ॥

तत्र राजा महानासीद् भगदत्तो विशाम्पते ।
तेनासीत् सुमहद् युद्धं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ८ ॥

महाराज! प्राग्ज्योतिषपुरके प्रधान राजा भगदत्त थे। उनके साथ महात्मा अर्जुनका बड़ा भारी युद्ध हुआ ॥ ८ ॥

स किरातैश्च चीनैश्च वृतः प्राग्ज्योतिषोऽभवत् ।
अन्यैश्च बहुभिर्योधैः सागरानूपवासिभिः ॥ ९ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरके नरेश किरात, चीन तथा समुद्रके टापुओंमें रहनेवाले अन्य बहुतेरे योद्धाओंसे घिरे हुए थे ॥

ततः स दिवसानष्टौ योधयित्वा धनंजयम् ।
प्रहसन्नब्रवीद् राजा संग्रामविगतक्लमम् ॥ १० ॥

राजा भगदत्तने अर्जुनके साथ आठ दिनोंतक युद्ध किया, तो भी उन्हें युद्धसे थकते न देख वे हँसते हुए बोले— ॥ १० ॥

उपपन्नं महाबाहो त्वयि कौरवनन्दन ।
पाकशासनदायादे वीर्यमाहवशोभिनि ॥ ११ ॥

'महाबाहु कौरवनन्दन ! तुम इन्द्रके पुत्र और संग्राममें शोभा पानेवाले शूरवीर हो। तुममें ऐसा बल और पराक्रम उचित ही है ॥ ११ ॥

अहं सखा महेन्द्रस्य शक्रादनवरो रणे।
न शक्ष्यामि च ते तात स्थातुं प्रमुखतो युधि ॥ १२ ॥

'मैं देवराज इन्द्रका मित्र हूँ और युद्धमें उनसे तनिक भी कम नहीं हूँ, बेटा ! तो भी मैं संग्राममें तुम्हारे सामने खड़ा नहीं हो सकूँगा ॥ १२ ॥

त्वमीप्सितं पाण्डवेय ब्रूहि किं करवाणि ते।
यद् वक्ष्यसि महाबाहो तत् करिष्यामि पुत्रक॥ १३ ॥

'पाण्डुनन्दन ! तुम्हारी इच्छा क्या है, बताओ ? मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? वत्स ! महाबाहो ! तुम जो कहोगे, वही करूँगा' ॥ १३ ॥

अर्जुन उवाच

कुरूणामृषभो राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च यज्वा विपुलदक्षिणः ॥ १४ ॥
तस्य पार्थिवतामीप्से करस्तस्मै प्रदीयताम्।
भवान् पितृसखा चैव प्रीयमाणो मयापि च।
ततो नाज्ञापयामि त्वां प्रीतिपूर्वं प्रदीयताम् ॥ १५ ॥

अर्जुन बोले—महाराज ! धर्मज्ञ सत्यप्रतिज्ञ कुरुकुल-रत्न धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर बहुत दक्षिणा देकर राजसूय यज्ञ करनेवाले हैं। मैं चाहता हूँ वे चक्रवर्ती सम्राट् हों। आप उन्हें कर दीजिये। आप मेरे पिताके मित्र हैं और मुझसे भी प्रेम रखते हैं; अतः मैं आपको आज्ञा नहीं दे सकता। आप प्रेमभावसे ही उन्हें भेंट दीजिये ॥ १४-१५ ॥

भगदत्त उवाच

कुन्तीमातर्यथा मे त्वं तथा राजा युधिष्ठिरः।
सर्वमेतत् करिष्यामि किं चान्यत् करवाणि ते ॥ १६ ॥

भगदत्तने कहा—कुन्तीकुमार ! मेरे लिये जैसे तुम हो वैसे राजा युधिष्ठिर हैं, मैं यह सब कुछ करूँगा। बोलो, तुम्हारे लिये और क्या करूँ ? ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि अर्जुनदिग्विजये भगदत्तपराजये षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार महाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें अर्जुनदिग्विजयप्रसंगमें भगदत्तपराजयसम्बन्धी छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२६॥

सप्तविंशोऽध्यायः

अर्जुनका अनेक पर्वतीय देशोंपर विजय पाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच भगदत्तं धनंजयः।
अनेनैव कृतं सर्वमनुजानीहि याम्यहम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उनके ऐसा कहनेपर धनंजयने भगदत्तसे कहा—'राजन् ! आपने जो कर देना स्वीकार कर लिया, इतनेसे ही मेरा सब सत्कार हो जायगा, अब आज्ञा दीजिये, मैं जाता हूँ' ॥ १ ॥

तं विजित्य महाबाहुः कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
प्रययावुत्तरां तस्माद् दिशं धनदपालिताम् ॥ २ ॥

भगदत्तको जीतकर महाबाहु कुन्तीपुत्र अर्जुन वहाँसे कुबेरद्वारा सुरक्षित उत्तर दिशामें गये ॥ २ ॥

अन्तर्गिरिं च कौन्तेयस्तथैव च बहिर्गिरिम्।
तथैवोपगिरिं चैव विजिग्ये पुरुषर्षभः ॥ ३ ॥

कुरुश्रेष्ठ धनंजयने क्रमशः अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि और उपगिरि नामक प्रदेशोंपर विजय प्राप्त की ॥ ३ ॥

विजित्य पर्वतान् सर्वान् ये च तत्र नराधिपाः।
तान् वशे स्थापयित्वा स धनान्यादाय सर्वशः ॥ ४ ॥

फिर समस्त पर्वतों और वहाँ निवास करनेवाले राजाओं-को अपने अधीन करके उन्होंने सबसे धन वसूल किये ।४।

तैरेव सहितः सर्वैरनुरज्य च तान् नृपान्।
उलूकवासिनं राजन् बृहन्तमुपजग्मिवान् ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् उन नरेशोंको प्रसन्न करके उन सबके साथ उलूकवासी राजा बृहन्तपर आक्रमण किया ॥ ५ ॥

मृदङ्गवरनादेन रथनेमिस्वनेन च।
हस्तिनां च निनादेन कम्पयन् वसुधामिमाम् ॥ ६ ॥

जुझाऊ बाजे श्रेष्ठ मृदङ्ग आदिकी ध्वनि, रथके पहियों-की घर्घराहट और हाथियोंकी गर्जनासे वे इस पृथ्वीको कँपाते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ६ ॥

ततो बृहन्तस्त्वरितो बलेन चतुरङ्गिणा।
निष्क्रम्य नगरात् तस्माद् योधयामास फाल्गुनम् ॥७॥

तब राजा बृहन्त तुरंत ही चतुरंगिणी सेनाके साथ नगर-से बाहर निकले और अर्जुनसे युद्ध करने लगे ॥ ७ ॥

सुमहान् संनिपातोऽभूद् धनंजयबृहन्तयोः।
न शशाक बृहन्तस्तु सोढुं पाण्डवविक्रमम् ॥ ८ ॥

उस समय अर्जुन और बृहन्तमें बड़े जोरकी मार-काट शुरू हुई, परंतु बृहन्त पाण्डुपुत्र अर्जुनके पराक्रमको न सह सके ॥ ८ ॥

सोऽविषह्यतमं मत्वा कौन्तेयं पर्वतेश्वरः।
उपावर्तत दुर्धर्षो रत्नान्यादाय सर्वशः ॥ ९ ॥

कुन्तीकुमारको असह्य मानकर दुर्धर्ष वीर पर्वतराज बृहन्त युद्धसे हट गये और सब प्रकारके रत्नोंकी भेंट लेकर उनकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ९ ॥

स तद्राज्यमवस्थाप्य उलूकसहितो ययौ ।
सेनाबिन्दुमथो राजन् राज्यादाशु समाक्षिपत् ॥ १० ॥

जनमेजय ! अर्जुनने बृहन्तका राज्य पुनः उन्हींके हाथमें सौंपकर उलूकराजके साथ सेनाबिन्दुपर आक्रमण किया और उन्हें शीघ्र ही राज्यच्युत कर दिया ॥ १० ॥

मोदापुरं वामदेवं सुदामानं सुसंकुलम् ।
उलूकानुत्तरांश्चैव तांश्च राज्ञः समानयत् ॥ ११ ॥

तदनन्तर मोदापुर, वामदेव, सुदामा, सुसंकुल तथा उत्तर उलूक देशों और वहाँके राजाओंको अपने अधीन किया ॥

तत्रस्थः पुरुषैरेव धर्मराजस्य शासनात् ।
किरीटी जितवान् राजन् देशान् पञ्चगणांस्ततः ॥ १२ ॥

राजन् ! धर्मराजकी आज्ञासे किरीटधारी अर्जुनने वहीं रहकर अपने सेवकोंद्वारा पञ्चगण नामक देशोंको जीत लिया ॥

स देवप्रस्थमासाद्य सेनाबिन्दोः पुरं प्रति ।
बलेन चतुरङ्गेण निवेशमकरोत् प्रभुः ॥ १३ ॥

वहाँसे सेनाबिन्दुकी राजधानी देवप्रस्थमें आकर चतुरंगिणी सेनाके साथ शक्तिशाली अर्जुनने वहीं पड़ाव डाला ॥

स तैः परिवृतः सर्वैर्विष्वगश्वं नराधिपम् ।
अभ्यगच्छन्महातेजाः पौरवं पुरुषर्षभ ॥ १४ ॥

नरश्रेष्ठ ! उन सभी पराजित राजाओंसे घिरे हुए महातेजस्वी अर्जुनने पौरव राजा विश्वगश्वपर आक्रमण किया ॥१४॥

विजित्य चाहवे शूरान् पर्वतीयान् महारथान् ।
जिगाय सेनया राजन् पुरं पौरवरक्षितम् ॥ १५ ॥

वहाँ संग्राममें शूरवीर पर्वतीय महारथियोंको परास्त करके पौरवद्वारा सुरक्षित उनकी राजधानीको भी सेनाद्वारा जीत लिया ॥ १५ ॥

पौरवं युधि निर्जित्य दस्यून् पर्वतवासिनः ।
गणानुत्सवसंकेतानजयत् सप्त पाण्डवः ॥ १६ ॥

पौरवको युद्धमें जीतकर पर्वतनिवासी लुटेरोंके सात दलोंपर, जो 'उत्सवसंकेत' कहलाते थे, पाण्डुकुमार अर्जुनने विजय प्राप्त की ॥ १६ ॥

ततः काश्मीरकान् वीरान् क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः ।
व्यजयल्लोहितं चैव मण्डलैर्दशभिः सह ॥ १७ ॥

इसके बाद क्षत्रियशिरोमणि धनंजयने काश्मीरके क्षत्रियवीरोंको तथा दस मण्डलोंके साथ राजा लोहितको भी जीत लिया ॥ १७ ॥

ततस्त्रिगर्ताः कौन्तेयं दार्वाः कोकनदास्तथा ।
क्षत्रिया बहवो राजन्नुपावर्तन्त सर्वशः ॥ १८ ॥

तदनन्तर त्रिगर्त, दार्व और कोकनद आदि बहुतसे क्षत्रियनरेशगण सब ओरसे कुन्तीनन्दन अर्जुनकी शरणमें आये ॥ १८ ॥

अभिसारीं ततो रम्यां विजिग्ये कुरुनन्दनः ।
उरगावासिनं चैव रोचमानं रणेऽजयत् ॥ १९ ॥

इसके बाद कुरुनन्दन धनंजयने रमणीय अभिसारी नगरीपर विजय पायी और उरगावासी राजा रोचमानको भी युद्धमें परास्त किया ॥ १९ ॥

ततः सिंहपुरं रम्यं चित्रायुधसुरक्षितम् ।
प्राधमद् बलमास्थाय पाकशासनिराहवे ॥ २० ॥

तदनन्तर इन्द्रकुमार अर्जुनने राजा चित्रायुधके द्वारा सुरक्षित सुरम्य नगर सिंहपुरपर सेना लेकर आक्रमण किया और उसे युद्धमें जीत लिया ॥ २० ॥

ततः सुह्मांश्च चोलांश्च किरीटी पाण्डवर्षभः ।
सहितः सर्वसैन्येन प्रामथत् कुरुनन्दनः ॥ २१ ॥

इसके बाद पाण्डवप्रवर कुरुकुलनन्दन किरीटीने अपनी सारी सेनाके साथ धावा करके सुह्म तथा चोल देशकी सेनाओंको मथ डाला ॥ २१ ॥

ततः परमविक्रान्तो बाह्लीकान् पाकशासनिः ।
महता परिमर्देन वशे चक्रे दुरासदान् ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् परम पराक्रमी इन्द्रकुमारने बड़ी भारी मार-काट मचाकर दुर्धर्ष वीर बाह्लीकोंको वशमें किया ॥ २२ ॥

गृहीत्वा तु बलं सारं फाल्गुनः पाण्डुनन्दनः ।
दरदान् सह काम्बोजैरजयत् पाकशासनिः ॥ २३ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनने अपने साथ शक्तिशालिनी सेना लेकर काम्बोजोंके साथ दरदोंको भी जीत लिया ॥ २३ ॥

प्रागुत्तरां दिशं ये च वसन्त्याश्रित्य दस्यवः ।
निवसन्ति वने ये च तान् सर्वानजयत् प्रभुः ॥ २४ ॥

ईशान कोणका आश्रय ले जो लुटेरे या डाकू वनमें निवास करते थे, उन सबको शक्तिशाली धनंजयने जीतकर वशमें कर लिया ॥ २४ ॥

लोहान् परमकाम्बोजानृषिकानुत्तरानपि ।
सहितांस्तान् महाराज व्यजयत् पाकशासनिः ॥ २५ ॥

महाराज ! लोह, परमकाम्बोज, ऋषिक तथा उत्तर देशोंको भी अर्जुनने एक साथ जीत लिया ॥ २५ ॥

ऋषिकेष्वपि संग्रामो बभूवातिभयंकरः ।
तारकामयसंकाशः परस्त्वृषिकपार्थयोः ॥ २६ ॥

ऋषिकदेशमें भी ऋषिकराज और अर्जुनमें तारकामय संग्रामके समान बड़ा भयंकर युद्ध हुआ ॥ २६ ॥

स विजित्य ततो राजन्नृषिकान् रणमूर्धनि।
शुकोदरसमांस्तत्र हयानष्टौ समानयत्॥ २७॥

राजन्! युद्धके मुहानेपर ऋषिकोंको हराकर अर्जुनने तोतेके उदरके समान हरे रंगवाले आठ घोड़े उनसे भेंट लिये॥

मयूरसदृशानन्यानुत्तरानपरानपि।
जवनानाशुगांश्चैव करार्थं समुपानयत्॥ २८॥

इनके सिवा, मोरके समान रंगवाले उत्तम, गतिशील और शीघ्रगामी दूसरे भी बहुतसे घोड़े वे करके रूपमें वसूल कर लाये॥ २८॥

स विनिर्जित्य संग्रामे हिमवन्तं सनिष्कुटम्।
श्वेतपर्वतमासाद्य न्यविशत् पुरुषर्षभः॥ २९॥

इसके बाद पुरुषोत्तम अर्जुन संग्राममें हिमवान् और निष्कुट प्रदेशके अधिपतियोंको जीतकर धवलगिरिपर आये और वहीं सेनाका पड़ाव डाला॥ २९॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि फाल्गुनदिग्विजये नानादेशजये सप्तविंशोऽध्यायः॥ २७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें अर्जुनदिग्विजयके प्रसंगमें अनेक देशोंपर विजयसम्बन्धी सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

किम्पुरुष, हाटक तथा उत्तरकुरुपर विजय प्राप्त करके अर्जुनका इन्द्रप्रस्थ लौटना

वैशम्पायन उवाच

स श्वेतपर्वतं वीरः समतिक्रम्य वीर्यवान्।
देशं किम्पुरुषावासं द्रुमपुत्रेण रक्षितम्॥ १॥
महता संनिपातेन क्षत्रियान्तकरेण ह।
अजयत् पाण्डवश्रेष्ठः करे चैनं न्यवेशयत्॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पराक्रमी वीर पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन धवलगिरिको लाँघकर द्रुमपुत्रके द्वारा सुरक्षित किम्पुरुषदेशमें गये, जहाँ किन्नरोंका निवास था। वहाँ क्षत्रियोंका विनाश करनेवाले भारी संग्रामके द्वारा उन्होंने उस देशको जीत लिया और कर देते रहनेकी शर्तपर उस राजाको पुनः उसी राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया॥

तं जित्वा हाटकं नाम देशं गुह्यकरक्षितम्।
पाकशासनिरव्यग्रः सहसैन्यः समासदत्॥ ३॥

किन्नरदेशको जीतकर शान्तचित्त इन्द्रकुमारने सेनाके साथ गुह्यकोंद्वारा सुरक्षित हाटकदेशपर हमला किया॥ ३॥

तांस्तु सान्त्वेन निर्जित्य मानसं सर उत्तमम्।
ऋषिकुल्यास्तथा सर्वा ददर्श कुरुनन्दनः॥ ४॥

और उन गुह्यकोंको सामनीतिसे समझा-बुझाकर ही वशमें कर लेनेके पश्चात् वे परम उत्तम मानसरोवरपर गये। वहाँ कुरुनन्दन अर्जुनने समस्त ऋषि-कुल्याओं (ऋषियोंके नामसे प्रसिद्ध जल-स्रोतों) का दर्शन किया॥ ४॥

सरो मानसमासाद्य हाटकानभितः प्रभुः।
गन्धर्वरक्षितं देशमजयत् पाण्डवस्ततः॥ ५॥

मानसरोवरपर पहुँचकर शक्तिशाली पाण्डुकुमारने हाटक देशके निकटवर्ती गन्धर्वोंद्वारा सुरक्षित प्रदेशपर भी अधिकार प्राप्त कर लिया॥ ५॥

तत्र तित्तिरिकल्माषान् मण्डूकाख्यान् हयोत्तमान्।
लेभे स करमत्यन्तं गन्धर्वनगरात् तदा॥ ६॥

वहाँ गन्धर्वनगरसे उन्होंने उस समय करके रूपमें तित्तिरि, कल्माष और मण्डूक नामवाले बहुत-से उत्तम घोड़े प्राप्त किये॥ ६॥

(हेमकूटमथासाद्य न्यविशत् फाल्गुनस्तथा।
तं हेमकूटं राजेन्द्र समतिक्रम्य पाण्डवः॥
हरिवर्षं विवेशाथ सैन्येन महताऽऽवृतः।
तत्र पार्थो ददर्शाथ बहूनिह मनोरमान्॥
नगरांश्च वनांश्चैव नदीश्च विमलोदकाः।

तत्पश्चात् अर्जुनने हेमकूट पर्वतपर जाकर पड़ाव डाला। राजेन्द्र! फिर हेमकूटको भी लाँघकर वे पाण्डुनन्दन पार्थ अपनी विशाल सेनाके साथ हरिवर्षमें जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने बहुत-से मनोरम नगर, सुन्दर वन तथा निर्मल जलसे भरी हुई नदियाँ देखीं॥

पुरुषान् देवकल्पांश्च नारीश्च प्रियदर्शनाः॥
तान् सर्वांस्तत्र दृष्ट्वाथ मुदा युक्तो धनंजयः।

वहाँके पुरुष देवताओंके समान तेजस्वी थे। स्त्रियाँ भी परम सुन्दरी थीं। उन सबका अवलोकन करके अर्जुनको वहाँ बड़ी प्रसन्नता हुई॥

वशे चक्रेऽथ रत्नानि लेभे च सुबहूनि च॥
ततो निषधमासाद्य गिरिस्थानजयत् प्रभुः।
अथ राजन्नतिक्रम्य निषधं शैलमायतम्॥
विवेश मध्यमं वर्षं पार्थो दिव्यमिलावृतम्।

उन्होंने हरिवर्षको अपने अधीन कर लिया और वहाँसे बहुतेरे रत्न प्राप्त किये। इसके बाद निषधपर्वतपर जाकर

शक्तिशाली अर्जुनने वहाँके निवासियोंको पराजित किया। तदनन्तर विशाल निषधपर्वतको लाँघकर वे दिव्य इलावृत-वर्षमें पहुँचे, जो जम्बूद्वीपका मध्यवर्ती भूभाग है ॥

तत्र देवोपमान् दिव्यान् पुरुषान् देवदर्शनान् ॥
अदृष्टपूर्वान् सुभगान् स ददर्श धनंजयः।

वहाँ अर्जुनने देवताओं-जैसे दिखायी देनेवाले देवोपम शक्तिशाली दिव्य पुरुष देखे। वे सब-के-सब अत्यन्त सौभाग्य-शाली और अद्भुत थे। उससे पहले अर्जुनने कभी वैसे दिव्य पुरुष नहीं देखे थे ॥

सदनानि च शुभ्राणि नारीश्चाप्सरसंनिभाः ॥
दृष्ट्वा तानजयद् रम्यान् स तैश्च ददृशे तदा।

वहाँके भवन अत्यन्त उज्ज्वल और भव्य थे तथा नारियाँ अप्सराओंके समान प्रतीत होती थीं। अर्जुनने वहाँ-के रमणीय स्त्री-पुरुषोंको देखा। इनपर भी वहाँके लोगोंकी दृष्टि पड़ी ॥

जित्वा च तान् महाभागान् करे च विनिवेश्य सः॥
रत्नान्यादाय दिव्यानि भूषणैर्वसनैः सह।
उदीचीमथ राजेन्द्र ययौ पार्थो मुदान्वितः॥

तत्पश्चात् उस देशके निवासियोंको अर्जुनने युद्धमें जीत लिया, जीतकर उनपर कर लगाया और फिर उन्हीं बड़-भागियोंको वहाँके राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया। फिर वस्त्रों और आभूषणोंके साथ दिव्य रत्नोंकी भेंट लेकर अर्जुन बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँसे उत्तर दिशाकी ओर बढ़ गये ॥

स ददर्श महामेरुं शिखराणां प्रभुं महत्।
तं काञ्चनमयं दिव्यं चतुर्वर्णं दुरासदम्॥
आयतं शतसाहस्रं योजनानां तु सुस्थितम्।
ज्वलन्तमचलं मेरुं तेजोराशिमनुत्तमम्॥
आक्षिपन्तं प्रभां भानोः स्वशृङ्गैः काञ्चनोज्ज्वलैः।
काञ्चनाभरणं दिव्यं देवगन्धर्वसेवितम्॥
नित्यपुष्पफलोपेतं सिद्धचारणसेवितम्।
अप्रमेयमनाधृष्यमधर्मबहुलैर्जनैः ॥

आगे जाकर उन्हें पर्वतोंके स्वामी गिरिप्रवर महामेरुका दर्शन हुआ, जो दिव्य तथा सुवर्णमय है। उसमें चार प्रकारके रंग दिखायी पड़ते हैं। वहाँतक पहुँचना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है। उसकी लम्बाई एक लाख योजन है। वह परम उत्तम मेरुपर्वत महान् तेजके पुञ्ज-सा जगमगाता रहता है और अपने सुवर्णमय कान्तिमान् शिखरोंद्वारा सूर्यकी प्रभाको तिरस्कृत करता है। वह सुवर्णभूषित दिव्य पर्वत देवताओं तथा गन्धर्वोंसे सेवित है। सिद्ध और चारण भी वहाँ नित्य निवास करते हैं। उस पर्वतपर सदा फल और फूलोंकी बहुतायत रहती है। उसकी ऊँचाईका कोई माप नहीं है। अधर्मपरायण मनुष्य उस पर्वतका स्पर्श नहीं कर सकते ॥

व्यालैराचरितं घोरैर्दिव्यौषधिविदीपितम्।
स्वर्गमावृत्य तिष्ठन्तमुच्छ्रायेण महागिरिम्॥
अगम्यं मनसाप्यन्यैर्नदीवृक्षसमन्वितम्।
नानाविहगसङ्घैश्च नादितं सुमनोहरैः॥
तं दृष्ट्वा फाल्गुनो मेरुं प्रीतिमानभवत् तदा।

बड़े भयंकर सर्प वहाँ विचरण करते हैं। दिव्य ओषधियाँ उस पर्वतको प्रकाशित करती रहती हैं। महागिरि मेरु ऊँचाईद्वारा स्वर्गलोकको भी घेरकर खड़ा है। दूसरे मनुष्य मनसे भी वहाँ नहीं पहुँच सकते। कितनी ही नदियाँ और वृक्ष उस शैल-शिखरकी शोभा बढ़ाते हैं। भाँति-भाँतिके मनोहर पक्षी वहाँ कलरव करते रहते हैं। ऐसे मनोहर मेरु-गिरिको देखकर उस समय अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

मेरोरिलावृतं वर्षं सर्वतः परिमण्डलम्॥
मेरोस्तु दक्षिणे पार्श्वे जम्बूर्नाम वनस्पतिः।
नित्यपुष्पफलोपेतः सिद्धचारणसेवितः॥

मेरुके चारों ओर मण्डलाकार इलावृतवर्ष बसा हुआ है। मेरुके दक्षिण पार्श्वमें जम्बू नामका एक वृक्ष है, जो सदा फल और फूलोंसे भरा रहता है। सिद्ध और चारण उस वृक्षका सेवन करते हैं ॥

आस्वर्गमुच्छ्रिता राजन् तस्य शाखा वनस्पतेः।
यस्य नाम्ना त्विदं द्वीपं जम्बूद्वीपमिति श्रुतम्॥

राजन्! उक्त जम्बू-वृक्षकी शाखा ऊँचाईमें स्वर्गलोकतक फैली हुई है। उसीके नामपर इस द्वीपको जम्बूद्वीप कहते हैं ॥

तां च जम्बूं ददर्शाथ सव्यसाची परंतपः।
तौ दृष्ट्वाप्रतिमौ लोके जम्बूं मेरुं च संस्थितौ॥
प्रीतिमानभवद् राजन् सर्वतः स विलोकयन्।
तत्र लेभे ततो जिष्णुः सिद्धैर्दिव्यैश्च चारणैः॥
रत्नानि बहुसाहस्रं वस्त्राण्याभरणानि च।
अन्यानि च महार्हाणि तत्र लब्ध्वार्जुनस्तदा॥
आमन्त्रयित्वा तान् सर्वान् यज्ञमुद्दिश्य वै गुरोः।
अथादाय बहून् रत्नान् गमनायोपचक्रमे॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने उस जम्बू-वृक्षको देखा। जम्बू और मेरुगिरि दोनों ही इस जगत्में अनुपम हैं। उन्हें देखकर अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई। राजन्! वहाँ सब ओर दृष्टिपात करते हुए अर्जुनने सिद्धों और दिव्य चारणोंसे कई सहस्र रत्न, वस्त्र, आभूषण तथा अन्य बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त कीं। तदनन्तर उन सबसे विदा ले बड़े भाईके यज्ञके उद्देश्य-से बहुत-से रत्नोंका संग्रह करके वे वहाँसे जानेको उद्यत हुए ॥

मेरुं प्रदक्षिणं कृत्वा पर्वतप्रवरं प्रभुः ।
ययौ जम्बूनदीतीरं नदीं श्रेष्ठां विलोकयन् ॥
स तां मनोरमां दिव्यां जम्बूस्वादुरसावहाम् ।

पर्वतश्रेष्ठ मेरुको अपने दाहिने करके अर्जुन जम्बूनदीके तटपर गये । वे उस श्रेष्ठ सरिताकी शोभा देखना चाहते थे । वह मनोरम दिव्य नदी जलके रूपमें जम्बूवृक्षके फलोंका स्वादिष्ट रस बहाती थी ॥

हेमपक्षिगणैर्जुष्टां सौवर्णजलजाकुलाम् ॥
हेमपङ्कां हेमजलां शुभां सौवर्णवालुकाम् ।

सुनहरे पंखोंवाले पक्षी उसका सेवन करते थे । वह नदी सुवर्णमय कमलोंसे भरी हुई थी । उसकी कीचड़ भी स्वर्णमय थी । उसके जलसे भी सुवर्णमयी आभा छिटक रही थी । उस मङ्गलमयी नदीकी वालुका भी सुवर्णके चूर्ण-सी शोभा पाती थी ॥

क्वचित् सौवर्णपद्मैश्च संकुलां हेमपुष्पकैः ॥
क्वचित् सुपुष्पितैः कीर्णां सुवर्णकुमुदोत्पलैः ।
क्वचित् तीररुहैः कीर्णां हेमवृक्षैः सुपुष्पितैः ॥

कहीं-कहीं सुवर्णमय कमलों तथा स्वर्णमय पुष्पोंसे वह व्याप्त थी । कहीं सुन्दर खिले हुए सुवर्णमय कुमुद और उत्पल छाये हुए थे । कहीं उस नदीके तटपर सुन्दर फूलोंसे भरे हुए स्वर्णमय वृक्ष सब ओर फैले हुए थे ॥

तीर्थैश्च रुक्मसोपानैः सर्वतः संकुलां शुभाम् ।
विमलैर्मणिजालैश्च नृत्यगीतरवैर्युताम् ॥

उस सुन्दर सरिताके घाटोंपर सब ओर सोनेकी सीढ़ियाँ बनी हुई थीं । निर्मल मणियोंके समूह उसकी शोभा बढ़ाते थे । नृत्य और गीतके मधुर शब्द उस प्रदेशको मुखरित कर रहे थे ॥

दीप्तहेमवितानैश्च समन्ताच्छोभितां शुभाम् ।
तथाविधां नदीं दृष्ट्वा पार्थस्तां प्रशशंस ह ॥
अदृष्टपूर्वां राजेन्द्र दृष्ट्वा हर्षमवाप च ।

उसके दोनों तटोंपर सुनहरे और चमकीले चँदोवे तने थे, जिनके कारण जम्बू नदीकी बड़ी शोभा हो रही थी । राजेन्द्र ! ऐसी अदृष्टपूर्व नदीका दर्शन करके अर्जुनने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और वे मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥

दर्शनीयान् नदीतीरे पुरुषान् सुमनोहरान् ॥
तान् नदीसलिलाहारान् सदारानमरोपमान् ।
नित्यं सुखमुदा युक्तान् सर्वालंकारशोभितान् ॥

उस नदीके तटपर बहुत-से देवोपम पुरुष अपनी स्त्रियोंके साथ विचर रहे थे । उनका सौन्दर्य देखने ही योग्य था । वे सबके मनको मोह लेते थे । जम्बू नदीका जल ही उनका आहार था । वे सदा सुख और आनन्दमें निमग्न रहनेवाले तथा सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित थे ॥

तेभ्यो बहूनि रत्नानि तदा लेभे धनंजयः ।
दिव्यजाम्बूनदं हेमभूषणानि च पेशलम् ॥
लब्ध्वा तान् दुर्लभान् पार्थः प्रतीचीं प्रययौ दिशम् ।

उस समय अर्जुनने उनसे भी नाना प्रकारके रत्न प्राप्त किये । दिव्य जाम्बूनद नामक सुवर्ण और भाँति-भाँतिके आभूषण आदि दुर्लभ वस्तुएँ पाकर अर्जुन वहाँसे पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये ॥

नागानां रक्षितं देशमजयच्चार्जुनस्ततः ॥
ततो गत्वा महाराज वारुणीं पाकशासनिः ।
गन्धमादनमासाद्य तत्रस्थानजयत् प्रभुः ॥
तं गन्धमादनं राजन्नतिक्रम्य ततोऽर्जुनः ।
केतुमालं विवेशाथ वर्षं रत्नसमन्वितम् ।
सेवितं देवकल्पैश्च नारीभिः प्रियदर्शनैः ॥

उधर जाकर अर्जुनने नागोंद्वारा सुरक्षित प्रदेशपर विजय पायी । महाराज ! वहाँसे और पश्चिम जाकर शक्तिशाली अर्जुन गन्धमादन पर्वतपर पहुँच गये और वहाँके रहनेवालोंको जीतकर अपने अधीन बना लिया । राजन् ! इस प्रकार गन्धमादन पर्वतको लाँघकर अर्जुन रत्नोंसे सम्पन्न केतुमालवर्षमें गये, जो देवोपम पुरुषों और सुन्दरी स्त्रियोंकी निवासभूमि है ॥

तं जित्वा चार्जुनो राजन् करे च विनिवेश्य च ।
आहृत्य तत्र रत्नानि दुर्लभानि तथार्जुनः ॥
पुनश्च परिवृत्याथ मध्यं देशमिलावृतम् ।

राजन् ! उस वर्षको जीतकर अर्जुनने उसे कर देनेवाला बना दिया और वहाँसे दुर्लभ रत्न लेकर वे पुनः मध्यवर्ती इलावृतवर्षमें लौट आये ॥

गत्वा प्राचीं दिशं राजन् सव्यसाची परंतपः ॥
मेरुमन्दरयोर्मध्ये शैलोदामभितो नदीम् ।
ये ते कीचकवेणूनां छायां रम्यामुपासते ॥
खशाञ्झषांश्च नद्योतान् प्रघसान् दीर्घवेणिकान् ।
पशुपांश्च कुलिन्दांश्च तङ्गणान् परतङ्गणान् ॥
रत्नान्यादाय सर्वेभ्यो माल्यवन्तं ततो ययौ ।
तं माल्यवन्तं शैलेन्द्रं समतिक्रम्य पाण्डवः ॥
भद्राश्वं प्रविवेशाथ वर्षं स्वर्गोपमं शुभम् ।

तदनन्तर शत्रुदमन सव्यसाची अर्जुनने पूर्व दिशामें प्रस्थान किया । मेरु और मन्दराचलके बीच शैलोदा नदीके दोनों तटोंपर जो लोग कीचक और वेणु नामक बाँसोंकी रमणीय छायाका आश्रय लेकर रहते हैं, उन खश, झष, नद्योत, प्रघस, दीर्घवेणिक, पशुप, कुलिन्द, तङ्गण तथा परतङ्गण आदि जातियोंको हराकर उन सबसे रत्नोंकी भेंट ले अर्जुन माल्यवान् पर्वतपर गये । तत्पश्चात् गिरिराज माल्यवान्को

भी लाँघकर उन पाण्डुकुमारने भद्राश्ववर्षमें प्रवेश किया, जो स्वर्गके समान सुन्दर है ॥

तत्रामरोपमान् रम्यान् पुरुषान् सुखसंयुतान् ॥
जित्वा तान् स्ववशे कृत्वा करे च विनिवेश्य च ।
आहृत्य सर्वरत्नानि असंख्यानि ततस्ततः ॥
नीलं नाम गिरिं गत्वा तत्रस्थानजयत् प्रभुः ।

उस देशमें देवताओंके समान सुन्दर और सुखी पुरुष निवास करते थे। अर्जुनने उन सबको जीतकर अपने अधीन कर लिया और उनपर कर लगा दिया। इस प्रकार इधर-उधरसे असंख्य रत्नोंका संग्रह करके शक्तिशाली अर्जुनने नीलगिरिकी यात्रा की और वहाँके निवासियोंको पराजित किया ॥

ततो जिष्णुरतिक्रम्य पर्वतं नीलमायतम् ॥
विवेश रम्यकं वर्षं संकीर्णं मिथुनैः शुभैः ।
तं देशमथ जित्वा च करे च विनिवेश्य च ॥
अजयच्चापि बीभत्सुर्देशं गुह्यकरक्षितम् ।
तत्र लेभे च राजेन्द्र सौवर्णान् मृगपक्षिणः ॥
अगृह्णाद् यज्ञभूत्यर्थं रमणीयान् मनोरमान् ।

तदनन्तर विशाल नीलगिरिको भी लाँघकर सुन्दर नर-नारियोंसे भरे हुए रम्यकवर्षमें उन्होंने प्रवेश किया। उस देशको भी जीतकर अर्जुनने वहाँके निवासियोंपर कर लगा दिया। तत्पश्चात् गुह्यकोंद्वारा सुरक्षित प्रदेशको जीतकर अपने अधिकारमें कर लिया। राजेन्द्र! वहाँ उन्हें सोनेके मृग और पक्षी उपलब्ध हुए, जो देखनेमें बड़े ही रमणीय और मनोरम थे। उन्होंने यज्ञ-वैभवकी समृद्धिके लिये उन मृगों और पक्षियोंको ग्रहण कर लिया ॥

अन्यानि लब्ध्वा रत्नानि पाण्डवोऽथ महाबलः ॥
गन्धर्वरक्षितं देशमजयत् सगणं तदा ।
तत्र रत्नानि दिव्यानि लब्ध्वा राजन्नथार्जुनः ॥
श्वेतपर्वतमासाद्य जित्वा पर्वतवासिनः ।
स श्वेतं पर्वतं राजन् समतिक्रम्य पाण्डवः ॥
वर्षं हिरण्यकं नाम विवेशाथ महीपते ।

तदनन्तर महाबली पाण्डुनन्दन अन्य बहुत-से रत्न लेकर गन्धर्वोंद्वारा सुरक्षित प्रदेशमें गये और गन्धर्वगणोंसहित उस देशपर अधिकार जमा लिया। राजन्! वहाँ भी अर्जुनको बहुत-से दिव्य रत्न प्राप्त हुए। तदनन्तर उन्होंने श्वेत पर्वतपर जाकर वहाँके निवासियोंको जीता। फिर उस पर्वतको लाँघकर पाण्डुकुमार अर्जुनने हिरण्यकवर्षमें प्रवेश किया ॥

स तु देशेषु रम्येषु गन्तुं तत्रोपचक्रमे ॥
मध्ये प्रासादवृन्देषु नक्षत्राणां शशी यथा ।

महाराज! वहाँ पहुँचकर वे उस देशके रमणीय प्रदेशोंमें विचरने लगे। बड़े-बड़े महलोंकी पङ्क्तियोंमें भ्रमण करते हुए श्वेताश्व अर्जुन नक्षत्रोंके बीच चन्द्रमाके समान सुशोभित होते थे ॥

महापथेषु राजेन्द्र सर्वतो यान्तमर्जुनम् ॥
प्रासादवरशृङ्गस्थाः परया वीर्यशोभया ।
ददृशुस्ताः स्त्रियः सर्वाः पार्थमात्मयशस्करम् ॥
तं कलापधरं शूरं सरथं सानुगं प्रभुम् ।
सवर्मसुकिरीटं वै संनद्धं सपरिच्छदम् ॥
सुकुमारं महासत्त्वं तेजोराशिमनुत्तमम् ।
शक्रोपममित्रघ्नं परवारणवारणम् ॥
पश्यन्तः स्त्रीगणास्तत्र शक्तिपाणिं स्म मेनिरे ।

राजेन्द्र! जब अर्जुन उत्तम बल और शोभासे सम्पन्न हो हिरण्यकवर्षकी विशाल सड़कोंपर चलते थे, उस समय प्रासाद-शिखरोंपर खड़ी हुई वहाँकी सुन्दरी स्त्रियाँ उनका दर्शन करती थीं। कुन्तीनन्दन अर्जुन अपने यशको बढ़ानेवाले थे। उन्होंने आभूषण धारण कर रक्खा था। वे शूर वीर, रथयुक्त, सेवकोंसे सम्पन्न और शक्तिशाली थे। उनके अङ्गोंमें कवच और मस्तकपर सुन्दर किरीट शोभा दे रहा था। वे कमर कसकर युद्धके लिये तैयार थे और सब प्रकारकी आवश्यक सामग्री उनके साथ थी। वे सुकुमार, अत्यन्त धैर्यवान्, तेजके पुञ्ज, परम उत्तम, इन्द्र-तुल्य पराक्रमी, शत्रुहन्ता तथा शत्रुओंके गजराजोंकी गतिको रोक देनेवाले थे। उन्हें देखकर वहाँकी स्त्रियोंने यही अनुमान लगाया कि इस वीर पुरुषके रूपमें साक्षात् शक्तिधारी कार्तिकेय पधारे हैं ॥

अयं स पुरुषव्याघ्रो रणेऽद्भुतपराक्रमः ॥
अस्य बाहुबलं प्राप्य न भवन्त्यसुहृद्गणाः ।

वे आपसमें इस प्रकार बातें करने लगीं—'सखियो! ये जो पुरुषसिंह दिखायी दे रहे हैं, संग्राममें इनका पराक्रम अद्भुत है। इनके बाहुबलका आक्रमण होनेपर शत्रुओंके समुदाय अपना अस्तित्व खो बैठते हैं ॥'

इति वाचो ब्रुवन्त्यस्ताः स्त्रियः प्रेम्णा धनंजयम् ॥
तुष्टुवुः पुष्पवृष्टिं च ससृजुस्तस्य मूर्धनि ।

इस प्रकारकी बातें करती हुई स्त्रियाँ बड़े प्रेमसे अर्जुन-की ओर देखकर उनके गुण गातीं और उनके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा करती थीं ॥

दृष्ट्वा ते तु मुदा युक्ताः कौतूहलसमन्विताः ॥
रत्नैर्विभूषणैश्चैव अभ्यवर्षन्त पाण्डवम् ।

वहाँके सभी निवासी बड़ी प्रसन्नताके साथ कौतूहलवश उन्हें देखते और उनके निकट रत्नों तथा आभूषणोंकी वर्षा करते थे ॥

अथ जित्वा समस्तांस्तान् करे च विनिवेश्य च ॥
मणिहेमप्रवालानि रत्नान्याभरणानि च ।
एतानि लब्ध्वा पार्थोऽपि शृङ्गवन्तं गिरिं ययौ ॥
शृङ्गवन्तं च कौन्तेयः समतिक्रम्य फाल्गुनः ॥,)
उत्तरं कुरुवर्षं तु स समासाद्य पाण्डवः ।
इयेष जेतुं तं देशं पाकशासननन्दनः ॥ ७ ॥

उन सबको जीतकर तथा उनके ऊपर कर लगाकर वहाँसे मणि, सुवर्ण, मूँगे, रत्न तथा आभूषण ले अर्जुन शृङ्गवान् पर्वतपर चले गये। वहाँसे आगे बढ़कर पाकशासनपुत्र पाण्डव अर्जुनने उत्तर कुरुवर्षमें पहुँचकर उस देशको जीतनेका विचार किया ॥ ७ ॥

तत एनं महावीर्यं महाकाया महाबलाः ।
द्वारपालाः समासाद्य हृष्टा वचनमब्रुवन् ॥ ८ ॥

इतनेहीमें महापराक्रमी अर्जुनके पास बहुतसे विशालकाय महाबली द्वारपाल आ पहुँचे और प्रसन्नतापूर्वक बोले—॥

पार्थ नेदं त्वया शक्यं पुरं जेतुं कथंचन ।
उपावर्तस्व कल्याण पर्याप्तमिदमच्युत ॥ ९ ॥
इदं पुरं यः प्रविशेद् ध्रुवं न स भवेन्नरः ।
प्रीयामहे त्वया वीर पर्याप्तो विजयस्तव ॥ १० ॥

'पार्थ ! इस नगरको तुम किसी तरह जीत नहीं सकते। कल्याणस्वरूप अर्जुन ! यहाँसे लौट जाओ। अच्युत ! तुम यहाँतक आ गये, यही बहुत हुआ। जो मनुष्य इस नगरमें प्रवेश करता है, निश्चय ही उसकी मृत्यु हो जाती है। वीर ! हम तुमसे बहुत प्रसन्न हैं। यहाँतक आ पहुँचना ही तुम्हारी बहुत बड़ी विजय है ॥ ९-१० ॥

न चात्र किंचिज्जेतव्यमर्जुनात्र प्रदृश्यते ।
उत्तराः कुरवो ह्येते नात्र युद्धं प्रवर्तते ॥ ११ ॥
प्रविष्टोऽपि हि कौन्तेय नेह द्रक्ष्यसि किंचन ।
न हि मानुषदेहेन शक्यमत्राभिवीक्षितुम् ॥ १२ ॥

'अर्जुन ! यहाँ कोई जीतने योग्य वस्तु नहीं दिखायी देती। यह उत्तर कुरुदेश है। यहाँ युद्ध नहीं होता है। कुन्तीकुमार ! इसके भीतर प्रवेश करके भी तुम यहाँ कुछ देख नहीं सकोगे, क्योंकि मानव-शरीरसे यहाँकी कोई वस्तु देखी नहीं जा सकती ॥ ११-१२॥

अथेह पुरुषव्याघ्र किंचिदन्यच्चिकीर्षसि ।
तत् प्रब्रूहि करिष्यामो वचनात् तव भारत ॥ १३ ॥

'भरतकुलभूषण पुरुषसिंह ! यदि यहाँ तुम युद्धके सिवा और कोई काम करना चाहते हो तो बताओ, तुम्हारे कहनेसे हम स्वयं ही उस कार्यको पूर्ण कर देंगे' ॥ १३ ॥

ततस्तानब्रवीद् राजन्नर्जुनः प्रहसन्निव ।
पार्थिवत्वं चिकीर्षामि धर्मराजस्य धीमतः ॥ १४ ॥

राजन् ! तब अर्जुनने उनसे हँसते हुए कहा—'मैं अपने भाई बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरको समस्त भूमण्डलका एकमात्र चक्रवर्ती सम्राट् बनाना चाहता हूँ ॥ १४ ॥

न प्रवेक्ष्यामि वो देशं विरुद्धं यदि मानुषैः ।
युधिष्ठिराय यत् किंचित् करपण्यं प्रदीयताम् ॥ १५ ॥

'आपलोगोंका देश यदि मनुष्योंके विपरीत पड़ता है तो मैं इसमें प्रवेश नहीं करूँगा। महाराज युधिष्ठिरके लिये करके रूपमें कुछ धन दीजिये' ॥ १५ ॥

ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च ।
क्षौमाजिनानि दिव्यानि तस्य ते प्रददुः करम् ॥ १६ ॥

तब उन द्वारपालोंने अर्जुनको करके रूपमें बहुत-से दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण तथा दिव्य रेशमी वस्त्र एवं मृगचर्म दिये। १६।

एवं स पुरुषव्याघ्रो विजित्य दिशमुत्तराम् ।
संग्रामान् सुबहून् कृत्वा क्षत्रियैर्दस्युभिस्तथा ॥ १७ ॥
स विनिर्जित्य राज्ञस्तान् करे च विनिवेश्य तु ।
धनान्यादाय सर्वेभ्यो रत्नानि विविधानि च ॥ १८ ॥
हयांस्तित्तिरिकल्माषाञ्छुकपत्रनिभानपि ।
मयूरसदृशानन्यान् सर्वाननिलरंहसः ॥ १९ ॥
वृतः सुमहता राजन् बलेन चतुरङ्गिणा ।
आजगाम पुनर्वीरः शक्रप्रस्थं पुरोत्तमम् ॥ २० ॥

इस प्रकार पुरुषसिंह अर्जुनने क्षत्रिय राजाओं तथा लुटेरोंके साथ बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़ीं और उत्तर दिशापर विजय प्राप्त की। राजाओंको जीतकर उनसे कर लेते और उन्हें फिर अपने राज्यपर ही स्थापित कर देते थे। राजन् ! वे वीर अर्जुन सबसे धन और भाँति-भाँतिके रत्न लेकर तथा भेंटमें मिले हुए वायुके समान वेगवाले तित्तिरि[1], कल्माष, सुग्गापङ्खी एवं मोर-सदृश सभी घोड़ोंको साथ लिये और विशाल चतुरङ्गिणी सेनासे घिरे हुए फिर अपने उत्तम नगर इन्द्रप्रस्थमें लौट आये ॥ १७–२० ॥



१. तीतरके समान चितकबरे रंगवाले।

धर्मराजाय तत् पार्थो धनं सर्वं सवाहनम्।
न्यवेदयदनुज्ञातस्तेन राज्ञा गृहान् ययौ ॥ २१ ॥

पार्थने घोड़ोंसहित वह सारा धन धर्मराजको सौंप दिया और उनकी आज्ञा लेकर वे महलमें चले गये ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि अर्जुनोत्तरदिग्विजये अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें अर्जुनकी उत्तर दिशापर विजय-विषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५८ श्लोक मिलाकर कुल ७९ श्लोक हैं)

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

भीमसेनका पूर्व दिशाको जीतनेके लिये प्रस्थान और विभिन्न देशोंपर विजय पाना

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु भीमसेनोऽपि वीर्यवान्।
धर्मराजमनुप्राप्य ययौ प्राचीं दिशं प्रति ॥ १ ॥
महता बलचक्रेण परराष्ट्रावमर्दिना।
हस्त्यश्वरथपूर्णेन दंशितेन प्रतापवान् ॥ २ ॥
वृतो भरतशार्दूलो द्विषच्छोकविवर्द्धनः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी समय शत्रुओंका शोक बढ़ानेवाले भरतवंशशिरोमणि महाप्रतापी एवं पराक्रमी भीमसेन भी धर्मराजकी आज्ञा ले, शत्रुके राज्यको कुचल देनेवाली और हाथी, घोड़े एवं रथसे भरी हुई, कवच आदिसे सुसज्जित विशाल सेनाके साथ पूर्व दिशाको जीतनेके लिये चले ॥ १-२½ ॥

स गत्वा नरशार्दूलः पञ्चालानां पुरं महत् ॥ ३ ॥
पञ्चालान् विविधोपायैः सान्त्वयामास पाण्डवः।

नरश्रेष्ठ भीमसेनने पहले पाञ्चालोंकी महानगरी अहिच्छत्रामें जाकर भाँति-भाँतिके उपायोंसे पाञ्चाल वीरोंको समझा-बुझाकर वशमें किया ॥ ३½ ॥

ततः स गण्डकाञ्छूरो विदेहान् भरतर्षभः ॥ ४ ॥
विजित्याल्पेन कालेन दशार्णानजयत् प्रभुः।
तत्र दाशार्णको राजा सुधर्मा लोमहर्षणम्।
कृतवान् भीमसेनेन महद् युद्धं निरायुधम् ॥ ५ ॥

वहाँसे आगे जाकर उन भरतवंशशिरोमणि शूर-वीर भीमने गण्डक (गण्डकी नदीके तटवर्ती) और विदेह (मिथिला) देशोंको थोड़े ही समयमें जीतकर दशार्ण देशको भी अपने अधिकारमें कर लिया । वहाँ दशार्णनरेश सुधर्माने भीमसेनके साथ विना अस्त्र-शस्त्रके ही महान् युद्ध किया । उन दोनोंका वह मल्लयुद्ध रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ ४-५ ॥

भीमसेनस्तु तद् दृष्ट्वा तस्य कर्म महात्मनः।
अधिसेनापतिं चक्रे सुधर्माणं महाबलम् ॥ ६ ॥

भीमसेनने उस महामना राजाका यह अद्भुत पराक्रम देखकर महाबली सुधर्माको अपना प्रधान सेनापति बना दिया॥६॥

ततः प्राचीं दिशं भीमो ययौ भीमपराक्रमः।
सैन्येन महता राजन् कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ ७ ॥

राजन्! इसके बाद भयानक पराक्रमी भीमसेन पुनः विशाल सेनाके साथ पृथ्वीको कँपाते हुए पूर्व दिशाकी ओर बढ़े ॥७॥

सोऽश्वमेधेश्वरं राजन् रोचमानं सहानुगम्।
जिगाय समरे वीरो बलेन बलिनां वरः ॥ ८ ॥

जनमेजय ! बलवानोंमें श्रेष्ठ वीरवर भीमने अश्वमेधदेशके राजा रोचमानको उनके सेवकोंसहित बलपूर्वक जीत लिया ॥८॥

स तं निर्जित्य कौन्तेयो नातितीव्रेण कर्मणा।
पूर्वदेशं महावीर्यो विजिग्ये कुरुनन्दनः ॥ ९ ॥

उन्हें हराकर महापराक्रमी कुरुनन्दन कुन्तीकुमार भीमने कोमल बर्तावके द्वारा ही पूर्वदेशपर विजय प्राप्त कर ली ॥ ९ ॥

ततो दक्षिणमागम्य पुलिन्दनगरं महत्।
सुकुमारं वशे चक्रे सुमित्रं च नराधिपम् ॥ १० ॥

तदनन्तर दक्षिण आकर पुलिन्दोंके महान् नगर सुकुमार और वहाँके राजा सुमित्रको अपने अधीन कर लिया ॥ १० ॥

ततस्तु धर्मराजस्य शासनाद् भरतर्षभः।
शिशुपालं महावीर्यमभ्यगाज्जनमेजय ॥ ११ ॥

जनमेजय ! तत्पश्चात् भरतश्रेष्ठ भीम धर्मराजकी आज्ञासे महापराक्रमी शिशुपालके यहाँ गये ॥ ११ ॥

चेदिराजोऽपि तच्छ्रुत्वा पाण्डवस्य चिकीर्षितम्।
उपनिष्क्रम्य नगरात् प्रत्यगृह्णात् परंतप ॥ १२ ॥

परंतप ! चेदिराज शिशुपालने भी पाण्डुकुमार भीमका अभिप्राय जानकर नगरसे बाहर आ स्वागत-सत्कारके साथ उन्हें अपनाया ॥ १२ ॥

तौ समेत्य महाराज कुरुचेदिवृषौ तदा।
उभयोरात्मकुलयोः कौशल्यं पर्यपृच्छताम् ॥ १३ ॥

महाराज ! कुरुकुल और चेदिकुलके वे श्रेष्ठ पुरुष परस्पर मिलकर दोनोंने दोनों कुलोंके कुशल-प्रश्न पूछे ॥ १३ ॥

ततो निवेद्य तद् राष्ट्रं चेदिराजो विशाम्पते।
उवाच भीमं प्रहसन् किमिदं कुरुषेऽनघ ॥ १४ ॥

राजन् ! तदनन्तर चेदिराजने अपना राष्ट्र भीमसेनको सौंपकर हँसते हुए पूछा—'अनघ ! यह क्या करते हो ?' ॥ १४ ॥

तस्य भीमस्तदाऽऽचख्यौ धर्मराजचिकीर्षितम् ।
स च तं प्रतिगृह्यैव तथा चक्रे नराधिपः ॥ १५ ॥

तब भीमने उससे धर्मराज जो कुछ करना चाहते थे, वह सब कह सुनाया । तदनन्तर राजा शिशुपालने उनकी बात मानकर कर देना स्वीकार कर लिया ॥ १५ ॥

ततो भीमस्तत्र राजन्नुषित्वा त्रिदश क्षपाः ।
सत्कृतः शिशुपालेन ययौ सबलवाहनः ॥ १६ ॥

राजन् ! उसके बाद शिशुपालसे सम्मानित हो भीमसेन अपनी सेना और सवारियोंके साथ तेरह दिन वहाँ रह गये। तत्पश्चात् वहाँसे विदा हुए ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भीमदिग्विजये एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें भीमदिग्विजयविषयक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

भीमका पूर्व दिशाके अनेक देशों तथा राजाओंको जीतकर भारी धन-सम्पत्तिके साथ इन्द्रप्रस्थमें लौटना

वैशम्पायन उवाच

ततः कुमारविषये श्रेणिमन्तमथाजयत् ।
कोसलाधिपतिं चैव बृहद्बलमरिंदमः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले भीमसेनने कुमारदेशके राजा श्रेणिमान् तथा कोसलराज बृहद्बलको परास्त किया ॥ १ ॥

अयोध्यायां तु धर्मज्ञं दीर्घयज्ञं महाबलम् ।
अजयत् पाण्डवश्रेष्ठो नातितीव्रेण कर्मणा ॥ २ ॥

इसके बाद अयोध्याके धर्मज्ञ नरेश महाबली दीर्घयज्ञको पाण्डवश्रेष्ठ भीमने कोमलतापूर्ण बर्तावसे वशमें कर लिया ॥ २ ॥

ततो गोपालकक्षं च सोत्तरानपि कोसलान् ।
मल्लानामधिपं चैव पार्थिवं चाजयत् प्रभुः ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् शक्तिशाली पाण्डुकुमारने गोपालकक्ष और उत्तर कोसल देशको जीतकर मल्लराष्ट्रके अधिपति पार्थिवको अपने अधीन कर लिया ॥ ३ ॥

ततो हिमवतः पार्श्वं समभ्येत्य जलोद्भवम् ।
सर्वमल्पेन कालेन देशं चक्रे वशं बली ॥ ४ ॥

इसके बाद हिमालयके पास जाकर बलवान् भीमने सारे जलोद्भव देशपर थोड़े ही समयमें अधिकार प्राप्त कर लिया ॥ ४ ॥

एवं बहुविधान् देशान् विजिग्ये भरतर्षभः ।
भल्लाटमभितो जिग्ये शुक्तिमन्तं च पर्वतम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार भरतवंशभूषण भीमसेनने अनेक देश जीते और भल्लाटके समीपवर्ती देशों तथा शुक्तिमान् पर्वतपर भी विजय प्राप्त की ॥ ५ ॥

पाण्डवः सुमहावीर्यो बलेन बलिनां वरः ।
स काशिराजं समरे सुबाहुमनिवर्तिनम् ॥ ६ ॥
वशे चक्रे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ।

बलवानोंमें श्रेष्ठ महापराक्रमी तथा भयंकर पुरुषार्थ प्रकट करनेवाले पाण्डुकुमार महाबाहु भीमसेनने समरमें पीठ न दिखानेवाले काशिराज सुबाहुको बलपूर्वक हराया ॥ ६½ ॥

ततः सुपार्श्वमभितस्तथा राजपतिं क्रथम् ॥ ७ ॥
युध्यमानं बलात् संख्ये विजिग्ये पाण्डवर्षभः ।

इसके बाद पाण्डुपुत्र भीमने सुपार्श्वके निकट राजराजेश्वर क्रथको, जो युद्धमें बलपूर्वक उनका सामना कर रहे थे, हरा दिया ॥ ७½ ॥

ततो मत्स्यान् महातेजा मलदांश्च महाबलान् ॥ ८ ॥
अनघानभयांश्चैव पशुभूमिं च सर्वशः ।
निवृत्य च महाबाहुर्मदधारं महीधरम् ॥ ९ ॥
सोमधेयांश्च निर्जित्य प्रययावुत्तरामुखः ।
वत्सभूमिं च कौन्तेयो विजिग्ये बलवान् बलात् ॥ १० ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी कुन्तीकुमारने मत्स्य, महाबली मलद, अनघ और अभय नामक देशोंको जीतकर पशुभूमि (पशुपतिनाथके निकटवर्ती स्थान—नेपाल) को भी सब ओरसे जीत लिया । वहाँसे लौटकर महाबाहु भीमने मदधार पर्वत और सोमधेयनिवासियोंको परास्त किया । इसके बाद बलवान् भीमने उत्तराभिमुख यात्रा की और वत्सभूमिपर बलपूर्वक अधिकार जमा लिया ॥ ८—१० ॥

भर्गाणामधिपं चैव निषादाधिपतिं तथा ।
विजिग्ये भूमिपालांश्च मणिमत्प्रमुखान् बहून् ॥ ११ ॥
ततो दक्षिणमल्लांश्च भोगवन्तं च पर्वतम् ।
तरसैवाजयद् भीमो नातितीव्रेण कर्मणा ॥ १२ ॥

फिर क्रमशः भर्गोंके स्वामी, निषादोंके अधिपति तथा मणिमान् आदि बहुत-से भूपालोंको अपने अधिकारमें कर लिया । तदनन्तर दक्षिण मल्लदेश तथा भोगवान् पर्वतको भीमसेनने अधिक प्रयास किये बिना ही वेगपूर्वक जीत लिया। ११-१२।

शर्मकान् वर्मकांश्चैव व्यजयत् सान्त्वपूर्वकम्।
वैदेहकं च राजानं जनकं जगतीपतिम् ॥ १३ ॥
विजिग्ये पुरुषव्याघ्रो नातितीव्रेण कर्मणा ।
शकांश्च बर्बरांश्चैव अजयच्छद्मपूर्वकम् ॥ १४ ॥

शर्मक और वर्मकोंको उन्होंने समझा-बुझाकर ही जीत लिया । विदेह देशके राजा जनकको भी पुरुषसिंह भीमने

अधिक उग्र प्रयास किये विना ही परास्त किया। फिर शकों और बर्बरोंपर छलसे विजय प्राप्त कर ली ॥ १३-१४॥

वैदेहस्थस्तु कौन्तेय इन्द्रपर्वतमन्तिकात्।
किरातानामधिपतीनजयत् सप्त पाण्डवः ॥ १५ ॥
ततः सुह्मान् प्रसुह्मांश्च सपक्षानतिवीर्यवान्।
विजित्य युधि कौन्तेयो मागधानभ्यधाद् वली ॥ १६ ॥

विदेह देशमें ही ठहरकर कुन्तीकुमार भीमने इन्द्रपर्वतके निकटवर्ती सात किरातराजोंको जीत लिया। इसके बाद सुह्म और प्रसुह्म देशके राजाओंको, जिनके पक्षमें बहुत लोग थे, अत्यन्त पराक्रमी और बलवान् कुन्तीकुमार भीम युद्धमें परास्त करके मगधदेशको चल दिये ॥ १५-१६ ॥

दण्डं च दण्डधारं च विजित्य पृथिवीपतीन्।
तैरेव सहितैः सर्वैर्गिरिव्रजमुपाद्रवत् ॥ १७ ॥

मार्गमें दण्ड-दण्डधार तथा अन्य राजाओंको जीतकर उन सबके साथ वे गिरिव्रज नगरमें आये ॥ १७ ॥

जारासंधिं सान्त्वयित्वा करे च विनिवेश्य ह।
तैरेव सहितैः सर्वैः कर्णमभ्यद्रवद् वली ॥ १८ ॥
स कम्पयन्निव महीं बलेन चतुरङ्गिणा।
युयुधे पाण्डवश्रेष्ठः कर्णेनामित्रघातिना ॥ १९ ॥
स कर्णं युधि निर्जित्य वशे कृत्वा च भारत।
ततो विजिग्ये बलवान् राज्ञः पर्वतवासिनः ॥ २० ॥
अथ मोदागिरौ चैव राजानं बलवत्तरम्।
पाण्डवो बाहुवीर्येण निजघान महामृधे ॥ २१ ॥

वहाँ जरासंधकुमार सहदेवको सान्त्वना देकर उसे कर देनेकी शर्तपर उसी राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया और उन सबके साथ बलवान् भीमने कर्णपर चढ़ाई की। पाण्डवश्रेष्ठ भीमने पृथ्वीको कम्पित-सी करते हुए चतुरंगिणी सेना साथ ले शत्रुघाती कर्णके साथ युद्ध छेड़ दिया। भारत! उस युद्धमें कर्णको परास्त करके अपने वशमें कर लेनेके पश्चात् बलवान् भीमने पर्वतीय राजाओंपर विजय प्राप्त की। तदनन्तर पाण्डुनन्दन भीमसेनने मोदागिरिके अत्यन्त बलिष्ठ राजाको अपनी भुजाओंके बलसे महासमरमें मार गिराया ॥ १८—२१ ॥

ततः पुण्ड्राधिपं वीरं वासुदेवं महाबलम्।
कौशिकीकच्छनिलयं राजानं च महौजसम् ॥ २२ ॥
उभौ बलभृतौ वीरावुभौ तीव्रपराक्रमौ।
निर्जित्याजौ महाराज वङ्गराजमुपाद्रवत् ॥ २३ ॥

महाराज! तत्पश्चात् भीमसेन पुण्ड्रकदेशके अधिपति महाबली वीर राजा वासुदेवके साथ, जो कोसी नदीके कछारमें रहनेवाले तथा महान् तेजस्वी थे, जा भिड़े। वे दोनों ही बलवान् एवं दुःसह पराक्रमवाले वीर थे। भीमने विपक्षी वासुदेव (पौण्ड्रक) को युद्धमें हराकर वङ्गदेशके राजापर आक्रमण किया ॥ २२-२३ ॥

समुद्रसेनं निर्जित्य चन्द्रसेनं च पार्थिवम्।
ताम्रलिप्तं च राजानं कर्वटाधिपतिं तथा ॥ २४ ॥
सुह्मानामधिपं चैव ये च सागरवासिनः।
सर्वान् म्लेच्छगणांश्चैव विजिग्ये भरतर्षभः ॥ २५ ॥

तदनन्तर भरतश्रेष्ठ भीमसेनने समुद्रसेन, भूपाल चन्द्रसेन, राजा ताम्रलिप्त, कर्वटाधिपति तथा सुह्म-नरेशको जीतकर समुद्रके तटपर निवास करनेवाले समस्त म्लेच्छोंको भी अपने अधीन कर लिया ॥ २४-२५ ॥

एवं बहुविधान् देशान् विजित्य पवनात्मजः।
वसु तेभ्य उपादाय लौहित्यमगमद् वली ॥ २६ ॥

इस प्रकार पवनपुत्र बलवान् भीमने बहुत-से देशोंपर अधिकार प्राप्त करके उन सबसे धन लेकर लौहित्य देशकी यात्रा की ॥ २६ ॥

स सर्वान् म्लेच्छनृपतीन् सागरानूपवासिनः।
करमाहारयामास रत्नानि विविधानि च ॥ २७ ॥

वहाँ उन्होंने समुद्रके टापुओंमें रहनेवाले बहुत-से म्लेच्छ राजाओंको जीतकर उनसे करके रूपमें भाँति-भाँतिके रत्न वसूल किये ॥ २७ ॥

चन्दनागुरुवस्त्राणि मणिमौक्तिककम्बलम्।
काञ्चनं रजतं चैव विद्रुमं च महाधनम् ॥ २८ ॥
ते कोटिशतसंख्येन कौन्तेयं महता तदा।
अभ्यवर्षन् महात्मानं धनवर्षेण पाण्डवम् ॥ २९ ॥

इतना ही नहीं, उन राजाओंने भीमसेनको चन्दन, अगर, वस्त्र, मणि, मोती, कम्बल, सोना, चाँदी और बहुमूल्य मूँगे भेंट किये। कुन्ती और पाण्डुके पुत्र महात्मा भीमसेनके पास उन्होंने करोड़ोंकी संख्यामें धन-रत्नोंकी वर्षा की (करके रूपमें धन-रत्न प्रदान किये) ॥ २८-२९ ॥



इन्द्रप्रस्थमुपागम्य भीमो भीमपराक्रमः।
निवेदयामास तदा धर्मराजाय तद् धनम्॥ ३०॥

तदनन्तर भयानक पराक्रमी भीमने इन्द्रप्रस्थमें आकर वह सारा धन धर्मराजको सौंप दिया॥ ३०॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भीमप्राचीदिग्विजये त्रिंशोऽध्यायः॥ ३०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें भीमके द्वारा पूर्व दिशाकी विजयसे सम्बन्ध रखनेवाला तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३०॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

सहदेवके द्वारा दक्षिण दिशाकी विजय

वैशम्पायन उवाच

तथैव सहदेवोऽपि धर्मराजेन पूजितः।
महत्या सेनया राजन् प्रययौ दक्षिणां दिशम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सहदेव भी धर्मराज युधिष्ठिरसे सम्मानित हो दक्षिण दिशापर विजय पानेके लिये विशाल सेनाके साथ प्रस्थित हुए॥ १॥

स शूरसेनान् कात्स्र्न्येन पूर्वमेवाजयत् प्रभुः।
मत्स्यराजं च कौरव्यो वशे चक्रे बलाद् बली॥ २॥

शक्तिशाली सहदेवने सबसे पहले समस्त शूरसेननिवासियोंको पूर्णरूपसे जीत लिया; फिर मत्स्यराज विराटको अपने अधीन बनाया॥ २॥

अधिराजाधिपं चैव दन्तवक्रं महाबलम्।
जिगाय करदं चैव कृत्वा राज्ये न्यवेशयत्॥ ३॥

राजाओंके अधिपति महाबली दन्तवक्रको भी परास्त किया और उसे कर देनेवाला बनाकर फिर उसी राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया॥ ३॥

सुकुमारं वशे चक्रे सुमित्रं च नराधिपम्।
तथैवापरमत्स्यांश्च व्यजयत् स पटच्चरान्॥ ४॥
निषादभूमिं गोशृङ्गं पर्वतप्रवरं तथा।
तरसैवाजयद् धीमान् श्रेणिमन्तं च पार्थिवम्॥ ५॥

इसके बाद राजा सुकुमार तथा सुमित्रको वशमें किया। इसी प्रकार अपर मत्स्यों और लुटेरोंपर भी विजय प्राप्त की। तदनन्तर निषाददेश तथा पर्वतप्रवर गोशृङ्गको जीतकर बुद्धिमान् सहदेवने राजा श्रेणिमान्‌को वेगपूर्वक परास्त किया॥ ४-५॥

नरराष्ट्रं च निर्जित्य कुन्तिभोजमुपाद्रवत्।
प्रीतिपूर्वं च तस्यासौ प्रतिजग्राह शासनम्॥ ६॥

फिर नरराष्ट्रको जीतकर राजा कुन्तिभोजपर धावा किया। परंतु कुन्तिभोजने प्रसन्नताके साथ ही उसका शासन स्वीकार कर लिया॥ ६॥

ततश्चर्मण्वतीकूले जम्भकस्यात्मजं नृपम्।
ददर्श वासुदेवेन शेषितं पूर्ववैरिणा॥ ७॥

इसके बाद चर्मण्वतीके तटपर सहदेवने जम्भकके पुत्रको देखा, जिसे पूर्ववैरी वासुदेवने जीवित छोड़ दिया था॥ ७॥

चक्रे तेन स संग्रामं सहदेवेन भारत।
स तमाजौ विनिर्जित्य दक्षिणाभिमुखो ययौ॥ ८॥

भारत! उस जम्भपुत्रने सहदेवके साथ घोर संग्राम किया; परंतु सहदेव उसे युद्धमें जीतकर दक्षिण दिशाकी ओर बढ़ गये॥ ८॥

सेकानपरसेकांश्च व्यजयत् सुमहाबलः।
करं तेभ्य उपादाय रत्नानि विविधानि च॥ ९॥
ततस्तेनैव सहितो नर्मदामभितो ययौ।

वहाँ महाबली माद्रीकुमारने सेक और अपरसेक देशोंपर विजय पायी और उन सबसे नाना प्रकारके रत्न भेंटमें लिये। तत्पश्चात् सेकाधिपतिको साथ ले उन्होंने नर्मदाकी ओर प्रस्थान किया॥ ९½॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सैन्येन महताऽऽवृतौ।
जिगाय समरे वीरावाश्विनेयः प्रतापवान्॥ १०॥

अश्विनीकुमारोंके पुत्र प्रतापी सहदेवने वहाँ युद्धमें विशाल सेनासे घिरे हुए अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्दको परास्त किया॥ १०॥

ततो रत्नान्युपादाय पुरं भोजकटं ययौ।
तत्र युद्धमभूद् राजन् दिवसद्वयमच्युत॥ ११॥

वहाँसे रत्नोंकी भेंट लेकर वे भोजकट नगरमें गये। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले राजन्! वहाँ दो दिनोंतक युद्ध होता रहा॥ ११॥

स विजित्य दुराधर्षं भीष्मकं माद्रिनन्दनः।
कोसलाधिपतिं चैव तथा वेणातटाधिपम्॥ १२॥
कान्तारकांश्च समरे तथा प्राक्कोसलान् नृपान्।
नाटकेयांश्च समरे तथा हेरम्बकान् युधि॥ १३॥

माद्रीनन्दनने उस संग्राममें दुर्धर्ष वीर भीष्मकको परास्त करके कोसलाधिपति, वेणानदीके तटवर्ती प्रदेशोंके स्वामी, कान्तारक तथा पूर्वकोसलके राजाओंको भी समरमें पराजित किया। तत्पश्चात् नाटकेयों और हेरम्बकोंको भी युद्धमें हराया॥ १२-१३॥

मारुधं च विनिर्जित्य रम्यग्राममथो बलात् ।
नाचीनानर्बुकांश्चैव राज्ञश्चैव महाबलः ॥ १४ ॥
तांस्तानाटविकान् सर्वानजयत् पाण्डुनन्दनः ।
वाताधिपं च नृपतिं वशे चक्रे महाबलः ॥ १५ ॥

महाबली पाण्डुनन्दन सहदेवने मारुध तथा रम्यग्रामको बलपूर्वक परास्त करके नाचीन, अर्बुक तथा समस्त वनेचर राजाओंको जीत लिया। तदनन्तर महाबली माद्रीकुमारने राजा वाताधिपको वशमें किया ॥ १४-१५ ॥

पुलिन्दांश्च रणे जित्वा ययौ दक्षिणतः पुरः ।
युयुधे पाण्ड्यराजेन दिवसं नकुलानुजः ॥ १६ ॥

फिर पुलिन्दोंको संग्राममें हराकर नकुलके छोटे भाई सहदेव दक्षिण दिशामें और आगे बढ़ गये। तत्पश्चात् उन्होंने पाण्ड्य-नरेशके साथ एक दिन युद्ध किया ॥ १६ ॥

तं जित्वा स महाबाहुः प्रययौ दक्षिणापथम् ।
गुहामासादयामास किष्किन्धां लोकविश्रुताम् ॥ १७ ॥

उन्हें जीतकर महाबाहु सहदेव दक्षिणापथकी ओर गये और लोकविख्यात किष्किन्धा नामक गुफामें जा पहुँचे ॥ १७ ॥

तत्र वानरराजाभ्यां मैन्देन द्विविदेन च ।
युयुधे दिवसान् सप्त न च तौ विकृतिं गतौ ॥ १८ ॥

वहाँ वानरराज मैन्द और द्विविदके साथ उन्होंने सात दिनोंतक युद्ध किया; किंतु उन दोनोंका कुछ विगाड़ न हो सका ॥ १८ ॥

ततस्तुष्टौ महात्मानौ सहदेवाय वानरौ ।
ऊचतुश्चैव संहृष्टौ प्रीतिपूर्वमिदं वचः ॥ १९ ॥

तब वे दोनों महात्मा वानर अत्यन्त प्रसन्न हो सहदेवसे प्रेमपूर्वक बोले—॥ १९ ॥

गच्छ पाण्डवशार्दूल रत्नान्यादाय सर्वशः ।
अविघ्नमस्तु कार्याय धर्मराजाय धीमते ॥ २० ॥

'पाण्डवप्रवर ! तुम सब प्रकारके रत्नोंकी भेंट लेकर जाओ। परम बुद्धिमान् धर्मराजके कार्यमें कोई विघ्न नहीं पड़ना चाहिये' ॥ २० ॥

ततो रत्नान्युपादाय पुरीं माहिष्मतीं ययौ ।
तत्र नीलेन राज्ञा स चक्रे युद्धं नरर्षभः ॥ २१ ॥

तदनन्तर वे नरश्रेष्ठ वहाँसे रत्नोंकी भेंट लेकर माहिष्मती पुरीको गये और वहाँ राजा नीलके* साथ घोर युद्ध किया ॥ २१ ॥

पाण्डवः परवीरघ्नः सहदेवः प्रतापवान् ।
ततोऽस्य सुमहद् युद्धमासीद् भीरुभयंकरम् ॥ २२ ॥
सैन्यक्षयकरं चैव प्राणानां संशयावहम् ।
चक्रे तस्य हि साहाय्यं भगवान् हव्यवाहनः ॥ २३ ॥

शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले पाण्डुपुत्र सहदेव बड़े प्रतापी थे। उनसे राजा नीलका जो महान् युद्ध हुआ, वह कायरोंको भयभीत करनेवाला, सेनाओंका विनाशक और प्राणोंको संशयमें डालनेवाला था। भगवान् अग्निदेव राजा नीलकी सहायता कर रहे थे ॥ २२-२३ ॥

ततो रथा हया नागाः पुरुषाः कवचानि च ।
प्रदीप्तानि व्यदृश्यन्त सहदेवबले तदा ॥ २४ ॥

उस समय सहदेवकी सेनामें रथ, घोड़े, हाथी, मनुष्य और कवच सभी आगसे जलते दिखायी देने लगे ॥ २४ ॥

ततः सुसम्भ्रान्तमना बभूव कुरुनन्दनः ।
नोत्तरं प्रतिवक्तुं च शक्तोऽभूज्जनमेजय ॥ २५ ॥

जनमेजय ! इससे कुरुनन्दन सहदेवके मनमें बड़ी घबराहट हुई। वे इसका प्रतीकार करनेमें असमर्थ हो गये ॥ २५ ॥

जनमेजय उवाच

किमर्थं भगवान् वह्निः प्रत्यमित्रोऽभवद् युधि ।
सहदेवस्य यज्ञार्थं घटमानस्य वै द्विज ॥ २६ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! सहदेव तो यज्ञके लिये ही चेष्टा कर रहे थे, फिर भगवान् अग्निदेव उस युद्धमें उनके विरोधी कैसे हो गये ? ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत्र माहिष्मतीवासी भगवान् हव्यवाहनः ।
श्रूयते हि गृहीतो वै पुरस्तात् पारदारिकः ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! सुननेमें आया है कि माहिष्मती नगरीमें निवास करनेवाले भगवान् अग्निदेव किसी समय उस नील राजाकी कन्या सुदर्शनाके प्रति आसक्त हो गये ॥ २७ ॥

नीलस्य राज्ञो दुहिता बभूवातीवशोभना ।
साग्निहोत्रमुपातिष्ठद् बोधनाय पितुः सदा ॥ २८ ॥

राजा नीलके एक कन्या थी, जो अनुपम सुन्दरी थी। वह सदा अपने पिताके अग्निहोत्रगृहमें अग्निको प्रज्वलित करनेके लिये उपस्थित हुआ करती थी ॥ २८ ॥

व्यजनैर्धूयमानोऽपि तावत् प्रज्वलते न सः ।
यावच्चारुपुटौष्ठेन वायुना न विधूयते ॥ २९ ॥

पङ्खेसे हवा करनेपर भी अग्निदेव तबतक प्रज्वलित नहीं होते थे, जबतक कि वह सुन्दरी अपने मनोहर ओष्ठसम्पुटसे फूँक मारकर हवा न देती थी ॥ २९ ॥

ततः स भगवानग्निश्चकमे तां सुदर्शनाम् ।
नीलस्य राज्ञः सर्वेषामुपनीतश्च सोऽभवत् ॥ ३० ॥

---

* यह इक्ष्वाकुवंशीय दुर्जयका पुत्र था। इसका दूसरा नाम दुर्योधन था। यह राजा बड़ा धर्मात्मा था। इसकी कथा अनुशासन-पर्वके दूसरे अध्यायमें आती है।

तत्पश्चात् भगवान् अग्नि उस सुदर्शना नामकी राजकन्याको चाहने लगे। इस बातको राजा नील और सभी नागरिक जान गये ॥ ३० ॥

ततो ब्राह्मणरूपेण रममाणो यदृच्छया।
चकमे तां वरारोहां कन्यामुत्पललोचनाम्।
तं तु राजा यथाशास्त्रमशासद् धार्मिकस्तदा ॥ ३१ ॥

तदनन्तर एक दिन ब्राह्मणका रूप धारण करके इच्छानुसार घूमते हुए अग्निदेव उस सर्वाङ्गसुन्दरी कमलनयनी कन्याके पास आये और उसके प्रति कामभाव प्रकट करने लगे। धर्मात्मा राजा नीलने शास्त्रके अनुसार उस ब्राह्मणपर शासन किया ॥ ३१ ॥

प्रजज्वाल ततः कोपाद् भगवान् हव्यवाहनः।
तं दृष्ट्वा विस्मितो राजा जगाम शिरसावनिम् ॥३२॥

तब क्रोधसे भगवान् अग्निदेव अपने रूपमें प्रज्वलित हो उठे। उन्हें इस रूपमें देखकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने पृथ्वीपर मस्तक रखकर अग्निदेवको प्रणाम किया ॥ ३२ ॥

ततः कालेन तां कन्यां तथैव हि तदा नृपः।
प्रददौ विप्ररूपाय वह्नये शिरसा नतः ॥ ३३ ॥
प्रतिगृह्य च तां सुभ्रूं नीलराज्ञः सुतां तदा।
चक्रे प्रसादं भगवांस्तस्य राज्ञो विभावसुः ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् विवाहके योग्य समय आनेपर राजाने उस कन्याको ब्राह्मणरूपधारी अग्निदेवकी सेवामें अर्पित कर दिया और उनके चरणोंमें सिर रखकर नमस्कार किया। राजा नीलकी सुन्दरी कन्याको पत्नीरूपमें ग्रहण करके भगवान् अग्निने राजापर अपना कृपाप्रसाद प्रकट किया ॥ ३३-३४ ॥

वरेणच्छन्दयामास तं नृपं स्विष्टकृत्तमः।
अभयं च स जग्राह स्वसैन्ये वै महीपतिः ॥ ३५ ॥

वे उनकी अभीष्ट-सिद्धिमें सर्वोत्तम सहायक हो राजासे वर माँगनेका अनुरोध करने लगे। राजाने अपनी सेनाके प्रति अभयदान माँगा ॥ ३५ ॥

ततः प्रभृति ये केचिदज्ञानात् तां पुरीं नृपाः।
जिगीषन्ति बलाद् राजंस्ते दह्यन्ते स्म वह्निना ॥ ३६ ॥

राजन्! तभीसे जो कोई नरेश अज्ञानवश उस पुरीको बलपूर्वक जीतना चाहते, उन्हें अग्निदेव जला देते थे ॥ ३६ ॥

तस्यां पुर्यां तदा चैव माहिष्मत्यां कुरूद्वह।
बभूवुरनतिग्राह्या योषितश्छन्दतः किल ॥ ३७ ॥

कुरुश्रेष्ठ जनमेजय! उस समय माहिष्मतीपुरीमें युवती स्त्रियाँ इच्छानुसार ग्रहण करनेके योग्य नहीं रह गयी थीं (क्योंकि वे स्वतन्त्रतासे ही वरका वरण किया करती थीं) ॥ ३७ ॥

एवमग्निर्वरं प्रादात् स्त्रीणामप्रतिवारणे।
वरिण्यस्तत्र नार्यो हि यथेष्टं विचरन्त्युत ॥ ३८ ॥

अग्निदेवने स्त्रियोंके लिये यह वर दे दिया था कि अपने प्रतिकूल होनेके कारण ही कोई स्त्रियोंको वरका स्वयं ही वरण करनेसे रोक नहीं सकता। इससे वहाँकी स्त्रियाँ स्वेच्छापूर्वक वरका वरण करनेके लिये विचरण किया करती थीं ॥ ३८ ॥

वर्जयन्ति च राजानस्तत् पुरं भरतर्षभ।
भयादग्नेर्महाराज तदाप्रभृति सर्वदा ॥ ३९ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! तभीसे सब राजा (जो इस रहस्यसे परिचित थे) अग्निके भयके कारण माहिष्मती पुरीपर चढ़ाई नहीं करते थे ॥ ३९ ॥

सहदेवस्तु धर्मात्मा सैन्यं दृष्ट्वा भयार्दितम्।
परीतमग्निना राजन् नाकम्पत यथाचलः।
उपस्पृश्य शुचिर्भूत्वा सोऽब्रवीत् पावकं ततः ॥ ४० ॥

राजन्! धर्मात्मा सहदेव अग्निसे व्याप्त हुई अपनी सेनाको भयसे पीड़ित देख पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े रहे, भयसे कम्पित नहीं हुए। उन्होंने आचमन करके पवित्र हो अग्निदेवसे इस प्रकार कहा ॥ ४० ॥

सहदेव उवाच

त्वदर्थोऽयं समारम्भः कृष्णवर्त्मन् नमोऽस्तु ते।
मुखं त्वमसि देवानां यज्ञस्त्वमसि पावक ॥ ४१ ॥

सहदेव बोले—कृष्णवर्त्मन्! हमारा यह आयोजन तो आपहीके लिये है, आपको नमस्कार है। पावक! आप देवताओंके मुख हैं, यज्ञस्वरूप हैं ॥ ४१ ॥

पावनात् पावकश्चासि वहनाद्धव्यवाहनः।
वेदास्त्वदर्थं जाता वै जातवेदास्ततो ह्यसि ॥ ४२ ॥

आप सबको पवित्र करनेके कारण पावक हैं और हव्य (हवनीय पदार्थ) को वहन करनेके कारण हव्यवाहन कहलाते हैं। वेद आपके लिये ही जात अर्थात् प्रकट हुए हैं, इसीलिये आप जातवेदा हैं ॥ ४२ ॥

चित्रभानुः सुरेशश्च अनलस्त्वं विभावसो।
स्वर्गद्वारस्पृशश्चासि हुताशो ज्वलनः शिखी ॥ ४३ ॥

विभावसो! आप ही चित्रभानु, सुरेश और अनल कहलाते हैं। आप सदा स्वर्गद्वारका स्पर्श करते हैं। आप आहुति दिये हुए पदार्थोंको खाते हैं, इसलिये हुताशन हैं। प्रज्वलित होनेसे ज्वलन और शिखा (लपट) धारण करनेसे शिखी हैं ॥ ४३ ॥

वैश्वानरस्त्वं पिङ्गेशः प्लवङ्गो भूरितेजसः।
कुमारसूस्त्वं भगवान् रुद्रगर्भो हिरण्यकृत् ॥ ४४ ॥

आप ही वैश्वानर, पिङ्गेश, प्लवङ्ग और भूरितेजस् नाम धारण करते हैं। आपने ही कुमार कार्तिकेयको जन्म दिया है, आप

ही ऐश्वर्यसम्पन्न होनेके कारण भगवान् हैं। श्रीरुद्रका वीर्य धारण करनेसे आप रुद्रगर्भ कहलाते हैं। सुवर्णके उत्पादक होनेसे आपका नाम हिरण्यकृत् है ॥ ४४ ॥

अग्निर्ददातु मे तेजो वायुः प्राणं ददातु मे ।
पृथिवी बलमादध्याच्छिवं चापो दिशन्तु मे ॥ ४५ ॥

आप अग्नि मुझे तेज दें, वायुदेव प्राणशक्ति प्रदान करें, पृथ्वी मुझमें बलका आधान करें और जल मुझे कल्याण प्रदान करें ॥ ४५ ॥

अपांगर्भ महासत्त्व जातवेदः सुरेश्वर ।
देवानां मुखमग्ने त्वं सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४६ ॥

जलको प्रकट करनेवाले महान् शक्तिसम्पन्न जातवेदा सुरेश्वर अग्निदेव ! आप देवताओंके मुख हैं, अपने सत्यके प्रभावसे आप मुझे पवित्र कीजिये ॥ ४६ ॥

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव दैवतैरसुरैरपि ।
नित्यं सुहुत यज्ञेषु सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४७ ॥

ऋषि, ब्राह्मण, देवता तथा असुर भी सदा यज्ञ करते समय आपमें आहुति डालते हैं, अपने सत्यके प्रभावसे आप मुझे पवित्र करें ॥ ४७ ॥

धूमकेतुः शिखी च त्वं पापहानिलसम्भवः ।
सर्वप्राणिषु नित्यस्थः सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४८ ॥

देव ! धूम आपका ध्वज है, आप शिखा धारण करनेवाले हैं, वायुसे आपका प्राकट्य हुआ है। आप समस्त पापोंके नाशक हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर आप सदा विराजमान होते हैं। अपने सत्यके प्रभावसे आप मुझे पवित्र कीजिये ॥ ४८ ॥

एवं स्तुतोऽसि भगवन् प्रीतेन शुचिना मया ।
तुष्टिं पुष्टिं श्रुतिं चैव प्रीतिं चाग्ने प्रयच्छ मे ॥ ४९ ॥

भगवन् ! मैंने पवित्र होकर प्रेमभावसे आपका इस प्रकार स्तवन किया है। अग्निदेव ! आप मुझे तुष्टि, पुष्टि, श्रवण-शक्ति एवं शास्त्रज्ञान और प्रीति प्रदान करें ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवं मन्त्रमाग्नेयं पठन् यो जुहुयाद् विभुम् ।
ऋद्धिमान् सततं दान्तः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जो द्विज इस प्रकार इन श्लोकरूप आग्नेय मन्त्रोंका पाठ करते हुए (अन्तमें स्वाहा बोलकर) भगवान् अग्निदेवको आहुति समर्पित करता है, वह सदा समृद्धिशाली और जितेन्द्रिय होकर सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥

सहदेव उवाच

यज्ञविघ्नमिमं कर्तुं नार्हस्त्वं हव्यवाहन ।

सहदेव बोले—हव्यवाहन ! आपको यज्ञमें यह विघ्न नहीं डालना चाहिये।

एवमुक्त्वा तु माद्रेयः कुशैरास्तीर्य मेदिनीम् ॥ ५१ ॥
विधिवत् पुरुषव्याघ्रः पावकं प्रत्युपाविशत् ।
प्रमुखे तस्य सैन्यस्य भीतोद्विग्नस्य भारत ॥ ५२ ॥

भारत ! ऐसा कहकर नरश्रेष्ठ माद्रीकुमार सहदेव धरतीपर कुश बिछाकर अपनी भयभीत और उद्विग्न सेनाके अग्रभागमें विधिपूर्वक अग्निके सम्मुख धरना देकर बैठ गये ॥ ५१-५२ ॥

न चैनमत्यगाद् वह्निर्वेलामिव महोदधिः ।
तमुपेत्य शनैर्वह्निरुवाच कुरुनन्दनम् ॥ ५३ ॥
सहदेवं नृणां देवं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ कौरव्य जिज्ञासेयं कृता मया ।
वेद्मि सर्वमभिप्रायं तव धर्मसुतस्य च ॥ ५४ ॥

जैसे महासागर अपनी तटभूमिका उल्लङ्घन नहीं करता, उसी प्रकार अग्निदेव सहदेवको लाँघकर उनकी सेनामें नहीं गये। वे कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले नरदेव सहदेवके पास धीरे-धीरे आकर उन्हें सान्त्वना देते हुए यह वचन बोले—'कौरव्य ! उठो, उठो, मैंने यह तुम्हारी परीक्षा की है। तुम्हारे और धर्मपुत्र युधिष्ठिरके सम्पूर्ण अभिप्रायको मैं जानता हूँ ॥ ५३—५४ ॥

मया तु रक्षितव्येयं पुरी भरतसत्तम ।
यावद् राज्ञो हि नीलस्य कुले वंशधरा इति ॥ ५५ ॥
ईप्सितं तु करिष्यामि मनसस्तव पाण्डव ॥ ५६ ॥

'परंतु भरतसत्तम ! राजा नीलके कुलमें जबतक उनकी वंशपरम्परा चलती रहेगी, तबतक मुझे इस माहिष्मतीपुरीकी रक्षा करनी होगी। पाण्डुकुमार ! साथ ही मैं तुम्हारा मनोरथ भी पूर्ण करूँगा' ॥ ५५-५६ ॥

तत उत्थाय हृष्टात्मा प्राञ्जलिः शिरसा नतः ।
पूजयामास माद्रेयः पावकं भरतर्षभ ॥ ५७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जनमेजय ! यह सुनकर माद्रीकुमार सहदेव प्रसन्नचित्त हो वहाँसे उठे और हाथ जोड़कर एवं सिर झुकाकर उन्होंने अग्निदेवका पूजन किया ॥ ५७ ॥

पावके विनिवृत्ते तु नीलो राजाभ्यगात् तदा ।
पावकस्याज्ञया चैनमर्चयामास पार्थिवः ॥ ५८ ॥
सत्कारेण नरव्याघ्रं सहदेवं युधाम्पतिम् ।

अग्निके लौट जानेपर उन्हींकी आज्ञासे राजा नील उस समय वहाँ आये और उन्होंने योद्धाओंके अधिपति पुरुषसिंह सहदेवका सत्कारपूर्वक पूजन किया ॥ ५८½ ॥

प्रतिगृह्य च तां पूजां करे च विनिवेश्य च ॥ ५९ ॥
माद्रीसुतस्ततः प्रायाद् विजयी दक्षिणां दिशम् ।

राजा नीलकी वह पूजा ग्रहणकर और उनपर कर लगाकर विजयी माद्रीकुमार सहदेव दक्षिण दिशाकी ओर बढ़ गये ॥५९½ ॥

त्रैपुरं स वशे कृत्वा राजानममितौजसम् ॥ ६० ॥
निजग्राह महाबाहुस्तरसा पौरवेश्वरम् ।
आकृतिं कौशिकाचार्यं यत्नेन महता ततः ॥ ६१ ॥
वशे चक्रे महाबाहुः सुराष्ट्राधिपतिं तदा ।

फिर त्रिपुरीके राजा अमितौजाको वशमें करके महाबाहु सहदेवने पौरवेश्वरको वेगपूर्वक बंदी बना लिया । तदनन्तर बड़े भारी प्रयत्नके द्वारा विशाल भुजाओंवाले माद्रीकुमारने सुराष्ट्रदेशके अधिपति कौशिकाचार्य आकृतिको वशमें किया ॥ ६०-६१½ ॥

सुराष्ट्रविषयस्थश्च प्रेषयामास रुक्मिणे ॥ ६२ ॥
राज्ञे भोजकटस्थाय महामात्राय धीमते ।
भीष्मकाय स धर्मात्मा साक्षादिन्द्रसखाय वै ॥ ६३ ॥
स चास्य प्रतिजग्राह ससुतः शासनं तदा ।
प्रीतिपूर्वं महाराज वासुदेवमवेक्ष्य च ॥ ६४ ॥
ततः स रत्नान्यादाय पुनः प्रायाद् युधाम्पतिः ।

महाराज ! सुराष्ट्रमें ही ठहरकर धर्मात्मा सहदेवने भोजकट-निवासी रुक्मी तथा विशाल राज्यके अधिपति परम बुद्धिमान् साक्षात् इन्द्रसखा भीष्मकके पास दूत भेजा । पुत्रसहित भीष्मकने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी ओर दृष्टि रखकर प्रेमपूर्वक ही सहदेवका शासन स्वीकार कर लिया । तदनन्तर योद्धाओंके अधिपति सहदेव वहाँसे रत्नोंकी भेंट लेकर पुनः आगे बढ़ गये ॥ ६२-६४½ ॥

ततः शूर्पारकं चैव तालाकटमथापि च ॥ ६५ ॥
वशे चक्रे महातेजा दण्डकांश्च महाबलः ।
सागरद्वीपवासांश्च नृपतीन् म्लेच्छयोनिजान् ॥ ६६ ॥
निषादान् पुरुषादांश्च कर्णप्रावरणानपि ।

महाबलशाली महातेजस्वी माद्रीकुमारने शूर्पारक और तालाकट नामक देशोंको जीतते हुए दण्डकारण्यको अपने अधीन कर लिया । तत्पश्चात् समुद्रके द्वीपोंमें निवास करनेवाले म्लेच्छ-जातीय राजाओं, निषादों तथा राक्षसों, कर्णप्रावरणों[1]को भी परास्त किया ॥ ६५-६६½ ॥

ये च कालमुखा नाम नरराक्षसयोनयः ॥ ६७ ॥

कालमुख नामसे प्रसिद्ध जो मनुष्य और राक्षस दोनोंके संयोगसे उत्पन्न हुए योद्धा थे, उनपर भी विजय प्राप्त की ॥ ६७ ॥

कृत्स्नं कोलगिरिं चैव सुरभीपत्तनं तथा ।
द्वीपं ताम्राह्वयं चैव पर्वतं रामकं तथा ॥ ६८ ॥
तिमिङ्गिलं च स नृपं वशे कृत्वा महामतिः ।
एकपादांश्च पुरुषान् केरलान् वनवासिनः ॥ ६९ ॥
नगरीं संजयन्तीं च पाखण्डं करहाटकम् ।
दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् ॥ ७० ॥

समूचे कोलगिरि, सुरभीपत्तन, ताम्रद्वीप, रामकपर्वत तथा तिमिंगिलनरेशको भी अपने वशमें करके परम बुद्धिमान् सहदेवने एक पैरके पुरुषों, केरलों, वनवासियों, संजयन्ती नगरी तथा पाखण्ड और करहाटक देशोंको दूतोंद्वारा संदेश देकर ही अपने अधीन कर लिया और उन सबसे कर वसूल किया ॥ ६८-७० ॥

पाण्ड्यांश्च द्रविडांश्चैव सहितांश्चोण्ड्रकेरलैः ।
आन्ध्रांस्तालवनांश्चैव कलिङ्गानुष्ट्रकर्णिकान् ॥ ७१ ॥
आटवीं च पुरीं रम्यां यवनानां पुरं तथा ।
दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् ॥ ७२ ॥

पाण्ड्य, द्रविड, उण्ड्र, केरल, आन्ध्र, तालवन, कलिङ्ग, उष्ट्रकर्णिक, रमणीय आटवीपुरी तथा यवनोंके नगर—इन सबको उन्होंने दूतोंद्वारा ही वशमें कर लिया और सबको कर देनेके लिये विवश किया ॥ ७१-७२ ॥

(समुद्रतीरमासाद्य न्यविशत् पाण्डुनन्दनः ।
सहदेवस्ततो राजन् मन्त्रिभिः सह भारत ।
सम्प्रधार्य महाबाहुः सचिवैर्बुद्धिमत्तरैः ॥

वहाँसे समुद्रके तटपर पहुँचकर पाण्डुनन्दन सहदेवने सेनाका पड़ाव डाला । भारत ! तदनन्तर महाबाहु सहदेवने अत्यन्त बुद्धिमान् मन्त्रणा देनेमें कुशल सचिवोंके साथ बैठकर बहुत देरतक विचारविमर्श किया ॥

अनुमान्य स तां राजन् सहदेवस्त्वरान्वितः ।
चिन्तयामास राजेन्द्र भ्रातुः पुत्रं घटोत्कचम् ॥

राजेन्द्र जनमेजय ! उन सबकी सम्मतिको आदर देते हुए माद्री-कुमारने अपने भतीजे राक्षसराज घटोत्कचका तुरंत चिन्तन किया ॥

ततश्चिन्तितमात्रे तु राक्षसः प्रत्यदृश्यत ।
अतिदीर्घो महाकायः सर्वाभरणभूषितः ॥

उनके चिन्तन करते ही वह बड़े डील-डौलवाला विशाल-काय राक्षस दिखायी दिया । उसने सब प्रकारके आभूषण धारण कर रक्खे थे ॥

नीलजीमूतसंकाशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
विचित्रहारकेयूरः किङ्किणीमणिभूषितः ॥

उसके शरीरका रंग मेघोंकी काली घटाके समान था । उसके कानोंमें तपाये हुए सुवर्णके कुण्डल झिलमिला रहे थे । उसके गलेमें हार और भुजाओंमें केयूरकी विचित्र शोभा हो रही थी । कटिभागमें वह किंकिणीकी मणियोंसे विभूषित था ॥

हेममाली महादंष्ट्रः किरीटी कुक्षिबन्धनः ।
ताम्रकेशो हरिश्मश्रुर्भीमाक्षः कनकाङ्गदः ॥

उसके कण्ठमें सुवर्णकी माला, मस्तकपर किरीट और कमरमें करधनीकी शोभा हो रही थी । उसकी दाढ़ें बहुत बड़ी थीं, सिरके बाल ताँबेके समान लाल थे, मूँछ-दाढ़ी-

---

१. जो अपने कानोंसे ही शरीरको ढक लें उन्हें 'कर्णप्रावरण' कहते हैं । प्राचीन कालमें ऐसी जातिके लोग थे, जिनके कान पैरोंतक लटकते थे ।

के बाल हरे दिखायी देते थे एवं आँखें बड़ी भयंकर थीं। उसकी भुजाओंमें सोनेके बाजूबंद चमक रहे थे ॥

रक्तचन्दनदिग्धाङ्गः सूक्ष्माम्बरधरो बली ।
जवेन स ययौ तत्र चालयन्निव मेदिनीम् ॥

उसने अपने सब अङ्गोंमें लाल चन्दन लगा रक्खा था। उसके कपड़े बहुत महीन थे। वह बलवान् राक्षस अपने वेगसे समूची पृथ्वीको हिलाता हुआ-सा वहाँ पहुँचा ॥

ततो दृष्ट्वा जना राजन्नायान्तं पर्वतोपमम् ।
भयाद्धि दुद्रुवुः सर्वे सिंहात् क्षुद्रमृगा यथा ॥

राजन्! उस पर्वताकार घटोत्कचको आता देख वहाँके सब लोग भयके मारे भाग खड़े हुए; मानो किसी सिंहके भयसे जंगलके मृग आदि क्षुद्र पशु भाग रहे हों ॥

आससाद च माद्रेयं पुलस्त्यं रावणो यथा ।
अभिवाद्य ततो राजन् सहदेवं घटोत्कचः ॥
प्रह्वः कृताञ्जलिस्तस्थौ किं कार्यमिति चाब्रवीत् ।

घटोत्कच माद्रीनन्दन सहदेवके पास आया, मानो रावणने महर्षि पुलस्त्यके पास पदार्पण किया हो। महाराज! तदनन्तर घटोत्कच सहदेवको प्रणाम करके उनके सामने विनीतभावसे हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और बोला—'मेरे लिये क्या आज्ञा है?' ॥

तं मेरुशिखराकारमागतं पाण्डुनन्दनः ॥
सम्परिष्वज्य बाहुभ्यां मूर्ध्न्युपाघ्राय चासकृत् ।
पूजयित्वा सहामात्यः प्रीतो वाक्यमुवाच ह ॥

घटोत्कच मेरुपर्वतके शिखर-जैसा जान पड़ता था। उसको आया देख पाण्डुनन्दन सहदेवने दोनों भुजाओंमें भरकर उसे हृदयसे लगा लिया और बार-बार उसका मस्तक सूँघा। तत्पश्चात् उसका स्वागत-सत्कार करके मन्त्रियोंसहित सहदेव बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले ॥

सहदेव उवाच

गच्छ लङ्कां पुरीं वत्स करार्थं मम शासनात् ।
तत्र दृष्ट्वा महात्मानं राक्षसेन्द्रं विभीषणम् ॥
रत्नानि राजसूयार्थं विविधानि बहूनि च ।
उपादाय च सर्वाणि प्रत्यागच्छ महाबल ॥

सहदेवने कहा—वत्स! तुम मेरी आज्ञासे कर लेनेके लिये लंकापुरीमें जाओ और वहाँ राक्षसराज महात्मा विभीषणसे मिलकर राजसूययज्ञके लिये भाँति-भाँतिके बहुत-से रत्न प्राप्त करो। महाबली वीर! उनकी ओरसे भेंटमें मिली हुई सब वस्तुएँ लेकर शीघ्र यहाँ लौट आओ ॥

नो चेदेवं वदेः पुत्र समर्थमिदमुत्तरम् ।
विष्णोर्भुजबलं वीक्ष्य राजसूयमथारभत् ॥
कौन्तेयो भ्रातृभिः सार्धं सर्वं जानीहि साम्प्रतम् ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि सर्वं वैश्रवणानुज ॥
इत्युक्त्वा शीघ्रमागच्छ मा भूत् कालस्य पर्ययः ।

बेटा! यदि विभीषण तुम्हें भेंट न दें, तो उन्हें अपनी शक्तिका परिचय देते हुए इस प्रकार कहना—'कुबेरके छोटे भाई लंकेश्वर! कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णके बाहुबलको देखकर भाइयोंसहित राजसूययज्ञ आरम्भ किया है। आप इस समय इन बातोंको अच्छी तरह जान लें। आपका कल्याण हो, अब मैं यहाँसे चला जाऊँगा।' इतना कहकर तुम शीघ्र लौट आना; अधिक विलम्ब मत करना ॥

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवेनैवमुक्तस्तु मुदा युक्तो घटोत्कचः ।
तथेत्युक्त्वा महाराज प्रतस्थे दक्षिणां दिशम् ॥
ययौ प्रदक्षिणं कृत्वा सहदेवं घटोत्कचः ।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! पाण्डुकुमार सहदेवके ऐसा कहनेपर घटोत्कच बहुत प्रसन्न हुआ और 'तथास्तु' कहकर सहदेवकी परिक्रमा करके दक्षिण दिशाकी ओर चल दिया ॥

ततः कच्छगतो धीमान् दूतं माद्रवतीसुतः ।
प्रेषयामास हैडिम्बं पौलस्त्याय महात्मने ।
विभीषणाय धर्मात्मा प्रीतिपूर्वमरिंदमः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार समुद्रके तटपर पहुँचकर बुद्धिमान् शत्रुदमन धर्मात्मा माद्रवतीकुमारने महात्मा पुलस्त्यनन्दन विभीषणके पास प्रेमपूर्वक घटोत्कचको अपना दूत बनाकर भेजा ॥ ७३ ॥

(लङ्कामभिमुखो राजन् समुद्रमवलोकयत् ॥
कूर्मग्राहझषाकीर्णं नक्रैर्मीनैस्तथाऽऽकुलम् ।
शुक्तिव्रातैः समाकीर्णं शङ्खानां निचयाकुलम् ॥

राजन्! लङ्काकी ओर जाते हुए घटोत्कचने समुद्रको देखा। वह कछुओं, मगरों, नाकों तथा मत्स्य आदि जल-जन्तुओंसे भरा हुआ था। उसमें ढेर-के-ढेर शङ्ख और सीपियाँ छा रही थीं ॥

स दृष्ट्वा रामसेतुं च चिन्तयन् रामविक्रमम् ।
प्रणम्य तमतिक्रम्य याम्यां वेलामलोकयत् ॥

भगवान् श्रीरामके द्वारा बनवाये हुए पुलको देखकर घटोत्कचको भगवान्के पराक्रमका चिन्तन हो आया और उस सेतुतीर्थको प्रणाम करके उसने समुद्रके दक्षिणतटकी ओर दृष्टिपात किया ॥

गत्वा पारं समुद्रस्य दक्षिणं स घटोत्कचः ।
ददर्श लङ्कां राजेन्द्र नाकपृष्ठोपमां शुभाम् ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् दक्षिणतटपर पहुँचकर घटोत्कचने लङ्कापुरी देखी, जो स्वर्गके समान सुन्दर थी ॥

प्राकारेणावृतां रम्यां शुभद्वारैश्च शोभिताम् ।
प्रासादैर्बहुसाहस्रैः श्वेतरक्तैश्च संकुलाम् ॥

उसके चारों ओर चहारदीवारी बनी थी । सुन्दर फाटक उस रमणीय पुरीकी शोभा बढ़ाते थे । सफेद और लाल रंगके हजारों महलोंसे वह लंकापुरी भरी हुई थी ॥

तापनीयगवाक्षेण मुक्ताजालान्तरेण च ।
हैमराजतजालेन दान्तजालैश्च शोभिताम् ॥

वहाँके गवाक्ष (जँगले) सोनेके बने हुए थे और उनके भीतर मोतियोंकी जाली लगी हुई थी । कितने ही गवाक्ष सोने, चाँदी तथा हाथीदाँतकी जालियोंसे सुशोभित थे ॥

हर्म्यगोपुरसम्बाधां रुक्मतोरणसंकुलाम् ।
दिव्यदुन्दुभिनिर्ह्रादामुद्यानवनशोभिताम् ॥

कितनी ही अट्टालिकाएँ तथा गोपुर उस नगरीकी शोभा बढ़ाते थे । स्थान-स्थानपर सोनेके फाटक लगे हुए थे । वहाँ दिव्य दुन्दुभियोंकी गम्भीर ध्वनि गूँजती रहती थी । बहुत-से उद्यान और वन उस नगरीकी श्रीवृद्धि कर रहे थे ॥

पुष्पगन्धैश्च संकीर्णां रमणीयमहापथाम् ।
नानारत्नैश्च सम्पूर्णामिन्द्रस्येवामरावतीम् ॥

उसमें चारों ओर फूलोंकी सुगन्ध छा रही थी । वहाँकी लंबी-चौड़ी सड़कें बहुत सुन्दर थीं । भाँति-भाँतिके रत्नोंसे भरी-पुरी लंका इन्द्रकी अमरावतीपुरीको भी लज्जित कर रही थी ॥

विवेश स पुरीं लङ्कां राक्षसैश्च निषेविताम् ।
ददर्श राक्षसव्राताञ्छूलप्रासधरान् बहून् ॥

घटोत्कचने राक्षसोंसे सेवित उस लङ्कापुरीमें प्रवेश किया और देखा, झुंड-के-झुंड राक्षस त्रिशूल और भाले लिये विचर रहे हैं ॥

नानावेषधरान् दक्षान् नारीश्च प्रियदर्शनाः ।
दिव्यमाल्याम्बरधरा दिव्याभरणभूषिताः ॥

वे सभी युद्धमें कुशल हैं और नाना प्रकारके वेष धारण करते हैं । घटोत्कचने वहाँकी नारियोंको भी देखा । वे सब-की-सब बड़ी सुन्दर थीं । उनके अङ्गोंमें दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण तथा दिव्य हार शोभा दे रहे थे ॥

मदरक्तान्तनयनाः पीनश्रोणिपयोधराः ।
भैमसेनिं ततो दृष्ट्वा हृष्टास्ते विस्मयं गताः ॥

उनके नेत्रोंके किनारे मदिराके नशेसे कुछ लाल हो रहे थे । उनके नितम्ब और उरोज उभरे हुए तथा मांसल थे । भीमसेनपुत्र घटोत्कचको वहाँ आया देख लङ्कानिवासी राक्षसोंको बड़ा हर्ष और विस्मय हुआ ॥

आससाद गृहं राज्ञ इन्द्रस्य सदनोपमम् ।
स द्वारपालमासाद्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥

इधर घटोत्कच इन्द्रभवनके समान मनोहर राजमहलके द्वारपर जा पहुँचा और द्वारपालसे इस प्रकार बोला ॥

घटोत्कच उवाच

कुरूणामृषभो राजा पाण्डुर्नाम महाबलः ।
कनीयांस्तस्य दायादः सहदेव इति श्रुतः ॥

घटोत्कचने कहा—कुरुकुलमें एक श्रेष्ठ राजा हो गये हैं । वे महाबली नरेश 'पाण्डु'के नामसे विख्यात थे । उनके सबसे छोटे पुत्रका नाम 'सहदेव' है ॥

कृष्णमित्रस्य तु गुरो राजसूयार्थमुद्यतः ।
तेनाहं प्रेषितो दूतः करार्थं कौरवस्य च ॥

वे अपने बड़े भाई युधिष्ठिरका राजसूययज्ञ सम्पन्न करानेके लिये कटिबद्ध हैं । धर्मराज युधिष्ठिरके सहायक भगवान् श्रीकृष्ण हैं । सहदेवने कुरुराज युधिष्ठिरके लिये कर लेनेके निमित्त मुझे दूत बनाकर यहाँ भेजा है ॥

द्रष्टुमिच्छामि पौलस्त्यं त्वं क्षिप्रं मां निवेदय ।

मैं पुलस्त्यनन्दन महाराज विभीषणसे मिलना चाहता हूँ । तुम शीघ्र जाकर उन्हें मेरे आगमनकी सूचना दो ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा द्वारपालो महीपते ।
तथेत्युक्त्वा विवेशाथ भवनं स निवेदकः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! घटोत्कचका वह वचन सुनकर वह द्वारपाल 'बहुत अच्छा' कहकर सूचना देनेके लिये राजभवनके भीतर गया ॥

साञ्जलिः स समाचष्ट सर्वां दूतगिरं तदा ।
द्वारपालवचः श्रुत्वा राक्षसेन्द्रो विभीषणः ॥
उवाच वाक्यं धर्मात्मा समीपे मे प्रवेश्यताम् ।

वहाँ उसने हाथ जोड़कर दूतकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं । द्वारपालकी बात सुनकर धर्मात्मा राक्षसराज विभीषणने उससे कहा—'दूतको मेरे समीप ले आओ' ॥

एवमुक्तस्तु राजेन्द्र धर्मज्ञेन महात्मना ।
अथ निष्क्रम्य सम्भ्रान्तो द्वाःस्थो हैडिम्बमब्रवीत् ॥

राजेन्द्र ! धर्मज्ञ महात्मा विभीषणकी ऐसी आज्ञा होनेपर द्वारपाल बड़ी उतावलीके साथ बाहर निकला और घटोत्कच-से बोला—॥

एहि दूत नृपं द्रष्टुं क्षिप्रं प्रविश च स्वयम् ।
द्वारपालवचः श्रुत्वा प्रविवेश घटोत्कचः ॥

'दूत ! आओ । महाराजसे मिलनेके लिये राजभवनमें शीघ्र प्रवेश करो ।' द्वारपालका कथन सुनकर घटोत्कचने राजभवनमें प्रवेश किया ॥

स प्रविश्य ददर्शाथ राक्षसेन्द्रस्य मन्दिरम्।
ततः कैलाससंकाशं तप्तकाञ्चनतोरणम् ॥

तदनन्तर उसमें प्रवेश करके उसने राक्षसराज विभीषणका महल देखा, जो अपनी उज्ज्वल आभासे कैलासके समान जान पड़ता था। उसका फाटक तपाकर शुद्ध किये हुए सोनेसे तैयार किया गया था ॥

प्राकारेण परिक्षिप्तं गोपुरैश्चापि शोभितम्।
हर्म्यप्रासादसम्बाधं नानारत्नसमन्वितम् ॥

चहारदीवारीसे घिरा हुआ वह राजमन्दिर अनेक गोपुरोंसे सुशोभित हो रहा था। उसमें बहुत-सी अट्टालिकाएँ तथा महल बने हुए थे। भाँति-भाँतिके रत्न उस राजभवनकी शोभा बढ़ाते थे ॥

काञ्चनैस्तापनीयैश्च स्फाटिकै राजतैरपि।
वज्रवैडूर्यगर्भैश्च स्तम्भैर्दृष्टिमनोहरैः।
नानाध्वजपताकाभिः सुवर्णाभिश्च चित्रितम्।

तपाये हुए सुवर्ण, रजत (चाँदी) तथा स्फटिकमणिके बने हुए खम्भे नेत्र और मनको बरबस अपनी ओर खींच लेते थे। उन खम्भोंमें हीरे और वैडूर्य जड़े हुए थे। सुनहरे रंगकी विविध ध्वजा-पताकाओंसे उस भव्य भवनकी विचित्र शोभा हो रही थी ॥

चित्रमाल्यावृतं रम्यं तप्तकाञ्चनवेदिकम् ॥
तान् दृष्ट्वा तत्र सर्वान् स भैमसेनिर्मनोरमान्।
प्रविशन्नेव हैडिम्बः शुश्राव मुरजस्वनम् ॥

विचित्र मालाओंसे अलंकृत तथा विशुद्ध स्वर्णमय वेदिकाओंसे विभूषित वह राजभवन बड़ा रमणीय दिखायी दे रहा था। उस महलकी इन सारी मनोरम विशेषताओंको देखकर घटोत्कचने ज्यों ही भीतर प्रवेश किया, त्यों ही उसके कानोंमें मृदंगकी मधुर ध्वनि सुनायी पड़ी ॥

तन्त्रीगीतसमाकीर्णं समतालमिताक्षरम्।
दिव्यदुन्दुभिनिर्ह्रादं वादित्रशतसंकुलम् ॥

वहाँ वीणाके तार झंकृत हो रहे थे और उसके लयपर गीत गाया जा रहा था, जिसका एक-एक अक्षर समतालके अनुसार उच्चारित हो रहा था। सैकड़ों वाद्योंके साथ दिव्य दुन्दुभियोंका मधुर घोष गूँज रहा था ॥

स श्रुत्वा मधुरं शब्दं प्रीतिमानभवत् तदा।
ततो विगाह्य हैडिम्बो बहुकक्षां मनोरमाम् ॥
स ददर्श महात्मानं द्वाःस्थेन भरतर्षभ।
तं विभीषणमासीनं काञ्चने परमासने ॥

भरतश्रेष्ठ! वह मधुर शब्द सुनकर घटोत्कचके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने अनेक मनोरम कक्षाओंको पार करके द्वारपालके साथ जा सुन्दर स्वर्णसिंहासनपर बैठे हुए महात्मा विभीषणका दर्शन किया ॥

दिव्ये भास्करसंकाशे मुक्तामणिविभूषिते।
दिव्याभरणचित्राङ्गं दिव्यरूपधरं विभुम् ॥

उनका सिंहासन सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा था और उसमें मोती तथा मणि आदि रत्न जड़े हुए थे। दिव्य आभूषणोंसे राक्षसराज विभीषणके अङ्गोंकी विचित्र शोभा हो रही थी। उनका रूप दिव्य था ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धोक्षितं शुभम् ॥
विभ्राजमानं वपुषा सूर्यवैश्वानरप्रभम्।

वे दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण करके दिव्य गन्धसे अभिषिक्त हो बड़े सुन्दर दिखायी दे रहे थे। उनकी अङ्गकान्ति सूर्य तथा अग्निके समान उद्भासित हो रही थी ॥

उपोपविष्टं सचिवैर्देवैरिव शतक्रतुम् ॥
यक्षैर्महारथैर्दिव्यैर्नारीभिः प्रियदर्शनैः।
गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिः पूज्यमानं यथाविधि ॥

जैसे इन्द्रके पास बहुत-से देवता बैठते हैं, उसी प्रकार विभीषणके समीप उनके अनेक सचिव बैठे थे। बहुत-से दिव्य सुन्दर महारथी यक्ष अपनी स्त्रियोंके साथ मङ्गलयुक्त वाणीद्वारा विभीषणका विधिपूर्वक पूजन कर रहे थे ॥

चामरे व्यजने चाग्र्ये हेमदण्डे महाधने।
गृहीते वरनारीभ्यां धूयमाने च मूर्धनि ॥

दो सुन्दरी नारियाँ सुवर्णमय दण्डसे विभूषित बहुमूल्य चँवर तथा व्यजन लेकर उनके मस्तकपर डुला रही थीं ॥

अर्चिष्मन्तं श्रिया जुष्टं कुबेरवरुणोपमम्।
धर्मे चैव स्थितं नित्यमद्भुतं राक्षसेश्वरम् ॥

राक्षसराज विभीषण कुबेर और वरुणके समान राजलक्ष्मीसे सम्पन्न एवं अद्भुत दिखायी देते थे। उनके अङ्गोंसे दिव्य प्रभा छिटक रही थी। वे सदा धर्ममें स्थित रहते थे ॥

राममिक्ष्वाकुनाथं वै स्मरन्तं मनसा सदा।
दृष्ट्वा घटोत्कचो राजन् ववन्दे तं कृताञ्जलिः ॥

वे मन-ही-मन इक्ष्वाकुवंशशिरोमणि श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करते थे। राजन्! उन राक्षसराज विभीषणको देख घटोत्कचने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया ॥

प्रह्वस्तस्थौ महावीर्यः शक्रं चित्ररथो यथा।
तं दूतमागतं दृष्ट्वा राक्षसेन्द्रो विभीषणः ॥
पूजयित्वा यथान्यायं सान्त्वपूर्वं वचोऽब्रवीत्।

और जैसे महापराक्रमी चित्ररथ इन्द्रके सामने नम्र रहते हैं, उसी प्रकार महाबली घटोत्कच भी विनीतभावसे उनके सम्मुख खड़ा हो गया। राक्षसराज विभीषणने उस दूतको आया हुआ देख उसका यथायोग्य सम्मान करके सान्त्वनापूर्ण वचनोंमें कहा ॥

विभीषण उवाच

कस्य वंशे तु संजातः करमिच्छन् महीपतिः ॥
तस्यानुजान् समस्तांश्च पुरं देशं च तस्य वै।

त्वां च कार्यं च तत् सर्वं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥
विस्तरेण मम ब्रूहि सर्वानेतान् पृथक्-पृथक् ।

विभीषणने पूछा—दूत ! जो महाराज मुझसे कर लेना चाहते हैं, वे किसके कुलमें उत्पन्न हुए हैं। उनके समस्त भाइयों तथा ग्राम और देशका परिचय दो। मैं तुम्हारे विषयमें भी जानना चाहता हूँ तथा तुम जिस कार्यके लिये कर लेने आये हो, उस समस्त कार्यके विषयमें भी मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ। तुम मेरी पूछी हुई इन सब बातोंको विस्तारपूर्वक पृथक्-पृथक् बताओ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु हैडिम्बः पौलस्त्येन महात्मना ॥
कृताञ्जलिरुवाचाथ सान्त्वयन् राक्षसाधिपम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा विभीषणके इस प्रकार पूछनेपर हिडिम्बाकुमार घटोत्कचने हाथ जोड़ राक्षसराजको आश्वासन देते हुए कहा ॥

घटोत्कच उवाच

सोमस्य वंशे राजाऽऽसीत् पाण्डुर्नाम महाबलः ।
पाण्डोः पुत्राश्च पञ्चासञ्छक्रतुल्यपराक्रमाः ॥
तेषां ज्येष्ठस्तु नाम्नाभूद् धर्मपुत्र इति श्रुतः ।

घटोत्कच बोला—महाराज ! चन्द्रवंशमें पाण्डु नामसे प्रसिद्ध एक महाबली राजा हो गये हैं। उनके पाँच पुत्र हैं, जो इन्द्रके समान पराक्रमी हैं। उन पाँचोंमें जो बड़े हैं, वे धर्मपुत्रके नामसे विख्यात हैं ॥

अजातशत्रुर्धर्मात्मा धर्मो विग्रहवानिव ॥
ततो युधिष्ठिरो राजा प्राप्य राज्यमकारयत् ।
गङ्गाया दक्षिणे तीरे नगरे नागसाह्वये ॥

उनके मनमें किसीके प्रति शत्रुता नहीं है; इसलिये लोग उन्हें अजातशत्रु कहते हैं। उनका मन सदा धर्ममें ही लगा रहता है। वे धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप जान पड़ते हैं। गङ्गाके दक्षिणतटपर हस्तिनापुर नामका एक नगर है। राजा युधिष्ठिर वहीं अपना पैतृक राज्य प्राप्त करके उसकी रक्षा करते थे ॥

तद् दत्त्वा धृतराष्ट्राय शक्रप्रस्थं ययौ ततः ।
भ्रातृभिः सह राजेन्द्र शक्रप्रस्थे प्रमोदते ॥

राक्षसराज ! कुछ कालके पश्चात् उन्होंने हस्तिनापुरका राज्य धृतराष्ट्रको सौंप दिया और स्वयं वे भाइयोंसहित इन्द्रप्रस्थ चले गये। इन दिनों वे वहीं आनन्दपूर्वक रहते हैं ॥

गङ्गायमुनयोर्मध्ये तावुभौ नगरोत्तमौ ।
नित्यं धर्मे स्थितो राजा शक्रप्रस्थे प्रशासति ॥

वे दोनों श्रेष्ठ नगर गङ्गा-यमुनाके बीचमें बसे हुए हैं। नित्य धर्मपरायण राजा युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थमें ही रहकर शासन करते हैं ॥

तस्यानुजो महाबाहुः भीमसेनो महाबलः ।
महातेजा महावीर्यः सिंहतुल्यः स पाण्डवः ॥

उनके छोटे भाई पाण्डुकुमार महाबाहु भीमसेन भी बड़े बलवान् हैं। वे सिंहके समान महापराक्रमी और अत्यन्त तेजस्वी हैं ॥

दशनागसहस्राणां बले तुल्यः स पाण्डवः ।
तस्यानुजोऽर्जुनो नाम महावीर्यपराक्रमः ॥
सुकुमारो महासत्त्वो लोके वीर्येण विश्रुतः ।

उनमें दस हजार हाथियोंका बल है। उनसे छोटे भाईका नाम अर्जुन है, जो महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न, सुकुमार तथा अत्यन्त धैर्यवान् हैं। उनका पराक्रम विश्वमें विख्यात है ॥

कार्तवीर्यसमो वीर्ये सागरप्रतिमो बले ॥
जामदग्न्यसमो ह्यस्त्रे संख्ये रामसमोऽर्जुनः ।
रूपे शक्रसमः पार्थस्तेजसा भास्करोपमः ॥

वे कुन्तीनन्दन अर्जुन कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी, सगरपुत्रोंके समान बलवान्, परशुरामजीके समान अस्त्रविद्याके ज्ञाता, श्रीरामचन्द्रजीके समान समरविजयी, इन्द्रके समान रूपवान् तथा भगवान् सूर्यके समान तेजस्वी हैं ॥

देवदानवगन्धर्वैः पिशाचोरगराक्षसैः ।
मानुषैश्च समस्तैश्च अजेयः फाल्गुनो रणे ॥

देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, नाग, राक्षस और मनुष्य—ये सब मिलकर भी युद्धमें अर्जुनको परास्त नहीं कर सकते ॥

तेन तत् खाण्डवं दावं तर्पितं जातवेदसे ।
तरसा धर्षयित्वा तं शक्रं देवगणैः सह ॥
लब्धान्यस्त्राणि दिव्यानि तर्पयित्वा हुताशनम् ।

उन्होंने खाण्डववनको जलाकर अग्निदेवको तृप्त किया है। देवताओंसहित इन्द्रको वेगपूर्वक पराजित करके उन्होंने अग्निदेवको संतुष्ट किया और उनसे दिव्यास्त्र प्राप्त किये हैं ॥

तेन लब्धा महाराज दुर्लभा देवतैरपि ॥
वासुदेवस्य भगिनी सुभद्रा नाम विश्रुता ।

महाराज ! उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी बहिन सुभद्राको पत्नीरूपमें प्राप्त किया है, जो देवताओंके लिये भी दुर्लभ थी ॥

अर्जुनस्यानुजो राजन् नकुलश्चेति विश्रुतः ॥
दर्शनीयतमो लोके मूर्तिमानिव मन्मथः ।

राजन् ! अर्जुनके छोटे भाई नकुल नामसे विख्यात हैं, जो इस जगत्‌में मूर्तिमान् कामदेवके समान दर्शनीय हैं ॥

तस्यानुजो महातेजाः सहदेव इति श्रुतः ।
तेनाहं प्रेषितो राजन् सहदेवेन मारिष ॥

नकुलके छोटे भाई महातेजस्वी सहदेवके नामसे विख्यात हैं। माननीय महाराज ! उन्हीं सहदेवने मुझे यहाँ भेजा है ॥

अहं घटोत्कचो नाम भीमसेनसुतो बली।
मम माता महाभागा हिडिम्बा नाम राक्षसी॥

मेरा नाम घटोत्कच है। मैं भीमसेनका बलवान् पुत्र हूँ। मेरी सौभाग्यशालिनी माताका नाम हिडिम्बा है। वे राक्षसकुलकी कन्या हैं॥

पार्थानामुपकारार्थे चरामि पृथिवीमिमाम्।
आसीत् पृथिव्याः सर्वस्या महीपालो युधिष्ठिरः॥

मैं कुन्तीपुत्रोंका उपकार करनेके लिये ही इस पृथ्वीपर विचरता हूँ। महाराज युधिष्ठिर सम्पूर्ण भूमण्डलके शासक हो गये हैं॥

राजसूयं क्रतुश्रेष्ठमाहर्तुमुपचक्रमे।
संदिदेश च स भ्रातॄन् करार्थं सर्वतोदिशम्॥

उन्होंने क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका अनुष्ठान करनेकी तैयारी की है। उन्हीं महाराजने अपने सब भाइयोंको कर वसूल करनेके लिये सब दिशाओंमें भेजा है॥

वृष्णिवीरेण सहितः संदिदेशानुजान् नृपः।
उदीचीमर्जुनस्तूर्णं करार्थं समुपाययौ॥

वृष्णिवीर भगवान् श्रीकृष्णके साथ धर्मराजने जब अपने भाइयोंको दिग्विजयके लिये आदेश दिया, तब महाबली अर्जुन कर वसूल करनेके लिये तुरंत उत्तर दिशाकी ओर चल दिये॥

गत्वा शतसहस्राणि योजनानि महाबलः।
जित्वा सर्वान् नृपान् युद्धे हत्वा च तरसा वशी॥
स्वर्गद्वारमुपागम्य रत्नान्यादाय वै भृशम्।

उन्होंने लाख योजनकी यात्रा करके सम्पूर्ण राजाओंको युद्धमें हराया है और सामना करनेके लिये आये हुए विपक्षियोंको वेगपूर्वक मारा है। जितेन्द्रिय अर्जुनने स्वर्गके द्वारतक जाकर प्रचुर रत्न-राशि प्राप्त की है॥

अश्वांश्च विविधान् दिव्यान् सर्वानादाय फाल्गुनः॥
धनं बहुविधं राजन् धर्मपुत्राय वै ददौ।

नाना प्रकारके दिव्य अश्व उन्हें भेंटमें मिले हैं। इस प्रकार भाँति-भाँतिके धन लाकर उन्होंने धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी सेवामें समर्पित किये हैं॥

भीमसेनो हि राजेन्द्र जित्वा प्राचीं दिशं बलात्॥
वशे कृत्वा महीपालान् पाण्डवाय धनं ददौ।

राजेन्द्र! युधिष्ठिरके दूसरे भाई भीमसेनने पूर्व दिशामें जाकर उसे बलपूर्वक जीता है और वहाँके राजाओंको अपने वशमें करके पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको बहुत धन अर्पित किया है॥

दिशं प्रतीचीं नकुलः करार्थं प्रययौ तथा॥
सहदेवो दिशं याम्यां जित्वा सर्वान् महीक्षितः।

नकुल कर लेनेके लिये पश्चिम दिशाकी ओर गये हैं और सहदेव सम्पूर्ण राजाओंको जीतते हुए दक्षिण दिशामें बढ़ते चले आये हैं॥

मां संदिदेश राजेन्द्र करार्थमिह सत्कृतः॥
पार्थानां चरितं तुभ्यं संक्षेपात् समुदाहृतम्।

राजेन्द्र! उन्होंने बड़े सत्कारपूर्वक मुझे आपके यहाँ राजकीय कर देनेके लिये संदेश भेजा है। महाराज! पाण्डवोंका यह चरित्र मैंने अत्यन्त संक्षेपमें आपके समक्ष रक्खा है॥

तमवेक्ष्य महाराज धर्मराजं युधिष्ठिरम्॥
पावकं राजसूयं च भगवन्तं हरिं प्रभुम्।
एतानवेक्ष्य धर्मज्ञ करं त्वं दातुमर्हसि॥

आप धर्मराज युधिष्ठिरकी ओर देखिये, पवित्र करनेवाले राजसूययज्ञ तथा जगदीश्वर भगवान् श्रीहरिकी ओर भी ध्यान दीजिये। धर्मज्ञ नरेश! इन सबकी ओर दृष्टि रखते हुए आपको मुझे कर देना चाहिये॥

वैशम्पायन उवाच

तेन तद् भाषितं श्रुत्वा राक्षसेन्द्रो विभीषणः।
प्रीतिमानभवद् राजन् धर्मात्मा सचिवैः सह॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! घटोत्कचकी वह बात सुनकर धर्मात्मा राक्षसराज विभीषण अपने मन्त्रियोंके साथ बड़े प्रसन्न हुए॥

स चास्य प्रतिजग्राह शासनं प्रीतिपूर्वकम्।
तच्च कालकृतं धीमानभ्यमन्यत स प्रभुः॥ ७४॥

विभीषणने प्रेमपूर्वक ही उनका शासन स्वीकार कर लिया। शक्तिशाली एवं बुद्धिमान् विभीषणने उसे कालका ही विधान समझा॥ ७४॥

(ततो ददौ विचित्राणि कम्बलानि कुथानि च।
दन्तकाञ्चनपर्यङ्कान् मणिहेमविचित्रितान्॥

उन्होंने सहदेवके लिये हाथीकी पीठपर बिछाने योग्य विचित्र कम्बल (कालीन) तथा हाथीदाँत और सुवर्णके बने हुए पलंग दिये, जिनमें सोने तथा रत्न जड़े हुए थे॥

भूषणानि विचित्राणि महार्हाणि बहूनि च।
प्रवालानि च शुभ्राणि मणींश्च विविधान् बहून्॥
काञ्चनानि च भाण्डानि कलशानि घटानि च।
कटाहान्यपि चित्राणि द्रोण्यश्चैव सहस्रशः॥

इसके सिवा बहुत-से विचित्र और बहुमूल्य आभूषण भी भेंट किये। सुन्दर मूँगे, भाँति-भाँतिके मणिरत्न, सोनेके बर्तन, कलश, घड़े, विचित्र कड़ाहे और हजारों जलपात्र समर्पित किये॥

राजतानि च भाण्डानि चित्राणि च बहूनि च।
शस्त्राणि रुक्मचित्राणि मणिमुक्तैर्विचित्रितान्॥

इनके सिवा चाँदीके भी बहुत-से ऐसे बर्तन दिये, जिनमें

चित्रकारी की गयी थी। कुछ ऐसे शस्त्र भेंट किये, जिनमें सुवर्ण, मणि और मोती जड़े हुए थे ॥

यज्ञस्य तोरणे युक्तान् ददौ तालांश्चतुर्दश।
रुक्मपङ्कजपुष्पाणि शिबिका मणिभूषिताः ॥

यज्ञके फाटकपर लगाने योग्य चौदह ताड़ प्रदान किये। सुवर्णमय कमलपुष्प और मणिजटित शिबिकाएँ भी दीं ॥

मुकुटानि महार्हाणि हेमवर्णांश्च कुण्डलान्।
हेमपुष्पाण्यनेकानि रुक्ममाल्यानि चापरान् ॥
शङ्खांश्च चन्द्रसंकाशाञ्छतावर्तान् विचित्रिणः।

बहुमूल्य मुकुट, सुनहले कुण्डल, सोनेके बने हुए अनेकानेक पुष्प, सोनेके ही हार तथा चन्द्रमाके समान उज्ज्वल एवं विचित्र शतावर्त शङ्ख भेंट किये ॥

चन्दनानि च मुख्यानि रुक्मरत्नान्यनेकशः ॥
वासांसि च महार्हाणि कम्बलानि बहून्यपि।
अन्यांश्च विविधान् राजन् रत्नानि च बहूनि च ॥
स ददौ सहदेवाय तदा राजा विभीषणः।)

श्रेष्ठ चन्दन, अनेक प्रकारके सुवर्ण तथा रत्न, महँगे वस्त्र, बहुत-से कम्बल, अनेक जातिके रत्न तथा और भी भाँति-भाँतिके बहुमूल्य पदार्थ राजा विभीषणने सहदेवको भेंट किये ॥

ततः सम्प्रेषयामास रत्नानि विविधानि च।
चन्दनागुरुकाष्ठानि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ७५ ॥
वासांसि च महार्हाणि मणींश्चैव महाधनान्।

तथा उन्होंने नाना प्रकारके रत्न, चन्दन, अगुरुके काष्ठ, दिव्य आभूषण, बहुमूल्य वस्त्र और विशेष मूल्यवान् मणि-रत्न भी उसके साथ भिजवाये ॥ ७५½ ॥

(विभीषणं च राजानमभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥
प्रदक्षिणं परीत्यैव निर्जगाम घटोत्कचः।

तदनन्तर घटोत्कचने हाथ जोड़कर राजा विभीषणको प्रणाम किया और उनकी परिक्रमा करके वहाँसे प्रस्थान किया ॥

तानि सर्वाणि रत्नानि अष्टाशीतिर्निशाचराः ॥
आजह्रुः समुदा राजन् हैडिम्बेन तदा सह।

राजन्! घटोत्कचके साथ अट्ठासी निशाचर उन सब रत्नोंको पहुँचानेके लिये प्रसन्नतापूर्वक आये ॥

रत्नान्यादाय सर्वाणि प्रतस्थे स घटोत्कचः ॥
ततो रत्नान्युपादाय हैडिम्बो राक्षसैः सह।
जगाम तूर्णं लङ्कायाः सहदेवपदं प्रति ॥
आसेदुः पाण्डवं सर्वे लङ्घयित्वा महोदधिम् ॥

इस प्रकार उन सब रत्नोंको साथ ले घटोत्कचने राक्षसोंके साथ लङ्कासे सहदेवके पड़ावकी ओर प्रस्थान किया और समुद्र लाँघकर वे सब-के-सब पाण्डुनन्दन सहदेवके निकट आ पहुँचे ॥

सहदेवो ददर्शाथ रत्नाहारान् निशाचरान्।
आगतान् भीमसंकाशान् हैडिम्बं च तथा नृप ॥

राजन्! सहदेवने रत्न लेकर आये हुए भयंकर निशाचरों तथा घटोत्कचको भी देखा ॥

द्रमिला नैर्ऋतान् दृष्ट्वा दुद्रुवुस्ते भयार्दिताः।
भैमसेनिस्ततो गत्वा माद्रेयं प्राञ्जलिः स्थितः ॥

उस समय उन राक्षसोंको देखकर द्राविड़ सैनिक भयभीत हो सब ओर भागने लगे। इतनेमें ही भीमसेनकुमार घटोत्कच माद्रीनन्दन सहदेवके पास आ हाथ जोड़कर खड़ा हो गया ॥

प्रीतिमानभवद् दृष्ट्वा रत्नौघं तं च पाण्डवः।
तं परिष्वज्य पाणिभ्यां दृष्ट्वा तान् प्रीतिमानभूत् ॥
विसृज्य द्रमिलान् सर्वान् गमनायोपचक्रमे।)

पाण्डुकुमार सहदेव वह रत्न-राशि देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने घटोत्कचको दोनों हाथोंसे पकड़कर गले लगाया और दूसरे राक्षसोंकी ओर देखकर भी बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। इसके बाद समस्त द्राविड सैनिकोंको विदा करके सहदेव वहाँसे लौटनेकी तैयारी करने लगे ॥

न्यवर्तत ततो धीमान् सहदेवः प्रतापवान् ॥ ७६ ॥

तैयारी पूरी हो जानेपर प्रतापी और बुद्धिमान् सहदेव इन्द्रप्रस्थकी ओर चल दिये ॥ ७६ ॥

एवं निर्जित्य तरसा सान्त्वेन विजयेन च।
करदान् पार्थिवान् कृत्वा प्रत्यागच्छदरिंदमः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार बलपूर्वक जीतकर तथा सामनीतिसे समझा-बुझाकर सब राजाओंको अपने अधीन करके उन्हें करद बनाकर शत्रुदमन माद्रीनन्दन इन्द्रप्रस्थमें वापस आ गये ॥ ७७ ॥

(रत्नभारमुपादाय ययौ सह निशाचरैः।
इन्द्रप्रस्थं विवेशाथ कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥

रत्नोंका वह भारी भार साथ लिये निशाचरोंके साथ सहदेवने इन्द्रप्रस्थ नगरमें प्रवेश किया। उस समय वे पैरोंकी धमकसे सारी पृथ्वीको कम्पित करते हुए-से चल रहे थे ॥

दृष्ट्वा युधिष्ठिरं राजन् सहदेवः कृताञ्जलिः।
प्रह्वोऽभिवाद्य तस्थौ स पूजितश्चैव तेन वै ॥

राजन्! युधिष्ठिरको देखते ही सहदेव हाथ जोड़ नम्रतापूर्वक उनके चरणोंमें पड़ गये। फिर विनीतभावसे उनके समीप खड़े हो गये। उस समय युधिष्ठिरने भी उनका बहुत सम्मान किया ॥

लङ्काप्राप्तान् धनौघांश्च दृष्ट्वा तान् दुर्लभान् बहून् ।
प्रीतिमानभवद् राजा विस्मयं च ययौ तदा ॥

लङ्कासे प्राप्त हुई अत्यन्त दुर्लभ एवं प्रचुर धनराशियोंको देखकर राजा युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न और विस्मित हुए ॥

कोटीसहस्रमधिकं हिरण्यस्य महात्मने ।
विचित्रांस्तु मणींश्चैव गोऽजाविमहिषांस्तथा ॥)

धर्मराजाय तत् सर्वं निवेद्य भरतर्षभ ।
कृतकर्मा सुखं राजन्नुवास जनमेजय ॥ ७८ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! उस धनराशिमें सहस्र कोटिसे भी अधिक सुवर्ण था । विचित्र मणि एवं रत्न थे । गाय, भैंस, भेड़ और बकरियोंकी संख्या भी अधिक थी । राजन् ! इन सबको महात्मा धर्मराजकी सेवामें समर्पित करके कृतकृत्य हो सहदेव सुखपूर्वक राजधानीमें रहने लगे ॥ ७८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि सहदेवदक्षिणदिग्विजये एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें सहदेवके द्वारा दक्षिण दिशाकी विजयसे सम्बन्ध रखनेवाला इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०० श्लोक मिलाकर कुल १७८ श्लोक हैं)

द्वात्रिंशोऽध्यायः

नकुलके द्वारा पश्चिम दिशाकी विजय

वैशम्पायन उवाच

नकुलस्य तु वक्ष्यामि कर्माणि विजयं तथा ।
वासुदेवजितामाशां यथासावजयत् प्रभुः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अब मैं नकुलके पराक्रम और विजयका वर्णन करूँगा । शक्तिशाली नकुलने जिस प्रकार भगवान् वासुदेवद्वारा अधिकृत पश्चिम दिशापर विजय पायी थी, वह सुनो ॥ १ ॥

निर्याय खाण्डवप्रस्थात् प्रतीचीमभितो दिशम् ।
उद्दिश्य मतिमान् प्रायान्महत्या सेनया सह ॥ २ ॥

बुद्धिमान् माद्रीकुमारने विशाल सेनाके साथ खाण्डवप्रस्थसे निकलकर पश्चिम दिशामें जानेके लिये प्रस्थान किया ॥ २ ॥

सिंहनादेन महता योधानां गर्जितेन च ।
रथनेमिनिनादैश्च कम्पयन् वसुधामिमाम् ॥ ३ ॥

वे अपने सैनिकोंके महान् सिंहनाद, गर्जना तथा रथके पहियोंकी घर्घराहटकी तुमुल ध्वनिसे इस पृथ्वीको कम्पित करते हुए जा रहे थे ॥ ३ ॥

ततो बहुधनं रम्यं गवाढ्यं धनधान्यवत् ।
कार्तिकेयस्य दयितं रोहीतकमुपाद्रवत् ॥ ४ ॥

जाते-जाते वे बहुत धन-धान्यसे सम्पन्न, गौओंकी बहुलतासे युक्त तथा स्वामिकार्तिकेयके अत्यन्त प्रिय रमणीय रोहीतक[1] पर्वत एवं उसके समीपवर्ती देशमें जा पहुँचे ॥ ४ ॥

तत्र युद्धं महच्चासीच्छूरैर्मत्तमयूरकैः ।
मरुभूमिं स कार्त्स्न्येन तथैव बहुधान्यकम् ॥ ५ ॥
शैरीषकं महोत्थं च वशे चक्रे महाद्युतिः ।
आक्रोशं चैव राजर्षिं तेन युद्धमभून्महत् ॥ ६ ॥

वहाँ उनका मत्तमयूर नामवाले शूरवीर क्षत्रियोंके साथ घोर संग्राम हुआ । उसपर अधिकार करनेके पश्चात् महान् तेजस्वी नकुलने समूची मरुभूमि (मारवाड़), प्रचुर धन-धान्यपूर्ण शैरीषक और महोत्थ नामक देशोंपर अधिकार प्राप्त कर लिया । महोत्थ देशके अधिपति राजर्षि आक्रोशको भी जीत लिया । आक्रोशके साथ उनका बड़ा भारी युद्ध हुआ था ॥ ५-६ ॥

तान् दशार्णान् स जित्वा च प्रतस्थे पाण्डुनन्दनः ।
शिबींस्त्रिगर्तानम्बष्ठान् मालवान् पञ्चकर्पटान् ॥ ७ ॥
तथा माध्यमिकांश्चैव वाटधानान् द्विजानथ ।

तत्पश्चात् दशार्णदेशपर विजय प्राप्त करके पाण्डुनन्दन नकुलने शिबि, त्रिगर्त, अम्बष्ठ, मालव, पञ्चकर्पट एवं माध्यमिक देशोंको प्रस्थान किया और उन सबको जीतकर वाटधान-देशीय क्षत्रियोंको भी हराया ॥ ७½ ॥

पुनश्च परिवृत्याथ पुष्करारण्यवासिनः ॥ ८ ॥
गणानुत्सवसंकेतान् व्यजयत् पुरुषर्षभः ।

पुनः उधरसे लौटकर नरश्रेष्ठ नकुलने पुष्करारण्य-निवासी उत्सवसंकेत नामक गणोंको परास्त किया ॥ ८½ ॥

सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महाबलाः ॥ ९ ॥
शूद्राभीरगणाश्चैव ये चाश्रित्य सरस्वतीम् ।
वर्तयन्ति च ये मत्स्यैर्ये च पर्वतवासिनः ॥ १० ॥

समुद्रके तटपर रहनेवाले जो महाबली ग्रामणीय (ग्राम शासकके वंशज) क्षत्रिय थे, सरस्वती नदीके किनारे निवास करनेवाले जो शूद्र आभीरगण थे, मछलियोंसे जीविका चलानेवाले जो धीवर जातिके लोग थे तथा जो पर्वतोंपर वास करनेवाले दूसरे-दूसरे मनुष्य थे, उन सबको नकुलने जीतकर अपने वशमें कर लिया ॥ ९-१० ॥

कृत्स्नं पञ्चनदं चैव तथैवामरपर्वतम् ।

[1] इसीको आजकल रोहतक (पंजाब) कहते हैं ।

उत्तरज्योतिषं चैव तथा दिव्यकटं पुरम् ॥ ११ ॥
द्वारपालं च तरसा वशे चक्रे महाद्युतिः ।

फिर सम्पूर्ण पञ्चनददेश (पंजाब), अमरपर्वत, उत्तरज्योतिष, दिव्यकट नगर और द्वारपालपुरको अत्यन्त कान्तिमान् नकुलने शीघ्र ही अपने अधिकारमें कर लिया ॥ ११½ ॥

रामठान् हारहूणांश्च प्रतीच्याश्चैव ये नृपाः ॥ १२ ॥
तान् सर्वान् स वशे चक्रे शासनादेव पाण्डवः ।
तत्रस्थः प्रेषयामास वासुदेवाय भारत ॥ १३ ॥

रामठ, हार, हूण तथा अन्य जो पश्चिमी नरेश थे, उन सबको पाण्डुकुमार नकुलने आज्ञामात्रसे ही अपने अधीन कर लिया । भारत ! वहीं रहकर उन्होंने वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके पास दूत भेजा ॥ १२-१३ ॥

स चास्य गतभी राजन् प्रतिजग्राह शासनम् ।
ततः शाकलमभ्येत्य मद्राणां पुटभेदनम् ॥ १४ ॥
मातुलं प्रीतिपूर्वेण शल्यं चक्रे वशे बली ।

राजन् ! उन्होंने केवल प्रेमके कारण नकुलका शासन स्वीकार कर लिया । इसके बाद शाकलदेशको जीतकर बलवान् नकुलने मद्रदेशकी राजधानीमें प्रवेश किया और वहाँके शासक अपने मामा शल्यको प्रेमसे ही वशमें कर लिया ॥ १४½ ॥

स तेन सत्कृतो राज्ञा सत्कारार्हो विशाम्पते ॥ १५ ॥
रत्नानि भूरीण्यादाय सम्प्रतस्थे युधाम्पतिः ।

राजन् ! राजा शल्यने सत्कारके योग्य नकुलका यथावत् सत्कार किया । शल्यसे भेंटमें बहुत-से रत्न लेकर योद्धाओंके अधिपति माद्रीकुमार आगे बढ़ गये ॥ १५½ ॥

ततः सागरकुक्षिस्थान् म्लेच्छान् परमदारुणान् ॥ १६ ॥
पह्लवान् बर्बरांश्चैव किरातान् यवनाञ्छकान् ।
ततो रत्नान्युपादाय वशे कृत्वा च पार्थिवान् ।
न्यवर्तत कुरुश्रेष्ठो नकुलश्चित्रमार्गवित् ॥ १७ ॥

तदनन्तर समुद्री टापुओंमें रहनेवाले अत्यन्त भयंकर म्लेच्छ, पह्लव, बर्बर, किरात, यवन और शकोंको जीतकर उनसे रत्नोंकी भेंट ले विजयके विचित्र उपायोंके जाननेवाले कुरुश्रेष्ठ नकुल इन्द्रप्रस्थकी ओर लौटे ॥ १६-१७ ॥

करभाणां सहस्राणि कोशं तस्य महात्मनः ।
ऊहुर्दश महाराज कृच्छ्रादिव महाधनम् ॥ १८ ॥

महाराज ! उन महामना नकुलके बहुमूल्य खजानेका बोझ दस हजार हाथी बड़ी कठिनाईसे ढो रहे थे ॥ १८ ॥

इन्द्रप्रस्थगतं वीरमभ्येत्य स युधिष्ठिरम् ।
ततो माद्रीसुतः श्रीमान् धनं तस्मै न्यवेदयत् ॥ १९ ॥

तदनन्तर श्रीमान् माद्रीकुमारने इन्द्रप्रस्थमें विराजमान वीरवर राजा युधिष्ठिरसे मिलकर वह सारा धन उन्हें समर्पित कर दिया ॥

एवं विजित्य नकुलो दिशं वरुणपालिताम् ।
प्रतीचीं वासुदेवेन निर्जितां भरतर्षभ ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार भगवान् वासुदेवके द्वारा अपने अधिकारमें की हुई वरुणपालित पश्चिम दिशापर विजय पाकर नकुल इन्द्रप्रस्थ लौट आये ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि नकुलप्रतीचीविजये द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें नकुलके द्वारा पश्चिम दिशाकी विजयसे सम्बन्ध रखनेवाला बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

(राजसूयपर्व)

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके शासनकी विशेषता, श्रीकृष्णकी आज्ञासे युधिष्ठिरका राजसूययज्ञकी दीक्षा लेना तथा राजाओं, ब्राह्मणों एवं सगे-सम्बन्धियोंको बुलानेके लिये निमन्त्रण भेजना

वैशम्पायन उवाच

(एवं निर्जित्य पृथिवीं भ्रातरः कुरुनन्दन ।
वर्तमानाः स्वधर्मेण शशासुः पृथिवीमिमाम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! इस प्रकार सारी पृथ्वीको जीतकर अपने धर्मके अनुसार बर्ताव करते हुए पाँचों भाई पाण्डव इस भूमण्डलका शासन करने लगे ॥

चतुर्भिर्भीमसेनाद्यैर्भ्रातृभिः सहितो नृपः ।
अनुगृह्य प्रजाः सर्वाः सर्ववर्णानगोपयत् ॥

भीमसेन आदि चारों भाइयोंके साथ राजा युधिष्ठिर सम्पूर्ण प्रजापर अनुग्रह करते हुए सब वर्णके लोगोंको संतुष्ट रखते थे ॥

अविरोधेन सर्वेषां हितं चक्रे युधिष्ठिरः ।
प्रीयतां दीयतां सर्वं मुक्त्वा कोषं बलं विना ॥
साधु धर्मेति पार्थस्य नान्यच्छ्रूयेत भाषितम् ।

युधिष्ठिर किसीका भी विरोध न करके सबके हितसाधनमें लगे रहते थे । 'सबको तृप्त एवं प्रसन्न किया जाय, खजाना

खोलकर सबको खुले हाथ दान दिया जाय, किसीपर बल-प्रयोग न किया जाय; धर्म ! तुम धन्य हो ।' इत्यादि बातोंके सिवा युधिष्ठिरके मुखसे और कुछ नहीं सुनायी पड़ता था ॥

एवंवृत्ते जगत् तस्मिन् पितरीवान्वरज्यत ॥
न तस्य विद्यते द्वेष्टा ततोऽस्याजातशत्रुता ।)

उनके ऐसे बर्तावके कारण सारा जगत् उनके प्रति वैसा ही अनुराग रखने लगा, जैसे पुत्र पिताके प्रति अनुरक्त होता है । राजा युधिष्ठिरसे द्वेष रखनेवाला कोई नहीं था; इसीलिये वे 'अजातशत्रु' कहलाते थे ॥

रक्षणाद् धर्मराजस्य सत्यस्य परिपालनात् ।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव स्वकर्मनिरताः प्रजाः ॥ १ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर प्रजाकी रक्षा, सत्यका पालन और शत्रुओंका संहार करते थे। उनके इन कार्योंसे निश्चिन्त एवं उत्साहित होकर प्रजावर्गके सब लोग अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंके पालनमें संलग्न रहते थे ॥ १ ॥

बलीनां सम्यगादानाद् धर्मतश्चानुशासनात् ।
निकामवर्षी पर्जन्यः स्फीतो जनपदोऽभवत् ॥ २ ॥

न्यायपूर्वक कर लेने और धर्मपूर्वक शासन करनेसे उनके राज्यमें मेघ इच्छानुसार वर्षा करते थे । इस प्रकार युधिष्ठिर-का सम्पूर्ण जनपद धन-धान्यसे सम्पन्न हो गया था ॥ २ ॥

सर्वारम्भाः सुप्रवृत्ता गोरक्षा कर्षणं वणिक् ।
विशेषात् सर्वमेवैतत् संजज्ञे राजकर्मणः ॥ ३ ॥

गोरक्षा, खेती और व्यापार आदि सभी कार्य अच्छे ढंगसे होने लगे । विशेषतः राजाकी सुव्यवस्थासे ही यह सब कुछ उत्तमरूपसे सम्पन्न होता था ॥ ३ ॥

दस्युभ्यो वञ्चकेभ्यो वा राजन् प्रति परस्परम् ।
राजवल्लभतश्चैव नाश्रूयन्त मृषा गिरः ॥ ४ ॥

राजन् ! औरोंकी तो बात ही क्या है; चोरों, ठगों, राजा अथवा राजाके विश्वासपात्र व्यक्तियोंके मुखसे भी वहाँ कोई झूठी बात नहीं सुनी जाती थी । केवल प्रजाके साथ ही नहीं, आपसमें भी वे लोग झूठ-कपटका बर्ताव नहीं करते थे ॥ ४ ॥

अवर्षं चातिवर्षं च व्याधिपावकमूर्च्छनम् ।
सर्वमेतत् तदा नासीद् धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ॥ ५ ॥

धर्मपरायण युधिष्ठिरके शासनकालमें अनावृष्टि, अतिवृष्टि, रोग-व्याधि तथा आग लगने आदि उपद्रवोंका नाम भी नहीं था ॥ ५ ॥

प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वभावजम् ।
अभिहर्तुं नृपा जग्मुर्नान्यैः कार्यैः कथंचन ॥ ६ ॥

राजालोग उनके यहाँ स्वाभाविक भेंट देने अथवा उनका कोई प्रिय कार्य करनेके लिये ही आते थे, युद्ध आदि दूसरे किसी कामसे नहीं ॥ ६ ॥

धर्म्यैर्धनागमैस्तस्य ववृधे निचयो महान् ।
कर्तुं यस्य न शक्येत क्षयो वर्षशतैरपि ॥ ७ ॥

धर्मपूर्वक प्राप्त होनेवाले धनकी आयसे उनका महान् धन-भंडार इतना बढ़ गया था कि सैकड़ों वर्षोंतक खुले हाथ लुटानेपर भी उसे समाप्त नहीं किया जा सकता था ॥ ७ ॥

स्वकोष्ठस्य परीमाणं कोशस्य च महीपतिः ।
विज्ञाय राजा कौन्तेयो यज्ञायैव मनो दधे ॥ ८ ॥

कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरने अपने अन्न-वस्त्रके भंडार तथा खजानेका परिमाण जानकर यज्ञ करनेका ही निश्चय किया ॥

सुहृदश्चैव ये सर्वे पृथक् च सह चाब्रुवन् ।
यज्ञकालस्तव विभो क्रियतामत्र साम्प्रतम् ॥ ९ ॥

उनके जितने हितैषी सुहृद् थे, वे सभी अलग-अलग और एक साथ यही कहने लगे—'प्रभो ! यह आपके यज्ञ करनेका उपयुक्त समय आया है; अतः अब उसका आरम्भ कीजिये' ॥ ९ ॥

अथैवं ब्रुवतामेव तेषामभ्याययौ हरिः ।
ऋषिः पुराणो वेदात्मा दृश्यश्चैव विजानताम् ॥ १० ॥

वे सुहृद् इस तरहकी बातें कर ही रहे थे कि उसी समय भगवान् श्रीहरि आ पहुँचे । वे पुराणपुरुष, नारायण ऋषि, वेदात्मा एवं विज्ञानी जनोंके लिये भी अगम्य परमेश्वर हैं ॥ १० ॥

जगतस्तस्थुषां श्रेष्ठः प्रभवश्चाप्ययश्च ह ।
भूतभव्यभवन्नाथः केशवः केशिसूदनः ॥ ११ ॥

वे ही स्थावर-जङ्गम प्राणियोंके उत्तम उत्पत्ति-स्थान और लयके अधिष्ठान हैं । भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंके नियन्ता हैं । वे ही केशी दैत्यको मारनेवाले केशव हैं ॥ ११ ॥

प्राकारः सर्ववृष्णीनामापत्स्वभयदोऽरिहा ।
बलाधिकारे निक्षिप्य सम्यगानकदुन्दुभिम् ॥ १२ ॥
उच्चावचमुपादाय धर्मराजाय माधवः ।
धनौघं पुरुषव्याघ्रो बलेन महताऽऽवृतः ॥ १३ ॥

वे सम्पूर्ण वृष्णिवंशियोंके परकोटेकी भाँति संरक्षक, आपत्ति-में अभय देनेवाले तथा उनके शत्रुओंका संहार करनेवाले हैं । पुरुषसिंह माधव अपने पिता वसुदेवजीको द्वारकाकी सेनाके आधिपत्यपर स्थापित करके धर्मराजके लिये नाना प्रकारके धन-रत्नोंकी भेंट ले विशाल सेनाके साथ वहाँ आये थे ॥ १२-१३ ॥

तं धनौघमपर्यन्तं रत्नसागरमक्षयम् ।
नादयन् रथघोषेण प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ १४ ॥

उस धनराशिकी कहीं सीमा नहीं थी, मानो रत्नोंका

अक्षय महासागर हो। उसे लेकर रथोंकी आवाजसे समूची दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए वे उत्तम नगर इन्द्रप्रस्थमें प्रविष्ट हुए ॥ १४ ॥

पूर्णमापूरयंस्तेषां द्विषच्छोकावहोऽभवत्।
असूर्यमिव सूर्येण निवातमिव वायुना।
कृष्णेन समुपेतेन जहृषे भारतं पुरम् ॥ १५ ॥

पाण्डवोंका धन-भण्डार तो यों ही भरा-पूरा था, भगवान्ने (उन्हें अक्षय धनकी भेंट देकर) उसे और भी पूर्ण कर दिया। उनका शुभागमन पाण्डवोंके शत्रुओंका शोक बढ़ानेवाला था। बिना सूर्यका अन्धकारपूर्ण जगत् सूर्योदय होनेसे जिस प्रकार प्रकाशसे भर जाता है, बिना वायुके स्थानमें वायुके चलनेसे जैसे नूतन प्राण-शक्तिका संचार हो उठता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके पदार्पण करनेपर समस्त इन्द्रप्रस्थमें हर्षोल्लास छा गया ॥ १५ ॥

तं मुदाभिसमागम्य सत्कृत्य च यथाविधि।
स पृष्ट्वा कुशलं चैव सुखासीनं युधिष्ठिरः ॥ १६ ॥
धौम्यद्वैपायनमुखैर्ऋत्विग्भिः पुरुषर्षभ।
भीमार्जुनयमैश्चैव सहितः कृष्णमब्रवीत् ॥ १७ ॥

नरश्रेष्ठ जनमेजय ! राजा युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न होकर उनसे मिले। उनका विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार करके कुशल-मङ्गल पूछा और जब वे सुखपूर्वक बैठ गये, तब धौम्य, द्वैपायन आदि ऋत्विजों तथा भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव—चारों भाइयोंके साथ निकट जाकर युधिष्ठिरने श्रीकृष्णसे कहा ॥ १६-१७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

त्वत्कृते पृथिवी सर्वा मद्वशे कृष्ण वर्तते।
धनं च बहु वार्ष्णेय त्वत्प्रसादादुपार्जितम् ॥ १८ ॥

युधिष्ठिरने कहा—श्रीकृष्ण ! आपकी दयासे आपकी सेवाके लिये सारी पृथ्वी इस समय मेरे अधीन हो गयी है। वार्ष्णेय ! मुझे धन भी बहुत प्राप्त हो गया है ॥ १८ ॥

सोऽहमिच्छामि तत् सर्वं विधिवद् देवकीसुत।
उपयोक्तुं द्विजाग्र्येभ्यो हव्यवाहे च माधव ॥ १९ ॥

देवकीनन्दन माधव ! वह सारा धन मैं विधिपूर्वक श्रेष्ठ ब्राह्मणों तथा हव्यवाहन अग्निके उपयोगमें लाना चाहता हूँ। १९।

तदहं यष्टुमिच्छामि दाशार्ह सहितस्त्वया।
अनुजैश्च महाबाहो तन्मानुज्ञातुमर्हसि ॥ २० ॥

महाबाहु दाशार्ह ! अब मैं आप तथा अपने छोटे भाइयोंके साथ यज्ञ करना चाहता हूँ। इसके लिये आप मुझे आज्ञा दें ॥ २० ॥

तद् दीक्षापय गोविन्द त्वमात्मानं महाभुज।
त्वयीष्टवति दाशार्ह विपाप्मा भविता ह्यहम् ॥ २१ ॥

विशाल भुजाओंवाले गोविन्द ! आप स्वयं यज्ञकी दीक्षा ग्रहण कीजिये। दाशार्ह ! आपके यज्ञ करनेपर मैं पापरहित हो जाऊँगा ॥ २१ ॥

मां वाप्यभ्यनुजानीहि सहैभिरनुजैर्विभो।
अनुज्ञातस्त्वया कृष्ण प्राप्नुयां क्रतुमुत्तमम् ॥ २२ ॥

प्रभो ! अथवा मुझे अपने इन छोटे भाइयोंके साथ दीक्षा ग्रहण करनेकी आज्ञा दीजिये। श्रीकृष्ण ! आपकी अनुज्ञा मिलनेपर ही मैं उस उत्तम यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करूँगा ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तं कृष्णः प्रत्युवाचेदं बहूक्त्वा गुणविस्तरम्।
त्वमेव राजशार्दूल सम्राडर्हो महाक्रतुम्।
सम्प्राप्नुहि त्वया प्राप्ते कृतकृत्यास्ततो वयम् ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब भगवान् श्रीकृष्णने राजसूययज्ञके गुणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करके उनसे इस प्रकार कहा—'राजसिंह ! आप सम्राट् होने योग्य हैं, अतः आप ही इस महान् यज्ञकी दीक्षा ग्रहण कीजिये। आपके दीक्षा लेनेपर हम सब लोग कृतकृत्य हो जायँगे ॥ २३ ॥

यजस्वाभीप्सितं यज्ञं मयि श्रेयस्यवस्थिते।
नियुङ्क्ष्व त्वं च मां कृत्ये सर्वं कर्तास्मि ते वचः ॥ २४ ॥

'आप अपने इस अभीष्ट यज्ञको प्रारम्भ कीजिये। मैं आपका कल्याण करनेके लिये सदा उद्यत हूँ। मुझे आवश्यक कार्यमें लगाइये, मैं आपकी सब आज्ञाओंका पालन करूँगा'।२४।

युधिष्ठिर उवाच

सफलः कृष्ण संकल्पः सिद्धिश्च नियता मम।
यस्य मे त्वं हृषीकेश यथेप्सितमुपस्थितः ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! मेरा संकल्प सफल हो गया, मेरी सिद्धि सुनिश्चित है; क्योंकि हृषीकेश ! आप मेरी इच्छाके अनुसार स्वयं ही यहाँ उपस्थित हो गये हैं ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

अनुज्ञातस्तु कृष्णेन पाण्डवो भ्रातृभिः सह।
ईजितुं राजसूयेन साधनान्युपचक्रमे ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णसे आज्ञा लेकर भाइयोंसहित पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने राजसूय-यज्ञ करनेके लिये साधन जुटाना आरम्भ किया ॥ २६ ॥

ततस्त्वाज्ञापयामास पाण्डवोऽरिनिबर्हणः।
सहदेवं युधां श्रेष्ठं मन्त्रिणश्चैव सर्वशः ॥ २७ ॥

उस समय शत्रुओंका संहार करनेवाले पाण्डुकुमारने योद्धाओंमें श्रेष्ठ सहदेव तथा सम्पूर्ण मन्त्रियोंको आज्ञा दी—॥ २७॥

अस्मिन् क्रतौ यथोक्तानि यज्ञाङ्गानि द्विजातिभिः।
तथोपकरणं सर्वं मङ्गलानि च सर्वशः ॥ २८ ॥

अधियज्ञांश्च सम्भारान् धौम्योक्तान् क्षिप्रमेव हि ।
समानयन्तु पुरुषा यथायोगं यथाक्रमम् ॥ २९ ॥

'इस यज्ञके लिये ब्राह्मणोंके बताये अनुसार यज्ञके अङ्ग-भूत सामान, आवश्यक उपकरण, सब प्रकारकी माङ्गलिक वस्तुएँ तथा धौम्यजीकी बतायी हुई यज्ञोपयोगी सामग्री—इन सभी वस्तुओंको क्रमशः जैसे मिलें, वैसे शीघ्र ही अपने सेवक जाकर ले आवें ॥ २८-२९ ॥

इन्द्रसेनो विशोकश्च पूरुश्चार्जुनसारथिः ।
अन्नाद्याहरणे युक्ताः सन्तु मत्प्रियकाम्यया ॥ ३० ॥

'इन्द्रसेन, विशोक और अर्जुनका सारथि पूरु, ये मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे अन्न आदिके संग्रहके कामपर जुट जायँ।३०।

सर्वकामाश्च कार्यन्तां रसगन्धसमन्विताः ।
मनोरथप्रीतिकरा द्विजानां कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

'कुरुश्रेष्ठ ! जिनको खानेकी प्रायः सभी इच्छा करते हैं, वे रस और गन्धसे युक्त भाँति-भाँतिके मिष्टान्न आदि तैयार कराये जायँ, जो ब्राह्मणोंको उनकी इच्छाके अनुसार प्रीति प्रदान करनेवाले हों' ॥ ३१ ॥

तद्वाक्यसमकालं च कृतं सर्वं न्यवेदयत् ।
सहदेवो युधां श्रेष्ठो धर्मराजे युधिष्ठिरे ॥ ३२ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरकी यह बात समाप्त होते ही योद्धाओंमें श्रेष्ठ सहदेवने उनसे निवेदन किया, 'यह सब व्यवस्था हो चुकी है'।३२।

ततो द्वैपायनो राजन्नृत्विजः समुपानयत् ।
वेदानिव महाभागान् साक्षान्मूर्तिमतो द्विजान्॥ ३३ ॥

राजन् ! तदनन्तर द्वैपायन व्यासजी बहुत-से ऋत्विजोंको ले आये। वे महाभाग ब्राह्मण मानो साक्षात् मूर्तिमान् वेद ही थे।३३।

स्वयं ब्रह्मत्वमकरोत् तस्य सत्यवतीसुतः ।
धनंजयानामृषभः सुसामा सामगोऽभवत् ॥ ३४ ॥

स्वयं सत्यवतीनन्दन व्यासने उस यज्ञमें ब्रह्माका काम सँभाला। धनंजयगोत्रीय ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ सुसामा सामगान करनेवाले हुए ॥ ३४ ॥

याज्ञवल्क्यो बभूवाथ ब्रह्मिष्ठोऽध्वर्युसत्तमः ।
पैलो होता वसोः पुत्रो धौम्येन सहितोऽभवत् ॥ ३५ ॥

और ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य उस यज्ञके श्रेष्ठतम अध्वर्यु थे। वसुपुत्र पैल धौम्य मुनिके साथ होता बने थे ॥ ३५ ॥

एतेषां पुत्रवर्गाश्च शिष्याश्च भरतर्षभ ।
बभूवुर्होत्रगाः सर्वे वेदवेदाङ्गपारगाः ॥ ३६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इनके पुत्र और शिष्यवर्गके लोग, जो सब-के-सब वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् थे, 'होत्रग' (सप्त होता) हुए ॥ ३६ ॥

ते वाचयित्वा पुण्याहमूहयित्वा च तं विधिम् ।
शास्त्रोक्तं पूजयामासुस्तद् देवयजनं महत् ॥ ३७ ॥

उन सबने पुण्याहवाचन कराकर उस विधिका ऊहन (अर्थात् राजसूयेन यक्ष्ये, स्वाराज्यमवाप्नवानि--मैं स्वाराज्य प्राप्त करूँ, इस उद्देश्यसे राजसूययज्ञ करूँगा, इत्यादि रूपसे संकल्प) कराकर शास्त्रोक्त विधिसे उस महान् यज्ञस्थानका पूजन कराया॥

तत्र चक्रुरनुज्ञाताः शरणान्युत शिल्पिनः ।
गन्धवन्ति विशालानि वेश्मानीव दिवौकसाम् ॥ ३८ ॥

उस स्थानपर राजाकी आज्ञासे शिल्पियोंने देवमन्दिरोंके समान विशाल एवं सुगन्धित भवन बनाये ॥ ३८ ॥

तत आज्ञापयामास स राजा राजसत्तमः ।
सहदेवं तदा सद्यो मन्त्रिणं पुरुषर्षभः ॥ ३९ ॥
आमन्त्रणार्थं दूतांस्त्वं प्रेषयस्वाशुगान् द्रुतम् ।
उपश्रुत्य वचो राज्ञः स दूतान् प्राहिणोत् तदा ॥ ४० ॥

तदनन्तर राजशिरोमणि नरश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरने तुरंत ही मन्त्री सहदेवको आज्ञा दी, 'सब राजाओं तथा ब्राह्मणोंको आमन्त्रित करनेके लिये तुरंत ही शीघ्रगामी दूत भेजो ।' राजाकी यह बात सुनकर सहदेवने दूतोंको भेजा और कहा—॥ ३९-४० ॥

आमन्त्रयध्वं राष्ट्रेषु ब्राह्मणान् भूमिपानथ ।
विशश्च मान्यान् शूद्रांश्च सर्वानानयतेति च ॥ ४१ ॥

'तुमलोग सभी राज्योंमें घूम-घूमकर वहाँके राजाओं, ब्राह्मणों, वैश्यों तथा सब माननीय शूद्रोंको निमन्त्रित कर दो और बुला ले आओ' ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच

समाज्ञप्तास्ततो दूताः पाण्डवेयस्य शासनात् ।
आमन्त्रयाम्बभूवुश्च आनयंश्चापरान् द्रुतम् ।
तथा परानपि नरानात्मनः शीघ्रगामिनः ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरके आदेशसे सहदेवकी आज्ञा पाकर सब शीघ्रगामी दूत गये और उन्होंने ब्राह्मण आदि सब वर्णोंके लोगोंको निमन्त्रित किया तथा बहुतोंको वे अपने साथ ही शीघ्र बुला लाये। वे अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य व्यक्तियोंको भी साथ लाना न भूले ॥ ४२ ॥

ततस्ते तु यथाकालं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
दीक्षयाञ्चक्रिरे विप्रा राजसूयाय भारत ॥ ४३ ॥

भारत ! तदनन्तर वहाँ आये हुए सब ब्राह्मणोंने ठीक समयपर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको राजसूययज्ञकी दीक्षा दी ॥ ४३ ॥

दीक्षितः स तु धर्मात्मा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
जगाम यज्ञायतनं वृतो विप्रैः सहस्रशः ॥ ४४ ॥

यज्ञकी दीक्षा लेकर धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिर सहस्रों ब्राह्मणोंसे घिरे हुए यज्ञमण्डपमें गये ॥ ४४ ॥

भ्रातृभिर्ज्ञातिभिश्चैव सुहृद्भिः सचिवैः सह।
क्षत्रियैश्च मनुष्येन्द्रैर्नानादेशसमागतैः॥ ४५॥
अमात्यैश्च नरश्रेष्ठो धर्मो विग्रहवानिव।

उस समय उनके सगे भाई, जाति-बन्धु, सुहृद्, सहायक, अनेक देशोंसे आये हुए क्षत्रिय नरेश तथा मन्त्रि-गण भी थे। नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर मूर्तिमान् धर्म ही जान पड़ते थे॥ ४५½॥

आजग्मुर्ब्राह्मणास्तत्र विषयेभ्यस्ततस्ततः॥ ४६॥
सर्वविद्यासु निष्णाता वेदवेदाङ्गपारगाः।

तत्पश्चात् वहाँ भिन्न-भिन्न देशोंसे ब्राह्मणलोग आये, जो सम्पूर्ण विद्याओंमें निष्णात तथा वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् थे॥ ४६½॥

तेषामावसथांश्चक्रुर्धर्मराजस्य शासनात्॥ ४७॥
बह्वन्नाच्छादनैर्युक्तान् सगणानां पृथक् पृथक्।
सर्वर्तुगुणसम्पन्नान् शिल्पिनोऽथ सहस्रशः॥ ४८॥

धर्मराजकी आज्ञासे हजारों शिल्पियोंने आत्मीयजनोंके साथ आये हुए उन ब्राह्मणोंके ठहरनेके लिये पृथक्-पृथक् घर बनाये थे, जो बहुत-से अन्न और वस्त्रोंसे परिपूर्ण थे और जिनमें सभी ऋतुओंमें सुखपूर्वक रहनेकी सुविधाएँ थीं।४७-४८।

तेषु ते न्यवसन् राजन् ब्राह्मणा नृपसत्कृताः।
कथयन्तः कथा बह्वीः पश्यन्तो नटनर्तकान्॥ ४९॥

राजन्! उन गृहोंमें वे ब्राह्मणलोग राजासे सत्कार पाकर निवास करने लगे। वहाँ वे नाना प्रकारकी कथाएँ कहते और नट-नर्तकोंके खेल देखते थे॥ ४९॥

भुञ्जतां चैव विप्राणां वदतां च महास्वनः।
अनिशं श्रूयते तत्र मुदितानां महात्मनाम्॥ ५०॥

वहाँ भोजन करते और बोलते हुए आनन्दमग्न महात्मा ब्राह्मणोंका निरन्तर महान् कोलाहल सुनायी पड़ता था॥ ५०॥

दीयतां दीयतामेषां भुज्यतां भुज्यतामिति।
एवम्प्रकाराः संजल्पाः श्रूयन्ते स्मात्र नित्यशः॥ ५१॥

'इनको दीजिये, इन्हें परोसिये, भोजन कीजिये, भोजन कीजिये' इसी प्रकारके शब्द वहाँ प्रतिदिन कानोंमें पड़ते थे।५१।

गवां शतसहस्राणि शयनानां च भारत।
रुक्मस्य योषितां चैव धर्मराजः पृथग् ददौ॥ ५२॥

भारत! धर्मराज युधिष्ठिरने एक लाख गौएँ, उतनी ही शय्याएँ, एक लाख स्वर्णमुद्राएँ तथा उतनी ही अविवाहित युवतियाँ पृथक्-पृथक् ब्राह्मणोंको दान कीं॥ ५२॥

प्रावर्ततैवं यज्ञः स पाण्डवस्य महात्मनः।
पृथिव्यामेकवीरस्य शक्रस्येव त्रिविष्टपे॥ ५३॥

इस प्रकार स्वर्गमें इन्द्रकी भाँति भूमण्डलमें अद्वितीय वीर महात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका वह यज्ञ प्रारम्भ हुआ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा प्रेषयामास पाण्डवम्।
नकुलं हास्तिनपुरं भीष्माय पुरुषर्षभः॥ ५४॥
द्रोणाय धृतराष्ट्राय विदुराय कृपाय च।
भ्रातॄणां चैव सर्वेषां येऽनुरक्ता युधिष्ठिरे॥ ५५॥

तदनन्तर पुरुषोत्तम राजा युधिष्ठिरने भीष्म, द्रोणाचार्य, धृतराष्ट्र, विदुर, कृपाचार्य तथा दुर्योधन आदि सब भाइयों एवं अपनेमें अनुराग रखनेवाले अन्य जो लोग वहाँ रहते थे, उन सबको बुलानेके लिये पाण्डुपुत्र नकुलको हस्तिनापुर भेजा॥ ५४-५५॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयपर्वणि राजसूयदीक्षायां त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयपर्वमें राजसूयदीक्षाविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ५९½ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके यज्ञमें सब देशके राजाओं, कौरवों तथा यादवोंका आगमन और उन सबके भोजन-विश्राम आदिकी सुव्यवस्था

वैशम्पायन उवाच

स गत्वा हास्तिनपुरं नकुलः समितिंजयः।
भीष्ममामन्त्रयाञ्चक्रे धृतराष्ट्रं च पाण्डवः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युद्धविजयी पाण्डुकुमार नकुलने हस्तिनापुरमें जाकर भीष्म और धृतराष्ट्रको निमन्त्रित किया॥ १॥

सत्कृत्यामन्त्रितास्तेन आचार्यप्रमुखास्ततः।
प्रययुः प्रीतमनसो यज्ञं ब्रह्मपुरःसराः॥ २॥

तत्पश्चात् उन्होंने बड़े सत्कारके साथ आचार्य आदिको भी न्यौता दिया। वे सब लोग बड़े प्रसन्न मनसे ब्राह्मणोंको आगे करके उस यज्ञमें गये॥ २॥

संश्रुत्य धर्मराजस्य यज्ञं यज्ञविदस्तदा।
अन्ये च शतशस्तुष्टैर्मनोभिर्भरतर्षभ॥ ३॥

भरतकुलभूषण! यज्ञवेत्ता धर्मराजका यज्ञ सुनकर अन्य सैकड़ों मनुष्य भी संतुष्ट हृदयसे वहाँ गये॥ ३॥

द्रष्टुकामाः सभां चैव धर्मराजं च पाण्डवम्।
दिग्भ्यः सर्वे समापेतुः क्षत्रियास्तत्र भारत॥ ४॥
समुपादाय रत्नानि विविधानि महान्ति च।

भारत ! धर्मराज युधिष्ठिर और उनकी सभाको देखनेके लिये सम्पूर्ण दिशाओंसे सभी क्षत्रिय वहाँ नाना प्रकारके बहुमूल्य रत्नोंकी भेंट लेकर आये ॥ ४½ ॥

धृतराष्ट्रश्च भीष्मश्च विदुरश्च महामतिः ॥ ५ ॥
दुर्योधनपुरोगाश्च भ्रातरः सर्व एव ते ।
गान्धारराजः सुबलः शकुनिश्च महाबलः ॥ ६ ॥
अचलो वृषकश्चैव कर्णश्च रथिनां वरः ।
तथा शल्यश्च बलवान् बाह्लिकश्च महाबलः ॥ ७ ॥
सोमदत्तोऽथ कौरव्यो भूरिर्भूरिश्रवाः शलः ।
अश्वत्थामा कृपो द्रोणः सैन्धवश्च जयद्रथः ॥ ८ ॥
यज्ञसेनः सपुत्रश्च शाल्वश्च वसुधाधिपः ।
प्राग्ज्योतिषश्च नृपतिर्भगदत्तो महारथः ॥ ९ ॥
स तु सर्वैः सह म्लेच्छैः सागरानूपवासिभिः ।
पर्वतीयाश्च राजानो राजा चैव बृहद्बलः ॥ १० ॥
पौण्ड्रको वासुदेवश्च वङ्गः कालिङ्गकस्तथा ।
आकर्षाः कुन्तलाश्चैव मालवाश्चान्ध्रकास्तथा ॥ ११ ॥
द्राविडाः सिंहलाश्चैव राजा काश्मीरकस्तथा ।
कुन्तिभोजो महातेजाः पार्थिवो गौरवाहनः ॥ १२ ॥
बाह्लिकाश्चापरे शूरा राजानः सर्व एव ते ।
विराटः सह पुत्राभ्यां मावेल्लश्च महाबलः ॥ १३ ॥
राजानो राजपुत्राश्च नानाजनपदेश्वराः ।

धृतराष्ट्र, भीष्म, महाबुद्धिमान् विदुर, दुर्योधन आदि सभी भाई, गान्धारराज सुबल, महाबली शकुनि, अचल, वृषक, रथियोंमें श्रेष्ठ कर्ण, बलवान् राजा शल्य, महाबली बाह्लिक, सोमदत्त, कुरुनन्दन भूरि, भूरिश्रवा, शल, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, सिन्धुराज जयद्रथ, पुत्रोंसहित द्रुपद, राजा शाल्व, प्राग्ज्योतिषपुरके नरेश महारथी भगदत्त, जिनके साथ समुद्रके टापुओंमें रहनेवाले सब जातियोंके म्लेच्छ भी थे, पर्वतीय नृपतिगण, राजा बृहद्बल, पौण्ड्रक वासुदेव, वङ्गदेशके राजा, कलिङ्गनरेश, आकर्ष, कुन्तल, मालव, आन्ध्र, द्राविड और सिंहलदेशके नरेशगण, काश्मीर-नरेश, महातेजस्वी कुन्तिभोज, राजा गौरवाहन, बाह्लिक, दूसरे शूर नृपतिगण, अपने दोनों पुत्रोंके साथ विराट, महाबली मावेल्ल तथा नाना जनपदोंके शासक राजा एवं राजकुमार उस यज्ञमें पधारे थे ॥ ५–१३½ ॥

शिशुपालो महावीर्यः सह पुत्रेण भारत ॥ १४ ॥
आगच्छत् पाण्डवेयस्य यज्ञं समरदुर्मदः ।
रामश्चैवानिरुद्धश्च कङ्कश्च सहसारणः ॥ १५ ॥
गदप्रद्युम्नसाम्बाश्च चारुदेष्णश्च वीर्यवान् ।
उल्मुको निशठश्चैव वीरश्चाङ्गावहस्तथा ॥ १६ ॥
वृष्णयो निखिलाश्चान्ये समाजग्मुर्महारथाः ।

भारत ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके उस यज्ञमें रणदुर्मद महापराक्रमी राजा शिशुपाल भी अपने पुत्रके साथ आया था । इसके सिवा बलराम, अनिरुद्ध, कङ्क, सारण, गद, प्रद्युम्न, साम्ब, पराक्रमी चारुदेष्ण, उल्मुक, निशठ, वीर अङ्गावह तथा अन्य सभी वृष्णिवंशी महारथी उस यज्ञमें आये थे ॥ १४–१६½ ॥

एते चान्ये च बहवो राजानो मध्यदेशजाः ॥ १७ ॥
आजग्मुः पाण्डुपुत्रस्य राजसूयं महाक्रतुम् ।

ये तथा दूसरे भी बहुत-से मध्यदेशीय नरेश पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके राजसूय महायज्ञमें सम्मिलित हुए थे ॥ १७½ ॥

ददुस्तेषामावसथान् धर्मराजस्य शासनात् ॥ १८ ॥
बहुभक्ष्यान्वितान् राजन् दीर्घिकावृक्षशोभितान् ।
तथा धर्मात्मजः पूजां चक्रे तेषां महात्मनाम् ॥ १९ ॥

धर्मराजकी आज्ञासे प्रबन्धकोंने उनके ठहरनेके लिये उत्तम भवन दिये, जो बहुत अधिक भोजनसामग्रीसे सम्पन्न थे । राजन् ! उन घरोंके भीतर स्नानके लिये बावलियाँ बनी थीं और वे भाँति-भाँतिके वृक्षोंसे भी सुशोभित थे । धर्मपुत्र युधिष्ठिर उन सभी महात्मा नरेशोंका स्वागत-सत्कार करते थे ॥ १८-१९ ॥

सत्कृताश्च यथोद्दिष्टाञ्जग्मुरावसथान् नृपाः ।
कैलासशिखरप्रख्यान् मनोज्ञान् द्रव्यभूषितान् ॥२०॥

उनसे सम्मानित हो उन्हींके बताये हुए विभिन्न भवनोंमें जाकर राजालोग ठहरते थे । वे सभी भवन कैलासशिखरके समान ऊँचे और भव्य थे । नाना प्रकारके द्रव्योंसे विभूषित एवं मनोहर थे ॥ २० ॥

सर्वतः संवृतानुच्चैः प्राकारैः सुकृतैः सितैः ।
सुवर्णजालसंवीतान् मणिकुट्टिमभूषितान् ॥ २१ ॥

वे भव्य भवन सब ओरसे सुन्दर, सफेद और ऊँचे परकोटोंद्वारा घिरे हुए थे । उनमें सोनेकी झालरें लगी थीं । उनके आँगनके फर्शमें मणि एवं रत्न जड़े हुए थे ॥ २१ ॥

सुखारोहणसोपानान् महासनपरिच्छदान् ।
स्रग्दामसमवच्छन्नानुत्तमागुरुगन्धिनः ॥ २२ ॥

उनमें सुखपूर्वक ऊपर चढ़नेके लिये सीढ़ियाँ बनी हुई थीं । उन महलोंके भीतर बहुमूल्य एवं बड़े-बड़े आसन तथा अन्य आवश्यक सामान थे । उन घरोंको मालाओंसे सजाया गया था । उनमें उत्तम अगुरुकी सुगन्ध व्याप्त हो रही थी ॥२२॥

हंसेन्दुवर्णसदृशानायोजनसुदर्शनान् ।
असम्बाधान् समद्वारान् युतानुच्चावचैर्गुणैः ॥ २३ ॥

वे सभी अतिथिभवन हंस और चन्द्रमाके समान सफेद थे । एक योजन दूरसे ही वे अच्छी तरह दिखायी देने लगते थे । उनमें स्थानकी संकीर्णता या तङ्गी नहीं थी । सबके दरवाजे बराबर थे । वे सभी गृह विभिन्न गुणों (सुख-सुविधाओं) से युक्त थे ॥ २३ ॥

बहुधातुनिबद्धाङ्गान् हिमवच्छिखरानिव ।

उनकी दीवारें अनेक प्रकारकी धातुओंसे चित्रित थीं तथा वे हिमालयके शिखरोंकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ २३½ ॥

विश्रान्तास्ते ततोऽपश्यन् भूमिपा भूरिदक्षिणम् ॥ २४ ॥
वृतं सदस्यैर्बहुभिर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
तत् सदः पार्थिवैः कीर्णं ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
भ्राजते स्म तदा राजन् नाकपृष्ठं यथामरैः ॥ २५ ॥

वहाँ विश्राम करनेके अनन्तर वे भूमिपाल बहुत दक्षिणा देनेवाले एवं बहुतेरे सदस्योंसे घिरे हुए धर्मराज युधिष्ठिरसे मिले । जनमेजय ! उस समय राजाओं, ब्राह्मणों तथा महर्षियोंसे भरा हुआ वह यज्ञमण्डप देवताओंसे भरे-पूरे स्वर्गलोकके समान शोभा पा रहा था ॥ २४-२५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयपर्वणि निमन्त्रितराजागमने चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयपर्वमें निमन्त्रित राजाओंका आगमनविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

राजसूययज्ञका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

पितामहं गुरुं चैव प्रत्युद्गम्य युधिष्ठिरः ।
अभिवाद्य ततो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
भीष्मं द्रोणं कृपं द्रौणिं दुर्योधनविविंशती ।
अस्मिन् यज्ञे भवन्तो मामनुगृह्णन्तु सर्वशः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोणाचार्य आदिकी अगवानी करके युधिष्ठिरने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, दुर्योधन और विविंशतिसे कहा—'इस यज्ञमें आपलोग सब प्रकारसे मुझपर अनुग्रह करें ॥ १-२ ॥

इदं वः सुमहच्चैव यदिहास्ति धनं मम ।
प्रणयन्तु भवन्तो मां यथेष्टमभिमन्त्रिताः ॥ ३ ॥

'यहाँ मेरा जो यह महान् धन है, उसे आपलोग मेरी प्रार्थना मानकर इच्छानुसार सत्कर्मोंमें लगाइये' ॥ ३ ॥

एवमुक्त्वा स तान् सर्वान् दीक्षितः पाण्डवाग्रजः ।
युयोज स यथायोगमधिकारेष्वनन्तरम् ॥ ४ ॥

यज्ञदीक्षित युधिष्ठिरने ऐसा कहकर उन सबको यथायोग्य अधिकारोंमें लगाया ॥ ४ ॥

भक्ष्यभोज्याधिकारेषु दुःशासनमयोजयत् ।
परिग्रहे ब्राह्मणानामश्वत्थामानमुक्तवान् ॥ ५ ॥

भक्ष्य-भोज्य आदि सामग्रीकी देख-रेख तथा उसके बाँटने-परोसनेकी व्यवस्थाका अधिकार दुःशासनको दिया । ब्राह्मणोंके स्वागत-सत्कारका भार उन्होंने अश्वत्थामाको सौंप दिया ॥ ५ ॥

राज्ञां तु प्रतिपूजार्थं संजयं स न्ययोजयत् ।
कृताकृतपरिज्ञाने भीष्मद्रोणौ महामती ॥ ६ ॥

राजाओंकी सेवा और सत्कारके लिये धर्मराजने संजयको नियुक्त किया । कौन काम हुआ और कौन नहीं हुआ, इसकी देख-रेखका काम महाबुद्धिमान् भीष्म और द्रोणाचार्यको मिला ॥ ६ ॥

हिरण्यस्य सुवर्णस्य रत्नानां चान्ववेक्षणे ।
दक्षिणानां च वै दाने कृपं राजा न्ययोजयत् ॥ ७ ॥
तथान्यान् पुरुषव्याघ्रांस्तस्मिंस्तस्मिन् न्ययोजयत् ।
बाह्लिको धृतराष्ट्रश्च सोमदत्तो जयद्रथः ।
नकुलेन समानीताः स्वामिवत् तत्र रेमिरे ॥ ८ ॥

उत्तम वर्णके स्वर्ण तथा रत्नोंको परखने, रखने और दक्षिणा देनेके कार्यमें राजाने कृपाचार्यकी नियुक्ति की । इसी प्रकार दूसरे-दूसरे श्रेष्ठ पुरुषोंको यथायोग्य भिन्न-भिन्न कार्योंमें लगाया । नकुलके द्वारा सम्मानपूर्वक बुलाकर लाये हुए बाह्लिक, धृतराष्ट्र, सोमदत्त और जयद्रथ वहाँ घरके मालिककी तरह सुखपूर्वक रहने और इच्छानुसार विचरने लगे ॥ ७-८ ॥

क्षत्ता व्ययकरस्त्वासीद् विदुरः सर्वधर्मवित् ।
दुर्योधनस्त्वर्हणानि प्रतिजग्राह सर्वशः ॥ ९ ॥

सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता विदुरजी धनको व्यय करनेके कार्यमें नियुक्त किये गये थे तथा राजा दुर्योधन कर देनेवाले राजाओंसे सब प्रकारकी भेंट स्वीकार करने और व्यवस्थापूर्वक रखनेका काम सँभाल रहे थे ॥ ९ ॥

चरणक्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्यभूत् ।
सर्वलोकसमावृत्तः पिप्रीषुः फलमुत्तमम् ॥ १० ॥

सब लोगोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्ण सबको संतुष्ट करनेकी इच्छासे स्वयं ही ब्राह्मणोंके चरण पखारनेमें लगे थे, जिससे उत्तम फलकी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥



द्रष्टुकामाः सभां चैव धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
न कश्चिदाहरत् तत्र सहस्रावरमर्हणम् ॥ ११ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरको और उनकी सभाको देखनेकी इच्छासे आये हुए राजाओंमेंसे कोई भी ऐसा नहीं था, जो एक हजार स्वर्णमुद्राओंसे कम भेंट लाया हो ॥ ११ ॥

रत्नैश्च बहुभिस्तत्र धर्मराजमवर्धयत् ।
कथं तु मम कौरव्यो रत्नदानैः समाप्नुयात् ॥ १२ ॥
यज्ञमित्येव राजानः स्पर्धमाना ददुर्धनम् ।

प्रत्येक राजा बहुसंख्यक रत्नोंकी भेंट देकर धर्मराज युधिष्ठिरके धनकी वृद्धि करने लगा । सभी राजा यह होड़ लगाकर धन दे रहे थे कि कुरुनन्दन युधिष्ठिर किसी प्रकार मेरे ही दिये हुए रत्नोंके दानसे अपना यज्ञ सम्पूर्ण करें ॥ १२½ ॥

भवनैः सविमानाग्रैः सोदर्कैर्बलसंवृतैः ॥ १३ ॥
लोकराजविमानैश्च ब्राह्मणावसथैः सह ।
कृतैरावसथैर्दिव्यैर्विमानप्रतिमैस्तथा ॥ १४ ॥
विचित्रै रत्नवद्भिश्च ऋद्ध्या परमया युतैः ।
राजभिश्च समावृत्तैरतीव श्रीसमृद्धिभिः ।
अशोभत सदो राजन् कौन्तेयस्य महात्मनः ॥ १५ ॥

राजन् ! जिनके शिखर यज्ञ देखनेके लिये आये हुए देवताओंके विमानोंका स्पर्श कर रहे थे, जो जलाशयोंसे परिपूर्ण और सेनाओंसे घिरे हुए थे; उन सुन्दर भवनों, इन्द्रादि लोकपालोंके विमानों, ब्राह्मणोंके निवासस्थानों तथा परम समृद्धिसे सम्पन्न रत्नोंसे परिपूर्ण चित्र एवं विमानके तुल्य बने हुए दिव्य गृहोंसे, समागत राजाओंसे तथा असीम श्री-समृद्धियोंसे महात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी वह सभा बड़ी शोभा पा रही थी ॥ १३–१५ ॥

ऋद्ध्या तु वरुणं देवं स्पर्धमानो युधिष्ठिरः ।
षडग्निनाथ यज्ञेन सोऽयजद् दक्षिणावता ॥ १६ ॥

महाराज युधिष्ठिर अपनी अनुपम समृद्धिद्वारा वरुण-देवताकी बराबरी कर रहे थे । उन्होंने यज्ञमें छः अग्नियोंकी* स्थापना करके पर्याप्त दक्षिणा देकर उस यज्ञके द्वारा भगवान्‌का यजन किया ॥ १६ ॥

सर्वाञ्जनान् सर्वकामैः समृद्धैः समतर्पयत् ।
अन्नवान् बहुभक्ष्यश्च भुक्तवज्जनसंवृतः ।
रत्नोपहारसम्पन्नो बभूव स समागमः ॥ १७ ॥

राजाने उस यज्ञमें आये हुए सब लोगोंको उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण करके संतुष्ट किया । वह यज्ञसमारोह अन्नसे भरा-पूरा था, उसमें खाने-पीनेकी सब सामग्रियाँ पर्याप्त मात्रामें सदा प्रस्तुत रहती थीं । वह यज्ञ खा-पीकर तृप्त हुए लोगोंसे ही पूर्ण था । वहाँ कोई भूखा नहीं रहने पाता था तथा उस उत्सव-समारोहमें सब ओर रत्नोंका ही उपहार दिया जाता था ॥ १७ ॥

इडाज्यहोमाहुतिभिर्मन्त्रशिक्षाविशारदैः ।
तस्मिन् हि ततृपुर्देवास्तते यज्ञे महर्षिभिः ॥ १८ ॥

मन्त्रशिक्षामें निपुण महर्षियोंद्वारा विस्तारपूर्वक किये जानेवाले उस यज्ञमें इडा (मन्त्र-पाठ एवं स्तुति), घृत-होम तथा तिल आदि शाकल्य पदार्थोंकी आहुतियोंसे देवतालोग तृप्त हो गये ॥ १८ ॥

यथा देवास्तथा विप्रा दक्षिणान्नमहाधनैः ।
ततृपुः सर्ववर्णाश्च तस्मिन् यज्ञे मुदान्विताः ॥ १९ ॥

जिस प्रकार देवता तृप्त हुए उसी प्रकार दक्षिणामें अन्न और महान् धन पाकर ब्राह्मण भी तृप्त हो गये । अधिक क्या कहा जाय, उस यज्ञमें सभी वर्णके लोग बड़े प्रसन्न थे, सबको पूर्ण तृप्ति मिली थी ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयपर्वणि यज्ञकरणे पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयपर्वमें यज्ञकरणविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

---

* नीलकण्ठीकी टीकामें छः अग्नियाँ इस प्रकार बतायी गयी हैं—आरम्भणीय, क्षत्र, धृति, व्युष्टि, द्विरात्र और दशपेय ।

(अर्घाभिहरणपर्व)

षट्त्रिंशोऽध्यायः

राजसूययज्ञमें ब्राह्मणों तथा राजाओंका समागम, श्रीनारदजीके द्वारा श्रीकृष्ण-महिमाका वर्णन और भीष्मजीकी अनुमतिसे श्रीकृष्णकी अग्रपूजा

वैशम्पायन उवाच

ततोऽभिषेचनीयेऽह्नि ब्राह्मणा राजभिः सह।
अन्तर्वेदीं प्रविविशुः सत्कारार्हा महर्षयः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अभिषेचनीय[1] कर्मके दिन सत्कारके योग्य महर्षिगण और ब्राह्मणलोग राजाओंके साथ यज्ञभवनमें गये॥ १॥

नारदप्रमुखास्तस्यामन्तर्वेद्यां महात्मनः।
समासीनाः शुशुभिरे सह राजर्षिभिस्तदा॥ २॥
समेता ब्रह्मभवने देवा देवर्षयस्तथा।
कर्मान्तरमुपासन्तो जजल्पुरमितौजसः॥ ३॥
एवमेतन्न चाप्येवमेवं चैतन्न चान्यथा।
इत्यूचुर्बहवस्तत्र वितण्डा वै परस्परम्॥ ४॥

महात्मा राजा युधिष्ठिरके उस यज्ञभवनमें राजर्षियोंके साथ बैठे हुए नारद आदि महर्षि उस समय ब्रह्माजीकी सभामें एकत्र हुए देवताओं और देवर्षियोंके समान सुशोभित हो रहे थे। बीच-बीचमें यज्ञसम्बन्धी एक-एक कर्मसे अवकाश पाकर अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्वान् आपसमें जल्प[2] (वाद-विवाद) करते थे। 'यह इसी प्रकार होना चाहिये,' 'नहीं, ऐसे नहीं होना चाहिये,' 'यह बात ऐसी ही है, ऐसी ही है, इससे भिन्न नहीं है।' इस प्रकार कह-कहकर बहुत-से वितण्डावादी[3] द्विज वहाँ वाद-विवाद करते थे॥ २—४॥

कृशानर्थांस्ततः केचिदकृशांस्तत्र कुर्वते।
अकृशांश्च कृशांश्चक्रुर्हेतुभिः शास्त्रनिश्चयैः॥ ५॥

कुछ विद्वान् शास्त्रनिश्चित नाना प्रकारके तर्कों और युक्तियोंसे दुर्बल पक्षोंको पुष्ट और पुष्ट पक्षोंको दुर्बल सिद्ध कर देते थे॥

तत्र मेधाविनः केचिदर्थमन्यैरुदीरितम्।
विचिक्षिपुर्यथा श्येना नभोगतमिवामिषम्॥ ६॥

वहीं कुछ मेधावी पण्डित, जो दूसरोंके कथनमें दोष दिखानेके ही अभ्यासी थे, अन्य लोगोंके कहे हुए अनुमानसाधित विषयको उसी तरह बीचसे ही लोक लेते थे, जैसे बाज़ मांसके लोथड़ेको आकाशमें ही एक दूसरेसे छीन लेते हैं॥

केचिद् धर्मार्थकुशलाः केचित् तत्र महाव्रताः।
रेमिरे कथयन्तश्च सर्वभाष्यविदां वराः॥ ७॥

उन्हींमें कुछ लोग धर्म और अर्थके निर्णयमें अत्यन्त निपुण थे। कोई महान् व्रतका पालन करनेवाले थे। इस प्रकार सम्पूर्ण भाष्यके विद्वानोंमें श्रेष्ठ वे महात्मा अच्छी कथाएँ और शिक्षाप्रद बातें कहकर स्वयं भी सुखी होते और दूसरोंको भी प्रसन्न करते थे॥ ७॥

सा वेदिर्वेदसम्पन्नैर्देवद्विजमहर्षिभिः।
आबभासे समाकीर्णा नक्षत्रैर्द्यौरिवायता॥ ८॥

जैसे नक्षत्रमालाओंद्वारा मण्डित विशाल आकाशमण्डलकी शोभा होती है, उसी प्रकार वेदज्ञ देवर्षियों, ब्रह्मर्षियों और महर्षियोंसे वह वेदी सुशोभित हो रही थी॥ ८॥

न तस्यां संनिधौ शूद्रः कश्चिदासीन्न चाव्रती।
अन्तर्वेद्यां तदा राजन् युधिष्ठिरनिवेशने॥ ९॥

राजन्! युधिष्ठिरकी यज्ञशालाके भीतर उस अन्तर्वेदीके आस-पास उस समय न तो कोई शूद्र था और न व्रतहीन द्विज ही॥

तां तु लक्ष्मीवतो लक्ष्मीं तदा यज्ञविधानजाम्।
तुतोष नारदः पश्यन् धर्मराजस्य धीमतः॥ १०॥

परम बुद्धिमान् राजलक्ष्मीसम्पन्न धर्मराज युधिष्ठिरके उस धन-वैभव और यज्ञविधिको देखकर देवर्षि नारदको बड़ी प्रसन्नता हुई॥ १०॥

अथ चिन्तां समापेदे स मुनिर्मनुजाधिप।
नारदस्तु तदा पश्यन् सर्वक्षत्रसमागमम्॥ ११॥

जनमेजय! उस समय वहाँ समस्त क्षत्रियोंका सम्मेलन देखकर मुनिवर नारदजी सहसा चिन्तित हो उठे॥ ११॥

---

१. जिसमें पूजनीय पुरुषोंका अभिषेक—अर्घ्य देकर सम्मान किया जाता है, उस कर्मका नाम अभिषेचनीय है। यह राजसूय-यज्ञका अङ्गभूत सोमयागविशेष है।

२. यह एक प्रकारका वाद है, जिसमें वादी छल, जाति और निग्रहस्थानको लेकर अपने पक्षका मण्डन और विपक्षीके पक्षका खण्डन करता है। इसमें वादीका उद्देश्य तत्त्वनिर्णय नहीं होता, किंतु स्वपक्षस्थापन और परपक्षखण्डनमात्र होता है। वादके समान इसमें भी प्रतिज्ञा, हेतु आदि पाँच अवयव होते हैं।

३. जिस बहस या वाद-विवादका उद्देश्य अपने पक्षकी स्थापना या परपक्षका खण्डन न होकर व्यर्थकी बकवादमात्र हो, उसका नाम 'वितण्डा' है।

सस्मार च पुरा वृत्तां कथां तां पुरुषर्षभ ।
अंशावतरणे यासौ ब्रह्मणो भवनेऽभवत् ॥ १२ ॥

नरश्रेष्ठ ! भगवान्‌के सम्पूर्ण अंशों (देवताओं) सहित अवतार लेनेके सम्बन्धमें ब्रह्मलोकमें पहले जो चर्चा हुई थी, वह प्राचीन घटना उन्हें याद आ गयी ॥ १२ ॥

देवानां संगमं तं तु विज्ञाय कुरुनन्दन ।
नारदः पुण्डरीकाक्षं सस्मार मनसा हरिम् ॥ १३ ॥

कुरुनन्दन ! नारदजीने यह जानकर कि राजाओंके इस समुदायके रूपमें वास्तवमें देवताओंका ही समागम हुआ है, मन-ही-मन कमलनयन भगवान् श्रीहरिका चिन्तन किया ॥

साक्षात् स विबुधारिघ्नः क्षत्रे नारायणो विभुः ।
प्रतिज्ञां पालयंश्चेमां जातः परपुरंजयः ॥ १४ ॥

वे सोचने लगे—'अहो ! सर्वव्यापक देवशत्रुविनाशक वैरिनगरविजयी साक्षात् भगवान् नारायणने ही अपनी इस प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेके लिये क्षत्रियकुलमें अवतार ग्रहण किया है ॥ १४ ॥

संदिदेश पुरा योऽसौ विबुधान् भूतकृत् स्वयम् ।
अन्योन्यमभिनिघ्नन्तः पुनर्लोकानवाप्स्यथ ॥ १५ ॥

'पूर्वकालमें सम्पूर्ण भूतोंके उत्पादक साक्षात् उन्हीं भगवान्‌ने देवताओंको यह आदेश दिया था कि तुमलोग भूतलपर जन्म ग्रहण करके अपना अभीष्ट साधन करते हुए आपसमें एक-दूसरेको मारकर फिर देवलोकमें आ जाओगे ॥

इति नारायणः शम्भुर्भगवान् भूतभावनः ।
आदिश्य विबुधान् सर्वानजायत यदुक्षये ॥ १६ ॥

'कल्याणस्वरूप भूतभावन भगवान् नारायणने सब देवताओंको यह आज्ञा देनेके पश्चात् स्वयं भी यदुकुलमें अवतार लिया ॥ १६ ॥

क्षितावन्धकवृष्णीनां वंशे वंशभृतां वरः ।
परया शुशुभे लक्ष्म्या नक्षत्राणामिवोडुराट् ॥ १७ ॥

'अन्धक और वृष्णियोंके कुलमें वंशधारियोंमें श्रेष्ठ वे ही भगवान् इस पृथ्वीपर प्रकट हो अपनी सर्वोत्तम कान्तिसे उसी प्रकार शोभायमान हैं, जैसे नक्षत्रोंमें चन्द्रमा सुशोभित होते हैं ॥

यस्य बाहुबलं सेन्द्राः सुराः सर्व उपासते ।
सोऽयं मानुषवन्नाम हरिरास्तेऽरिमर्दनः ॥ १८ ॥

'इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता जिनके बाहुबलकी उपासना करते हैं, वे ही शत्रुमर्दन श्रीहरि यहाँ मनुष्यके समान बैठे हैं ॥ १८ ॥

अहो बत महद्भूतं स्वयंभूर्यदिदं स्वयम् ।
आदास्यति पुनः क्षत्रमेवं बलसमन्वितम् ॥ १९ ॥

'अहो ! ये स्वयम्भू महाविष्णु ऐसे बलसम्पन्न क्षत्रिय-समुदायको पुनः उच्छिन्न करना चाहते हैं' ॥ १९ ॥

इत्येतां नारदश्चिन्तां चिन्तयामास सर्ववित् ।
हरिं नारायणं ध्यात्वा यज्ञैरीड्यन्तमीश्वरम् ॥ २० ॥
तस्मिन् धर्मविदां श्रेष्ठो धर्मराजस्य धीमतः ।
महाध्वरे महाबुद्धिस्तस्थौ स बहुमानतः ॥ २१ ॥

धर्मज्ञ नारदजीने इसी पुरातन वृत्तान्तका स्मरण किया और ये भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त यज्ञोंके द्वारा आराधनीय, सर्वेश्वर नारायण हैं; ऐसा समझकर वे धर्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ परम बुद्धिमान् देवर्षि मेधावी धर्मराजके उस महायज्ञमें बड़े आदरके साथ बैठे रहे ॥ २०-२१ ॥

ततो भीष्मोऽब्रवीद् राजन् धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
क्रियतामर्हणं राज्ञां यथार्हमिति भारत ॥ २२ ॥

जनमेजय ! तत्पश्चात् भीष्मजीने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'भरतकुलभूषण युधिष्ठिर ! अब तुम यहाँ पधारे हुए राजाओं-का यथायोग्य सत्कार करो ॥ २२ ॥

आचार्यमृत्विजं चैव संयुजं च युधिष्ठिर ।
स्नातकं च प्रियं प्राहुः षडर्घ्यार्हान् नृपं तथा ॥ २३ ॥

'आचार्य, ऋत्विज, सम्बन्धी, स्नातक, प्रिय मित्र तथा राजा—इन छहोंको अर्घ्य देकर पूजने योग्य बताया गया है ॥ २३ ॥

एतानर्घ्यानभिगतानाहुः संवत्सरोषितान् ।
त इमे कालपूगस्य महतोऽस्मानुपागताः ॥ २४ ॥

'ये यदि एक वर्ष बिताकर अपने यहाँ आवें तो इनके लिये अर्घ्य निवेदन करके इनकी पूजा करनी चाहिये, ऐसा शास्त्रज्ञ पुरुषोंका कथन है । ये सभी नरेश हमारे यहाँ सुदीर्घ-कालके पश्चात् पधारे हैं ॥ २४ ॥

एषामेकैकशो राजन्नर्घ्यमानीयतामिति ।
अथ चैषां वरिष्ठाय समर्थायोपनीयताम् ॥ २५ ॥

'इसलिये राजन् ! तुम बारी-बारीसे इन सबके लिये अर्घ्य दो और इन सबमें जो श्रेष्ठ एवं शक्तिशाली हो, उसको सबसे पहले अर्घ्य समर्पित करो' ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कस्मै भवान् मन्यतेऽर्घ्यमेकस्मै कुरुनन्दन ।
उपनीयमानं युक्तं च तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुनन्दन पितामह ! इन समागत

नरेशोंमें किस एकको सबसे पहले अर्घ्य निवेदन करना आप उचित समझते हैं ? यह मुझे बताइये ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो भीष्मः शान्तनवो बुद्ध्या निश्चित्य वीर्यवान् ।
अमन्यत तदा कृष्णमर्हणीयतमं भुवि ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब महापराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्मने अपनी बुद्धिसे निश्चय करके भगवान् श्रीकृष्णको ही भूमण्डलमें सबसे अधिक पूजनीय माना ॥ २७ ॥

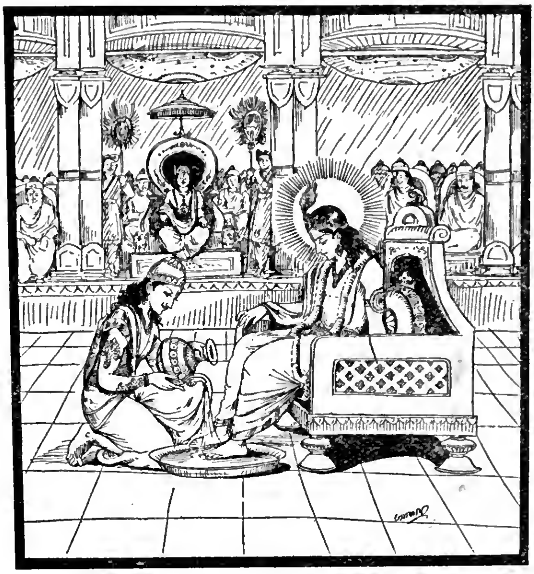
भीष्म उवाच

एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः ।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः ॥ २८ ॥
असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना ।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः ॥ २९ ॥

भीष्मने कहा—कुन्तीनन्दन ! ये भगवान् श्रीकृष्ण इन सब राजाओंके बीचमें अपने तेज, बल और पराक्रमसे उसी प्रकार देदीप्यमान हो रहे हैं, जैसे ग्रह-नक्षत्रोंमें भुवनभास्कर भगवान् सूर्य । अन्धकारपूर्ण स्थान जैसे सूर्यका उदय होनेपर ज्योतिसे जगमग हो उठता है और वायुहीन स्थान जैसे वायुके संचारसे सजीव-सा हो जाता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा हमारी यह सभा आह्लादित और प्रकाशित हो रही है (अतः ये ही अग्रपूजाके योग्य हैं)॥

तस्मै भीष्माभ्यनुज्ञातः सहदेवः प्रतापवान् ।
उपजह्रेऽथ विधिवद् वार्ष्णेयायार्घ्यमुत्तमम् ॥ ३० ॥

भीष्मजीकी आज्ञा मिल जानेपर प्रतापी सहदेवने वृष्णिकुलभूषण भगवान् श्रीकृष्णको विधिपूर्वक उत्तम अर्घ्य



निवेदन किया ॥ ३० ॥

प्रतिजग्राह तत् कृष्णः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
शिशुपालस्तु तां पूजां वासुदेवे न चक्षमे ॥ ३१ ॥

श्रीकृष्णने शास्त्रीय विधिके अनुसार वह अर्घ्य स्वीकार किया । वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीहरिकी वह पूजा राजा शिशुपाल नहीं सह सका ॥ ३१ ॥

स उपालभ्य भीष्मं च धर्मराजं च संसदि ।
अपाक्षिपद् वासुदेवं चेदिराजो महाबलः ॥ ३२ ॥

महाबली चेदिराज भरी सभामें भीष्म और धर्मराज युधिष्ठिरको उलाहना देकर भगवान् वासुदेवपर आक्षेप करने लगा ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि श्रीकृष्णार्घ्यदाने षट्‌त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अर्घाभिहरणपर्वमें श्रीकृष्णको अर्घ्यदानविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

शिशुपालके आक्षेपपूर्ण वचन

शिशुपाल उवाच

नायमर्हति वार्ष्णेयस्तिष्ठत्स्विह महात्मसु ।
महीपतिषु कौरव्य राजवत् पार्थिवार्हणम् ॥ १ ॥

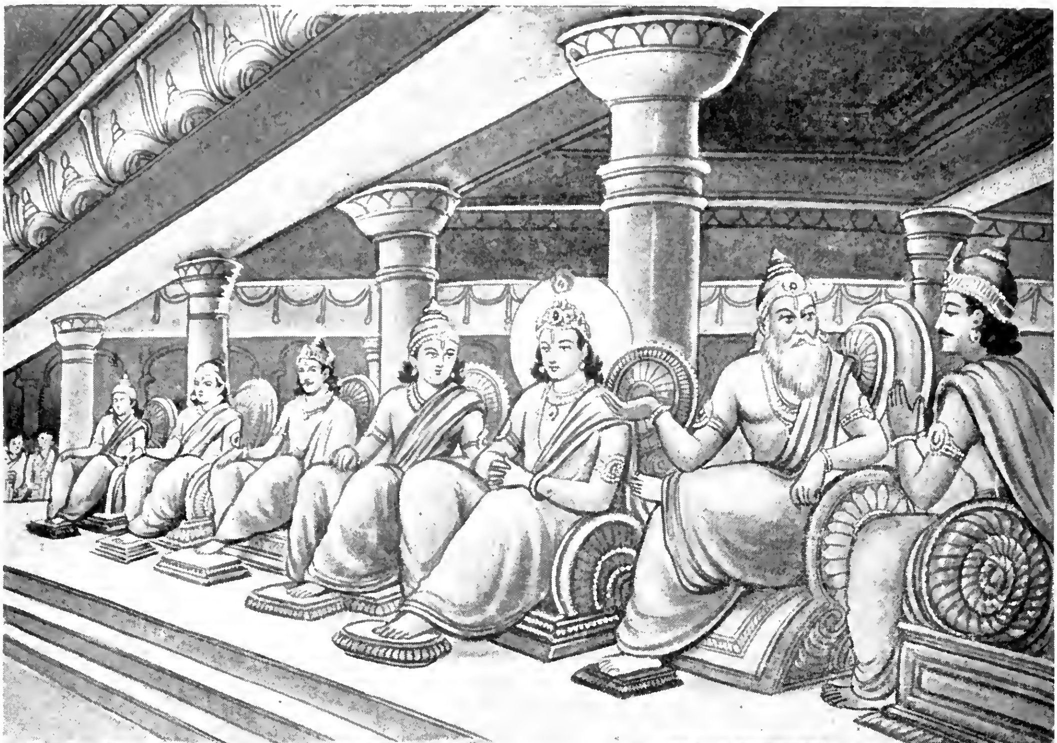
शिशुपाल बोला—कौरव्य ! यहाँ इन महात्मा भूमिपतियोंके रहते हुए यह वृष्णिवंशी कृष्ण राजाओंकी भाँति राजोचित पूजाका अधिकारी कदापि नहीं हो सकता ॥ १ ॥

नायं युक्तः समाचारः पाण्डवेषु महात्मसु ।
यत् कामात् पुण्डरीकाक्षं पाण्डवार्चितवानसि ॥ २ ॥

बाला यूयं न जानीध्वं धर्मः सूक्ष्मो हि पाण्डवाः ।
अयं च स्मृत्यतिक्रान्तो ह्यापगेयोऽल्पदर्शनः ॥ ३ ॥

महात्मा पाण्डवोंके लिये यह विपरीत आचार कभी उचित नहीं है । पाण्डुकुमार ! तुमने स्वार्थवश कमलनयन कृष्णका पूजन किया है। पाण्डवो ! अभी तुमलोग बालक हो। तुम्हें धर्मका पता नहीं है, क्योंकि धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है। ये गङ्गानन्दन भीष्म बहुत बूढ़े हो गये हैं। अब इनकी स्मरणशक्ति जवाब दे चुकी है। इनकी सूझ और समझ भी

भीष्मका युधिष्ठिरको श्रीकृष्णकी महिमा बताना





शिशुपालका युद्धके लिये उद्योग

बहुत कम हो गयी है (तभी इन्होंने श्रीकृष्णपूजाकी सम्मति दी है) ॥ २-३ ॥



त्वादृशो धर्मयुक्तो हि कुर्वाणः प्रियकाम्यया ।
भवत्यभ्यधिकं भीष्म लोकेष्ववमतः सताम् ॥ ४ ॥

भीष्म ! तुम्हारे-जैसा धर्मात्मा पुरुष भी जब मनमाना अथवा किसीका प्रिय करनेके लिये मुँहदेखी करने लगता है, तब वह साधु पुरुषोंके समाजमें अधिक अपमानका पात्र बन जाता है ॥ ४ ॥

कथं ह्यराजा दाशार्हो मध्ये सर्वमहीक्षिताम् ।
अर्हणामर्हति तथा यथा युष्माभिरर्चितः ॥ ५ ॥

यह सभी जानते हैं कि यदुवंशी कृष्ण राजा नहीं है, फिर सम्पूर्ण भूपालोंके बीच तुमलोगोंने जिस प्रकार इसकी पूजा की है, वैसी पूजाका अधिकारी यह कैसे हो सकता है ? ॥५॥

अथ वा मन्यसे कृष्णं स्थविरं कुरुपुङ्गव ।
वसुदेवे स्थिते वृद्धे कथमर्हति तत्सुतः ॥ ६ ॥

कुरुपुङ्गव ! अथवा यदि तुम श्रीकृष्णको बड़ा-बूढ़ा समझते हो तो इसके पिता वृद्ध वसुदेवजीके रहते हुए उनका यह पुत्र कैसे पूजाका पात्र हो सकता है ? ॥ ६ ॥

अथ वा वासुदेवोऽपि प्रियकामोऽनुवृत्तवान् ।
द्रुपदे तिष्ठति कथं माधवोऽर्हति पूजनम् ॥ ७ ॥
आचार्यं मन्यसे कृष्णमथ वा कुरुनन्दन ।
द्रोणे तिष्ठति वार्ष्णेयं कस्मादर्चितवानसि ॥ ८ ॥

अथवा यह मान लिया जाय कि वासुदेव कृष्ण तुम लोगोंका प्रिय चाहनेवाला और तुम्हारा अनुसरण करनेवाला सुहृद् है, इसीलिये तुमने इसकी पूजा की है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तुम्हारे सबसे बड़े सुहृद् तो राजा द्रुपद हैं। उनके रहते यह माधव पूजा पानेका अधिकारी कैसे हो सकता है ? कुरुनन्दन! अथवा यह समझ लें कि तुम कृष्णको आचार्य मानते हो, फिर भी आचार्योंमें भी बड़े-बूढ़े द्रोणाचार्यके रहते हुए इस यदुवंशीकी पूजा तुमने क्यों की है ? ॥ ७–८ ॥

ऋत्विजं मन्यसे कृष्णमथ वा कुरुनन्दन ।
द्वैपायने स्थिते वृद्धे कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया ॥ ९ ॥

कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर ! अथवा यदि यह कहा जाय कि तुम कृष्णको अपना ऋत्विज समझते हो तो ऋत्विजोंमें भी सबसे वृद्ध द्वैपायन वेदव्यासके रहते हुए तुमने कृष्णकी अग्रपूजा कैसे की ? ॥ ९ ॥

भीष्मे शान्तनवे राजन् स्थिते पुरुषसत्तमे ।
स्वच्छन्दमृत्युके राजन् कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया ॥१० ॥
अश्वत्थाम्नि स्थिते वीरे सर्वशास्त्रविशारदे ।
कथं कृष्णस्त्वया राजन्नर्चितः कुरुनन्दन ॥ ११ ॥

राजन् ! शान्तनुनन्दन भीष्म पुरुषशिरोमणि तथा स्वच्छन्दमृत्यु हैं । इनके रहते तुमने कृष्णकी अर्चना कैसे की ? कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! सम्पूर्ण शास्त्रोंके निपुण विद्वान् वीर अश्वत्थामाके रहते हुए तुमने कृष्णकी पूजा कैसे कर डाली ? ॥ १०-११ ॥

दुर्योधने च राजेन्द्रे स्थिते पुरुषसत्तमे ।
कृपे च भारताचार्ये कथं कृष्णस्त्वयार्चितः ॥ १२ ॥
द्रुमं किम्पुरुषाचार्यमतिक्रम्य तथार्चितः ।
भीष्मके चैव दुर्धर्षे पाण्डुवत् कृतलक्षणे ॥ १३ ॥
नृपे च रुक्मिणि श्रेष्ठे एकलव्ये तथैव च ।
शल्ये मद्राधिपे चैव कथं कृष्णस्त्वयार्चितः ॥ १४ ॥

पुरुषप्रवर राजाधिराज दुर्योधन और भरतवंशके आचार्य महात्मा कृपके रहते हुए तुमने कृष्णकी पूजाका औचित्य कैसे स्वीकार किया ? तुमने किम्पुरुषोंके आचार्य द्रुमका उल्लङ्घन करके कृष्णकी अग्रपूजा क्यों की ? पाण्डुके समान दुर्धर्ष वीर तथा राजोचित शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न भीष्मक, राजा रुक्मी और उसी प्रकार श्रेष्ठ धनुर्धर एकलव्य तथा मद्रराज शल्यके रहते हुए तुम्हारे द्वारा कृष्णकी पूजा किस दृष्टिसे की गयी ? ॥ १२–१४ ॥

अयं च सर्वराज्ञां वै बलश्लाघी महाबलः ।
जामदग्न्यस्य दयितः शिष्यो विप्रस्य भारत ॥ १५ ॥
येनात्मबलमाश्रित्य राजानो युधि निर्जिताः ।
तं च कर्णमतिक्रम्य कथं कृष्णस्त्वयार्चितः ॥ १६ ॥

भारत ! ये जो अपने बलके द्वारा सब राजाओंसे होड़ लेते हैं, विप्रवर परशुरामजीके प्रिय शिष्य हैं तथा जिन्होंने अपने बलका भरोसा करके युद्धमें अनेक राजाओंको परास्त किया है, उन महाबली कर्णको छोड़कर तुमने कृष्णकी आराधना कैसे की ? ॥ १५-१६ ॥

नैवर्त्विग् नैव चाचार्यो न राजा मधुसूदनः ।
अर्चितश्च कुरुश्रेष्ठ किमन्यत्प्रियकाम्यया ॥ १७ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! मधुसूदन कृष्ण न ऋत्विज है, न आचार्य है और न राजा ही है; फिर तुमने किस प्रिय कामनासे इसकी पूजा की है ? ॥ १७ ॥

अथ वाभ्यर्चनीयोऽयं युष्माकं मधुसूदनः ।
किं राजभिरिहानीतैरवमानाय भारत ॥ १८ ॥

भारत ! अथवा यदि यह मधुसूदन ही तुमलोगोंका पूजनीय देवता है, इसलिये इसकी ही पूजा तुम्हें करनी थी तो इन राजाओंको केवल अपमानित करनेके लिये बुलानेकी क्या आवश्यकता थी ? ॥ १८ ॥

वयं तु न भयादस्य कौन्तेयस्य महात्मनः ।
प्रयच्छामः करान् सर्वे न लोभान्न च सान्त्वनात्॥१९॥

राजाओ ! हम सब लोग इन महात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको जो कर दे रहे हैं, वह भय, लोभ अथवा कोई विशेष आश्वासन मिलनेके कारण नहीं ॥ १९ ॥

अस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः ।
करानस्मै प्रयच्छामः सोऽयमस्मान् न मन्यते ॥ २० ॥

हमने तो यही समझा था कि यह धर्माचरणमें संलग्न रहनेवाला क्षत्रिय सम्राट्का पद पाना चाहता है तो अच्छा ही है । यही सोचकर हम उसे कर देते हैं, परंतु यह राजा युधिष्ठिर हमलोगोंको नहीं मानता है ॥ २० ॥

किमन्यदवमानाद्धि यदेनं राजसंसदि ।
अप्राप्तलक्षणं कृष्णमर्घ्येणार्चितवानसि ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर ! इससे बढ़कर दूसरा अपमान और क्या हो सकता है कि तुमने राजाओंकी सभामें जिसे राजोचित चिह्न छत्र-चवँर आदि प्राप्त नहीं हुआ है, उस कृष्णकी अर्घ्यके द्वारा पूजा की है ॥ २१ ॥

अकस्माद् धर्मपुत्रस्य धर्मात्मेति यशो गतम् ।
को हि धर्मच्युते पूजामेवं युक्तां नियोजयेत् ॥ २२ ॥

धर्मपुत्र युधिष्ठिरको अकस्मात् ही धर्मात्मा होनेका यश प्राप्त हो गया है, अन्यथा कौन ऐसा धर्मनिष्ठ पुरुष होगा जो किसी धर्मच्युतकी इस प्रकार पूजा करेगा ॥ २२ ॥

योऽयं वृष्णिकुले जातो राजानं हतवान् पुरा ।
जरासंधं महात्मानमन्यायेन दुरात्मवान् ॥ २३ ॥

वृष्णिकुलमें पैदा हुए इस दुरात्माने तो कुछ ही दिन पहले महात्मा राजा जरासंधका अन्यायपूर्वक वध किया है ॥२३॥

अद्य धर्मात्मता चैव व्यपकृष्टा युधिष्ठिरात् ।
दर्शितं कृपणत्वं च कृष्णेऽर्घ्यस्य निवेदनात् ॥ २४ ॥

आज युधिष्ठिरका धर्मात्मापन दूर निकल गया, क्योंकि इन्होंने कृष्णको अर्घ्य निवेदन करके अपनी कायरता ही दिखायी है ॥ २४ ॥

यदि भीताश्च कौन्तेयाः कृपणाश्च तपस्विनः ।
ननु त्वयापि बोद्धव्यं यां पूजां माधवार्हसि ॥ २५ ॥

(अब शिशुपालने भगवान् श्रीकृष्णको देखकर कहा—) माधव ! कुन्तीके पुत्र डरपोक, कायर और तपस्वी हैं । इन्होंने तुम्हें ठीक-ठीक न जानकर यदि तुम्हारी पूजा कर दी तो तुम्हें तो समझना चाहिये था कि तुम किस पूजाके अधिकारी हो ? ॥ २५ ॥

अथ वा कृपणैरेतामुपनीतां जनार्दन ।
पूजामनर्हः कस्मात् त्वमभ्यनुज्ञातवानसि ॥ २६ ॥

अथवा जनार्दन ! इन कायरोंद्वारा उपस्थित की हुई इस अग्रपूजाको उसके योग्य न होते हुए भी तुमने क्यों स्वीकार कर लिया ? ॥ २६ ॥

अयुक्तामात्मनः पूजां त्वं पुनर्बहु मन्यसे ।
हविषः प्राप्य निष्यन्दं प्राशिता श्वेव निर्जने ॥ २७ ॥

जैसे कुत्ता एकान्तमें चूकर गिरे हुए थोड़े-से हविष्य (घृत) को चाट ले और अपनेको धन्य-धन्य मानने लगे, उसी प्रकार तुम अपने लिये अयोग्य पूजा स्वीकार करके अपने आपको बहुत बड़ा मान रहे हो ॥ २७ ॥

न त्वयं पार्थिवेन्द्राणामपमानः प्रयुज्यते ।
त्वामेव कुरवो व्यक्तं प्रलम्भन्ते जनार्दन ॥ २८ ॥

कृष्ण ! तुम्हारी इस अग्रपूजासे हम राजाधिराजोंका कोई अपमान नहीं होता, परंतु ये कुरुवंशी पाण्डव तुम्हें अर्घ्य देकर वास्तवमें तुम्हींको ठग रहे हैं ॥ २८ ॥

क्लीबे दारक्रिया यादृगन्धे वा रूपदर्शनम् ।
अराज्ञो राजवत् पूजा तथा ते मधुसूदन ॥ २९ ॥

मधुसूदन ! जैसे नपुंसकका ब्याह रचाना और अंधेको रूप दिखाना उनका उपहास ही करना है, उसी प्रकार तुम-जैसे राज्यहीनकी यह राजाओंके समान पूजा भी विडम्बना-मात्र ही है ॥ २९ ॥

दृष्टो युधिष्ठिरो राजा दृष्टो भीष्मश्च यादृशः ।
वासुदेवोऽप्ययं दृष्टः सर्वमेतद् यथातथम् ॥ ३० ॥

आज मैंने राजा युधिष्ठिरको देख लिया, भीष्म भी जैसे हैं, उनको भी देख लिया और इस वासुदेव कृष्णका भी वास्तविक रूप क्या है, यह भी देख लिया । वास्तवमें ये सब ऐसे ही हैं ॥ ३० ॥

इत्युक्त्वा शिशुपालस्तानुत्थाय परमासनात् ।

निर्ययौ सदसस्तस्मात् सहितो राजभिस्तदा ॥ ३१ ॥

उनसे ऐसा कहकर शिशुपाल अपने उत्तम आसनसे उठकर कुछ राजाओंके साथ उस सभाभवनसे जानेको उद्यत हो गया ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि शिशुपालक्रोधे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अर्घाभिहरणपर्वमें शिशुपालका क्रोध-विषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३७॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका शिशुपालको समझाना और भीष्मजीका उसके आक्षेपोंका उत्तर देना

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा शिशुपालमुपाद्रवत् ।
उवाच चैनं मधुरं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा युधिष्ठिर शिशुपालके समीप दौड़े गये और उसे शान्तिपूर्वक समझाते हुए मधुर वाणीमें बोले—॥ १ ॥

नेदं युक्तं महीपाल यादृशं वै त्वमुक्तवान् ।
अधर्मश्च परो राजन् पारुष्यं च निरर्थकम् ॥ २ ॥

'राजन् ! तुमने जैसी बात कह डाली है, वह कदापि उचित नहीं है । किसीके प्रति इस प्रकार व्यर्थ कठोर बातें कहना महान् अधर्म है ॥ २ ॥

न हि धर्मं परं जातु नावबुध्येत पार्थिवः ।
भीष्मः शान्तनवस्त्वेनं मावमंस्थास्त्वमन्यथा ॥ ३ ॥

'शान्तनुनन्दन भीष्मजी धर्मके तत्त्वको न जानते हों ऐसी बात नहीं है, अतः तुम इनका अनादर न करो ॥ ३ ॥

पश्य चैतान् महीपालांस्त्वत्तो वृद्धतरान् बहून् ।
मृष्यन्ते चार्हणां कृष्णे तद्वत् त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

'देखो ! ये सभी नरेश, जिनमेंसे कई तो तुम्हारी अपेक्षा बहुत बड़ी अवस्थाके हैं, श्रीकृष्णकी अग्रपूजाको चुपचाप सहन कर रहे हैं, इसी प्रकार तुम्हें भी इस विषयमें कुछ नहीं बोलना चाहिये ॥ ४ ॥

वेद तत्त्वेन कृष्णं हि भीष्मश्चेदिपते भृशम् ।
न ह्येनं त्वं तथा वेत्थ यथैनं वेद कौरवः ॥ ५ ॥

'चेदिराज ! भगवान् श्रीकृष्णको यथार्थरूपसे हमारे पितामह भीष्मजी ही जानते हैं । कुरुनन्दन भीष्मजीको उनके तत्त्वका जैसा ज्ञान है, वैसा तुम्हें नहीं है' ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

नास्मै देयो ह्यनुनयो नायमर्हति सान्त्वनम् ।
लोकवृद्धतमे कृष्णे योऽर्हणां नाभिमन्यते ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—धर्मराज ! भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत्में सबसे बढ़कर हैं । वे ही परम पूजनीय हैं । जो उनकी अग्रपूजा स्वीकार नहीं करता है, उसकी अनुनय-विनय नहीं करनी चाहिये । वह सान्त्वना देने या समझाने-बुझानेके योग्य भी नहीं है ॥ ६ ॥

क्षत्रियः क्षत्रियं जित्वा रणे रणकृतां वरः ।
यो मुञ्चति वशे कृत्वा गुरुर्भवति तस्य सः ॥ ७ ॥

जो योद्धाओंमें श्रेष्ठ क्षत्रिय जिसे युद्धमें जीतकर अपने वशमें करके छोड़ देता है, वह उस पराजित क्षत्रियके लिये गुरुतुल्य पूज्य हो जाता है ॥ ७ ॥

अस्यां हि समितौ राज्ञामेकमप्यजितं युधि ।
न पश्यामि महीपालं सात्वतीपुत्रतेजसा ॥ ८ ॥

राजाओंके इस समुदायमें एक भी भूपाल ऐसा नहीं दिखायी देता, जो युद्धमें देवकीनन्दन श्रीकृष्णके तेजसे परास्त न हो चुका हो ॥ ८ ॥

न हि केवलमस्माकमयमर्च्यतमोऽच्युतः ।
त्रयाणामपि लोकानामर्चनीयो महाभुजः ॥ ९ ॥

महाबाहु श्रीकृष्ण केवल हमारे लिये ही परम पूजनीय हों, ऐसी बात नहीं है, ये तो तीनों लोकोंके पूजनीय हैं ॥ ९ ॥

कृष्णेन हि जिता युद्धे बहवः क्षत्रियर्षभाः ।
जगत् सर्वं च वार्ष्णेये निखिलेन प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥

श्रीकृष्णके द्वारा संग्राममें अनेक क्षत्रियशिरोमणि परास्त हुए हैं । यह सम्पूर्ण जगत् वृष्णिकुलभूषण भगवान् श्रीकृष्णमें ही पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित है ॥ १० ॥

तस्मात् सत्स्वपि वृद्धेषु कृष्णमर्चाम नेतरान् ।
एवं वक्तुं न चार्हस्त्वं मा ते भूद् बुद्धिरीदृशी ॥ ११ ॥

इसीलिये हम दूसरे वृद्ध पुरुषोंके होते हुए भी श्रीकृष्णकी ही पूजा करते हैं, दूसरोंकी नहीं । राजन् ! तुम्हें श्रीकृष्णके प्रति वैसी बातें मुँहसे नहीं निकालनी चाहिये थीं । उनके प्रति तुम्हें ऐसी बुद्धि नहीं रखनी चाहिये ॥ ११ ॥

ज्ञानवृद्धा मया राजन् बहवः पर्युपासिताः ।
तेषां कथयतां शौरेरहं गुणवतो गुणान् ॥ १२ ॥
समागतानामश्रौषं बहून् बहुमतान् सताम् ।

मैंने बहुत-से ज्ञानवृद्ध महात्माओंका संग किया है । अपने

यहाँ पधारे हुए उन संतोंके मुखसे अनन्तगुणशाली भगवान् श्रीकृष्णके असंख्य बहुसम्मत गुणोंका वर्णन सुना है ॥१२½॥

कर्माण्यपि च यान्यस्य जन्मप्रभृति धीमतः ॥ १३ ॥
बहुशः कथ्यमानानि नरैर्भूयः श्रुतानि मे ।

जन्मकालसे लेकर अबतक इन बुद्धिमान् श्रीकृष्णके जो-जो चरित्र बहुधा बहुतेरे मनुष्योंद्वारा कहे गये हैं, उन सबको मैंने बार-बार सुना है ॥ १३½ ॥

न केवलं वयं कामाच्चेदिराज जनार्दनम् ॥ १४ ॥
न सम्बन्धं पुरस्कृत्य कृतार्थं वा कथंचन ।
अर्चामहेऽर्चितं सद्भिर्भुवि भूतसुखावहम् ॥ १५ ॥

चेदिराज ! हमलोग किसी कामनासे, अपना सम्बन्धी मानकर अथवा इन्होंने हमारा किसी प्रकारका उपकार किया है, इस दृष्टिसे श्रीकृष्णकी पूजा नहीं कर रहे हैं। हमारी दृष्टि तो यह है कि ये इस भूमण्डलके सभी प्राणियोंको सुख पहुँचानेवाले हैं और बड़े-बड़े संत-महात्माओंने इनकी पूजा की है ॥ १४-१५ ॥

यशः शौर्यं जयं चास्य विज्ञायार्चां प्रयुञ्ज्महे ।
न च कश्चिदिहास्माभिः सुबालोऽप्यपरीक्षितः ॥ १६ ॥

हम इनके यश, शौर्य और विजयको भलीभाँति जानकर इनकी पूजा कर रहे हैं। यहाँ बैठे हुए लोगोंमेंसे कोई छोटा-सा बालक भी ऐसा नहीं है, जिसके गुणोंकी हमलोगोंने पूर्णतः परीक्षा न की हो ॥ १६ ॥

गुणैर्वृद्धानतिक्रम्य हरिरर्च्यतमो मतः ।
ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः ॥ १७ ॥

श्रीकृष्णके गुणोंको ही दृष्टिमें रखते हुए हमने वयोवृद्ध पुरुषोंका उल्लङ्घन करके इनको ही परम पूजनीय माना है। ब्राह्मणोंमें वही पूजनीय समझा जाता है, जो ज्ञानमें बड़ा हो तथा क्षत्रियोंमें वही पूजाके योग्य है, जो बलमें सबसे अधिक हो ॥

वैश्यानां धान्यधनवाञ्छूद्राणामेव जन्मतः ।
पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ ॥ १८ ॥

वैश्योंमें वही सर्वमान्य है, जो धन-धान्यमें बढ़कर हो, केवल शूद्रोंमें ही जन्मकालको ध्यानमें रखकर जो अवस्थामें बड़ा हो, उसको पूजनीय माना जाता है। श्रीकृष्णके परम पूजनीय होनेमें दोनों ही कारण विद्यमान हैं ॥ १८ ॥

वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा ।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते॥१९॥

इनमें वेद-वेदाङ्गोंका ज्ञान तो है ही, बल भी सबसे अधिक है। श्रीकृष्णके सिवा संसारके मनुष्योंमें दूसरा कौन सबसे बढ़कर है ? ॥ १९ ॥

दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा ।
सन्नतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते ॥ २० ॥

दान, दक्षता, शास्त्रज्ञान, शौर्य, लज्जा, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, विनय, श्री, धृति, तुष्टि और पुष्टि—ये सभी सद्गुण भगवान् श्रीकृष्णमें नित्य विद्यमान हैं ॥ २० ॥

तमिमं गुणसम्पन्नमार्यं च पितरं गुरुम् ।
अर्घ्यमर्चितमर्चार्हं सर्वे संक्षन्तुमर्हथ ॥ २१ ॥

जो अर्घ्य पानेके सर्वथा योग्य और पूजनीय हैं, उन सकलगुणसम्पन्न, श्रेष्ठ, पिता और गुरु भगवान् श्रीकृष्णकी हमलोगोंने पूजा की है, अतः सब राजालोग इसके लिये हमें क्षमा करें ॥ २१ ॥

ऋत्विग् गुरुस्तथाऽऽचार्यः स्नातको नृपतिः प्रियः ।
सर्वमेतद्धृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः ॥ २२ ॥

श्रीकृष्ण हमारे ऋत्विक्, गुरु, आचार्य, स्नातक, राजा और प्रिय मित्र सब कुछ हैं। इसीलिये हमने इनकी अग्रपूजा की है ॥ २२ ॥

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः ।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम् ॥ २३ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं। यह सारा चराचर विश्व इन्हींके लिये प्रकट हुआ है ॥ २३ ॥

एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः ।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः ॥ २४ ॥

ये ही अव्यक्त प्रकृति, सनातन कर्ता तथा सम्पूर्ण भूतोंसे परे हैं, अतः भगवान् अच्युत ही सबसे बढ़कर पूजनीय हैं।'

बुद्धिर्मनो महद् वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या ।
चतुर्विधं च यद् भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ २५ ॥

महत्तत्त्व, अहंकार, मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी तथा जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज—ये चार प्रकारके प्राणी सभी भगवान् श्रीकृष्णमें ही प्रतिष्ठित हैं॥

आदित्यश्चन्द्रमाश्चैव नक्षत्राणि ग्रहाश्च ये ।
दिशश्च विदिशश्चैव सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ २६ ॥
अग्निहोत्रमुखा वेदा गायत्री छन्दसां मुखम् ।
राजा मुखं मनुष्याणां नदीनां सागरो मुखम् ॥ २७ ॥
नक्षत्राणां मुखं चन्द्र आदित्यस्तेजसां मुखम् ।
पर्वतानां मुखं मेरुर्गरुडः पततां मुखम् ॥ २८ ॥
ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव यावती जगतो गतिः ।
सदेवकेषु लोकेषु भगवान् केशवो मुखम् ॥ २९ ॥

सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह, दिशा और विदिशा सब उन्हींमें स्थित हैं। जैसे वेदोंमें अग्निहोत्रकर्म, छन्दोंमें गायत्री,

मनुष्योंमें राजा, नदियों (जलाशयों)में समुद्र, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा, तेजोमय पदार्थोंमें सूर्य, पर्वतोंमें मेरु और पक्षियोंमें गरुड श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार देवलोकसहित सम्पूर्ण लोकोंमें ऊपर-नीचे, दाँयें-बाँयें, जितने भी जगत्के आश्रय हैं, उन सबमें भगवान् श्रीकृष्ण ही श्रेष्ठ हैं ॥ २६-२९ ॥

[भगवान् नारायणकी महिमा और उनके द्वारा मधु-कैटभका वध]

वैशम्पायन उवाच

ततो भीष्मस्य तच्छ्रुत्वा वचः काले युधिष्ठिरः ।
उवाच मतिमान् भीष्मं ततः कौरवनन्दनः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भीष्मजीका वह समयोचित वचन सुनकर कौरवनन्दन बुद्धिमान् युधिष्ठिरने उनसे इस प्रकार कहा ॥

युधिष्ठिर उवाच

विस्तरेणास्य देवस्य कर्माणीच्छामि सर्वशः ।
श्रोतुं भगवतस्तानि प्रब्रवीहि पितामह ॥
कर्मणामानुपूर्व्यं च प्रादुर्भावांश्च मे विभोः ।
यथा च प्रकृतिः कृष्णे तन्मे ब्रूहि पितामह ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! मैं इन भगवान् श्रीकृष्णके सम्पूर्ण चरित्रोंको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ । आप उन्हें कृपापूर्वक बतावें । पितामह ! भगवान्के अवतारों और चरित्रोंका क्रमशः वर्णन कीजिये । साथ ही मुझे यह भी बताइये कि श्रीकृष्णका शील-स्वभाव कैसा है ?

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तदा भीष्मः प्रोवाच भरतर्षभम् ।
युधिष्ठिरममित्रघ्नं तस्मिन् क्षत्रसमागमे ॥
समक्षं वासुदेवस्य देवस्येव शतक्रतोः ।
कर्माण्यसुकराण्यन्यैराचचक्षे जनाधिप ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय युधिष्ठिरके इस प्रकार अनुरोध करनेपर भीष्मने राजाओंके उस समुदायमें देवराज इन्द्रके समान सुशोभित होनेवाले भगवान् वासुदेवके सामने ही शत्रुहन्ता भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे भगवान् श्रीकृष्णके अलौकिक कर्मोंका, जिन्हें दूसरा कोई कदापि नहीं कर सकता, वर्णन किया ॥

शृण्वतां पार्थिवानां च धर्मराजस्य चान्तिके ।
इदं मतिमतां श्रेष्ठः कृष्णं प्रति विशाम्पते ॥
साम्नैवामन्त्र्य राजेन्द्र चेदिराजमरिंदमम् ।
भीमकर्मा ततो भीष्मो भूयः स इदमब्रवीत् ॥
कुरूणां चापि राजानं युधिष्ठिरमुवाच ह ।

धर्मराजके समीप बैठे हुए सम्पूर्ण नरेश उनकी यह बात सुन रहे थे । राजन् ! बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ भीमकर्मा भीष्मने शत्रुदमन चेदिराज शिशुपालको सान्त्वनापूर्ण शब्दोंमें ही समझाकर कुरुराज युधिष्ठिरसे पुनः इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥

भीष्म उवाच

वर्तमानामतीतां च शृणु राजन् युधिष्ठिर ।
ईश्वरस्योत्तमस्यैनां कर्मणां गहनां गतिम् ।

भीष्म बोले—राजा युधिष्ठिर ! पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य कर्मोंकी गति बड़ी गहन है । इन्होंने पूर्वकालमें और इस समय भी जो महान् कर्म किये हैं, उन्हें बताता हूँ; सुनो ॥

अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एष भगवान् प्रभुः ॥
पुरा नारायणो देवः स्वयम्भूः प्रपितामहः ।

ये सर्वशक्तिमान् भगवान् अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त स्वरूप धारण करके स्थित हैं । पूर्वकालमें ये भगवान् श्रीकृष्ण ही नारायणरूपमें स्थित थे । ये ही स्वयम्भू एवं सम्पूर्ण जगत्के प्रपितामह हैं ॥

सहस्रशीर्षः पुरुषो ध्रुवोऽव्यक्तः सनातनः ॥
सहस्राक्षः सहस्रास्यः सहस्रचरणो विभुः ।
सहस्रबाहुः साहस्रो देवो नामसहस्रवान् ॥

इनके सहस्रों मस्तक हैं । ये ही पुरुष, ध्रुव, अव्यक्त एवं सनातन परमात्मा हैं । इनके सहस्रों नेत्र, सहस्रों मुख और सहस्रों चरण हैं । ये सर्वव्यापी परमेश्वर सहस्रों भुजाओं, सहस्रों रूपों और सहस्रों नामोंसे युक्त हैं ॥

सहस्रमुकुटो देवो विश्वरूपो महाद्युतिः ।
अनेकवर्णो देवादिरव्यक्ताद् वै परे स्थितः ॥

इनके मस्तक सहस्रों मुकुटोंसे मण्डित हैं । ये महान् तेजस्वी देवता हैं । सम्पूर्ण विश्व इन्हींका स्वरूप है । इनके अनेक वर्ण हैं । ये देवताओंके भी आदि कारण हैं और अव्यक्त प्रकृतिसे परे (अपने सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें स्थित) हैं ॥

असृजत् सलिलं पूर्वं स च नारायणः प्रभुः ।
ततस्तु भगवांस्तोये ब्रह्माणमसृजत् स्वयम् ॥

उन्हीं सामर्थ्यवान् भगवान् नारायणने सबसे पहले जलकी सृष्टि की । फिर उस जलमें उन्होंने स्वयं ही ब्रह्माजीको उत्पन्न किया ॥

ब्रह्मा चतुर्मुखो लोकान् सर्वांस्तानसृजत् स्वयम् ।
आदिकाले पुरा ह्येवं सर्वलोकस्य चोद्भवः ॥

ब्रह्माजीके चार मुख हैं । उन्होंने स्वयं ही सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि की है । इस प्रकार आदिकालमें समस्त जगत्की उत्पत्ति हुई ॥

पुराथ प्रलये प्राप्ते नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
ब्रह्मादिषु प्रलीनेषु नष्टे लोके चराचरे ॥

फिर प्रलयकाल आनेपर, जैसा कि पहले हुआ था, समस्त स्थावर-जङ्गम सृष्टिका नाश हो जाता है एवं चराचर जगत्का नाश होनेके पश्चात् ब्रह्मा आदि देवता भी अपने कारणतत्त्वमें लीन हो जाते हैं ॥

आभूतसम्प्लवे प्राप्ते प्रलीने प्रकृतौ महान् ।
एकस्तिष्ठति सर्वात्मा स तु नारायणः प्रभुः ॥

और समस्त भूतोंका प्रवाह प्रकृतिमें विलीन हो जाता है, उस समय एकमात्र सर्वात्मा भगवान् महानारायण शेष रह जाते हैं ॥

नारायणस्य चाङ्गानि सर्वदैवानि भारत ।
शिरस्तस्य दिवं राजन् नाभिः खं चरणौ मही ॥

भरतनन्दन ! भगवान् नारायणके सब अङ्ग सर्वदेवमय हैं। राजन् ! द्युलोक उनका मस्तक, आकाश नाभि और पृथ्वी चरण हैं ॥

अश्विनौ घ्राणयोर्देवौ चक्षुषी शशिभास्करौ ।
इन्द्रवैश्वानरौ देवौ मुखं तस्य महात्मनः ॥

दोनों अश्विनीकुमार उनकी नासिकाके स्थानमें हैं, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं एवं इन्द्र और अग्निदेवता उन परमात्माके मुख हैं ॥

अन्यानि सर्वदैवानि तस्याङ्गानि महात्मनः ।
सर्वं व्याप्य हरिस्तस्थौ सूत्रं मणिगणानिव ॥

इसी प्रकार अन्य सब देवता भी उन महात्माके विभिन्न अवयव हैं। जैसे गुँथी हुई मालाकी सभी मणियोंमें एक ही सूत्र व्याप्त रहता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हैं ॥

आभूतसम्प्लवान्तेऽथ दृष्ट्वा सर्वं तमोऽन्वितम् ।
नारायणो महायोगी सर्वज्ञः परमात्मवान् ॥
ब्रह्मभूतस्तदाऽऽत्मानं ब्रह्माणमसृजत् स्वयम् ।

प्रलयकालके अन्तमें सबको अन्धकारसे व्याप्त देख सर्वज्ञ परमात्मा ब्रह्मभूत महायोगी नारायणने स्वयं अपने आपको ही ब्रह्मारूपमें प्रकट किया ॥

सोऽध्यक्षः सर्वभूतानां प्रभूतः प्रभवोऽच्युतः ॥
सनत्कुमारं रुद्रं च मनुं चैव तपोधनान् ।
सर्वमेवासृजद् ब्रह्मा ततो लोकान् प्रजास्तथा ॥

इस प्रकार अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले, सबकी उत्पत्तिके कारणभूत और सम्पूर्ण भूतोंके अध्यक्ष श्रीहरिने ब्रह्मारूपसे प्रकट हो सनत्कुमार, रुद्र, मनु तथा तपस्वी ऋषि-मुनियोंको उत्पन्न किया। सबकी सृष्टि उन्होंने ही की। उन्हींसे सम्पूर्ण लोकों और प्रजाओंकी उत्पत्ति हुई ॥

ते च तद् व्यसृजंस्तत्र प्राप्ते काले युधिष्ठिर ।
तेभ्योऽभवन्महात्मभ्यो बहुधा ब्रह्म शाश्वतम् ॥

युधिष्ठिर ! समय आनेपर उन मनु आदिने भी सृष्टिका विस्तार किया। उन सब महात्माओंसे नाना प्रकारकी सृष्टि प्रकट हुई। इस प्रकार एक ही सनातन ब्रह्म अनेक रूपोंमें अभिव्यक्त हो गया ॥

कल्पानां बहुकोट्यश्च समतीता हि भारत ।
आभूतसम्प्लवाश्चैव बहुकोट्योऽतिचक्रमुः ॥

भरतनन्दन ! अबतक कई करोड़ कल्प बीत चुके हैं और कितने ही करोड़ प्रलयकाल भी गत हो चुके हैं ॥

मन्वन्तरयुगेऽजस्रं सकल्पा भूतसम्प्लवा ।
चक्रवत् परिवर्तन्ते सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥

मन्वन्तर, युग, कल्प और प्रलय—ये निरन्तर चक्रकी भाँति घूमते रहते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुमय है ॥

सृष्ट्वा चतुर्मुखं देवं देवो नारायणः प्रभुः ।
स लोकानां हितार्थाय क्षीरोदे वसति प्रभुः ॥

देवाधिदेव भगवान् नारायण चतुर्मुख भगवान् ब्रह्माकी सृष्टि करके सम्पूर्ण लोकोंका हित करनेके लिये क्षीरसागरमें निवास करते हैं ॥

ब्रह्मा च सर्वदेवानां लोकस्य च पितामहः ।
ततो नारायणो देवः सर्वस्य प्रपितामहः ॥

ब्रह्माजी सम्पूर्ण देवताओं तथा लोकोंके पितामह हैं, इसलिये श्रीनारायणदेव सबके प्रपितामह हैं ॥

अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एष भगवान् प्रभुः ।
नारायणो जगच्चक्रे प्रभवाप्ययसंहितः ॥

जो अव्यक्त होते हुए व्यक्त शरीरमें स्थित हैं, सृष्टि और प्रलयकालमें भी जो नित्य विद्यमान रहते हैं, उन्हीं सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणने इस जगत्की रचना की है ॥

एष नारायणो भूत्वा हरिरासीद् युधिष्ठिर ।
ब्रह्माणं शशिसूर्यौ च धर्मं चैवासृजत् स्वयम् ॥

युधिष्ठिर ! इन भगवान् श्रीकृष्णने ही नारायणरूपमें स्थित होकर स्वयं ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रमा और धर्मकी सृष्टि की है ॥

बहुशः सर्वभूतात्मा प्रादुर्भवति कार्यतः ।
प्रादुर्भावांस्तु वक्ष्यामि दिव्यान् देवगणैर्युतान् ॥

ये समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं और कार्यवश अनेक रूपोंमें अवतीर्ण होते रहते हैं। इनके सभी अवतार दिव्य हैं और देवगणोंसे संयुक्त भी हैं। मैं उन सबका वर्णन करता हूँ ॥

सुप्त्वा युगसहस्रं स प्रादुर्भवति कार्यवान् ।
पूर्णे युगसहस्रेऽथ देवदेवो जगत्पतिः ॥
ब्रह्माणं कपिलं चैव परमेष्ठिनमेव च ।
देवान् सप्त ऋषींश्चैव शङ्करं च महायशाः ॥

देवाधिदेव जगदीश्वर महायशस्वी भगवान् श्रीहरि सहस्र युगोंतक शयन करनेके पश्चात् कल्पान्तकी सहस्रयुगात्मक अवधि पूरी होनेपर प्रकट होते और सृष्टिकार्यमें संलग्न हो परमेष्ठी ब्रह्मा, कपिल, देवगणों, सप्तर्षियों तथा शङ्करकी उत्पत्ति करते हैं ॥

सनत्कुमारं भगवान् मनुं चैव प्रजापतिम् ।
पुरा चक्रेऽथ देवादीन् प्रदीप्ताग्निसमप्रभः ॥

इसी प्रकार भगवान् श्रीहरि सनत्कुमार, मनु एवं प्रजापतिको भी उत्पन्न करते हैं। पूर्वकालमें प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी नारायणदेवने ही देवताओं आदिकी सृष्टि की है ॥

येन चार्णवमध्यस्थौ नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
नष्टदेवासुरनरे प्रणष्टोरगराक्षसे ॥

योद्धुकामौ सुदुर्धर्षौ भ्रातरौ मधुकैटभौ ।
हतौ भगवता तेन तयोर्दत्त्वा वृतं वरम् ॥

पहलेकी बात है, प्रलयकालमें समस्त चराचर प्राणी, देवता, असुर, मनुष्य, नाग तथा राक्षस सभी नष्ट हो चुके थे। उस समय एकार्णव (महासागर) की जलराशिमें दो अत्यन्त दुर्धर्ष दैत्य रहते थे, जिनके नाम थे मधु और कैटभ । वे दोनों भाई युद्धकी इच्छा रखते थे । उन्हीं भगवान् नारायणने उन्हें मनोवाञ्छित वर देकर उन दोनों दैत्योंका वध किया था ॥

भूमिं बद्ध्वा कृतौ पूर्वं मृन्मयौ द्वौ महासुरौ ।
कर्णस्रोतोद्भवौ तौ तु विष्णोस्तस्य महात्मनः ॥

कहते हैं, वे दोनों महान् असुर महात्मा भगवान् विष्णुके कानोंकी मैलसे उत्पन्न हुए थे । पहले भगवान्ने इस पृथ्वीको आबद्ध करके मिट्टीसे ही उनकी आकृति बनायी थी ॥

महार्णवे प्रस्वपतः शैलराजसमौ स्थितौ ।
तौ विवेश स्वयं वायुः ब्रह्मणा साधु चोदितः ॥

वे पर्वतराज हिमालयके समान विशाल शरीर लिये महासागरके जलमें सो रहे थे । उस समय ब्रह्माजीकी प्रेरणासे स्वयं वायुदेवने उनके भीतर प्रवेश किया ॥

तौ दिवं छादयित्वा तु ववृधाते महासुरौ ।
वायुप्राणौ तु तौ दृष्ट्वा ब्रह्मा पर्यामृशच्छनैः ॥

फिर तो वे दोनों महान् असुर सम्पूर्ण द्युलोकको आच्छादित करके बढ़ने लगे । वायुदेव ही जिनके प्राण थे, उन दोनों असुरोंको देखकर ब्रह्माजीने धीरे-धीरे उनके शरीरपर हाथ फेरा ॥

एकं मृदुतरं बुद्ध्वा कठिनं बुध्य चापरम् ।
नामनी तु तयोश्चक्रे स विभुः सलिलोद्भवः ॥

एकका शरीर उन्हें अत्यन्त कोमल प्रतीत हुआ और दूसरेका अत्यन्त कठोर । तब जलसे उत्पन्न होनेवाले भगवान् ब्रह्माने उन दोनोंका नामकरण किया ॥

मृदुस्त्वयं मधुर्नाम कठिनः कैटभः स्वयम् ।
तौ दैत्यौ कृतनामानौ चेरतुर्बलगर्वितौ ॥

यह जो मृदुल शरीरवाला असुर है, इसका नाम मधु होगा और जिसका शरीर कठोर है, वह कैटभ कहलायेगा । इस प्रकार नाम निश्चित हो जानेपर वे दोनों दैत्य बलसे उन्मत्त होकर सब ओर विचरने लगे ॥

तौ पुराथ दिवं सर्वां प्राप्तौ राजन् महासुरौ ।
प्रच्छाद्याथ दिवं सर्वां चेरतुर्मधुकैटभौ ॥

राजन् ! सबसे पहले वे दोनों महादैत्य मधु और कैटभ द्युलोकमें पहुँचे और उस सारे लोकको आच्छादित करके सब ओर विचरने लगे ॥

सर्वमेकार्णवं लोकं योद्धुकामौ सुनिर्भयौ ।
तौ गतावसुरौ दृष्ट्वा ब्रह्मा लोकपितामहः ॥
एकार्णवाम्बुनिचये तत्रैवान्तरधीयत ।

उस समय सारा लोक जलमय हो गया था । उसमें युद्धकी कामनासे अत्यन्त निर्भय होकर आये हुए उन दोनों असुरोंको देखकर लोकपितामह ब्रह्माजी वहीं एकार्णवस्वरूप जलराशिमें अन्तर्धान हो गये ॥

स पद्मे पद्मनाभस्य नाभिदेशात् समुत्थिते ॥
आसीदादौ स्वयंजन्म तत् पङ्कजमपङ्कजम् ।
पूजयामास वसतिं ब्रह्मा लोकपितामहः ॥

वे भगवान् पद्मनाभ (विष्णु) की नाभिसे प्रकट हुए कमलमें जा बैठे । वह कमल वहाँ पहले ही स्वयं प्रकट हुआ था । कहनेको तो वह पङ्कज था, परंतु पङ्कसे उसकी उत्पत्ति नहीं हुई थी । लोकपितामह ब्रह्माने अपने निवासके लिये उस कमलको ही पसंद किया और उसकी भूरि-भूरि सराहना की ॥

तावुभौ जलगर्भस्थौ नारायणचतुर्मुखौ ।
बहून् वर्षायुतानप्सु शयानौ न चकम्पतुः ॥
अथ दीर्घस्य कालस्य तावुभौ मधुकैटभौ ।
आजग्मतुस्तौ तं देशं यत्र ब्रह्मा व्यवस्थितः ॥

भगवान् नारायण और ब्रह्मा दोनों ही अनेक सहस्र वर्षोंतक उस जलके भीतर सोते रहे; किंतु कभी तनिक भी कम्पायमान नहीं हुए । तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् वे दोनों असुर मधु और कैटभ उसी स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ ब्रह्माजी स्थित थे ॥

तौ दृष्ट्वा लोकनाथस्तु कोपात् संरक्तलोचनः ।
उत्पपाताथ शयनात् पद्मनाभो महाद्युतिः ॥
तद् युद्धमभवद् घोरं तयोस्तस्य च वै तदा ।
एकार्णवे तदा घोरे त्रैलोक्ये जलतां गते ॥
तदभूत् तुमुलं युद्धं वर्षसङ्घान् सहस्रशः ।
न च तावसुरौ युद्धे तदा श्रममवापतुः ॥

उन दोनोंको आया देख महातेजस्वी लोकनाथ भगवान् पद्मनाभ अपनी शय्यासे खड़े हो गये । क्रोधसे उनकी आँखें लाल हो गयीं । फिर तो उन दोनोंके साथ उनका बड़ा भयंकर युद्ध हुआ । उस भयानक एकार्णवमें, जहाँ त्रिलोकी जलरूप हो गयी थी, सहस्रों वर्षोंतक उनका वह घमासान युद्ध चलता रहा; परंतु उस समय उस युद्धमें उन दोनों दैत्योंको तनिक भी थकावट नहीं होती थी ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य तौ दैत्यौ युद्धदुर्मदौ ।
ऊचतुः प्रीतमनसौ देवं नारायणं प्रभुम् ॥
प्रीतौ स्वस्तव युद्धेन श्लाघ्यस्त्वं मृत्युरावयोः ।
आवां जहि न यत्रोर्वी सलिलेन परिप्लुता ॥

तत्पश्चात् दीर्घकाल व्यतीत होनेपर वे दोनों रणोन्मत्त दैत्य प्रसन्न होकर सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणसे बोले— 'सुरश्रेष्ठ ! हम दोनों तुम्हारे युद्ध-कौशलसे बहुत प्रसन्न हैं । तुम हमारे लिये स्पृहणीय मृत्यु हो । हमें ऐसी जगह मारो, जहाँकी भूमि पानीमें डूबी हुई न हो ॥

हतौ च तव पुत्रत्वं प्राप्नुयाव सुरोत्तम ।
यो ह्यावां युधि निर्जेता तस्यावां विहितौ सुतौ ॥

तयोः स वचनं श्रुत्वा तदा नारायणः प्रभुः ।
तौ प्रगृह्य मृधे दैत्यौ दोर्भ्यां तौ समपीडयत् ॥
ऊरुभ्यां निधनं चक्रे तावुभौ मधुकैटभौ ।

'तथा मरनेके पश्चात् हम दोनों तुम्हारे पुत्र हों । जो हमें युद्धमें जीत ले, हम उसीके पुत्र हों—ऐसी हमारी इच्छा है ।' उनकी बात सुनकर भगवान् नारायणने उन दोनों दैत्योंको युद्धमें पकड़कर उन्हें दोनों हाथोंसे दबाया और मधु तथा कैटभ दोनोंको अपनी जाँघोंपर रखकर मार डाला ॥

तौ हतौ चाप्लुतौ तोये वपुर्भ्यामेकतां गतौ ॥
मेदो मुमुचतुर्दैत्यौ मथ्यमानौ जलोर्मिभिः ।
मेदसा तज्जलं व्याप्तं ताभ्यामन्तर्दधे तदा ॥
नारायणश्च भगवानसृजद् विविधाः प्रजाः ।
दैत्ययोर्मेदसाच्छन्ना सर्वा राजन् वसुन्धरा ॥
तदा प्रभृति कौन्तेय मेदिनीति स्मृता मही ।
प्रभावात् पद्मनाभस्य शाश्वती च कृता नृणाम् ॥

मरनेपर उन दोनोंकी लाशें जलमें डूबकर एक हो गयीं । जलकी लहरोंसे मथित होकर उन दोनों दैत्योंने जो मेद छोड़ा, उससे आच्छादित होकर वहाँका जल अदृश्य हो गया । उसीपर भगवान् नारायणने नाना प्रकारके जीवोंकी सृष्टि की । राजन् कुन्तीकुमार ! उन दोनों दैत्योंके मेदसे सारी वसुधा आच्छादित हो गयी, अतः तभीसे यह मही 'मेदिनी'के नामसे प्रसिद्ध हुई । भगवान् पद्मनाभके प्रभावसे यह मनुष्योंके लिये शाश्वत आधार बन गयी ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[वराह, नृसिंह, वामन, दत्तात्रेय, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा कल्कि अवतारोंकी संक्षिप्त कथा]

भीष्म उवाच

प्रादुर्भावसहस्राणि समतीतान्यनेकशः ।
यथाशक्ति तु वक्ष्यामि शृणु तान् कुरुनन्दन ॥

भीष्मजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! भगवान्के अबतक कई सहस्र अवतार हो चुके हैं । मैं यहाँ कुछ अवतारोंका यथाशक्ति वर्णन करूँगा । तुम ध्यान देकर उनका वृत्तान्त सुनो ॥

पुरा कमलनाभस्य स्वपतः सागराम्भसि ।
पुष्करे यत्र सम्भूता देवा ऋषिगणैः सह ॥

पूर्वकालमें जब भगवान् पद्मनाभ समुद्रके जलमें शयन कर रहे थे, पुष्करमें उनसे अनेक देवताओं और महर्षियोंका प्रादुर्भाव हुआ ॥

एष पौष्करिको नाम प्रादुर्भावः प्रकीर्तितः ।
पुराणः कथ्यते यत्र वेदश्रुतिसमाहितः ॥

यह भगवान्का 'पौष्करिक' (पुष्करसम्बन्धी) पुरातन अवतार कहा गया है, जो वैदिक श्रुतियोंद्वारा अनुमोदित है ॥

वाराहस्तु श्रुतिमुखः प्रादुर्भावो महात्मनः ।
यत्र विष्णुः सुरश्रेष्ठो वाराहं रूपमास्थितः ॥
उज्जहार महीं तोयात् सशैलवनकाननाम् ।

महात्मा श्रीहरिका जो वराह नामक अवतार है, उसमें भी प्रधानतः वैदिक श्रुति ही प्रमाण है । उस अवतारके समय भगवान्ने वराहरूप धारण करके पर्वतों और वनोंसहित सारी पृथ्वीको जलसे बाहर निकाला था ॥

वेदपादो यूपदंष्ट्रः क्रतुदन्तश्चितीमुखः ॥
अग्निजिह्वो दर्भरोमा ब्रह्मशीर्षो महातपाः ।

चारों वेद ही भगवान् वराहके चार पैर थे । यूप ही उनकी दाढ़ थे । क्रतु (यज्ञ) ही दाँत और 'चिति' (इष्टिका-चयन) ही मुख थे । अग्नि जिह्वा, कुश रोम तथा ब्रह्म मस्तक थे । वे महान् तपसे सम्पन्न थे ॥

अहोरात्रेक्षणो दिव्यो वेदाङ्गः श्रुतिभूषणः ॥
आज्यनासः स्रुवतुण्डः सामघोषस्वनो महान् ।

दिन और रात ही उनके दो नेत्र थे । उनका स्वरूप दिव्य था । वेदाङ्ग ही उनके विभिन्न अङ्ग थे । श्रुतियाँ ही उनके लिये आभूषणका काम देती थीं । घी उनकी नासिका, स्रुवा उनकी थूथुन और सामवेदका स्वर ही उनकी भीषण गर्जना थी । उनका शरीर बहुत बड़ा था ॥

धर्मसत्यमयः श्रीमान् कर्मविक्रमसत्कृतः ॥
प्रायश्चित्तनखो धीरः पशुजानुर्महावृषः ।

धर्म और सत्य उनका स्वरूप था, वे अलौकिक तेजसे सम्पन्न थे । वे विभिन्न कर्मरूपी विक्रमसे सुशोभित हो रहे थे, प्रायश्चित्त उनके नख थे, वे धीर स्वभावसे युक्त थे, पशु उनके घुटनोंके स्थानमें थे और महान् वृषभ (धर्म) ही उनका श्रीविग्रह था ॥

औद्गात्रहोमलिङ्गोऽसौ फलबीजमहौषधिः ॥
बाह्यान्तरात्मा मन्त्रास्थिविकृतः सौम्यदर्शनः ।

उद्गाताका होमरूप कर्म उनका लिङ्ग था, फल और बीज ही उनके लिये महान् औषध थे, वे बाह्य और आभ्यन्तर जगत्के आत्मा थे, वैदिक मन्त्र ही उनके शारीरिक अस्थि-विकार थे । देखनेमें उनका स्वरूप बड़ा ही सौम्य था ॥

वेदिस्कन्धो हविर्गन्धो हव्यकव्यादिवेगवान् ॥
प्राग्वंशकायो द्युतिमान् नानादीक्षाभिराचितः ।

यज्ञकी वेदी ही उनके कंधे, हविष्य सुगन्ध और हव्य-कव्य आदि उनके वेग थे । प्राग्वंश (यजमानगृह एवं पत्नीशाला) उनका शरीर कहा गया है । वे महान् तेजस्वी और अनेक प्रकारकी दीक्षाओंसे व्याप्त थे ॥

दक्षिणाहृदयो योगी महाशास्त्रमयो महान् ॥
उपाकर्मोष्ठरुचकः प्रवर्ग्यावर्तभूषणः ।

दक्षिणा उनके हृदयके स्थानमें थी, वे महान् योगी और महान् शास्त्रस्वरूप थे । प्रीतिकारक उपाकर्म उनके ओष्ठ और प्रवर्ग्य कर्म ही उनके रत्नोंके आभूषण थे ॥

छायापत्नीसहायो वै मणिशृङ्ग इवोच्छ्रितः ॥
एवं यज्ञवराहो वै भूत्वा विष्णुः सनातनः ।
महीं सागरपर्यन्तां सशैलवनकाननाम् ॥

एकार्णवजले भ्रष्टामेकार्णवगतः प्रभुः ।
मज्जितां सलिले तस्मिन् स्वदेवीं पृथिवीं तदा ॥
उज्जहार विषाणेन मार्कण्डेयस्य पश्यतः ।

जलमें पड़नेवाली छाया (परछाईं) ही पत्नीकी भाँति उनकी सहायिका थी। वे मणिमय पर्वत-शिखरकी भाँति ऊँचे जान पड़ते थे। इस प्रकार यज्ञमय वराहरूप धारण करके एकार्णवके जलमें प्रविष्ट हो सर्वशक्तिमान् सनातन भगवान् विष्णुने उस जलमें गिरकर डूबी हुई पर्वत, वन और समुद्रों-सहित अपनी महारानी भूदेवीका (दाढ़ या) सींगकी सहायतासे मार्कण्डेय मुनिके देखते-देखते उद्धार किया ॥

शृङ्गेणेमां समुद्धृत्य लोकानां हितकाम्यया ॥
सहस्रशीर्षो देवो हि निर्ममे जगतीं प्रभुः ।

सहस्रों मस्तकोंसे सुशोभित होनेवाले उन भगवान्ने सींग (या दाढ़) के द्वारा सम्पूर्ण जगत्के हितके लिये इस पृथ्वीका उद्धार करके उसे जगत्का एक सुदृढ़ आश्रय बना दिया ॥

एवं यज्ञवराहेण भूतभव्यभवात्मना ॥
उद्धृता पृथिवी देवी सागराम्बुधरा पुरा ।
निहता दानवाः सर्वे देवदेवेन विष्णुना ॥

इस प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमानस्वरूप भगवान् यज्ञवराहने समुद्रका जल हरण करनेवाली भूदेवीका पूर्वकालमें उद्धार किया था । उस समय उन देवाधिदेव विष्णुने समस्त दानवोंका संहार किया था ॥

वाराहः कथितो ह्येष नारसिंहमथो शृणु ।
यत्र भूत्वा मृगेन्द्रेण हिरण्यकशिपुर्हतः ॥

यह वराह अवतारका वृत्तान्त बतलाया गया । अब नृसिंहावतारका वर्णन सुनो, जिसमें नरसिंहरूप धारण करके भगवान्ने हिरण्यकशिपु नामक दैत्यका वध किया था ॥

दैत्येन्द्रो बलवान् राजन् सुरारिर्बलगर्वितः ।
हिरण्यकशिपुर्नाम आसीत् त्रैलोक्यकण्टकः ॥

राजन् ! प्राचीनकालमें देवताओंका शत्रु हिरण्यकशिपु समस्त दैत्योंका राजा था । वह बलवान् तो था ही, उसे अपने बलका घमंड भी बहुत था । वह तीनों लोकोंके लिये कण्टकरूप हो रहा था ॥

दैत्यानामादिपुरुषो वीर्यवान् धृतिमान् बली ।
प्रविश्य स वनं राजंश्चकार तप उत्तमम् ॥

पराक्रमी हिरण्यकशिपु धीर और बलवान् था । दैत्यकुलका आदिपुरुष वही था । राजन् ! उसने वनमें जाकर बड़ी भारी तपस्या की ॥

दशवर्षसहस्राणि शतानि दश पञ्च च ।
जपोपवासैस्तस्यासीत् स्थाणुर्मौनव्रतो दृढः ॥

साढ़े ग्यारह हजार वर्षोंतक पूर्वोक्त तपस्याके हेतुभूत जप और उपवासमें संलग्न रहनेसे वह ठूँठे काठके समान अविचल और दृढतापूर्वक मौनव्रतका पालन करनेवाला हो गया ॥

ततो दमशमाभ्यां च ब्रह्मचर्येण चानघ ।
ब्रह्मा प्रीतमनास्तस्य तपसा नियमेन च ॥

निष्पाप नरेश ! उसके इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह, ब्रह्मचर्य, तपस्या तथा शौच-संतोषादि नियमोंके पालनसे ब्रह्माजीके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

ततः स्वयम्भूर्भगवान् स्वयमागम्य भूपते ।
विमानेनार्कवर्णेन हंसयुक्तेन भास्वता ॥

भूपाल ! तदनन्तर स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा हंस जुते हुए सूर्यके समान तेजस्वी विमानद्वारा स्वयं वहाँ पधारे ॥

आदित्यैर्वसुभिः साध्यैः मरुद्भिर्दैवतैः सह ।
रुद्रैर्विश्वसहायैश्च यक्षराक्षसकिंनरैः ॥
दिशाभिर्विदिशाभिश्च नदीभिः सागरैस्तथा ।
नक्षत्रैश्च मुहूर्तैश्च खेचरैश्चापरैर्ग्रहैः ॥
देवर्षिभिस्तपोयुक्तैः सिद्धैः सप्तर्षिभिस्तथा ।
राजर्षिभिः पुण्यतमैर्गन्धर्वैरप्सरोगणैः ॥

उनके साथ आदित्य, वसु, साध्य, मरुद्गण, देवगण, रुद्रगण, विश्वेदेव, यक्ष, राक्षस, किंनर, दिशा, विदिशा, नदी, समुद्र, नक्षत्र, मुहूर्त, अन्यान्य आकाशचारी ग्रह, तपस्वी, देवर्षि, सिद्ध, सप्तर्षि, पुण्यात्मा राजर्षि, गन्धर्व तथा अप्सराएँ भी थीं ॥

चराचरगुरुः श्रीमान् वृतः सर्वसुरैस्तथा ।
ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो दैत्यमागम्य चाब्रवीत् ॥

सम्पूर्ण देवताओंसे घिरे हुए ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ चराचर-गुरु श्रीमान् ब्रह्मा उस दैत्यके पास आकर बोले ॥

ब्रह्मोवाच

प्रीतोऽस्मि तव भक्तस्य तपसानेन सुव्रत ।
वरं वरय भद्रं ते यथेष्टं काममाप्नुहि ॥

ब्रह्माजीने कहा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले दैत्यराज ! तुम मेरे भक्त हो । तुम्हारी इस तपस्यासे मैं बहुत प्रसन्न हूँ । तुम्हारा भला हो । तुम कोई वर माँगो और मनोवाञ्छित वस्तु प्राप्त करो ॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

न देवासुरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः ।
न मानुषाः पिशाचाश्च हन्युर्मां देवसत्तम ॥

हिरण्यकशिपु बोला—सुरश्रेष्ठ ! मुझे देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, नाग, राक्षस, मनुष्य और पिशाच—कोई भी न मार सके ॥

ऋषयो वा न मां शापैः क्रुद्धा लोकपितामह ।
शपेयुस्तपसा युक्ता वर एष वृतो मया ॥

लोकपितामह ! तपस्वी ऋषि-महर्षि कुपित होकर मुझे शाप भी न दें यही वर मैंने माँगा है ॥

न शस्त्रेण न चास्त्रेण गिरिणा पादपेन च ।
न शुष्केण न चार्द्रेण स्यान्न चान्येन मे वधः ॥

न शस्त्रसे, न अस्त्रसे, न पर्वतसे, न वृक्षसे, न सूखेसे, न

गीलेसे और न दूसरे ही किसी आयुधसे मेरा वध हो ॥

नाकाशे वा न भूमौ वा रात्रौ वा दिवसेऽपि वा ।
नान्तर्वा न बहिर्वापि स्याद् वधो मे पितामह ॥

पितामह ! न आकाशमें, न पृथ्वीपर, न रातमें, न दिनमें तथा न बाहर और न भीतर ही मेरा वध हो सके ॥

पशुभिर्वा मृगैर्न स्यात् पक्षिभिर्वा सरीसृपैः ।
ददासि चेद् वरानेतान् देवदेव वृणोम्यहम् ॥

पशु या मृग, पक्षी अथवा सरीसृप (सर्प-बिच्छू) आदिसे भी मेरी मृत्यु न हो । देवदेव ! यदि आप वर दे रहे हैं तो मैं इन्हीं वरोंको लेना चाहता हूँ ॥

ब्रह्मोवाच

एते दिव्या वरास्तात मया दत्तास्तवाद्भुताः ।
सर्वकामान् वरांस्तात प्राप्स्यसे त्वं न संशयः ॥

ब्रह्माजीने कहा—तात ! ये दिव्य और अद्भुत वर मैंने तुम्हें दे दिये । वत्स ! इसमें संशय नहीं कि सम्पूर्ण कामनाओंसहित इन मनोवाञ्छित वरोंको तुम अवश्य प्राप्त कर लोगे ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स भगवानाकाशेन जगाम ह ।
रराज ब्रह्मलोके स ब्रह्मर्षिगणसेवितः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर भगवान् ब्रह्मा आकाशमार्गसे चले गये और ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्मर्षिगणोंसे सेवित होकर अत्यन्त शोभा पाने लगे ॥

ततो देवाश्च नागाश्च गन्धर्वा मुनयस्तथा ।
वरप्रदानं श्रुत्वा ते ब्रह्माणमुपतस्थिरे ॥

तदनन्तर देवता, नाग, गन्धर्व और मुनि उस वरदानका समाचार सुनकर ब्रह्माजीकी सभामें उपस्थित हुए ॥

देवा ऊचुः

वरेणानेन भगवन् बाधिष्यति स नोऽसुरः ।
तत् प्रसीदस्व भगवन् वधोऽस्य प्रविचिन्त्यताम् ॥

देवता बोले—भगवन् ! इस वरके प्रभावसे वह असुर हमलोगोंको बहुत कष्ट देगा, अतः आप प्रसन्न होइये और उसके वधका कोई उपाय सोचिये ॥

भवान् हि सर्वभूतानां स्वयम्भूरादिकृद् विभुः ।
स्रष्टा च हव्यकव्यानामव्यक्तप्रकृतिर्ध्रुवः ॥

क्योंकि आप ही सम्पूर्ण भूतोंके आदि स्रष्टा, स्वयम्भू, सर्वव्यापी, हव्य-कव्यके निर्माता तथा अव्यक्त प्रकृति और ध्रुवस्वरूप हैं ॥

भीष्म उवाच

ततो लोकहितं वाक्यं श्रुत्वा देवः प्रजापतिः ।
प्रोवाच भगवान् वाक्यं सर्वदेवगणांस्तदा ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! देवताओंका यह लोकहितकारी वचन सुनकर दिव्यशक्तिसम्पन्न भगवान् प्रजापतिने उन सब देवगणोंसे इस प्रकार कहा ॥

ब्रह्मोवाच

अवश्यं त्रिदशास्तेन प्राप्तव्यं तपसः फलम् ।
तपसोऽन्तेऽस्य भगवान् वधं कृष्णः करिष्यति ॥

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ ! उस असुरको अपनी तपस्याका फल अवश्य प्राप्त होगा । फलभोगके द्वारा जब तपस्याकी समाप्ति हो जायगी, तब भगवान् विष्णु स्वयं ही उसका वध करेंगे ॥

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा सुराः सर्वे ब्रह्मणा तस्य वै वधम् ।
स्वानि स्थानानि दिव्यानि जग्मुस्ते वै मुदान्विताः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ब्रह्माजीके द्वारा इस प्रकार उसके वधकी बात सुनकर सब देवता प्रसन्नतापूर्वक अपने दिव्य धामको चले गये ॥

लब्धमात्रे वरे चापि सर्वास्ता बाधते प्रजाः ।
हिरण्यकशिपुर्दैत्यो वरदानेन दर्पितः ॥

दैत्य हिरण्यकशिपु ब्रह्माजीका वर पाते ही समस्त प्रजाको कष्ट पहुँचाने लगा । वरदानसे उसका घमण्ड बहुत बढ़ गया था ॥

राज्यं चकार दैत्येन्द्रो दैत्यसङ्घैः समावृतः ।
सप्त द्वीपान्वशे चक्रे लोकान् लोकान्तरान् बलात् ॥

वह दैत्योंका राजा होकर राज्य भोगने लगा । झुंड-के-झुंड दैत्य उसे घेरे रहते थे । उसने सातों द्वीपों और अनेक लोक-लोकान्तरोंको बलपूर्वक अपने वशमें कर लिया ॥

दिव्यलोकान् समस्तान् वै भोगान् दिव्यानवाप सः ।
देवांस्त्रिभुवनस्थांस्तान् पराजित्य महासुरः ॥

उस महान् असुरने तीनों लोकोंमें रहनेवाले समस्त देवताओंको जीतकर सम्पूर्ण दिव्य लोकों और वहाँके दिव्य भोगोंपर अधिकार प्राप्त कर लिया ॥

त्रैलोक्यं वशमानीय स्वर्गे वसति दानवः ।
यदा वरमदोन्मत्तो न्यवसद् दानवो दिवि ॥

इस प्रकार तीनों लोकोंको अपने अधीन करके वह दैत्य स्वर्गलोकमें निवास करने लगा । वरदानके मदसे उन्मत्त हो दानव हिरण्यकशिपु देवलोकका निवासी बन बैठा ॥

अथ लोकान् समस्तांश्च विजित्य स महासुरः ।
भवेयमहमेवेन्द्रः सोमोऽग्निर्मारुतो रविः ॥
सलिलं चान्तरिक्षं च नक्षत्राणि दिशो दश ।
अहं क्रोधश्च कामश्च वरुणो वसवोऽर्यमा ॥
धनदश्च धनाध्यक्षो यक्षः किम्पुरुषाधिपः ।
एते भवेयमित्युक्त्वा स्वयं भूत्वा बलात् स च ॥

तदनन्तर वह महान् असुर अन्य समस्त लोकोंको जीतकर यह सोचने लगा कि मैं ही इन्द्र हो जाऊँ, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, सूर्य, जल, आकाश, नक्षत्र, दसों दिशाएँ, क्रोध, काम, वरुण, वसुगण, अर्यमा, धन देनेवाले धनाध्यक्ष, यक्ष और किम्पुरुषोंका स्वामी—ये सब मैं ही हो जाऊँ ।

ऐसा सोचकर उसने स्वयं ही बलपूर्वक उन-उन पदोंपर अधिकार जमा लिया ॥

तेषां गृहीत्वा स्थानानि तेषां कार्याण्यवाप सः ।
इज्यश्चासीन्मखवरैः स तैर्देवर्षिसत्तमैः ॥
नरकस्थान् समानीय स्वर्गस्थांस्तांश्चकार सः ।
एवमादीनि कर्माणि कृत्वा दैत्यपतिर्बली ॥
आश्रमेषु महाभागान् मुनीन् वै संशितव्रतान् ।
सत्यधर्मपरान् दान्तान् पुरा धर्षितवांश्च सः ॥

उनके स्थान ग्रहण करके उन सबके कार्य वह स्वयं देखने लगा। उत्तम देवर्षिगण श्रेष्ठ यज्ञोंद्वारा जिन देवताओंका यजन करते थे, उन सबके स्थानपर वह स्वयं ही यज्ञभागका अधिकारी बन बैठा। नरकमें पड़े हुए सब जीवोंको वहाँसे निकालकर उसने स्वर्गका निवासी बना दिया। बलवान् दैत्यराजने ये सब कार्य करके मुनियोंके आश्रमोंपर धावा किया और कठोर व्रतका पालन करनेवाले, सत्यधर्मपरायण एवं जितेन्द्रिय महाभाग मुनियोंको सताना आरम्भ किया ॥

यज्ञीयान् कृतवान् दैत्यानयज्ञीयांश्च देवताः ।
यत्र यत्र सुरा जग्मुस्तत्र तत्र व्रजत्युत ॥
स्थानानि देवतानां तु हृत्वा राज्यमपालयत् ।

उसने दैत्योंको यज्ञका अधिकारी बनाया और देवताओं-को उस अधिकारसे वञ्चित कर दिया। जहाँ-जहाँ देवता जाते थे, वहाँ-वहाँ वह उनका पीछा करता था। देवताओंके सारे स्थान हड़पकर वह स्वयं ही त्रिलोकीके राज्यका पालन करने लगा ॥

पञ्च कोट्यश्च वर्षाणि नियुतान्येकषष्टि च ॥
षष्टिश्चैव सहस्राणां जग्मुस्तस्य दुरात्मनः ।
एतद् वर्षं स दैत्येन्द्रो भोगैश्वर्यमवाप सः ॥

उस दुरात्माके राज्य करते पाँच करोड़ इकसठ लाख साठ हजार वर्ष व्यतीत हो गये। इतने वर्षोंतक दैत्यराज हिरण्यकशिपुने दिव्य भोगों और ऐश्वर्यका उपभोग किया ॥

तेनातिबाध्यमानास्ते दैत्येन्द्रेण बलीयसा ।
ब्रह्मलोकं सुरा जग्मुः सर्वे शक्रपुरोगमाः ॥
पितामहं समासाद्य खिन्नाः प्राञ्जलयोऽब्रुवन् ।

महाबली दैत्यराज हिरण्यकशिपुके द्वारा अत्यन्त पीड़ित हो इन्द्र आदि सब देवता ब्रह्मलोकमें गये और ब्रह्माजीके पास पहुँचकर खेदग्रस्त हो हाथ जोड़कर बोले ॥

देवा ऊचुः

भगवन् भूतभव्येश नस्त्रायस्व इहागतान् ।
भयं दितिसुताद् घोरं भवत्यद्य दिवानिशम् ॥

देवताओंने कहा—भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी भगवान् पितामह! हम यहाँ आपकी शरणमें आये हैं। आप हमारी रक्षा कीजिये। अब हमें उस दैत्यसे दिन-रात घोर भयकी प्राप्ति हो रही है ॥

भगवन् सर्वभूतानां स्वयम्भूरादिकृद् विभुः ।
स्रष्टा त्वं हव्यकव्यानामव्यक्तप्रकृतिर्ध्रुवः ॥

भगवन्! आप सम्पूर्ण भूतोंके आदिस्रष्टा, स्वयम्भू, सर्वव्यापी, हव्य-कव्योंके निर्माता, अव्यक्त प्रकृति एवं नित्य स्वरूप हैं ॥

ब्रह्मोवाच

श्रूयतामापदेवं हि दुर्विज्ञेया मयापि च ।
नारायणस्तु पुरुषो विश्वरूपो महाद्युतिः ॥
अव्यक्तः सर्वभूतानामचिन्त्यो विभुरव्ययः ।

ब्रह्माजी बोले—देवताओ! सुनो, ऐसी विपत्तिको समझना मेरे लिये भी अत्यन्त कठिन है। अन्तर्यामी भगवान् नारायण ही हमारी सहायता कर सकते हैं। वे विश्वरूप, महातेजस्वी, अव्यक्तस्वरूप, सर्वव्यापी, अविनाशी तथा सम्पूर्ण भूतोंके लिये अचिन्त्य हैं ॥

ममापि स तु युष्माकं व्यसने परमा गतिः ॥
नारायणः परोऽव्यक्तादहमव्यक्तसम्भवः ।

संकटकालमें मेरे और तुम्हारे वे ही परम गति हैं। भगवान् नारायण अव्यक्तसे परे हैं और मेरा आविर्भाव अव्यक्त-से हुआ है ॥

मत्तो जज्ञुः प्रजा लोकाः सर्वे देवासुराश्च ते ॥
देवा यथाहं युष्माकं तथा नारायणो मम ।
पितामहोऽहं सर्वस्य स विष्णुः प्रपितामहः ॥
तमिमं विबुधा दैत्यं स विष्णुः संहरिष्यति ।
तस्य नास्ति ह्यशक्यं च तस्माद् व्रजत मा चिरम् ॥

मुझसे समस्त प्रजा, सम्पूर्ण लोक तथा देवता और असुर भी उत्पन्न हुए हैं। देवताओ! जैसे मैं तुमलोगोंका जनक हूँ, उसी प्रकार भगवान् नारायण मेरे जनक हैं। मैं सबका पितामह हूँ और वे भगवान् विष्णु प्रपितामह हैं। देवताओ! इस हिरण्यकशिपु नामक दैत्यका वे विष्णु ही संहार करेंगे। उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है, अतः सब लोग उन्हींकी शरणमें जाओ, विलम्ब न करो ॥

भीष्म उवाच

पितामहवचः श्रुत्वा सर्वे ते भरतर्षभ ।
विबुधा ब्रह्मणा सार्धं जग्मुः क्षीरोदधिं प्रति ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! पितामह ब्रह्माका यह वचन सुनकर सब देवता उनके साथ ही क्षीरसमुद्रके तटपर गये ॥

आदित्या मरुतः साध्या विश्वे च वसवस्तथा ।
रुद्रा महर्षयश्चैव अश्विनौ च सुरूपिणौ ॥
अन्ये च दिव्या ये राजंस्ते सर्वे सगणाः सुराः ।
चतुर्मुखं पुरस्कृत्य श्वेतद्वीपमुपस्थिताः ॥

आदित्य, मरुद्गण, साध्य, विश्वेदेव, वसु, रुद्र, महर्षि, सुन्दर रूपवाले अश्विनीकुमार तथा अन्यान्य जो दिव्य योनिके पुरुष हैं, वे सब अर्थात् अपने गणोंसहित समस्त देवता

चतुर्मुख ब्रह्माजीको आगे करके श्वेतद्वीपमें उपस्थित हुए ॥

गत्वा क्षीरसमुद्रं तं शाश्वतीं परमां गतिम् ।
अनन्तशयनं देवमनन्तं दीप्ततेजसम् ॥
शरण्यं त्रिदशा विष्णुमुपतस्थुः सनातनम् ।
देवं ब्रह्ममयं यज्ञं ब्रह्मदेवं महाबलम् ॥
भूतं भव्यं भविष्यच्च प्रभुं लोकनमस्कृतम् ।
नारायणं विभुं देवं शरण्यं शरणं गताः ॥

क्षीरसमुद्रके तटपर पहुँचकर सब देवता अनन्त नामक शेषनागकी शय्यापर शयन करनेवाले अनन्त एवं उद्दीप्त तेजसे प्रकाशमान उन शरणागतवत्सल सनातन देवता श्रीविष्णुके सम्मुख उपस्थित हुए, जो सबके सनातन परम गति हैं। वे प्रभु देवस्वरूप, वेदमय, यज्ञरूप, ब्राह्मणको देवता माननेवाले, महान् बल और पराक्रमके आश्रय, भूत, वर्तमान और भविष्यरूप, सर्वसमर्थ, विश्ववन्दित, सर्वव्यापी, दिव्य शक्तिसम्पन्न तथा शरणागतरक्षक हैं। वे सब देवता उन्हीं भगवान् नारायणकी शरणमें गये ॥

देवा ऊचुः

त्रायस्व नोऽद्य देवेश हिरण्यकशिपोर्वधात् ।
त्वं हि नः परमो धाता ब्रह्मादीनां सुरोत्तम ॥

देवता बोले—देवेश्वर ! आज आप हिरण्यकशिपुका वध करके हमारी रक्षा कीजिये । सुरश्रेष्ठ ! आप ही हमारे और ब्रह्मा आदिके भी धारण-पोषण करनेवाले परमेश्वर हैं ॥

उत्फुल्लपद्मपत्राक्ष शत्रुपक्षभयङ्कर ।
क्षयाय दितिवंशस्य शरण्यस्त्वं भवाद्य नः ॥

खिले हुए कमलदलके समान नेत्रोंवाले नारायण ! आप शत्रुपक्षको भय प्रदान करनेवाले हैं। प्रभो ! आज आप दैत्योंका विनाश करनेके लिये उद्यत हो हमारे शरणदाता होइये ॥

भीष्म उवाच

देवानां वचनं श्रुत्वा तदा विष्णुः शुचिश्रवाः ।
अदृश्यः सर्वभूतानां वक्तुमेवोपचक्रमे ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! देवताओंकी यह बात सुनकर पवित्र कीर्तिवाले भगवान् विष्णुने उस समय सम्पूर्ण भूतोंसे अदृश्य रहकर बोलना आरम्भ किया ॥

श्रीभगवानुवाच

भयं त्यजध्वममरा अभयं वो ददाम्यहम् ।
तदेवं त्रिदिवं देवाः प्रतिपद्यत मा चिरम् ॥

श्रीभगवान् बोले—देवताओ ! भय छोड़ दो। मैं तुम्हें अभय देता हूँ। देवगण ! तुमलोग अविलम्ब स्वर्गलोकमें जाओ और पहलेकी ही भाँति वहाँ निर्भय होकर रहो।

एषोऽहं सगणं दैत्यं वरदानेन दर्पितम् ।
अवध्यममरेन्द्राणां दानवेन्द्रं निहन्म्यहम् ।

मैं वरदान पाकर घमंडमें भरे हुए दानवराज हिरण्यकशिपुको, जो देवेश्वरोंके लिये भी अवध्य हो रहा है, सेवकोंसहित अभी मार डालता हूँ ॥

ब्रह्मोवाच

भगवन् भूतभव्येश खिन्ना ह्येते भृशं सुराः ।
तस्मात् त्वं जहि दैत्येन्द्रं क्षिप्रं कालोऽस्य मा चिरम् ॥

ब्रह्माजीने कहा—भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी नारायण ! ये देवता बहुत दुखी हो गये हैं, अतः आप दैत्यराज हिरण्यकशिपुको शीघ्र मार डालिये। उसकी मृत्युका समय आ गया है, इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये ॥

श्रीभगवानुवाच

क्षिप्रं देवाः करिष्यामि त्वरया दैत्यनाशनम् ।
तस्मात् त्वं विबुधाश्चैव प्रतिपद्यत वै दिवम् ॥

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्मा तथा देवताओ ! मैं शीघ्र ही उस दैत्यका नाश करूँगा, अतः तुम सब लोग अपने-अपने दिव्यलोकमें जाओ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् विसृज्य त्रिदिवेश्वरान् ।
नरस्यार्धतनुं कृत्वा सिंहस्यार्धतनुं तथा ॥
नारसिंहेन वपुषा पाणिं निष्पिष्य पाणिना ।
भीमरूपो महातेजा व्यादितास्य इवान्तकः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर भगवान् विष्णुने देवेश्वरोंको विदा करके आधा शरीर मनुष्यका और आधा सिंहका-सा बनाकर नरसिंहविग्रह धारण करके एक हाथसे दूसरे हाथको रगड़ते हुए बड़ा भयंकर रूप बना लिया। वे महातेजस्वी नरसिंह मुँह बाये हुए कालके समान जान पड़ते थे ॥

हिरण्यकशिपुं राजन् जगाम हरिरीश्वरः ।
दैत्यास्तमागतं दृष्ट्वा नारसिंहं महाबलम् ॥
ववर्षुः शस्त्रवर्षैस्ते सुसंक्रुद्धास्तदा हरिम् ।

राजन् ! तदनन्तर भगवान् विष्णु हिरण्यकशिपुके पास गये। नृसिंहरूपधारी महाबली भगवान् श्रीहरिको आया देख दैत्योंने कुपित होकर उनपर अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा आरम्भ की ॥

तैर्विसृष्टानि शस्त्राणि भक्षयामास वै हरिः ॥
जघान च रणे दैत्यान् सहस्राणि बहून्यपि ।

उनके द्वारा चलाये हुए सभी शस्त्रोंको भगवान् खा गये, साथ ही उन्होंने उस युद्धमें कई हजार दैत्योंका संहार कर डाला ॥

तान् निहत्य च दैत्येन्द्रान् सर्वान् क्रुद्धान् महाबलान्॥
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धो दैत्येन्द्रं बलगर्वितम् ।

क्रोधमें भरे हुए उन सभी महाबलवान् दैत्येश्वरोंका विनाश करके अत्यन्त कुपित हो भगवान्ने बलोन्मत्त दैत्यराज हिरण्यकशिपुपर धावा किया ॥

जीमूतघनसंकाशो जीमूतघननिस्वनः ॥
जीमूत इव दीप्तौजा जीमूत इव वेगवान् ।

भगवान् नृसिंहकी अङ्गकान्ति मेघोंकी घटाके समान श्याम थी। वे मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके समान दहाड़

रहे थे। उनका उद्दीप्त तेज भी मेघोंके ही समान शोभा पाता था और वे मेघोंके ही समान महान् वेगशाली थे ॥

देवारिर्दितिजो दुष्टो नृसिंहं समुपाद्रवत् ॥

भगवान् नृसिंहको आया देख देवताओंसे द्वेष रखनेवाला दुष्ट दैत्य हिरण्यकशिपु उनकी ओर दौड़ा ॥

दैत्यं सोऽतिबलं दृष्ट्वा क्रुद्धशार्दूलविक्रमम् ।
दीप्तैर्दैत्यगणैर्गुप्तं खरैर्नखमुखैरुत ॥
ततः कृत्वा तु युद्धं वै तेन दैत्येन वै हरिः ।

कुपित सिंहके समान पराक्रमी उस अत्यन्त बलशाली, दर्पयुक्त एवं दैत्यगणोंसे सुरक्षित दैत्यको सामने आया देख महातेजस्वी भगवान् नृसिंहने नखोंके तीखे अग्रभागोंके द्वारा उस दैत्यके साथ घोर युद्ध किया ॥

संध्याकाले महातेजाः प्रघाणे च त्वरान्वितः ॥
ऊरौ निधाय दैत्येन्द्रं निर्बिभेद नखैर्हि तम् ।

फिर संध्याकाल आनेपर बड़ी उतावलीके साथ उसे पकड़कर वे राजभवनकी देहलीपर बैठ गये। तदनन्तर उन्होंने अपनी जाँघोंपर दैत्यराजको रखकर नखोंसे उसका वक्षःस्थल विदीर्ण कर डाला ॥

महाबलं महावीर्यं वरदानेन दर्पितम् ॥
दैत्यश्रेष्ठं सुरश्रेष्ठो जघान तरसा हरिः ।

सुरश्रेष्ठ श्रीहरिने वरदानसे घमंडमें भरे हुए महाबली महापराक्रमी दैत्यराजको बड़े वेगसे मार डाला ॥

हिरण्यकशिपुं हत्वा सर्वदैत्यांश्च वै तदा ॥
विबुधानां प्रजानां च हितं कृत्वा महाद्युतिः ।
प्रमुमोद हरिर्देवः स्थाप्य धर्मं तदा भुवि ॥

इस प्रकार हिरण्यकशिपु तथा उसके अनुयायी सब दैत्योंका संहार करके महातेजस्वी भगवान् श्रीहरिने देवताओं तथा प्रजाजनोंका हितसाधन किया और इस पृथ्वीपर धर्मकी स्थापना करके वे बड़े प्रसन्न हुए ॥

एष ते नारसिंहोऽत्र कथितः पाण्डुनन्दन ।
शृणु त्वं वामनं नाम प्रादुर्भावं महात्मनः ॥

पाण्डुनन्दन! यह मैंने तुम्हें संक्षेपसे नृसिंहावतारकी कथा सुनायी है। अब तुम परमात्मा श्रीहरिके वामन-अवतारका वृत्तान्त सुनो ॥

पुरा त्रेतायुगे राजन् बलिर्वैरोचनोऽभवत् ।
दैत्यानां पार्थिवो वीरो बलेनाप्रतिमो बली ॥

राजन्! प्राचीन त्रेतायुगकी बात है; विरोचनकुमार बलि दैत्योंके राजा थे। बलमें उनके समान दूसरा कोई नहीं था। बलि अत्यन्त बलवान् होनेके साथ ही महान् वीर भी थे ॥

तदा बलिर्महाराज दैत्यसङ्घैः समावृतः ।
विजित्य तरसा शक्रमिन्द्रस्थानमवाप सः ॥

महाराज! दैत्यसमूहसे घिरे हुए बलिने बड़े वेगसे इन्द्रपर आक्रमण किया और उन्हें जीतकर इन्द्रलोकपर अधिकार प्राप्त कर लिया ॥

तेन वित्रासिता देवा बलिनाऽऽखण्डलादयः ।
ब्रह्माणं तु पुरस्कृत्य गत्वा क्षीरोदधिं तदा ॥
तुष्टुवुः सहिताः सर्वे देवं नारायणं प्रभुम् ।

राजा बलिके आक्रमणसे अत्यन्त त्रस्त हुए इन्द्र आदि देवता ब्रह्माजीको आगे करके क्षीरसागरके तटपर गये और सबने मिलकर देवाधिदेव भगवान् नारायणका स्तवन किया ॥

स तेषां दर्शनं चक्रे विबुधानां हरिः स्तुतः ॥
प्रसादजं ह्यस्य विभोरदित्यां जन्म चोच्यते ।

देवताओंके स्तुति करनेपर श्रीहरिने उन्हें दर्शन दिया और कहा जाता है, उनपर कृपाप्रसाद करनेके फलस्वरूप भगवान्‌का अदितिके गर्भसे प्रादुर्भाव हुआ ॥

अदितेरपि पुत्रत्वमेत्य यादवनन्दनः ॥
एष विष्णुरिति ख्यात इन्द्रस्यावरजोऽभवत् ।

जो इस समय यदुकुलको आनन्दित कर रहे हैं, ये ही भगवान् श्रीकृष्ण पहले अदितिके पुत्र होकर इन्द्रके छोटे भाई विष्णु (या उपेन्द्र) के नामसे विख्यात हुए ॥

तस्मिन्नेव च काले तु दैत्येन्द्रो वीर्यवान् बलिः ॥
अश्वमेधं क्रतुश्रेष्ठमाहर्तुमुपचक्रमे ।

उन्हीं दिनों महापराक्रमी दैत्यराज बलिने क्रतुश्रेष्ठ अश्वमेधके अनुष्ठानकी तैयारी आरम्भ की ॥

वर्तमाने तदा यज्ञे दैत्येन्द्रस्य युधिष्ठिर ॥
स विष्णुर्वामनो भूत्वा प्रच्छन्नो ब्रह्मवेषधृक् ।
मुण्डो यज्ञोपवीती च कृष्णाजिनधरः शिखी ॥
पलाशदण्डं संगृह्य वामनोऽद्भुतदर्शनः ।
प्रविश्य स बलेर्यज्ञे वर्तमाने तु दक्षिणाम् ॥
देहीत्युवाच दैत्येन्द्रं विक्रमांस्त्रीन् ममैव ह ।

युधिष्ठिर! जब दैत्यराजका यज्ञ आरम्भ हो गया, उस समय भगवान् विष्णु ब्राह्मणवेषधारी वामन ब्रह्मचारीके रूपमें अपनेको छिपाकर सिर मुँड़ाये, यज्ञोपवीत, काला मृगचर्म और शिखा धारण किये, हाथमें पलाशका डंडा लिये उस यज्ञमें गये। उस समय भगवान् वामनकी अद्भुत शोभा दिखायी देती थी। बलिके वर्तमान यज्ञमें प्रवेश करके उन्होंने दैत्यराजसे कहा—'मुझे तीन पग भूमि दक्षिणारूपमें दीजिये' ॥

दीयतां त्रिपदीमात्रमित्ययाचन्महासुरम् ॥
स तथेति प्रतिश्रुत्य प्रददौ विष्णवे तदा ।

'केवल तीन पग भूमि मुझे दे दीजिये' ऐसा कहकर उन्होंने महान् असुर बलिसे याचना की। बलिने भी 'तथास्तु' कहकर श्रीविष्णुको भूमि दे दी ॥

तेन लब्ध्वा हरिर्भूमिं जृम्भयामास वै भृशम् ।
स शिशुः सदिवं खं च पृथिवीं च विशाम्पते ॥
त्रिभिर्विक्रमणैरेतत् सर्वमाक्रमताभिभूः ।
बलेर्बलवतो यज्ञे बलिना विष्णुना पुरा ॥
विक्रमैस्त्रिभिरक्षोभ्याः क्षोभितास्ते महासुराः ।

बलिसे वह भूमि पाकर भगवान् विष्णु बड़े वेगसे बढ़ने लगे । राजन्! वे पहले तो बालक-जैसे लगते थे; किंतु उन्होंने बढ़कर तीन ही पगोंमें स्वर्ग, आकाश और पृथ्वी—सबको माप लिया । इस प्रकार बलवान् राजा बलिके यज्ञमें जब महाबली भगवान् विष्णुने केवल तीन पगोंद्वारा त्रिलोकीको नाप लिया, तब किसीसे भी क्षुब्ध न किये जा सकनेवाले महान् असुर क्षुब्ध हो उठे ॥

विप्रचित्तिमुखाः क्रुद्धा दैत्यसङ्घा महाबलाः ॥
नानावक्त्रा महाकाया नानावेषधरा नृप ।

राजन्! उनमें विप्रचित्ति आदि दानव प्रधान थे। क्रोधमें भरे हुए उन महाबली दैत्योंके समुदाय अनेक प्रकारके वेष धारण किये वहाँ उपस्थित थे । उनके मुख अनेक प्रकारके दिखायी देते थे । वे सब-के-सब विशालकाय थे ॥

नानाप्रहरणा रौद्रा नानामाल्यानुलेपनाः ॥
स्वान्यायुधानि संगृह्य प्रदीप्ता इव तेजसा ।
क्रममाणं हरिं तत्र उपावर्तन्त भारत ॥

उनके हाथोंमें भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र थे । उन्होंने विविध प्रकारकी मालाएँ तथा चन्दन धारण कर रक्खे थे । वे देखनेमें बड़े भयंकर थे और तेजसे मानो प्रज्वलित हो रहे थे । भरतनन्दन ! जब भगवान् विष्णुने तीनों लोकोंको मापना आरम्भ किया, उस समय सभी दैत्य अपने-अपने आयुध लेकर उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥

प्रमथ्य सर्वान् दैतेयान् पादहस्ततलैस्तु तान् ।
रूपं कृत्वा महाभीमं जहाराशु स मेदिनीम् ॥
सम्प्राप्य पादमाकाशमादित्यसदने स्थितः ।
अत्यरोचत भूतात्मा भास्करं स्वेन तेजसा ॥

भगवान्ने महाभयंकर रूप धारण करके उन सब दैत्योंको लातों-थप्पड़ोंसे मारकर भूमण्डलका सारा राज्य उनसे शीघ्र छीन लिया । उनका एक पैर आकाशमें पहुँचकर आदित्य-मण्डलमें स्थित हो गया । भूतात्मा भगवान् श्रीहरि उस समय अपने तेजसे सूर्यकी अपेक्षा बहुत बढ़-चढ़कर प्रकाशित हो रहे थे॥

प्रकाशयन् दिशः सर्वाः प्रदिशश्च महाबलः ।
शुशुभे स महाबाहुः सर्वलोकान् प्रकाशयन् ॥
तस्य विक्रमतो भूमिं चन्द्रादित्यौ स्तनान्तरे ।
नभः प्रक्रममाणस्य नाभ्यां किल तदा स्थितौ ।

महाबली महाबाहु भगवान् विष्णु सम्पूर्ण दिशाओं-विदिशाओं तथा समस्त लोकोंको प्रकाशित करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे । जिस समय वे वसुधाको अपने पैरोंसे माप रहे थे, उस समय वे इतने बढ़े कि चन्द्रमा और सूर्य उनकी छातीके सामने आ गये थे । जब वे आकाशको लाँघने लगे, तब वे ही चन्द्रमा और सूर्य उनके नाभिदेशमें आ गये ॥

परमाक्रममाणस्य जानुभ्यां तौ व्यवस्थितौ ॥
विष्णोरमितवीर्यस्य वदन्त्येवं द्विजातयः ।
अथासाद्य कपालं स अण्डस्य तु युधिष्ठिर ॥
तच्छिद्रात् स्यन्दिनी तस्य पादाद् भ्रष्टा तु निम्नगा ।
ससार सागरं साऽऽशु पावनी सागरङ्गमा ॥

जब वे आकाश या स्वर्गलोकसे भी ऊपरको पैर बढ़ाने लगे, उस समय उनका रूप इतना विशाल हो गया कि सूर्य और चन्द्रमा उनके घुटनोंमें स्थित दिखायी देने लगे। इस प्रकार ब्राह्मणलोग अमितपराक्रमी भगवान् विष्णुके उस विशाल रूपका वर्णन करते हैं । युधिष्ठिर ! भगवान्का पैर ब्रह्माण्ड-कपालतक पहुँच गया और उसके आघातसे कपालमें छिद्र हो गया, जिससे झर-झर करके एक नदी प्रकट हो गयी, जो शीघ्र ही नीचे उतरकर समुद्रमें जा मिली। सागरमें मिलनेवाली वह पावन सरिता ही गङ्गा है ॥

जहार मेदिनीं सर्वां हत्वा दानवपुङ्गवान् ।
आसुरीं श्रियमाहृत्य त्रींल्लोकान् स जनार्दनः ॥
सपुत्रदारानसुरान् पाताले तानपातयत् ।
नमुचिः शम्बरश्चैव प्रह्लादश्च महामनाः ॥
पादपाताभिनिर्धूताः पाताले विनिपातिताः ।
महाभूतानि भूतात्मा स विशेषेण वै हरिः ॥
कालं च सकलं राजन् गात्रभूतान्यदर्शयत् ।

भगवान् श्रीहरिने बड़े-बड़े दानवोंको मारकर सारी पृथ्वी उनके अधिकारसे छीन ली और तीनों लोकोंके साथ सारी आसुरी-सम्पदाका अपहरण करके उन असुरोंको स्त्री-पुत्रोंसहित पातालमें भेज दिया । नमुचि, शम्बर और महामना प्रह्लाद भगवान्के चरणोंके स्पर्शसे पवित्र हो गये। भगवान्ने उनको भी पातालमें भेज दिया । राजन् ! भूतात्मा भगवान् श्रीहरिने अपने श्रीअङ्गोंमें विशेषरूपसे पञ्चमहाभूतों तथा भूत, भविष्य और वर्तमान—सभी कालोंका दर्शन कराया ॥

तस्य गात्रे जगत् सर्वमानीतमिव दृश्यते ॥
न किंचिदस्ति लोकेषु यदव्याप्तं महात्मना ।
तद्धि रूपं महेशस्य देवदानवमानवाः ॥
दृष्ट्वा तं मुमुहुः सर्वे विष्णुतेजोऽभिपीडिताः ।

उनके शरीरमें सारा संसार इस प्रकार दिखायी देता था, मानो उसमें लाकर रख दिया गया हो । संसारमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो उन परमात्मासे व्याप्त न हो । परमेश्वर भगवान् विष्णुके उस रूपको देखकर उनके तेजसे तिरस्कृत हो देवता, दानव और मानव सभी मोहित हो गये ॥

बलिर्बद्धोऽभिमानी च यज्ञवाटे महात्मना ॥
विरोचनकुलं सर्वं पाताले विनिपातितम् ॥

अभिमानी राजा बलिको भगवान्ने यज्ञमण्डपमें ही बाँध लिया और विरोचनके समस्त कुलको स्वर्गसे पातालमें भेज दिया॥

एवंविधानि कर्माणि कृत्वा गरुडवाहनः ।
न विस्मयमुपागच्छत् पारमेष्ठ्येन तेजसा ॥

गरुडवाहन भगवान् विष्णुको अपने परमेश्वरीय तेजसे उपर्युक्त कर्म करके भी अहंकार नहीं हुआ ॥

स सर्वममरैश्वर्यं सम्प्रदाय शचीपतेः।
त्रैलोक्यं च ददौ शक्रे विष्णुर्दानवसूदनः॥

दानवसूदन श्रीविष्णुने शचीपति इन्द्रको समस्त देवताओंका आधिपत्य देकर त्रिलोकीका राज्य भी उन्हें दे दिया ।

एष ते वामनो नाम प्रादुर्भावो महात्मनः।
वेदविद्भिर्द्विजैरेतत् कथ्यते वैष्णवं यशः॥
मानुषेषु यथा विष्णोः प्रादुर्भावं तथा शृणु॥

इस प्रकार परमात्मा श्रीहरिके वामन-अवतारका वृत्तान्त संक्षेपसे तुम्हें बताया गया। वेदवेत्ता ब्राह्मण भगवान् विष्णुके इस सुयशका वर्णन करते हैं। युधिष्ठिर ! अब तुम मनुष्योंमें श्रीहरिके जो अवतार हुए हैं, उनका वृत्तान्त सुनो ॥

विष्णोः पुनर्महाराज प्रादुर्भावो महात्मनः।
दत्तात्रेय इति ख्यात ऋषिरासीन्महायशाः॥

महाराज! अब मैं पुनः भगवान् विष्णुके दत्तात्रेय नामक अवतारका वर्णन करता हूँ। दत्तात्रेयजी महान् यशस्वी महर्षि थे।

तेन नष्टेषु वेदेषु क्रियासु च मखेषु च।
चातुर्वर्ण्ये च संकीर्णे धर्मे शिथिलतां गते॥
अभिवर्धति चाधर्मे सत्ये नष्टे स्थितेऽनृते।
प्रजासु क्षीयमाणासु धर्मे चाकुलतां गते॥
सयज्ञाः सक्रिया वेदाः प्रत्यानीताश्च तेन वै।
चातुर्वर्ण्यमसंकीर्णं कृतं तेन महात्मना॥
स एव वै यदा प्रादाद्धैहयाधिपतेर्वरम्।
तं हैहयानामधिपस्त्वर्जुनोऽभिप्रसादयत्॥

एक समयकी बात है, सारे वेद नष्ट-से हो गये। वैदिक कर्मों और यज्ञ-यागादिकोंका लोप हो गया। चारों वर्ण एकमें मिल गये और सर्वत्र वर्णसंकरता फैल गयी। धर्म शिथिल हो गया एवं अधर्म दिनों-दिन बढ़ने लगा। सत्य दब गया और सब ओर असत्यने सिक्का जमा लिया। प्रजा क्षीण होने लगी और धर्मको अधर्मद्वारा हर तरहसे पीड़ा (हानि) पहुँचने लगी । ऐसे समयमें महात्मा दत्तात्रेयने यज्ञ और कर्मानुष्ठानकी विधिसहित सम्पूर्ण वेदोंका पुनरुद्धार किया और पुनः चारों वर्णोंको पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी मर्यादामें स्थापित किया। इन्होंने ही हैहयराज अर्जुनको वर प्रदान किया था। हैहयराज अर्जुनने अपनी सेवाओंद्वारा दत्तात्रेयजीको प्रसन्न कर लिया था ॥

वने पर्यचरत् सम्यक् शुश्रूषुरनसूयकः।
निर्ममो निरहंकारो दीर्घकालमतोषयत्॥
आराध्य दत्तात्रेयं हि अगृह्णात् स वरानिमान्।
आप्तादाप्ततराद् विप्राद् विद्वान् विद्वन्निषेवितात्॥
ऋतेऽमरत्वं विप्रेण दत्तात्रेयेण धीमता।
वरैश्चतुर्भिः प्रवृत इमांस्तत्राभ्यनन्दत॥

वह अच्छी तरह सेवामें संलग्न हो वनमें मुनिवर दत्तात्रेयकी परिचर्यामें लगा रहता था। उसने दूसरोंका दोष देखना छोड़ दिया था। वह ममता और अहङ्कारसे रहित था। उसने दीर्घकालतक दत्तात्रेयजीकी आराधना करके उन्हें संतुष्ट किया। दत्तात्रेयजी आप्त पुरुषोंसे भी बढ़कर आप्त पुरुष थे। बड़े-बड़े विद्वान् उनकी सेवामें रहते थे। विद्वान् सहस्रबाहु अर्जुनने उन ब्रह्मर्षिसे ये निम्नाङ्कित वर प्राप्त किये। अमरत्व छोड़कर उसके माँगे हुए सभी वर विद्वान् ब्राह्मण दत्तात्रेयजीने दे दिये। उसने चार वरोंके लिये महर्षिसे प्रार्थना की थी और उन चारोंका ही महर्षिने अभिनन्दन किया था ॥

श्रीमान् मनस्वी बलवान् सत्यवागनसूयकः।
सहस्रबाहुर्भूयासमेष मे प्रथमो वरः॥
जरायुजाण्डजं सर्वं सर्वं चैव चराचरम्।
प्रशास्तुमिच्छे धर्मेण द्वितीयस्त्वेष मे वरः॥

(वे वर इस प्रकार हैं—हैहयराज बोला—) 'मैं श्रीमान्, मनस्वी, बलवान्, सत्यवादी, अदोषदर्शी तथा सहस्र भुजाओंसे विभूषित होऊँ' यह मेरे लिये पहला वर है। 'मैं जरायुज और अण्डज जीवोंके साथ-साथ समस्त चराचर जगत्का धर्मपूर्वक शासन करना चाहता हूँ' मेरे लिये दूसरा वर यही हो ॥

पितॄन् देवानृषीन् विप्रान् यजेयं विपुलैर्मखैः।
अमित्रान् निशितैर्बाणैर्घातयेयं रणाजिरे॥
दत्तात्रेयेह भगवंस्तृतीयो वर एष मे।
यस्य नासीन्न भविता न चास्ति सदृशः पुमान्।
इह वा दिवि वा लोके स मे हन्ता भवेदिति॥

'मैं अनेक प्रकारके यज्ञोंद्वारा देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा ब्राह्मण अतिथियोंका यजन करूँ और जो लोग मेरे शत्रु हैं, उन्हें समराङ्गणमें तीखे बाणोंद्वारा मारकर यमलोक पहुँचा दूँ।' भगवन् दत्तात्रेय ! मेरे लिये यही तीसरा वर हो। 'जिसके समान इहलोक या स्वर्गलोकमें कोई पुरुष न था, न है और न होगा ही, वही मेरा वध करनेवाला हो' (यह मेरे लिये चौथा वर हो) ॥

सोऽर्जुनः कृतवीर्यस्य वरः पुत्रोऽभवद् युधि।
स सहस्रं सहस्राणां माहिष्मत्यामवर्धत॥

वह अर्जुन राजा कृतवीर्यका ज्येष्ठ पुत्र था और युद्धमें महान् शौर्यका परिचय देता था। उसने माहिष्मती नगरीमें दस लाख वर्षोंतक निरन्तर अभ्युदयशील होकर राज्य किया ॥

पृथिवीमखिलां जित्वा द्वीपांश्चापि समुद्रिणः।
नभसीव ज्वलन् सूर्यः पुण्यैः कर्मभिरर्जुनः॥

जैसे आकाशमें सूर्यदेव सदा प्रकाशमान होते हैं, उसी प्रकार कार्तवीर्य अर्जुन सारी पृथ्वी और समुद्री द्वीपोंको जीतकर इस भूतलपर अपने पुण्यकर्मोंसे प्रकाशित हो रहा था।

इन्द्रद्वीपं कशेरुं च ताम्रद्वीपं गभस्तिमत्।
गान्धर्वं वारुणं द्वीपं सौम्याक्षमिति च प्रभुः॥

पूर्वैरजितपूर्वांश्च द्वीपानजयदर्जुनः ॥
सौवर्णं सर्वमप्यासीद् विमानवरमुत्तमम् ।
चतुर्धा व्यभजद् राष्ट्रं तद् विभज्यान्वपालयत् ॥

शक्तिशाली सहस्रबाहुने इन्द्रद्वीप, कशेरुद्वीप, ताम्रद्वीप, गभस्तिमान् द्वीप, गन्धर्वद्वीप, वरुणद्वीप और सौम्याक्षद्वीपको, जिन्हें उसके पूर्वजोंने भी नहीं जीता था, जीतकर अपने अधिकारमें कर लिया। उसका श्रेष्ठ राजभवन बहुत ही सुन्दर और साराका सारा सुवर्णमय था। उसने अपने राज्यकी आयको चार भागोंमें बाँट रखा था और इस विभाजनके अनुसार ही वह प्रजाका पालन करता था ॥

एकांशेनाहरत् सेनामेकांशेनावसद् गृहान् ।
यस्तु तस्य तृतीयांशो राजाऽऽसीज्जनसंग्रहे ॥
आप्तः परमकल्याणस्तेन यज्ञानकल्पयत् ॥

वह उस आयके एक अंशके द्वारा सेनाका संग्रह और संरक्षण करता था, दूसरे अंशके द्वारा गृहस्थीका खर्च चलाता था तथा उसका जो तीसरा अंश था, उसके द्वारा राजा अर्जुन प्रजाजनोंकी भलाईके लिये यज्ञोंका अनुष्ठान करता था। वह सबका विश्वासपात्र और परम कल्याणकारी था ॥

ये दस्यवो ग्रामचरा अरण्ये च वसन्ति ये ।
चतुर्थेन च सोंऽशेन तान् सर्वान् प्रत्यषेधयत् ॥
सर्वेभ्यश्चान्तवासिभ्यः कार्तवीर्योऽहरद् बलिम् ।
आहृतं स्वबलैर्यत् तदर्जुनश्चाभिमन्यते ॥
काको वा मूषिको वापि तं तमेव न्यवर्हयत् ।
द्वाराणि नापिधीयन्ते राष्ट्रेषु नगरेषु च ॥

वह राजकीय आयके चौथे अंशके द्वारा गाँवों और जंगलोंमें डाकुओं और लुटेरोंको शासनपूर्वक रोकता था। कृतवीर्यकुमार अर्जुन उसी धनको अच्छा मानता था, जिसे उसने अपने बल-पराक्रमद्वारा प्राप्त किया हो। काक या मूषकवृत्तिसे जो लोग प्रजाके धनका अपहरण करते थे, उन सबको वह नष्ट कर देता था। उसके राज्यके भीतर गाँवों तथा नगरोंमें घरके दरवाजे बंद नहीं किये जाते थे ॥

स एव राष्ट्रपालोऽभूत् स्त्रीपालोऽभवदर्जुनः ।
स एवासीदजापालः स गोपालो विशाम्पते ॥

राजन् ! कार्तवीर्य अर्जुन ही समूचे राष्ट्रका पोषक, स्त्रियोंका संरक्षक, बकरियोंकी रक्षा करनेवाला तथा गौओंका पालक था ॥

स स्मारण्ये मनुष्याणां राजा क्षेत्राणि रक्षति ।
इदं तु कार्तवीर्यस्य बभूवासदृशं जनैः ॥

वही जंगलोंमें मनुष्योंके खेतोंकी रक्षा करता था। यह है कार्तवीर्यका अद्भुत कार्य, जिसकी मनुष्योंसे तुलना नहीं हो सकती ॥

न पूर्वे नापरे तस्य गमिष्यन्ति गतिं नृपाः ।
यदर्णवे प्रयातस्य वस्त्रं न परिषिच्यते ॥
शतं वर्षसहस्राणामनुशिष्यार्जुनो महीम् ।
दत्तात्रेयप्रसादेन एवं राज्यं चकार सः ॥

न पहलेका कोई राजा कार्तवीर्यकी किसी महत्ताको प्राप्त कर सका और न भविष्यमें ही कोई प्राप्त कर सकेगा। वह जब समुद्रमें चलता था, तब उसका वस्त्र नहीं भींगता था। राजा अर्जुन दत्तात्रेयजीके कृपाप्रसादसे लाखों वर्षतक पृथ्वीपर शासन करते हुए इस प्रकार राज्यका पालन करता रहा ॥

एवं बहूनि कर्माणि चक्रे लोकहिताय सः ।
दत्तात्रेय इति ख्यातः प्रादुर्भावस्तु वैष्णवः ॥
कथितो भरतश्रेष्ठ शृणु भूयो महात्मनः ॥
यदा भृगुकुले जन्म यदर्थं च महात्मनः ।
जामदग्न्य इति ख्यातः प्रादुर्भावस्तु वैष्णवः ॥

इस प्रकार उसने लोकहितके लिये बहुत-से कार्य किये। भरतश्रेष्ठ ! यह मैंने भगवान् विष्णुके दत्तात्रेय नामक अवतारका वर्णन किया। अब पुनः उन महात्माके अन्य अवतारका वर्णन सुनो। भगवान्‌का वह अवतार जामदग्न्य (परशुराम) के नामसे विख्यात है। उन्होंने किसलिये और कब भृगुकुलमें अवतार ग्रहण किया, वह प्रसंग बतलाता हूँ; सुनो ॥

जमदग्निसुतो राजन् रामो नाम स वीर्यवान् ।
हैहयान्तकरो राजन् स रामो बलिनां वरः ॥
कार्तवीर्यो महावीर्यो बलेनाप्रतिमस्तथा ।
रामेण जामदग्न्येन हतो विषममाचरन् ॥

महाराज युधिष्ठिर ! महर्षि जमदग्निके पुत्र परशुराम बड़े पराक्रमी हुए हैं। बलवानोंमें श्रेष्ठ परशुरामजीने ही हैहयवंशका संहार किया था। महापराक्रमी कार्तवीर्य अर्जुन बलमें अपना सानी नहीं रखता था; किंतु अपने अनुचित बर्तावके कारण जमदग्निनन्दन परशुरामके द्वारा मारा गया ॥

तं कार्तवीर्यं राजानं हैहयानामरिंदमम् ।
रथस्थं पार्थिवं रामः पातयित्वावधीद् रणे ॥

शत्रुसूदन हैहयराज कार्तवीर्य अर्जुन रथपर बैठा था, परंतु युद्धमें परशुरामजीने उसे नीचे गिराकर मार डाला ॥

जम्भस्य मूर्ध्नि भेत्ता च हन्ता च शतदुन्दुभेः ।
स एष कृष्णो गोविन्दो जातो भृगुषु वीर्यवान् ॥
सहस्रबाहुमुद्धर्तुं सहस्रजितमाहवे ॥
क्षत्रियाणां चतुष्षष्टिमयुतानां महायशाः ।
सरस्वत्यां समेतानि एष वै धनुषाजयत् ॥
ब्रह्मद्विषां वधे तस्मिन् सहस्राणि चतुर्दश ।
पुनर्जग्राह शूराणामन्तं चक्रे नरर्षभः ॥
ततो दशसहस्रस्य हन्ता पूर्वमरिंदमः ।
सहस्रं मुसलेनाहन् सहस्रमुदकृन्तत ॥

ये भगवान् गोविन्द ही पराक्रमी परशुरामरूपसे भृगुवंशमें अवतीर्ण हुए। ये ही जम्भासुरका मस्तक विदीर्ण करनेवाले तथा शतदुन्दुभिके घातक हैं। इन्होंने सहस्रोंपर विजय पानेवाले सहस्रबाहु अर्जुनका युद्धमें संहार करनेके लिये ही

अवतार लिया था। महायशस्वी परशुरामने केवल धनुषकी सहायतासे सरस्वती नदीके तटपर एकत्रित हुए छः लाख चालीस हजार क्षत्रियोंपर विजय पायी थी। वे सभी क्षत्रिय ब्राह्मणोंसे द्वेष करनेवाले थे। उनका वध करते समय नरश्रेष्ठ परशुरामने और भी चौदह हजार शूरवीरोंका अन्त कर डाला। तदनन्तर शत्रुदमन रामने दस हजार क्षत्रियोंका और वध किया। इसके बाद उन्होंने हजारों वीरोंको मूसलसे मारकर यमलोक पहुँचा दिया तथा सहस्रोंको फरसेसे काट डाला॥

चतुर्दश सहस्राणि क्षणमात्रमपातयत्।
शिष्टान् ब्रह्मद्विषश्छित्त्वा ततोऽस्नायत भार्गवः॥
राम रामेत्यभिक्रुष्टो ब्राह्मणैः क्षत्रियार्दितैः।
न्यघ्नद् दशसहस्राणि रामः परशुनाभिभूः॥

भृगुनन्दन परशुरामने चौदह हजार क्षत्रियोंको क्षणमात्रमें मार गिराया तथा शेष ब्रह्मद्रोहियोंका भी मूलोच्छेद करके स्नान किया। क्षत्रियोंसे पीड़ित होकर ब्राह्मणोंने 'राम-राम' कहकर आर्तनाद किया था; इसीलिये सर्वविजयी परशुरामने पुनः फरसेसे दस हजार क्षत्रियोंका अन्त किया॥

न ह्यमृष्यत तां वाचमार्तैर्भृशमुदीरिताम्।
भृगो रामाभिधावेति यदाक्रन्दन् द्विजातयः॥

जिस समय द्विजलोग 'भृगुनन्दन परशुराम! दौड़ो, बचाओ' इत्यादि बातें कहकर करुणक्रन्दन करते, उस समय उन पीड़ितोंद्वारा कही हुई वह आर्तवाणी परशुरामजी नहीं सहन कर सके॥

काश्मीरान् दरदान् कुन्तीन् क्षुद्रकान् मालवाञ्छकान्।
चेदिकाशिकरूषांश्च ऋषिकान् क्रथकैशिकान्॥
अङ्गान् वङ्गान् कलिङ्गांश्च मागधान् काशिकोसलान्।
रात्रायणान् वीतिहोत्रान् किरातान् मार्तिकावतान्॥
एतानन्यांश्च राजेन्द्रान् देशे देशे सहस्रशः।
निकृत्य निशितैर्बाणैः सम्प्रदाय विवस्वते॥

उन्होंने काश्मीर, दरद, कुन्तिभोज, क्षुद्रक, मालव, शक, चेदि, काशि, करूष, ऋषिक, क्रथ, कैशिक, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, मागध, काशी, कोसल, रात्रायण, वीतिहोत्र, किरात तथा मार्तिकावत—इनको तथा अन्य सहस्रों राजेश्वरोंको प्रत्येक देशमें तीखे बाणोंसे मारकर यमराजके भेंट कर दिया॥

कीर्णा क्षत्रियकोटीभिः मेरुमन्दरभूषणा।
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी तेन निःक्षत्रिया कृता॥

मेरु और मन्दर पर्वत जिसके आभूषण हैं, वह पृथ्वी करोड़ों क्षत्रियोंकी लाशोंसे पट गयी। एक-दो बार नहीं, इक्कीस बार परशुरामने यह पृथ्वी क्षत्रियोंसे सूनी कर दी॥

एवमिष्ट्वा महाबाहुः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।
अन्यद् वर्षशतं रामः सौभे शाल्वमयोधयत्॥
ततः स भृगुशार्दूलस्तं सौभं योधयन् प्रभुः।
सुबन्धुरं रथं राजन्नास्थाय भरतर्षभ॥
नग्निकानां कुमारीणां गायन्तीनामुपाशृणोत्।

तदनन्तर महाबाहु परशुरामने प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करके सौ वर्षोंतक सौभ नामक विमानपर बैठे हुए राजा शाल्वके साथ युद्ध किया। भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर! तदनन्तर सुन्दर रथपर बैठकर सौभ विमानके साथ युद्ध करनेवाले शक्तिशाली वीर भृगुश्रेष्ठ परशुरामने गीत गाती हुई नग्निका[1] कुमारियोंके मुखसे यह सुना—॥

राम राम महाबाहो भृगूणां कीर्तिवर्धन॥
त्यज शस्त्राणि सर्वाणि न त्वं सौभं वधिष्यसि।
चक्रहस्तो गदापाणिर्भीतानामभयंकरः॥
युधि प्रद्युम्नसाम्बाभ्यां कृष्णः सौभं वधिष्यति।

'राम! राम! महाबाहो! तुम भृगुवंशकी कीर्ति बढ़ानेवाले हो; अपने सारे अस्त्र-शस्त्र नीचे डाल दो। तुम सौभ विमानका नाश नहीं कर सकोगे। भयभीतोंको अभय देनेवाले चक्रधारी गदापाणि भगवान् श्रीविष्णु प्रद्युम्न और साम्बको साथ लेकर युद्धमें सौभ विमानका नाश करेंगे'॥

तच्छ्रुत्वा पुरुषव्याघ्रस्तत एव वनं ययौ॥
न्यस्य सर्वाणि शस्त्राणि कालकाङ्क्षी महायशाः॥
रथं वर्मायुधं चैव शरान् परशुमेव च।
धनूंष्यप्सु प्रतिष्ठाप्य राजंस्तेपे परं तपः॥

यह सुनकर पुरुषसिंह परशुराम उसी समय वनको चल दिये। राजन्! वे महायशस्वी मुनि कृष्णावतारके समयकी प्रतीक्षा करते हुए अपने सारे अस्त्र-शस्त्र, रथ, कवच, आयुध, बाण, परशु और धनुष जलमें डालकर बड़ी भारी तपस्यामें लग गये॥

ह्रियं प्रज्ञां श्रियं कीर्तिं लक्ष्मीं चामित्रकर्शनः।
पञ्चाधिष्ठाय धर्मात्मा तं रथं विससर्ज ह॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले धर्मात्मा परशुरामने लज्जा, प्रज्ञा, श्री, कीर्ति और लक्ष्मी—इन पाँचोंका आश्रय लेकर अपने पूर्वोक्त रथको त्याग दिया॥

आदिकाले प्रवृत्तं हि विभजन् कालमीश्वरः।
नाहनच्छ्रद्धया सौभं न ह्यशक्तो महायशाः॥
जामदग्न्य इति ख्यातो यस्त्वसौ भगवानृषिः।
सोऽस्य भागस्तपस्तेपे भार्गवो लोकविश्रुतः॥
शृणु राजंस्तथा विष्णोः प्रादुर्भावं महात्मनः।
चतुर्विंशे युगे चापि विश्वामित्रपुरःसरः॥

आदिकालमें जिसकी प्रवृत्ति हुई थी, उस कालका विभाग करके भगवान् परशुरामने कुमारियोंकी बातपर श्रद्धा होनेके कारण ही सौभ विमानका नाश नहीं किया, असमर्थताके कारण नहीं। जमदग्निनन्दन परशुरामके नामसे विख्यात वे महर्षि, जो विश्वविदित ऐश्वर्यशाली महर्षि हैं, वे इन्हीं

१. जिनमें ऋतुधर्म (रजस्वलावस्था) का प्रादुर्भाव न हुआ हो, उन्हें नग्निका कहते हैं।

श्रीकृष्णके अंश हैं, जो इस समय तपस्या कर रहे हैं। राजन्! अब महात्मा भगवान् विष्णुके साक्षात् स्वरूप श्रीरामके अवतारका वर्णन सुनो, जो विश्वामित्र मुनिको आगे करके चलनेवाले थे ॥

तिथौ नावमिके जज्ञे तथा दशरथादपि।
कृत्वाऽऽत्मानं महाबाहुश्चतुर्धा विष्णुरव्ययः ॥

चैत्रमासके शुक्लपक्षकी नवमी तिथिको अविनाशी भगवान् महाबाहु विष्णुने अपने आपको चार स्वरूपोंमें विभक्त करके महाराज दशरथके सकाशसे अवतार ग्रहण किया था ॥

लोके राम इति ख्यातस्तेजसा भास्करोपमः।
प्रसादनार्थं लोकस्य विष्णुस्तस्य सनातनः ॥
धर्मार्थमेव कौन्तेय जज्ञे तत्र महायशाः।

वे भगवान् सूर्यके समान तेजस्वी राजकुमार लोकमें श्रीरामके नामसे विख्यात हुए। कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! जगत्को प्रसन्न करने तथा धर्मकी स्थापनाके लिये ही महायशस्वी सनातन भगवान् विष्णु वहाँ प्रकट हुए थे ॥

तमप्याहुर्मनुष्येन्द्रं सर्वभूतपतेस्तनुम् ॥
यज्ञविघ्नं तदा कृत्वा विश्वामित्रस्य भारत।
सुबाहुर्निहतस्तेन मारीचस्ताडितो भृशम् ॥

मनुष्योंके स्वामी भगवान् श्रीरामको साक्षात् सर्वभूतपति श्रीहरिका ही स्वरूप बतलाया जाता है। भारत! उस समय विश्वामित्रके यज्ञमें विघ्न डालनेके कारण राक्षस सुबाहु श्रीरामचन्द्रजीके हाथों मारा गया और मारीच नामक राक्षसको भी बड़ी चोट पहुँची ॥

तस्मै दत्तानि शस्त्राणि विश्वामित्रेण धीमता।
वधार्थं देवशत्रूणां दुर्वाराणि सुरैरपि ॥

परम बुद्धिमान् विश्वामित्र मुनिने देवशत्रु राक्षसोंका वध करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजीको ऐसे-ऐसे दिव्यास्त्र प्रदान किये थे, जिनका निवारण करना देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन था ॥

वर्तमाने तदा यज्ञे जनकस्य महात्मनः।
भग्नं माहेश्वरं चापं क्रीडता लीलया परम् ॥
ततो विवाहं सीतायाः कृत्वा स रघुवल्लभः।
नगरीं पुनरासाद्य मुमुदे तत्र सीतया ॥

उन्हीं दिनों महात्मा जनकके यहाँ धनुषयज्ञ हो रहा था, उसमें श्रीरामने भगवान् शङ्करके महान् धनुषको खेल-खेलमें ही तोड़ डाला। तदनन्तर सीताजीके साथ विवाह करके रघुनाथजी अयोध्यापुरीमें लौट आये और वहाँ सीताजी-के साथ आनन्दपूर्वक रहने लगे ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य पित्रा तत्राभिचोदितः।
कैकेय्याः प्रियमन्विच्छन् वनमभ्यवपद्यत ॥

कुछ कालके पश्चात् पिताकी आज्ञा पाकर वे अपनी विमाता महारानी कैकेयीका प्रिय करनेकी इच्छासे वनमें चले गये ॥

यः समाः सर्वधर्मज्ञश्चतुर्दश वने वसन्।
लक्ष्मणानुचरो रामः सर्वभूतहिते रतः ॥
चतुर्दश वने तप्त्वा तपो वर्षाणि भारत।
रूपिणी यस्य पार्श्वस्था सीतेत्यभिहिता जनैः ॥

वहाँ सब धर्मोंके ज्ञाता और समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणके साथ चौदह वर्षोंतक वनमें निवास किया। भरतवंशी राजन्! चौदह वर्षोंतक उन्होंने वनमें तपस्यापूर्वक जीवन बिताया। उनके साथ उनकी अत्यन्त रूपवती धर्मपत्नी भी थीं, जिन्हें लोग सीता कहते थे ॥

पूर्वोचितत्वात् सा लक्ष्मीर्भर्तारमनुगच्छति।
जनस्थाने वसन् कार्यं त्रिदशानां चकार सः ॥
मारीचं दूषणं हत्वा खरं त्रिशिरसं तथा।
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां घोरकर्मणाम् ॥
जघान रामो धर्मात्मा प्रजानां हितकाम्यया।

अवतारके पहले श्रीविष्णुरूपमें रहते समय भगवान्के साथ उनकी जो योग्यतमा भार्या लक्ष्मी रहा करती हैं, उन्होंने ही उपयुक्त होनेके कारण श्रीरामावतारके समय सीताके रूपमें अवतीर्ण हो अपने पतिदेवका अनुसरण किया था। भगवान् श्रीराम जनस्थानमें रहकर देवताओंके कार्य सिद्ध करते थे। धर्मात्मा श्रीरामने प्रजाजनोंके हितकी कामनासे भयानक कर्म करनेवाले चौदह हजार राक्षसोंका वध किया। जिनमें मारीच, खर-दूषण और त्रिशिरा आदि प्रधान थे ॥

विराधं च कबन्धं च राक्षसौ क्रूरकर्मिणौ ॥
जघान च तदा रामो गन्धर्वौ शापविक्षतौ ॥

उन्हीं दिनों दो शापग्रस्त गन्धर्व क्रूरकर्मा राक्षसोंके रूपमें वहाँ रहते थे, जिनके नाम विराध और कबन्ध थे। श्रीरामने उन दोनोंका भी संहार कर डाला ॥

स रावणस्य भगिनीनासाच्छेदं चकार ह।
भार्यावियोगं तं प्राप्य मृगयन् व्यचरद् वनम् ॥
ततस्तमृष्यमूकं स गत्वा पम्पामतीत्य च।
सुग्रीवं मारुतिं दृष्ट्वा चक्रे मैत्रीं तयोः स वै ॥

उन्होंने रावणकी बहिन शूर्पणखाकी नाक भी लक्ष्मणके द्वारा कटवा दी; इसीके कारण (राक्षसोंके षड्यन्त्रसे) उन्हें पत्नीका वियोग देखना पड़ा। तब वे सीताकी खोज करते हुए वनमें विचरने लगे। तदनन्तर ऋष्यमूक पर्वतपर जा पम्पा-सरोवरको लाँघकर श्रीरामजी सुग्रीव और हनुमान्जीसे मिले और उन दोनोंके साथ उन्होंने मैत्री स्थापित कर ली ॥

अथ गत्वा स किष्किन्धां सुग्रीवेण तदा सह।
निहत्य वालिनं युद्धे वानरेन्द्रं महाबलम् ॥
अभ्यषिञ्चत् तदा रामः सुग्रीवं वानरेश्वरम् ॥
ततः स वीर्यवान् राजंस्त्वरयन् वै समुत्सुकः।
विचित्य वायुपुत्रेण लङ्कादेशं निवेदितम् ॥

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवके साथ किष्किन्धामें जाकर महाबली वानरराज वालीको युद्धमें मारा और सुग्रीवको वानरोंके राजाके पदपर अभिषिक्त कर दिया। राजन्! तदनन्तर पराक्रमी श्रीराम सीताजीके लिये उत्सुक हो बड़ी उतावलीके साथ उनकी खोज कराने लगे। वायुपुत्र हनुमान्जीने पता लगाकर यह बतलाया कि सीताजी लङ्कामें हैं॥

सेतुं बद्ध्वा समुद्रस्य वानरैः सहितस्तदा।
सीतायाः पदमन्विच्छन् रामो लङ्कां विवेश ह॥

तब समुद्रपर पुल बाँधकर वानरोंसहित श्रीरामने सीताजीके स्थानका पता लगाते हुए लङ्कामें प्रवेश किया॥

देवोरगगणानां हि यक्षराक्षसपक्षिणाम्।
तत्रावध्यं राक्षसेन्द्रं रावणं युधि दुर्जयम्॥
युक्तं राक्षसकोटीभिर्भिन्नाञ्जनचयोपमम्।

वहाँ देवता, नागगण, यक्ष, राक्षस तथा पक्षियोंके लिये अवध्य और युद्धमें दुर्जय राक्षसराज रावण करोड़ों राक्षसोंके साथ रहता था। वह देखनेमें खानसे खोदकर निकाले हुए कोयलेके ढेरके समान जान पड़ता था॥

दुर्निरीक्ष्यं सुरगणैर्वरदानेन दर्पितम्॥
जघान सचिवैः सार्धं सान्वयं रावणं रणे।
त्रैलोक्यकण्टकं वीरं महाकायं महाबलम्॥
रावणं सगणं हत्वा रामो भूतपतिः पुरा॥
लङ्कायां तं महात्मानं राक्षसेन्द्रं विभीषणम्।
अभिषिच्य च तत्रैव अमरत्वं ददौ तदा॥

देवताओंके लिये उसकी ओर आँख उठाकर देखना भी कठिन था। ब्रह्माजीसे वरदान मिलनेसे उसका घमंड बहुत बढ़ गया था। श्रीरामने त्रिलोकीके लिये कण्टकरूप महाबली विशालकाय वीर रावणको उसके मन्त्रियों और वंशजोंसहित युद्धमें मार डाला। इस प्रकार सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी श्रीरघुनाथजीने प्राचीनकालमें रावणको सेवकोंसहित मारकर लङ्काके राज्यपर राक्षसपति महात्मा विभीषणका अभिषेक करके उन्हें वहीं अमरत्व प्रदान किया॥

आरुह्य पुष्पकं रामः सीतामादाय पाण्डव।
सबलः स्वपुरं गत्वा धर्मराज्यमपालयत्॥
दानवो लवणो नाम मधोः पुत्रो महाबलः।
शत्रुघ्नेन हतो राजंस्ततो रामस्य शासनात्॥

पाण्डुनन्दन! तत्पश्चात् श्रीरामने पुष्पक विमानपर आरूढ़ हो सीताको साथ ले दलबलसहित अपनी राजधानीमें जाकर धर्मपूर्वक राज्यका पालन किया। राजन्! उन्हीं दिनों मथुरामें मधुका पुत्र लवण नामक दानव राज्य करता था, जिसे रामचन्द्रजीकी आज्ञासे शत्रुघ्नने मार डाला॥

एवं बहूनि कर्माणि कृत्वा लोकहिताय सः।
राज्यं चकार विधिवद् रामो धर्मभृतां वरः॥

इस प्रकार धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने लोकहितके लिये बहुतसे कार्य करके विधिपूर्वक राज्यका पालन किया॥

दशाश्वमेधानाजह्रे जारुधिस्थान् निरर्गलान्॥
नाश्रूयन्ताशुभा वाचो नात्ययः प्राणिनां तदा।
न वित्तजं भयं चासीद् रामे राज्यं प्रशासति॥
प्राणिनां च भयं नासीज्जलानलविधानजम्।
पर्यदेवन्न विधवा नानाथाः काश्चनाभवन्॥

उन्होंने दस अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया और सरयूतटके जारुधिप्रदेशको विघ्न-बाधाओंसे रहित कर दिया। श्रीरामचन्द्रजीके शासनकालमें कभी कोई अमङ्गलकी बात नहीं सुनी गयी। उस समय प्राणियोंकी अकालमृत्यु नहीं होती थी और किसीको भी धनकी रक्षा आदिके निमित्त भय नहीं प्राप्त होता था। संसारके जीवोंको जल और अग्नि आदिसे भी भय नहीं होता था। विधवाओंका करुण क्रन्दन नहीं सुना जाता था तथा स्त्रियाँ अनाथ नहीं होती थीं॥

सर्वमासीत् तदा तृप्तं रामे राज्यं प्रशासति॥
न संकरकरा वर्णा नाकृष्टकरकृज्जनः।

श्रीरामचन्द्रजीके राज्यशासनकालमें सम्पूर्ण जगत् संतुष्ट था। किसी भी वर्णके लोग वर्णसंकर संतान नहीं उत्पन्न करते थे। कोई भी मनुष्य ऐसी जमीनके लिये कर नहीं देता था, जो जोतने-बोनेके काममें न आती हो॥

न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते॥
विशः पर्यचरन् क्षत्रं क्षत्रं नापीडयद् विशः।
नरा नात्यचरन् भार्या भार्या नात्यचरन् पतीन्॥
नासीदल्पकृषिर्लोके रामे राज्यं प्रशासति।
आसन् वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः।
अरोगाः प्राणिनोऽप्यासन् रामे राज्यं प्रशासति॥

बूढ़ेलोग बालकोंका अन्त्येष्टि-संस्कार नहीं करते थे (उनके सामने ऐसा अवसर ही नहीं आता था)। वैश्यलोग क्षत्रियोंकी परिचर्या करते थे और क्षत्रियलोग भी वैश्योंको कष्ट नहीं होने देते थे। पुरुष अपनी पत्नियोंकी अवहेलना नहीं करते थे और पत्नियाँ भी पतियोंकी अवहेलना नहीं करती थीं। श्रीरामचन्द्रजीके राज्यशासन करते समय लोकमें खेतीकी उपज कम नहीं होती थी। लोग सहस्र पुत्रोंसे युक्त होकर सहस्रों वर्षोंतक जीवित रहते थे। श्रीरामके राज्य-शासनकालमें सब प्राणी नीरोग थे॥

ऋषीणां देवतानां च मनुष्याणां तथैव च।
पृथिव्यां सहवासोऽभूद् रामे राज्यं प्रशासति॥
सर्वे ह्यासंस्तृप्तरूपास्तदा तस्मिन् विशाम्पते।
धर्मेण पृथिवीं सर्वामनुशासति भूमिपे॥

श्रीरामचन्द्रजीके राज्यमें इस पृथ्वीपर ऋषि, देवता और मनुष्य साथ-साथ रहते थे। राजन्! भूमिपाल श्रीरघुनाथजी जिन दिनों सारी पृथ्वीका शासन करते थे, उस समय उनके राज्यमें सब लोग पूर्णतः तृप्तिका अनुभव करते थे॥

तपस्येवाभवन् सर्वे सर्वे धर्ममनुव्रताः।
पृथिव्यां धार्मिके तस्मिन् रामे राज्यं प्रशासति॥

धर्मात्मा राजा रामके राज्यमें पृथ्वीपर सब लोग तपस्यामें ही लगे रहते थे और सब-के-सब धर्मानुरागी थे ॥

नाधर्मिष्ठो नरः कश्चिद् बभूव प्राणिनां क्वचित्।
प्राणापानौ समावास्तां रामे राज्यं प्रशासति ॥

श्रीरामके राज्य-शासनकालमें कोई भी मनुष्य अधर्ममें प्रवृत्त नहीं होता था। सबके प्राण और अपान समवृत्तिमें स्थित थे ॥

गाथामप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः।
श्यामो युवा लोहिताक्षो मातङ्गानामिवर्षभः ॥
आजानुबाहुः सुमुखः सिंहस्कन्धो महाबलः।
दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ॥
राज्यं भोगं च सम्प्राप्य शशास पृथिवीमिमाम्।

जो पुराणवेत्ता विद्वान् हैं, वे इस विषयमें निम्नाङ्कित गाथा गाया करते हैं—'भगवान् श्रीरामकी अङ्गकान्ति श्याम है, युवावस्था है, उनके नेत्रोंमें कुछ-कुछ लाली है। वे गजराज-जैसे पराक्रमी हैं। उनकी भुजाएँ घुटनोंतक लंबी हैं। मुख बहुत सुन्दर है। कंधे सिंहके समान हैं और वे महान् बलशाली हैं। उन्होंने राज्य और भोग पाकर ग्यारह हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीका शासन किया ॥

रामो रामो राम इति प्रजानामभवन् कथाः ॥
रामभूतं जगदिदं रामे राज्यं प्रशासति।
ऋग्यजुःसामहीनाश्च न तदासन् द्विजातयः ॥

प्रजाजनोंमें 'राम राम राम' इस प्रकार केवल रामकी ही चर्चा होती थी। रामके राज्य-शासनकालमें यह सारा जगत् राममय हो रहा था। उस समयके द्विज ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके ज्ञानसे शून्य नहीं थे ॥

उषित्वा दण्डके कार्यं त्रिदशानां चकार सः।
पूर्वापकारिणं संख्ये पौलस्त्यं मनुजर्षभः ॥
देवगन्धर्वनागानामरिं स निजघान ह।
सत्त्ववान् गुणसम्पन्नो दीप्यमानः स्वतेजसा ॥
एवमेव महाबाहुरिक्ष्वाकुकुलवर्धनः ॥

इस प्रकार मनुष्योंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने दण्डकारण्यमें निवास करके देवताओंका कार्य सिद्ध किया और पहलेके अपराधी पुलस्त्यनन्दन रावणको, जो देवताओं, गन्धर्वों और नागोंका शत्रु था, युद्धमें मार गिराया। इक्ष्वाकुकुलका अभ्युदय करनेवाले महाबाहु श्रीराम महान् पराक्रमी, सर्वगुणसम्पन्न और अपने तेजसे देदीप्यमान थे ॥

रावणं सगणं हत्वा दिवमाक्रमताभिभूः।
इति दाशरथेः ख्यातः प्रादुर्भावो महात्मनः ॥

वे इसी प्रकार सेवकोंसहित रावणका वध करके राज्य-पालनके पश्चात् साकेतलोकमें पधारे। इस प्रकार परमात्मा दशरथनन्दन श्रीरामके अवतारका वर्णन किया गया ॥

(कृष्णावतारः)

ततः कृष्णो महाबाहुर्भीतानामभयङ्करः।
अष्टाविंशे युगे राजन्नजे श्रीवत्सलक्षणः ॥

राजन्! तदनन्तर अब अट्ठाईसवें द्वापरमें भयभीतोंको अभय देनेवाले श्रीवत्स विभूषित महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णके रूपमें श्रीविष्णुका अवतार हुआ है ॥

पेशलश्च वदान्यश्च लोके बहुमतो नृषु।
स्मृतिमान् देशकालज्ञः शङ्खचक्रगदासिधृक् ॥

ये इस लोकमें परम सुन्दर, उदार, मनुष्योंमें अत्यन्त सम्मानित, स्मरणशक्तिसे सम्पन्न, देशकालके ज्ञाता एवं शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग आदि आयुध धारण करनेवाले हैं ॥

वासुदेव इति ख्यातो लोकानां हितकृत् सदा।
वृष्णीनां च कुले जातो भूमेः प्रियचिकीर्षया ॥

वासुदेवके नामसे इनकी प्रसिद्धि है। ये सदा सब लोगोंके हितमें संलग्न रहते हैं। भूदेवीका प्रिय कार्य करनेकी इच्छासे इन्होंने वृष्णिवंशमें अवतार ग्रहण किया है ॥

स नृणामभयं दाता मधुहेति स विश्रुतः।
शकटार्जुनरामाणां किल स्थानान्यसूदयत् ॥

ये ही मनुष्योंको अभयदान करनेवाले हैं। इन्हींकी मधुसूदन नामसे प्रसिद्धि है। इन्होंने ही शकटासुर, यमलार्जुन और पूतनाके मर्मस्थानोंमें आघात करके उनका संहार किया है ॥

कंसादीन् निजघानाजौ दैत्यान् मानुषविग्रहान्।
अयं लोकहितार्थाय प्रादुर्भावो महात्मनः ॥

मनुष्य-शरीरमें प्रकट हुए कंस आदि दैत्योंको युद्धमें मार गिराया। परमात्माका यह अवतार भी लोकहितके लिये ही हुआ है ॥

(कल्क्यवतारः)

कल्की विष्णुयशा नाम भूयश्चोत्पत्स्यते हरिः।
कलेर्युगान्ते सम्प्राप्ते धर्मे शिथिलतां गते ॥
पाखण्डिनां गणानां हि वधार्थं भरतर्षभः।
धर्मस्य च विवृद्ध्यर्थं विप्राणां हितकाम्यया ॥

कलियुगके अन्तमें जब धर्म शिथिल हो जायगा, उस समय भगवान् श्रीहरि पाखण्डियोंके वध तथा धर्मकी वृद्धिके लिये और ब्राह्मणोंके हितकी कामनासे पुनः अवतार लेंगे। उनके उस अवतारका नाम होगा 'कल्कि विष्णुयशा' ॥

एते चान्ये च बहवो दिव्या देवगणैर्युताः।
प्रादुर्भावाः पुराणेषु गीयन्ते ब्रह्मवादिभिः ॥

भगवान्के ये तथा और भी बहुत-से दिव्य अवतार देवगणोंके साथ होते हैं, जिनका ब्रह्मवादी पुरुष पुराणोंमें वर्णन करते हैं ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

वृन्दावनमें श्रीकृष्ण



काकपक्षधरः श्रीमाञ्छ्यामः पद्मनिभेक्षणः । श्रीवत्सेनोरसा युक्तः शशाङ्क इव लक्ष्मणा ॥
गोपवेषः स मधुरं गायन् वेणुं च वादयन् । प्रह्लादनार्थं तु गवां क्वचिद्वनगतो युवा ॥

[श्रीकृष्णका प्राकट्य तथा श्रीकृष्ण-बलरामकी बाललीलाओंका वर्णन]

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तोऽथ कौन्तेयस्ततः पौरवनन्दनः ।
आबभाषे पुनर्भीष्मं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मजीके इस प्रकार कहनेपर पूरुवंशको आनन्दित करनेवाले कुन्ती-कुमार धर्मराज युधिष्ठिरने पुनः उनसे कहा ॥

युधिष्ठिर उवाच

भूय एव मनुष्येन्द्र उपेन्द्रस्य यशस्विनः ।
जन्म वृष्णिषु विज्ञातुमिच्छामि वदतां वर ॥

युधिष्ठिर बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ नरेन्द्र ! मैं यशस्वी भगवान् विष्णुके वृष्णिवंशमें अवतार ग्रहण करनेका वृत्तान्त पुनः (विस्तारपूर्वक) जानना चाहता हूँ ॥

यथैव भगवाञ्जातः क्षिताविह जनार्दनः ।
माधवेषु महाबुद्धिस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥

पितामह ! परम बुद्धिमान् भगवान् जनार्दन इस पृथ्वीपर मधुवंशमें जिस प्रकार उत्पन्न हुए, वह सब प्रसङ्ग मुझसे कहिये ॥

यदर्थं च महातेजा गास्तु गोवृषभेक्षणः ।
ररक्ष कंसस्य वधाल्लोकानामभिरक्षिता ॥

बैलके समान विशाल नेत्रोंवाले लोकरक्षक महातेजस्वी श्रीकृष्णने किसलिये कंसका वध करके गौओंकी रक्षा की ! ॥

क्रीडता चैव यद् बाल्ये गोविन्देन विचेष्टितम् ।
तदा मतिमतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ पितामह ! उस समय बाल्यावस्थामें बालकोचित क्रीड़ाएँ करते समय भगवान् गोविन्दने क्या-क्या लीलाएँ कीं ! यह सब मुझे बताइये ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततो भीष्मः केशवस्य महात्मनः ।
माधवेषु तदा जन्म कथयामास वीर्यवान् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा युधिष्ठिर-के इस प्रकार पूछनेपर महापराक्रमी भीष्मने मधुवंशमें भगवान् केशवके अवतार लेनेकी कथा कहनी प्रारम्भ की ॥

भीष्म उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर यथातथम् ।
यतो नारायणस्येह जन्म वृष्णिषु कौरव ॥

भीष्मजी बोले—कुरुरत्न युधिष्ठिर ! अब मैं वृष्णिवंशमें भगवान् नारायणके अवतार-ग्रहणका यथावत् वृत्तान्त कहूँगा ॥

अजातशत्रो जातस्तु यथैष भुवि भूमिपः ।
कीर्त्यमानं मया तात निबोध भरतर्षभ ॥

भरतकुलभूषण तात अजातशत्रो ! वसुधाकी रक्षा करनेवाले ये भगवान् यहाँ किस प्रकार प्रकट हुए। यह मैं बतला रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥

सागराः समकम्पन्त मुदा चेलुश्च पर्वताः ।
जज्वलुश्चाग्नयः शान्ता जायमाने जनार्दने ॥

भगवान्‌के जन्मके समय आनन्दोद्रेकके कारण समुद्रमें उत्ताल तरंगें उठने लगीं, पर्वत हिलने लगे और बुझी हुई अग्नियाँ भी सहसा प्रज्वलित हो उठीं ॥

शिवाः सम्प्रववुर्वाताः प्रशान्तमभवद् रजः ।
ज्योतींषि सम्प्रकाशन्ते जायमाने जनार्दने ॥

भगवान् जनार्दनके जन्मकालमें शीतल, मन्द एवं सुखद वायु चलने लगी । धरतीकी धूल शान्त हो गयी और नक्षत्र प्रकाशित होने लगे ॥

देवदुन्दुभयश्चापि सस्वनुर्भृशमम्बरे ।
अभ्यवर्षंस्तदाऽऽगम्य देवताः पुष्पवृष्टिभिः ॥

आकाशमें देवलोकके नगाड़े जोर-जोरसे बजने लगे और देवगण आ-आकर वहाँ फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥

गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिरस्तुवन् मधुसूदनम् ।
उपतस्थुस्तदा प्रीताः प्रादुर्भावे महर्षयः ॥

वे मङ्गलमयी वाणीद्वारा भगवान् मधुसूदनकी स्तुति करने लगे । भगवान्‌के अवतारका समय जान महर्षिगण भी अत्यन्त प्रसन्न होकर वहाँ आ पहुँचे ॥

ततस्तानभिसम्प्रेक्ष्य नारदप्रमुखानृषीन् ।
उपानृत्यन्नुपजगुर्गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥

नारद आदि देवर्षियोंको उपस्थित देख गन्धर्व और अप्सराएँ नाचने और गाने लगीं ॥

उपतस्थे च गोविन्दं सहस्राक्षः शचीपतिः ।
अभ्यभाषत तेजस्वी महर्षीन् पूजयंस्तदा ॥

उस समय सहस्र नेत्रोंवाले शचीवल्लभ तेजस्वी इन्द्र भगवान् गोविन्दकी सेवामें उपस्थित हुए और महर्षियोंका आदर करते हुए बोले ॥

इन्द्र उवाच

कृत्यानि देवकार्याणि कृत्वा लोकहिताय च ।
स्वलोकं लोककृद् देव पुनर्गच्छ स्वतेजसा ॥

इन्द्रने कहा—देव ! आप सम्पूर्ण जगत्‌के स्रष्टा हैं । देवताओंके जो कर्तव्य कार्य हैं, उन सबको सम्पूर्ण जगत्‌के हितके लिये सिद्ध करके आप अपने तेजसहित पुनः परमधामको पधारिये ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा मुनिभिः सार्धं जगाम त्रिदिवेश्वरः ।

भीष्मजी कहते हैं—ऐसा कहकर स्वर्गलोकके स्वामी इन्द्र देवर्षियोंके साथ अपने लोकको चले गये ॥

वसुदेवस्ततो जातं बालमादित्यसंनिभम् ।
नन्दगोपकुले राजन् भयात् प्राच्छादयद्धरिम् ॥

राजन् ! तदनन्तर वसुदेवजीने कंसके भयसे सूर्यके समान तेजस्वी अपने नवजात बालक श्रीहरिको नन्दगोपके घरमें छिपा दिया ॥



नन्दगोपकुले कृष्ण उवास बहुलाः समाः ।
ततः कदाचित् सुप्तं तं शकटस्य त्वधः शिशुम् ॥
यशोदा सम्परित्यज्य जगाम यमुनां नदीम् ।

श्रीकृष्ण बहुत वर्षोंतक नन्दगोपके ही घरमें रहे । एक दिन वहाँ शिशु श्रीकृष्ण एक छकड़ेके नीचे सोये थे । माता यशोदा उन्हें वहीं छोड़कर यमुनाजीके तटपर चली गयीं ॥

शिशुलीलां ततः कुर्वन् स्वहस्तचरणौ क्षिपन् ॥
रुरोद मधुरं कृष्णः पादावूर्ध्वं प्रसारयन् ।
पादाङ्गुष्ठेन शकटं धारयन्नथ केशवः ॥
तत्रार्थैकेन पादेन पातयित्वा तथा शिशुः ।

उस समय श्रीकृष्ण शिशुलीलाका प्रदर्शन करते हुए अपने हाथ-पैर फेंक-फेंककर मधुर स्वरमें रोने लगे । पैरोंको ऊपर फेंकते समय भगवान् केशवने अपने पैरके अँगूठेसे छकड़ेको धक्का दे दिया और इस प्रकार एक ही पाँवसे छकड़ेको उलटकर गिरा दिया ॥

न्युब्जः पयोधराकाङ्क्षी चकार च रुरोद च ॥
पातितं शकटं दृष्ट्वा भिन्नभाण्डघटीघटम् ।
जनास्ते शिशुना तेन विस्मयं परमं ययुः ॥

उसके बाद वे स्वयं औंधे मुँह हो गये और माताका स्तन पीनेकी इच्छासे जोर-जोरसे रोने लगे । शिशुके ही पदाघातसे छकड़ा उलटकर गिर गया तथा उसपर रक्खे हुए सभी मटके और घड़े आदि बर्तन चकनाचूर हो गये । यह देखकर सब लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥

प्रत्यक्षं शूरसेनानां दृश्यते महदद्भुतम् ।
पूतना चापि निहता महाकाया महास्तनी ॥
पश्यतां सर्वदेवानां वासुदेवेन भारत ।

भरतनन्दन! शूरसेनदेश (मथुरामण्डल)के निवासियोंको यह अत्यन्त अद्भुत घटना प्रत्यक्ष दिखायी दी तथा वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने (आकाशमें स्थित) सब देवताओंके देखते-देखते महान् काय एवं विशाल स्तनोंवाली पूतनाको भी पहले मार डाला था ॥

ततः काले महाराज संसक्तौ रामकेशवौ ॥
विष्णुः सङ्कर्षणश्चोभौ रिङ्गिणौ समपद्यताम् ।

महाराज ! तदनन्तर संकर्षण और विष्णुके स्वरूप बलराम और श्रीकृष्ण दोनों भाई कुछ कालके अनन्तर एक साथ ही घुटनोंके बल रेंगने लगे ॥

अन्योन्यकिरणग्रस्तौ चन्द्रसूर्याविवाम्बरे ॥
विसर्पयेतां सर्वत्र सर्पभोगभुजौ तदा ।

जैसे चन्द्रमा और सूर्य एक दूसरेकी किरणोंसे बँधकर आकाशमें एक साथ विचरते हों, उसी प्रकार बलराम और श्रीकृष्ण सर्वत्र एक साथ चलते-फिरते थे । उनकी भुजाएँ सर्पके शरीरकी भाँति सुशोभित होती थीं ॥

रेजतुः पांसुदिग्धाङ्गौ रामकृष्णौ तदा नृप ॥
क्वचिच्च जानुभिर्घृष्टौ क्रीडमानौ क्वचिद् वने ।
पिबन्तौ दधिकुल्याश्च मथ्यमाने च भारत ॥

नरेश्वर ! बलराम और श्रीकृष्ण दोनोंके अङ्ग धूलि-धूसरित होकर बड़ी शोभा पाते । भारत ! कभी वे दोनों भाई घुटनोंके बल चलते थे, जिससे उनमें घट्टे पड़ गये थे । कभी वे वनमें खेला करते और कभी मथते समय दहीकी घोल लेकर पीया करते थे ॥

ततः स बालो गोविन्दो नवनीतं तदा क्षये ।
ग्रसमानस्तु तत्रायं गोपीभिर्ददृशेऽथ वै ॥

एक दिन बालक श्रीकृष्ण एकान्त गृहमें छिपकर माखन खा रहे थे । उस समय वहाँ उन्हें कुछ गोपियोंने देख लिया ॥

दाम्नाथोलूखले कृष्णो गोपस्त्रीभिश्च बन्धितः ।
तदाथ शिशुना तेन राजंस्तावर्जुनावुभौ ॥
समूलविटपौ भग्नौ तदद्भुतमिवाभवत् ।

तब उन यशोदा आदि गोपाङ्गनाओंने एक रस्सीसे श्रीकृष्ण-को ऊखलमें बाँध दिया । राजन् ! उस समय उन्होंने उस ऊखल-को यमलार्जुन वृक्षोंके बीचमें अड़ाकर उन्हें जड़ और शाखाओं-सहित तोड़ डाला । वह एक अद्भुत-सी घटना घटित हुई ॥

तत्रासुरौ महाकायौ गतप्राणौ बभूवतुः ॥

उन वृक्षोंपर दो विशालकाय असुर रहा करते थे। वे भी वृक्षोंके टूटनेके साथ ही अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठे ॥

ततस्तौ बाल्यमुत्तीर्णौ कृष्णसङ्कर्षणावुभौ।
तस्मिन्नेव व्रजस्थाने सप्तवर्षौ बभूवतुः ॥

तदनन्तर वे दोनों भाई श्रीकृष्ण और बलराम बाल्यावस्थाकी सीमाको पार करके उस व्रजमण्डलमें ही सात वर्षकी अवस्थावाले हो गये ॥

नीलपीताम्बरधरौ पीतश्वेतानुलेपनौ।
बभूवतुर्वत्सपालौ काकपक्षधरावुभौ ॥

बलराम नीले रंगके और श्रीकृष्ण पीले रंगके वस्त्र धारण करते थे। एकके श्रीअङ्गोंपर पीले रंगका अङ्गराग लगता था और दूसरेके श्वेत रंगका! दोनों भाई काकपक्ष (सिरके पिछले भागमें बड़े-बड़े केश) धारण किये बछड़े चराने लगे ॥

पर्णवाद्यं श्रुतिसुखं वादयन्तौ वराननौ।
शुशुभाते वनगतावुदीर्णाविव पन्नगौ ॥

उन दोनोंकी मुखच्छवि बड़ी मनोहारिणी थी। वे वनमें जाकर श्रवण-सुखद पर्णवाद्य (पत्तोंके बाजे-पिपिहरी आदि) बजाया करते थे। वहाँ दो तरुण नागकुमारोंकी भाँति उन दोनोंकी बड़ी शोभा होती थी ॥

मयूराङ्गजकर्णौ तौ पल्लवापीडधारिणौ।
वनमालापरिक्षिप्तौ सालपोताविवोद्गतौ ॥

वे अपने कानोंमें मोरके पंख लगा लेते, मस्तकपर पल्लवोंके मुकुट धारण करते और गलेमें वनमाला डाल लेते थे। उस समय शालके नये पौधोंकी भाँति उन दोनोंकी बड़ी शोभा होती थी ॥

अरविन्दकृतापीडौ रज्जुयज्ञोपवीतिनौ।
शिक्यतुम्बधरौ वीरौ गोपवेणुप्रवादकौ ॥

वे कभी कमलके फूलोंके शिरोभूषण धारण करते और कभी बछड़ोंकी रस्सियोंको यज्ञोपवीतकी भाँति धारण कर लेते थे। वीरवर श्रीकृष्ण और बलराम छींके और तुम्बी लिये वनमें घूमते और गोपजनोचित वेणु बजाया करते थे ॥

क्वचिद् वसन्तावन्योन्यं क्रीडमानौ क्वचिद् वने।
पर्णशय्यासु संसुप्तौ क्वचिन्निद्रान्तरैषिणौ ॥

वे दोनों भाई कहीं ठहर जाते, कहीं वनमें एक दूसरेके साथ खेलने लगते और कहीं पत्तोंकी शय्या बिछाकर सो जाते तथा नींद लेने लगते थे ॥

तौ वत्सान् पालयन्तौ हि शोभयन्तौ महद् वनम्।
चञ्चूर्यन्तौ रमन्तौ स्म राजन्नेवं तदा शुभौ ॥

राजन्! इस प्रकार वे मङ्गलमय बलराम और श्रीकृष्ण बछड़ोंकी रक्षा करते तथा उस महान् वनकी शोभा बढ़ाते हुए सब ओर घूमते और भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ करते थे ॥

ततो वृन्दावनं गत्वा वसुदेवसुतावुभौ।
गोव्रजं तत्र कौन्तेय चारयन्तौ विजह्रतुः ॥

कुन्तीनन्दन! तदनन्तर वे दोनों वसुदेवपुत्र वृन्दावनमें जाकर गौएँ चराते हुए लीला-विहार करने लगे ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[कालिय-मर्दन एवं धेनुकासुर, अरिष्टासुर और कंस आदिका वध, श्रीकृष्ण और बलरामका विद्याभ्यास तथा गुरु-दक्षिणारूपसे गुरुजीको उनके मरे हुए पुत्रको जीवित करके देना]

भीष्म उवाच

ततः कदाचिद् गोविन्दो ज्येष्ठं सङ्कर्षणं विना।
चचार तद् वनं रम्यं रम्यरूपो वराननः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर एक दिन मनोहर रूप और सुन्दर मुखवाले भगवान् गोविन्द अपने बड़े भाई संकर्षणको साथ लिये बिना ही रमणीय वृन्दावनमें चले गये और वहाँ इधर-उधर भ्रमण करने लगे ॥

काकपक्षधरः श्रीमाञ्छ्यामः पद्मनिभेक्षणः।
श्रीवत्सेनोरसा युक्तः शशाङ्क इव लक्ष्मणा ॥

उन्होंने काक-पक्ष धारण कर रक्खा था। वे परम शोभायमान, श्याम-वर्ण तथा कमलके समान सुन्दर नेत्रोंसे सुशोभित थे। जैसे चन्द्रमा कलंकसे युक्त होकर शोभा पाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णका वक्षःस्थल श्रीवत्स-चिह्नसे शोभा पा रहा था ॥

रज्जुयज्ञोपवीती स पीताम्बरधरो युवा।
श्वेतगन्धेन लिप्ताङ्गो नीलकुञ्चितमूर्धजः ॥
राजता बर्हिपत्रेण मन्दमारुतकम्पिना।
क्वचिद् गायन् क्वचित् क्रीडन् क्वचिन्नृत्यन् क्वचिद्धसन्।
गोपवेषः स मधुरं गायन् वेणुं च वादयन्।
प्रह्लादनार्थं तु गवां क्वचिद् वनगतो युवा ॥
गोकुले मेघकाले तु चचार द्युतिमान् प्रभुः।
बहुरम्येषु देशेषु वनस्य वनराजिषु ॥
तासु कृष्णो मुदं लेभे क्रीडया भरतर्षभ।
स कदाचिद् वने तस्मिन् गोभिः स परिव्रजन्॥

उन्होंने रस्सियोंको यज्ञोपवीतकी भाँति पहन रक्खा था। उनके श्रीअङ्गोंपर पीताम्बर शोभा पा रहा था। विभिन्न अङ्गोंमें श्वेत चन्दनका अनुलेप किया गया था। उनके मस्तकपर काले-घुँघराले केश सुशोभित थे। सिरपर मोरपंखका मुकुट शोभा पाता था, जो मन्द-मन्द वायुके झोंकोंसे लहरा रहा था। भगवान् कहीं गीत गाते, कहीं क्रीड़ा करते, कहीं नाचते और कहीं हँसते थे। इस प्रकार गोपालोचित वेष धारण किये मधुर गीत

गाते और वेणु बजाते हुए तरुण श्रीकृष्ण गौओंको आनन्दित करनेके लिये कभी-कभी वनमें घूमते थे। अत्यन्त कान्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण वर्षाके समय गोकुलमें वहाँके अतिशय रमणीय प्रदेशों तथा वनश्रेणियोंमें विचरण करते थे। भरतश्रेष्ठ! उन वनश्रेणियोंमें भाँति-भाँतिके खेल करके श्यामसुन्दर बड़े प्रसन्न होते थे। एक दिन वे गौओंके साथ वनमें घूम रहे थे॥

भाण्डीरं नाम दृष्ट्वाथ न्यग्रोधं केशवो महान्।
तच्छायायां निवासाय मतिं चक्रे तदा प्रभुः॥

घूमते-घूमते महात्मा भगवान् केशवने भाण्डीर नामक वटवृक्ष देखा और उसकी छायामें बैठनेका विचार किया॥

स तत्र वयसा तुल्यैः वत्सपालैः सहानघ।
रेमे स दिवसान् कृष्णः पुरा स्वर्गपुरे तथा॥

निष्पाप युधिष्ठिर! वहाँ श्रीकृष्ण समान अवस्थावाले दूसरे गोप-बालकोंके साथ बछड़े चराते थे, दिनभर खेल-कूद करते थे और पहले दिव्य धाममें जिस प्रकार वे आनन्दित होते थे, उसी प्रकार वनमें आनन्दपूर्वक दिन बिताते थे॥

तं क्रीडमानं गोपालाः कृष्णं भाण्डीरवासिनः।
रमयन्ति स्म बहवो मान्यैः क्रीडनकैस्तदा॥
अन्ये स्म परिगायन्ति गोपा मुदितमानसाः।
गोपालाः कृष्णमेवान्ये गायन्ति स्म वनप्रियाः॥

भाण्डीरवनमें निवास करनेवाले बहुत-से ग्वाले वहाँ क्रीडा करते हुए श्रीकृष्णको अच्छे-अच्छे खिलौनोंद्वारा प्रसन्न रखते थे। दूसरे प्रसन्नचित्त रहनेवाले गोप, जिन्हें वनमें घूमना प्रिय था, सदा श्रीकृष्णकी महिमाका गान किया करते थे॥

तेषां संगायतामेव वादयामास केशवः।
पर्णवाद्यान्तरे वेणुं तुम्बं वीणां च तत्र वै॥
एवं क्रीडान्तरैः कृष्णो गोपालैर्विजहार सः।

जब वे गीत गाते, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण पत्तोंके बाजोंके बीच-बीचमें वेणु, तुम्बी और वीणा बजाया करते थे। इस प्रकार विभिन्न लीलाओंद्वारा श्रीकृष्ण गोपबालकोंके साथ खेलते थे॥

तेन बालेन कौन्तेय कृतं लोकहितं तदा॥
पश्यतां सर्वभूतानां वासुदेवेन भारत।

भरतनन्दन! उस समय बालक श्रीकृष्णने सम्पूर्ण भूतोंके देखते-देखते लोकहितके अनेक कार्य किये॥

ह्रदे नीपवने तत्र क्रीडितं नागमूर्धनि॥
कालियं शासयित्वा तु सर्वलोकस्य पश्यतः।
विजहार ततः कृष्णो बलदेवसहायवान्॥

बृन्दावनमें कदम्बवनके पास जो ह्रद (कुण्ड) था, उसमें प्रवेश करके उन्होंने कालियनागके मस्तकपर नृत्यक्रीडा की



थी! फिर सब लोगोंके सामने ही कालियनागको अन्यत्र जानेका आदेश देकर वे बलदेवजीके साथ वनमें इधर-उधर विचरण करने लगे॥

धेनुको दारुणो दैत्यो राजन् रासभविग्रहः।
तदा तालवने राजन् बलदेवेन वै हतः॥

राजन्! तालवनमें धेनुक नामक भयंकर दैत्य निवास करता था, जो गधेका रूप धारण करके रहता था। उस समय वह बलदेवजीके हाथसे मारा गया॥

ततः कदाचित् कौन्तेय रामकृष्णौ वनं गतौ।
चारयन्तौ प्रवृद्धानि गोधनानि शुभाननौ॥

कुन्तीनन्दन! तदनन्तर किसी समय सुन्दर मुखवाले बलराम और श्रीकृष्ण अपने बढ़े हुए गोधनको चरानेके लिये वनमें गये॥

विहरन्तौ मुदा युक्तौ वीक्षमाणौ वनानि वै।
क्ष्वेलयन्तौ प्रगायन्तौ विचिन्वन्तौ च पादपान्॥

वहाँ वनकी शोभा निहारते हुए वे दोनों भाई घूमते, खेलते, गीत गाते और विभिन्न वृक्षोंकी खोज करते हुए बड़े प्रसन्न होते थे॥

नामभिर्व्याहरन्तौ च वत्सान् गाश्च परंतपौ।
चेरतुर्लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिरपराजितौ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले वे दोनों अजेय वीर वहाँ गौओं और बछड़ोंको नाम ले-लेकर बुलाते और लोकप्रचलित बालोचित क्रीडाएँ करते रहते थे॥

तौ देवौ मानुषीं दीक्षां वहन्तौ सुरपूजितौ।
तज्जातिगुणयुक्ताभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वनम्॥

वे दोनों देववन्दित देवता थे तो भी मानवी दीक्षा ग्रहण करनेके कारण मानव-जातिके अनुरूप गुणोंवाली क्रीडाएँ करते हुए वनमें विचरते थे॥

ततः कृष्णो महातेजास्तदा गत्वा तु गोव्रजम् ।
गिरियज्ञं तमेवैष प्रकृतं गोपदारकैः ॥
बुभुजे पायसं शौरिरीश्वरः सर्वभूतकृत् ।

तत्पश्चात् महातेजस्वी श्रीकृष्ण गौओंके व्रजमें जाकर गोपबालकोंद्वारा किये जानेवाले गिरियज्ञमें सम्मिलित हो वहाँ सर्वभूतस्रष्टा ईश्वरके रूपमें अपनेको प्रकट करके (गिरिराजके लिये समर्पित) खीरको स्वयं ही खाने लगे ॥

तं दृष्ट्वा गोपकाः सर्वे कृष्णमेव समर्चयन् ॥
पूज्यमानस्ततो गोपैर्दिव्यं वपुरधारयत् ।

उन्हें देखकर सब गोप भगवद्बुद्धिसे श्रीकृष्णके उस स्वरूपकी ही पूजा करने लगे । गोपालोंद्वारा पूजित श्रीकृष्णने दिव्य रूप धारण कर लिया ॥

धृतो गोवर्धनो नाम सप्ताहं पर्वतस्तदा ॥
शिशुना वासुदेवेन गवार्थमरिमर्दन ।

शत्रुमर्दन युधिष्ठिर ! (जब इन्द्र वर्षा कर रहे थे, उस समय) बालक वासुदेवने गौओंकी रक्षाके लिये एक सप्ताहतक गोवर्धन पर्वतको अपने हाथपर उठा रक्खा था ॥

क्रीडमानस्तदा कृष्णः कृतवान् कर्म दुष्करम् ॥
तदद्भुतमिवात्रासीत् सर्वलोकस्य भारत ।

भरतनन्दन ! उस समय श्रीकृष्णने खेल-खेलमें ही अत्यन्त दुष्कर कर्म कर डाला, जो सब लोगोंके लिये अत्यन्त अद्भुत-सा था ॥

देवदेवः क्षितिं गत्वा कृष्णं दृष्ट्वा मुदान्वितः ॥
गोविन्द इति तं ह्युक्त्वा ह्यभ्यषिञ्चत् पुरंदरः ।
इत्युक्त्वाऽऽश्लिष्य गोविन्दं पुरुहूतोऽभ्ययाद् दिवम् ।

देवाधिदेव इन्द्रने भूतलपर जाकर जब श्रीकृष्णको (गोवर्धन धारण किये) देखा, तब उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने श्रीकृष्णको 'गोविन्द' नाम देकर उनका ('गवेन्द्र' पदपर) अभिषेक किया । देवराज इन्द्र गोविन्दको हृदयसे लगाकर उनकी अनुमति ले स्वर्गलोकको चले गये ॥

अथारिष्ट इति ख्यातं दैत्यं वृषभविग्रहम् ।
जघान तरसा कृष्णः पशूनां हितकाम्यया ॥

तदनन्तर श्रीकृष्णने पशुओंके हितकी कामनासे वृषभरूपधारी अरिष्ट नामक दैत्यको वेगपूर्वक मार गिराया ॥

केशिनं नाम दैतेयं राजन् वै हयविग्रहम् ।
तथा वनगतं पार्थ गजायुतबलं हयम् ॥
प्रहितं भोजपुत्रेण जघान पुरुषोत्तमः ।

राजन् ! व्रजमें केशी नामका एक दैत्य रहता था, जिसका शरीर घोड़ेके समान था । उसमें दस हजार हाथियोंका बल था । कुन्तीनन्दन ! उस अश्वरूपधारी दैत्यको भोजकुलोत्पन्न कंसने भेजा था । वृन्दावनमें आनेपर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने उसे भी अरिष्टासुरकी भाँति मार दिया ॥

आन्ध्रं मल्लं च चाणूरं निजघान महासुरम् ॥

कंसके दरबारमें एक आन्ध्रदेशीय मल्ल था, जिसका नाम था चाणूर । वह एक महान् असुर था । श्रीकृष्णने उसे भी मार डाला ॥

सुनामानममित्रघ्नं सर्वसैन्यपुरस्कृतम् ।
बालरूपेण गोविन्दो निजघान च भारत ॥

भरतनन्दन ! (कंसका भाई) शत्रुनाशक सुनामा कंसकी सारी सेनाका अगुआ—सेनापति था । गोविन्द अभी बालक थे, तो भी उन्होंने सुनामाको मार दिया ॥

बलदेवेन चायत्तः समाजे मुष्टिको हतः ।

भारत ! (दंगल देखनेके लिये जुटे हुए) जनसमाजमें युद्धके लिये तैयार खड़े हुए मुष्टिक नामक पहलवानको बलरामजीने अखाड़ेमें ही मार दिया ॥

त्रासितश्च तदा कंस स हि कृष्णेन भारत ॥

युधिष्ठिर ! उस समय श्रीकृष्णने कंसके मनमें भारी भय उत्पन्न कर दिया ॥

ऐरावतं युयुत्सन्तं मातङ्गानामिवर्षभम् ।
कृष्णः कुवलयापीडं हतवांस्तस्य पश्यतः ॥

हाथियोंमें श्रेष्ठ कुवलयापीडको, जो ऐरावतकुलमें उत्पन्न हुआ था और श्रीकृष्णको कुचल देना चाहता था, श्रीकृष्णने कंसके देखते-देखते ही मार गिराया ॥



हत्वा कंसममित्रघ्नः सर्वेषां पश्यतां तदा ।
अभिषिच्योग्रसेनं तं पित्रोः पादमवन्दत ॥

फिर शत्रुनाशन श्रीकृष्णने सब लोगोंके सामने ही कंसको मारकर उग्रसेनको राजपदपर अभिषिक्त कर दिया और अपने माता-पिता देवकी-वसुदेवके चरणोंमें प्रणाम किया ॥

एवमादीनि कर्माणि कृतवान् वै जनार्दनः।
उवास कतिचित् तत्र दिनानि सहलायुधः॥

इस प्रकार जनार्दनने कितने ही अद्भुत कार्य किये और कुछ दिनोंतक बलरामजीके साथ वे मथुरामें ही रहे॥

ततस्तौ जग्मतुस्तात गुरुं सान्दीपनिं पुनः।
गुरुशुश्रूषया युक्तौ धर्मज्ञौ धर्मचारिणौ॥

तात युधिष्ठिर! तदनन्तर वे दोनों धर्मज्ञ भाई गुरु सान्दीपनिके यहाँ (उज्जयिनीपुरीमें) विद्याध्ययनके लिये गये। वहाँ वे गुरुसेवा-परायण हो सदा धर्मके ही अनुष्ठानमें लगे रहे॥

व्रतमुग्रं महात्मानौ विचरन्तावतिष्ठताम्।
अहोरात्रचतुष्षष्ट्या षडङ्गं वेदमापतुः॥

वे दोनों महात्मा कठोर व्रतका पालन करते हुए वहाँ रहते थे। उन्होंने चौंसठ दिन-रातमें ही छहों अङ्गों-सहित सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया॥

लेख्यं च गणितं चोभौ प्राप्नुतां यदुनन्दनौ।
गान्धर्ववेदं वैद्यं च सकलं समवापतुः॥

इतना ही नहीं, उन यदुकुलकुमारोंने लेख्य (चित्रकला), गणित, गान्धर्ववेद तथा सारे वैद्यको भी उतने ही समयके भीतर जान लिया॥

हस्तिशिक्षामश्वशिक्षां द्वादशाहेन चापतुः।
तावुभौ जग्मतुर्वीरौ गुरुं सान्दीपनिं पुनः॥
धनुर्वेदचिकीर्षार्थं धर्मज्ञौ धर्मचारिणौ।

गजशिक्षा तथा अश्वशिक्षाको तो उन्होंने कुल बारह दिनोंमें ही प्राप्त कर लिया। इसके बाद वे दोनों धर्मज्ञ एवं धर्मपरायण वीर धनुर्वेद सीखनेके लिये पुनः सान्दीपनि मुनिके पास गये॥

ताविष्वस्त्रवराचार्यमभिगम्य प्रणम्य च॥
तेन तौ सत्कृतौ राजन् विचरन्ताववन्तिषु।

राजन्! धनुर्वेदके श्रेष्ठ आचार्य सान्दीपनिके पास जाकर उन दोनोंने प्रणाम किया। सान्दीपनिने उन्हें सत्कारपूर्वक अपनाया एवं वे फिर अवन्तीमें विचरते हुए वहाँ रहने लगे॥

पञ्चाशद्भिरहोरात्रैर्दशाङ्गं सुप्रतिष्ठितम्॥
सरहस्यं धनुर्वेदं सकलं ताववापतुः।

पचास दिन-रातमें ही उन दोनोंने दस अङ्गोंसे युक्त, सुप्रतिष्ठित एवं रहस्यसहित सम्पूर्ण धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्त कर लिया॥

दृष्ट्वा कृतास्त्रौ विप्रेन्द्रो गुर्वर्थे तावचोदयत्॥
अयाचतार्थं गोविन्दं ततः सान्दीपनिर्विभुः।

उन दोनों भाइयोंको अस्त्र-विद्यामें निपुण देखकर विप्रवर सान्दीपनिने उन्हें गुरुदक्षिणा देनेकी आज्ञा दी। सान्दीपनिजी सब विषयोंके विद्वान् थे। उन्होंने श्रीकृष्णसे अपने अभीष्ट मनोरथकी याचना इस प्रकार की॥

मम पुत्रः समुद्रेऽस्मिंस्तिमिना चापवाहितः॥
पुत्रमानय भद्रं ते भक्षितं तिमिना मम।

सान्दीपनिरुवाच

सान्दीपनिजी बोले—मेरा पुत्र इस समुद्रमें नहा रहा था, उस समय 'तिमि' नामक जलजन्तु उसे पकड़कर भीतर ले गया और उसके शरीरको खा गया। तुम दोनोंका भला हो। मेरे उस मरे हुए पुत्रको जीवित करके यहाँ ला दो॥

भीष्म उवाच

आर्ताय गुरवे तत्र प्रतिशुश्राव दुष्करम्॥
अशक्यं त्रिषु लोकेषु कर्तुमन्येन केनचित्।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इतना कहते-कहते गुरु सान्दीपनि पुत्रशोकसे आर्त हो गये। यद्यपि उनकी माँग बहुत कठिन थी, तीनों लोकोंमें दूसरे किसी पुरुषके लिये इस कार्यका साधन करना असम्भव था, तो भी श्रीकृष्णने उसे पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ली॥

यश्च सान्दीपनेः पुत्रं जघान भरतर्षभ॥
सोऽसुरः समरे ताभ्यां समुद्रे विनिपातितः।

भरतश्रेष्ठ! जिसने सान्दीपनिके पुत्रको मारा था, उस असुरको उन दोनों भाइयोंने युद्ध करके समुद्रमें मार गिराया॥

ततः सान्दीपनेः पुत्रः प्रसादादमितौजसः॥
दीर्घकालं गतः प्रेतं पुनरासीच्छरीरवान्।

तदनन्तर अमिततेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णके कृपाप्रसादसे सान्दीपनिका पुत्र, जो दीर्घकालसे यमलोकमें जा चुका था, पुनः पूर्ववत् शरीर धारण करके जी उठा॥

तदशक्यमचिन्त्यं च दृष्ट्वा सुमहदद्भुतम्॥
सर्वेषामेव भूतानां विस्मयः समजायत।

वह अशक्य, अचिन्त्य और अत्यन्त अद्भुत कार्य देखकर सभी प्राणियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ॥

ऐश्वर्याणि च सर्वाणि गवाश्वं च धनानि च॥
सर्वं तदुपजह्राते गुरवे रामकेशवौ।
ततस्तं पुत्रमादाय ददौ च गुरवे प्रभुः॥

बलराम और श्रीकृष्णने अपने गुरुको सब प्रकारके ऐश्वर्य, गाय, घोड़े और प्रचुर धन सब कुछ दिये। तत्पश्चात् गुरुपुत्रको लेकर भगवान्ने गुरुजीको सौंप दिया॥

तं दृष्ट्वा पुत्रमायान्तं सान्दीपनिपुरे जनाः।
अशक्यमेतत् सर्वेषामचिन्त्यमिति मेनिरे॥
कश्च नारायणादन्यश्चिन्तयेदिदमद्भुतम्।

उस पुत्रको आया देख सान्दीपनिके नगरके लोग यह मान

गये कि श्रीकृष्णके द्वारा यह ऐसा कार्य सम्पन्न हुआ है, जो अन्य सब लोगोंके लिये असम्भव और अचिन्त्य है। भगवान् नारायणके सिवा दूसरा कौन ऐसा पुरुष है, जो इस अद्भुत कार्यको सोच भी सके (करना तो दूरकी बात है) ॥

गदापरिघयुद्धेषु सर्वास्त्रेषु च केशवः ॥
परमां मुख्यतां प्राप्तः सर्वलोकेषु विश्रुतः ।

भगवान् श्रीकृष्णने गदा और परिघके युद्धमें तथा सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानमें सबसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लिया। वे समस्त लोकोंमें विख्यात हो गये ॥

भोजराजतनूजोऽपि कंसस्तात युधिष्ठिर ॥
अस्त्रज्ञाने बले वीर्ये कार्तवीर्यसमोऽभवत् ।

तात युधिष्ठिर ! भोजराजकुमार कंस भी अस्त्रज्ञान, बल और पराक्रममें कार्तवीर्य अर्जुनकी समानता करता था ॥

तस्य भोजपतेः पुत्राद् भोजराज्यविवर्धनात् ॥
उद्विजन्ते स्म राजानः सुपर्णादिव पन्नगाः ।

भोजवंशके राज्यकी वृद्धि करनेवाले भोजराजकुमार कंससे भूमण्डलके सब राजा उसी प्रकार उद्विग्न रहते थे, जैसे गरुड़से सर्प ॥

चित्रकार्मुकनिर्स्त्रिंशविमलप्रासयोधिनः ॥
शतं शतसहस्राणि पादातास्तस्य भारत ।

भरतनन्दन ! उसके यहाँ धनुष, खड्ग और चमचमाते हुए भाले लेकर विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाले एक करोड़ पैदल सैनिक थे ॥

अष्टौ शतसहस्राणि शूराणामनिवर्तिनाम् ॥
अभवन् भोजराजस्य जाम्बूनदमयध्वजाः ।

भोजराजके रथी सैनिक, जिनके रथोंपर सुवर्णमय ध्वज फहराते रहते थे तथा जो शूरवीर होनेके साथ ही युद्धमें कभी पीठ दिखलानेवाले नहीं थे, आठ लाखकी संख्यामें थे ॥

स्फुरत्काञ्चनकक्ष्यास्तु गजास्तस्य युधिष्ठिर ॥
तावन्त्येव सहस्राणि गजानामनिवर्तिनाम् ।

युधिष्ठिर ! कंसके यहाँ युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले हाथी-सवार भी आठ ही लाख थे। उनके हाथियोंकी पीठपर सुवर्णके चमकीले हौदे कसे होते थे ॥

ते च पर्वतसङ्काशाश्चित्रध्वजपताकिनः ॥
बभूवुर्भोजराजस्य नित्यं प्रमुदिता गजाः ।

भोजराजके वे पर्वताकार गजराज विचित्र ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित होते थे और सदा संतुष्ट रहते थे ॥

स्वलङ्कृतानां शीघ्राणां करेणूनां युधिष्ठिर ।
अभवद् भोजराजस्य द्विस्तावद्धि महद् बलम् ॥

युधिष्ठिर ! भोजराज कंसके यहाँ आभूषणोंसे सजी हुई शीघ्रगामिनी हथिनियोंकी विशाल सेना गजराजोंकी अपेक्षा दूनी थी ॥

षोडशाश्वसहस्राणि किंशुकाभानि तस्य वै ।
अपरस्तु महाव्यूहः किशोराणां युधिष्ठिर ॥
आरोहवरसम्पन्नो दुर्धर्षः केनचिद् बलात् ।
स च षोडशसाहस्रः कंसभ्रातृपुरस्सरः ॥

उसके यहाँ सोलह हजार घोड़े ऐसे थे, जिनका रङ्ग पलासके फूलकी भाँति लाल था। राजन् ! किशोर-अवस्थाके घोड़ोंका एक दूसरा दल भी मौजूद था, जिसकी संख्या सोलह हजार थी। इन अश्वोंके सवार भी बहुत अच्छे थे। इस अश्वसेनाको कोई भी बलपूर्वक दबा नहीं सकता था। कंसका भाई सुनामा इन सबका सरदार था ॥

सुनामा सदृशस्तेन स कंसं पर्यपालयत् ।

वह भी कंसके ही समान बलवान् था एवं सदा कंसकी रक्षाके लिये तत्पर रहता था ॥

य आसन् सर्ववर्णास्तु हयास्तस्य युधिष्ठिर ॥
स गणो मिश्रको नाम षष्टिसाहस्र उच्यते ।

युधिष्ठिर ! कंसके यहाँ घोड़ोंका एक और भी बहुत बड़ा दल था, जिसमें सभी रङ्गके घोड़े थे। उस दलका नाम था मिश्रक। मिश्रकोंकी संख्या साठ हजार बतलायी जाती है ॥

कंसरोषमहावेगां ध्वजानूपमहाद्रुमाम् ॥
मत्तद्विपमहाग्राहां वैवस्वतवशानुगाम् ।

(कंसके साथ होनेवाला महान् समर एक भयंकर नदीके समान था।) कंसका रोष ही उस नदीका महान् वेग था। ऊँचे-ऊँचे ध्वज तटवर्ती वृक्षोंके समान जान पड़ते थे। मतवाले हाथी बड़े-बड़े ग्राहोंके समान थे। वह नदी यमराजकी आज्ञाके अधीन होकर चलती थी ॥

शस्त्रजालमहाफेनां सादिवेगमहाजलाम् ॥
गदापरिघपाठीनां नानाकवचशैवलाम् ।

अस्त्र-शस्त्रोंके समूह उसमें फेनका भ्रम उत्पन्न करते थे। सवारोंका वेग उसमें महान् जलप्रवाह-सा प्रतीत होता था। गदा और परिघ पाठीन नामक मछलियोंके सदृश जान पड़ते थे। नाना प्रकारके कवच सेवारके समान थे ॥

रथनागमहावर्तां नानारुधिरकर्दमाम् ॥
चित्रकार्मुककल्लोलां रथाश्वकलिलह्रदाम् ।

रथ और हाथी उसमें बड़ी-बड़ी भँवरोंका दृश्य उपस्थित करते थे। नाना प्रकारका रक्त ही कीचड़का काम करता था। विचित्र धनुष उठती हुई लहरोंके समान जान पड़ते थे। रथ और अश्वोंका समूह ह्रदके समान था ॥

महामृधनदीं घोरां योधावर्तननिःस्वनाम् ॥
को वा नारायणादन्यः कंसहन्ता युधिष्ठिर ।

योद्धाओंके इधर-उधर दौड़ने या बोलनेसे जो शब्द होता था, वही उस भयानक समर-सरिताका कलकल नाद था। युधिष्ठिर ! भगवान् नारायणके सिवा ऐसे कंसको कौन मार सकता था ? ॥

एष शक्ररथे तिष्ठंस्तान्यनीकानि भारत ॥
व्यधमद् भोजपुत्रस्य महाभ्राणीव मारुतः ।

भारत ! जैसे हवा बड़े-बड़े बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार इन भगवान् श्रीकृष्णने इन्द्रके रथमें बैठकर कंसकी उपर्युक्त सारी सेनाओंका संहार कर डाला ॥

तं सभास्थं सहामात्यं हत्वा कंसं सहान्वयम् ॥
मानयामास मानार्हां देवकीं ससुहृद्गणाम् ।

सभामें विराजमान कंसको मन्त्रियों और परिवारके साथ



मारकर श्रीकृष्णने सुहृदोंसहित सम्माननीय माता देवकीका समादर किया ॥

यशोदां रोहिणीं चैव अभिवाद्य पुनः पुनः ॥
उग्रसेनं च राजानमभिषिच्य जनार्दनः ।
अर्चितो यदुमुख्यैश्च भगवान् वासवानुजः ॥

जनार्दनने यशोदा और रोहिणीको भी बारंबार प्रणाम करके उग्रसेनको राजाके पदपर अभिषिक्त किया। उस समय यदुकुलके प्रधान-प्रधान पुरुषोंने इन्द्रके छोटे भाई भगवान् श्रीहरिका पूजन किया ॥

ततः पार्थिवमायान्तं सहितं सर्वराजभिः ।
सरस्वत्यां जरासंधमजयत् पुरुषोत्तमः ॥

तदनन्तर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने समस्त राजाओंके सहित आक्रमण करनेवाले राजा जरासंधको सरोवरों या ह्रदोंसे सुशोभित यमुनाके तटपर परास्त किया ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[नरकासुरका सैनिकोंसहित वध, देवता आदिकी सोलह हजार कन्याओंको पत्नीरूपमें स्वीकार करके श्रीकृष्णका उन्हें द्वारका भेजना तथा इन्द्रलोकमें जाकर अदितिको कुण्डल अर्पण कर द्वारकापुरीमें वापस आना]

भीष्म उवाच

शूरसेनपुरं त्यक्त्वा सर्वयादवनन्दनः ।
द्वारकां भगवान् कृष्णः प्रत्यपद्यत केशवः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर समस्त यदुवंशियोंको आनन्दित करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण शूरसेनपुरी मथुराको छोड़कर द्वारकामें चले गये ॥

प्रत्यपद्यत यानानि रत्नानि च बहूनि च ।
यथार्हं पुण्डरीकाक्षो नैर्ऋतान् प्रतिपालयन् ॥

कमलनयन श्रीकृष्णने असुरोंको पराजित करके जो बहुत-से रत्न और वाहन प्राप्त किये थे, उनका वे द्वारकामें यथोचितरूपसे संरक्षण करते थे ॥

तत्र विघ्नं चरन्ति स्म दैतेयाः सह दानवैः ।
ताञ्जघान महाबाहुः वरमत्तान् महासुरान् ॥

उनके इस कार्यमें दैत्य और दानव विघ्न डालने लगे। तब महाबाहु श्रीकृष्णने वरदानसे उन्मत्त हुए उन बड़े-बड़े असुरोंको मार डाला ॥

स विघ्नमकरोत् तत्र नरको नाम नैर्ऋतः ।
त्रासनः सुरसंघानां विदितो वः प्रभावतः ॥

तत्पश्चात् नरक नामक राक्षसने भगवान्‌के कार्यमें विघ्न डालना आरम्भ किया। वह समस्त देवताओंको भयभीत करनेवाला था। राजन् ! तुम्हें तो उसका प्रभाव विदित ही है॥

स भूम्यां मूर्तिलिङ्गस्थः सर्वदेवासुरान्तकः ।
मानुषाणामृषीणां च प्रतीपमकरोत् तदा ॥

समस्त देवताओंके लिये अन्तकरूप नरकासुर इस धरतीके भीतर मूर्तिलिङ्गमें स्थित हो मनुष्यों और ऋषियोंके प्रतिकूल आचरण किया करता था ॥

त्वष्टुर्दुहितरं भौमः कशेरुमगमत् तदा ।
गजरूपेण जग्राह रुचिराङ्गीं चतुर्दशीम् ॥

---

१. मूर्ति या शिवलिङ्गके आकारका कोई दुर्भेद्य गृह, जो पृथ्वीके भीतर गुफामें बनाया गया हो। शत्रुओंसे आत्मरक्षाकी दृष्टिसे नरकासुरने ऐसे निवासस्थानका निर्माण करा रक्खा था ।

भूमिका पुत्र होनेसे नरकको भौमासुर भी कहते हैं। उसने हाथीका रूप धारण करके प्रजापति त्वष्टाकी पुत्री कशेरुके पास जाकर उसे पकड़ लिया। कशेरु बड़ी सुन्दरी और चौदह वर्षकी अवस्थावाली थी ॥

प्रमथ्य च जहारैतां हृत्वा च नरकोऽब्रवीत्।
नष्टशोकभयाबाधः प्राग्ज्योतिषपतिस्तदा ॥

नरकासुर प्राग्ज्योतिषपुरका राजा था। उसके शोक, भय और बाधाएँ दूर हो गयी थीं। उसने कशेरुको मूर्च्छित करके हर लिया और अपने घर लाकर उससे इस प्रकार कहा ॥

नरक उवाच

यानि देवमनुष्येषु रत्नानि विविधानि च।
बिभर्ति च मही कृत्स्ना सागरेषु च यद् वसु ॥
अद्यप्रभृति तद् देवि सहिताः सर्वनैर्ऋताः।
तवैवोपहरिष्यन्ति दैत्याश्च सह दानवैः ॥

नरकासुर बोला—देवि! देवताओं और मनुष्योंके पास जो नाना प्रकारके रत्न हैं, सारी पृथ्वी जिन रत्नोंको धारण करती है तथा समुद्रोंमें जो रत्न संचित हैं, उन सबको आजसे सभी राक्षस ला-लाकर तुम्हें ही अर्पित किया करेंगे। दैत्य और दानव भी तुम्हें उत्तमोत्तम रत्नोंकी भेंट देंगे ॥

भीष्म उवाच

एवमुत्तमरत्नानि बहूनि विविधानि च।
स जहार तदा भौमः स्त्रीरत्नानि च भारत ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत! इस प्रकार भौमासुरने नाना प्रकारके बहुत-से उत्तम रत्नों तथा स्त्री-रत्नोंका भी अपहरण किया॥

गन्धर्वाणां च याः कन्या जहार नरको बलात्।
याश्च देवमनुष्याणां सप्त चाप्सरसां गणाः ॥

गन्धर्वोंकी जो कन्याएँ थीं, उन्हें भी नरकासुर बलपूर्वक हर लाया। देवताओं और मनुष्योंकी कन्याओं तथा अप्सराओंके सात समुदायोंका भी उसने अपहरण कर लिया॥

चतुर्दशसहस्राणां चैकविंशच्छतानि च।
एकवेणीधराः सर्वाः सतां मार्गमनुव्रताः ॥

इस प्रकार सोलह हजार एक सौ सुन्दरी कुमारियाँ उसके घरमें एकत्र हो गयीं। वे सब-की-सब सत्पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करके व्रत और नियमके पालनमें तत्पर हो एक वेणी धारण करती थीं ॥

तासामन्तःपुरं भौमोऽकारयन्मणिपर्वते।
औदकायामदीनात्मा मुरस्य विषयं प्रति ॥

उत्साहयुक्त मनवाले भौमासुरने उनके रहनेके लिये मणिपर्वत-पर अन्तःपुरका निर्माण कराया। उस स्थानका नाम था औदका (जलकी सुविधासे सम्पन्न भूमि)। वह अन्तःपुर मुर नामक दैत्यके अधिकृत प्रदेशमें बना था ॥

ताश्च प्राग्ज्योतिषो राजा मुरस्य दश चात्मजाः।
नैर्ऋताश्च यथा मुख्याः पालयन्त उपासते ॥

प्राग्ज्योतिषपुरका राजा भौमासुर, मुरके दस पुत्र तथा प्रधान-प्रधान राक्षस उस अन्तःपुरकी रक्षा करते हुए सदा उसके समीप ही रहते थे ॥

स एव तपसां पारे वरदत्तो महीसुतः।
अदितिं धर्षयामास कुण्डलार्थं युधिष्ठिर ॥

युधिष्ठिर! पृथ्वीपुत्र भौमासुर तपस्याके अन्तमें वरदान पाकर इतना गर्वोन्मत्त हो गया था कि इसने कुण्डलके लिये देवमाता अदितितकका तिरस्कार कर दिया ॥

न चासुरगणैः सर्वैः सहितैः कर्म तत् पुरा।
कृतपूर्वं महाघोरं यदकार्षीन्महासुरः ॥

पूर्वकालमें समस्त महादैत्योंने एक साथ मिलकर भी वैसा अत्यन्त घोर पाप नहीं किया था, जैसा अकेले इस महान् असुर-ने कर डाला था ॥

यं मही सुषुवे देवी यस्य प्राग्ज्योतिषं पुरम्।
विषयान्तपालाश्चत्वारो यस्यासन् युद्धदुर्मदाः ॥

पृथ्वीदेवीने उसे उत्पन्न किया था, प्राग्ज्योतिषपुर उसकी राजधानी थी तथा चार युद्धोन्मत्त दैत्य उसके राज्य-की सीमाकी रक्षा करनेवाले थे ॥

आदेवयानमावृत्य पन्थानं पर्यवस्थिताः।
त्रासनाः सुरसङ्घानां विरूपै राक्षसैः सह ॥

वे पृथ्वीसे लेकर देवयानतकके मार्गको रोककर खड़े रहते थे। भयानक रूपवाले राक्षसोंके साथ रहकर वे देव-समुदायको भयभीत किया करते थे ॥

हयग्रीवो निशुम्भश्च घोरः पञ्चजनस्तथा।
मुरः पुत्रसहस्रैश्च वरदत्तो महासुरः ॥

उन चारों दैत्योंके नाम इस प्रकार हैं—हयग्रीव, निशुम्भ, भयंकर पञ्चजन तथा सहस्र पुत्रोंसहित महान् असुर मुर, जो वरदान प्राप्त कर चुका था ॥

तद्वधार्थं महाबाहुरेष चक्रगदासिधृक्।
जातो वृष्णिषु देवक्यां वासुदेवो जनार्दनः ॥

उसीके वधके लिये चक्र, गदा और खड्ग धारण करने-वाले ये महाबाहु श्रीकृष्ण वृष्णिकुलमें देवकीके गर्भसे उत्पन्न हुए हैं। वसुदेवजीके पुत्र होनेसे ये जनार्दन 'वासुदेव' कहलाते हैं ॥

तस्यास्य पुरुषेन्द्रस्य लोकप्रथिततेजसः।
निवासो द्वारका तात विदितो वः प्रधानतः ॥

तात युधिष्ठिर! इनका तेज सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात है। इन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका निवासस्थान प्रधानतः द्वारका ही है, यह तुम सब लोग जानते हो ॥

अतीव हि पुरी रम्या द्वारका वासवक्षयात् ।
अति वै राजते पृथ्व्यां प्रत्यक्षं ते युधिष्ठिर ॥

द्वारकापुरी इन्द्रके निवासस्थान अमरावती पुरीसे भी अत्यन्त रमणीय है। युधिष्ठिर! भूमण्डलमें द्वारकाकी शोभा सबसे अधिक है। यह तो तुम प्रत्यक्ष ही देख चुके हो ॥

तस्मिन् देवपुरप्रख्ये सा सभा वृष्ण्युपाश्रया ।
या दाशार्हीति विख्याता योजनायतविस्तृता ॥

देवपुरीके समान सुशोभित द्वारका नगरीमें वृष्णिवंशियोंके बैठनेके लिये एक सुन्दर सभा है, जो दाशार्हीके नामसे विख्यात है। उसकी लम्बाई और चौड़ाई एक-एक योजनकी है ॥

तत्र वृष्ण्यन्धकाः सर्वे रामकृष्णपुरोगमाः ।
लोकयात्रामिमां कृत्स्नां परिरक्षन्त आसते ॥

उसमें बलराम और श्रीकृष्ण आदि वृष्णि और अन्धक-वंशके सभी लोग बैठते हैं और सम्पूर्ण लोक-जीवनकी रक्षामें दत्तचित्त रहते हैं ॥

तत्रासीनेषु सर्वेषु कदाचिद् भरतर्षभ ।
दिव्यगन्धा ववुर्वाताः कुसुमानां च वृष्टयः ॥

भरतश्रेष्ठ! एक दिनकी बात है; सभी यदुवंशी उस सभामें विराजमान थे। इतनेमें ही दिव्य सुगन्धसे भरी हुई वायु चलने लगी और दिव्य कुसुमोंकी वर्षा होने लगी ॥

ततः सूर्यसहस्राभस्तेजोराशिर्महाद्भुतः ।
मुहूर्तमन्तरिक्षेऽभूत् ततो भूमौ प्रतिष्ठितः ॥

तदनन्तर दो ही घड़ीके अंदर आकाशमें सहस्रों सूर्योंके समान महान् एवं अद्भुत तेजोराशि प्रकट हुई। वह धीरे-धीरे पृथ्वीपर आकर खड़ी हो गयी ॥

मध्ये तु तेजसस्तस्य पाण्डरं गजमास्थितः ।
वृतो देवगणैः सर्वैर्वासवः प्रत्यदृश्यत ॥

उस तेजोमण्डलके भीतर श्वेत हाथीपर बैठे हुए इन्द्र सम्पूर्ण देवताओंसहित दिखायी दिये ॥

रामकृष्णौ च राजा च वृष्ण्यन्धकगणैः सह ।
उत्पत्य सहसा तस्मै नमस्कारमकुर्वत ॥

बलराम, श्रीकृष्ण तथा राजा उग्रसेन वृष्णि और अन्धकवंशके अन्य लोगोंके साथ सहसा उठकर बाहर आये और सबने देवराज इन्द्रको नमस्कार किया ॥

सोऽवतीर्य गजात् तूर्णं परिष्वज्य जनार्दनम् ।
सस्वजे बलदेवं च राजानं च तमाहुकम् ॥

इन्द्रने हाथीसे उतरकर शीघ्र ही भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे लगाया। फिर बलराम तथा राजा उग्रसेनसे भी उसी प्रकार मिले ॥

उद्धवं वसुदेवं च विकद्रुं च महामतिम् ।
प्रद्युम्नसाम्बनिशठाननिरुद्धं ससात्यकिम् ॥
गदं सारणमक्रूरं कृतवर्माणमेव च ।
चारुदेष्णं सुदेष्णं च अन्यानपि यथोचितम् ॥
परिष्वज्य च दृष्ट्वा च भगवान् भूतभावनः ।

भूतभावन ऐश्वर्यशाली इन्द्रने वसुदेव, उद्धव, महामति विकद्रु, प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, अनिरुद्ध, सात्यकि, गद, सारण, अक्रूर, कृतवर्मा, चारुदेष्ण तथा सुदेष्ण आदि अन्य यादवोंका भी यथोचित रीतिसे आलिङ्गन करके उन सबकी ओर दृष्टिपात किया ॥

वृष्ण्यन्धकमहामात्रान् परिष्वज्याथ वासवः ॥
प्रगृह्य पूजां तैर्दत्तामुवाचावनताननः ।

इस प्रकार उन्होंने वृष्णि और अन्धकवंशके प्रधान व्यक्तियोंको हृदयसे लगाकर उनकी दी हुई पूजा ग्रहण की तथा मुखको नीचेकी ओर झुकाकर वे इस प्रकार बोले ॥

इन्द्र उवाच

अदित्या चोदितः कृष्ण तव मात्राहमागतः ॥
कुण्डलेऽपहृते तात भौमेन नरकेण च ।

इन्द्रने कहा—भैया कृष्ण! तुम्हारी माता अदितिकी आज्ञासे मैं यहाँ आया हूँ। तात! भूमिपुत्र नरकासुरने उनके कुण्डल छीन लिये हैं ॥

निदेशशब्दवाच्यस्त्वं लोकेऽस्मिन् मधुसूदन ॥
तस्माज्जहि महाभाग भूमिपुत्रं नरेश्वर ।

मधुसूदन! इस लोकमें माताका आदेश सुननेके पात्र केवल तुम्हीं हो। अतः महाभाग नरेश्वर! तुम भौमासुरको मार डालो ॥

भीष्म उवाच

तमुवाच महाबाहुः प्रीयमाणो जनार्दनः ।
निर्जित्य नरकं भौममाहरिष्यामि कुण्डले ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब महाबाहु जनार्दन अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले—'देवराज! मैं भूमिपुत्र नरकासुरको पराजित करके माताजीके कुण्डल अवश्य ला दूँगा' ॥

एवमुक्त्वा तु गोविन्दो राममेवाभ्यभाषत ।
प्रद्युम्नमनिरुद्धं च साम्बं चाप्रतिमं बले ॥
एतांश्चोक्त्वा तदा तत्र वासुदेवो महायशाः ।
अथारुह्य सुपर्णं वै शङ्खचक्रगदासिधृक् ॥
ययौ तदा हृषीकेशो देवानां हितकाम्यया ।

ऐसा कहकर भगवान् गोविन्दने बलरामजीसे बातचीत की। तत्पश्चात् प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और अनुपम बलवान् साम्बसे भी इसके विषयमें वार्तालाप करके महायशस्वी इन्द्रियाधीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग



धारणकर गरुड़पर आरूढ़ हो देवताओंका हित करनेकी इच्छासे वहाँसे चल दिये ॥

तं प्रयान्तममित्रघ्नं देवाः सहपुरन्दराः ॥
पृष्ठतोऽनुययुः प्रीताः स्तुवन्तो विष्णुमच्युतम् ।

शत्रुनाशन भगवान् श्रीकृष्णको प्रस्थान करते देख इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता बड़े प्रसन्न हुए और अच्युत भगवान् कृष्णकी स्तुति करते हुए उन्हींके पीछे-पीछे चले ॥

सोऽग्र्यान् रक्षोगणान् हत्वा नरकस्य महासुरान् ॥
क्षुरान्तान् मौरवान् पाशान् षट् सहस्रं ददर्श सः ।

भगवान् श्रीकृष्णने नरकासुरके उन मुख्य-मुख्य राक्षसोंको मारकर मुर दैत्यके बनाये हुए छः हजार पाशोंको देखा, जिनके किनारोंके भागोंमें छुरे लगे हुए थे ॥

संच्छिद्य पाशांस्त्वस्त्रेण मुरं हत्वा सहान्वयम् ॥
शिलासङ्घानतिक्रम्य निशुम्भमवपोथयत् ।

भगवान्‌ने अपने अस्त्र (चक्र) से मुर दैत्यके पाशोंको काटकर मुरनामक असुरको उसके वंशजोंसहित मार डाला और शिलाओंके समूहोंको लाँघकर निशुम्भको भी मार गिराया ॥

यः सहस्रसमस्त्वेकः सर्वान् देवानयोधयत् ॥
तं जघान महावीर्यं हयग्रीवं महाबलम् ।

तत्पश्चात् जो अकेला ही सहस्रों योद्धाओंके समान था, और सम्पूर्ण देवताओंके साथ अकेला ही युद्ध कर सकता था, उस महाबली एवं महापराक्रमी हयग्रीवको भी मार दिया ॥

अपारतेजा दुर्धर्षः सर्वयादवनन्दनः ॥
मध्ये लोहितगङ्गायां भगवान् देवकीसुतः ।
औदकायां विरूपाक्षं जघान भरतर्षभ ॥
पञ्च पञ्चजनान् घोरान् नरकस्य महासुरान् ।

भरतश्रेष्ठ ! सम्पूर्ण यादवोंको आनन्दित करनेवाले अमित तेजस्वी दुर्धर्ष वीर भगवान् देवकीनन्दनने औदकाके अन्तर्गत लोहितगङ्गाके बीच विरूपाक्षको तथा 'पञ्चजन' नामसे प्रसिद्ध नरकासुरके पाँच भयंकर राक्षसोंको भी मार गिराया ॥

ततः प्राग्ज्योतिषं नाम दीप्यमानमिव श्रिया ॥
पुरमासादयामास तत्र युद्धमवर्तत ।

फिर भगवान् अपनी शोभासे उद्दीप्त-से दिखायी देनेवाले प्राग्ज्योतिषपुरमें जा पहुँचे । वहाँ उनका दानवोंसे फिर युद्ध छिड़ गया ॥

महद् दैवासुरं युद्धं यद् वृत्तं भरतर्षभ ॥
युद्धं न स्यात् समं तेन लोकविस्मयकारकम् ।

भरतकुलभूषण ! वह युद्ध महान् देवासुर-संग्रामके रूपमें परिणत हो गया । उसके समान लोकविस्मयकारी युद्ध दूसरा कोई नहीं हो सकता ॥

चक्रलाञ्छनसंछिन्नाः शक्तिखड्गहतास्तदा ॥
निपेतुर्दानवास्तत्र समासाद्य जनार्दनम् ।

चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्णसे भिड़कर सभी दानव वहाँ चक्रसे छिन्न-भिन्न एवं शक्ति तथा खड्गसे आहत होकर धराशायी हो गये ॥

अष्टौ शतसहस्राणि दानवानां परंतप ।
निहत्य पुरुषव्याघ्रः पातालविवरं ययौ ॥
त्रासनं सुरसङ्घानां नरकं पुरुषोत्तमः ।
योधयत्यतितेजस्वी मधुवन्मधुसूदनः ॥

परंतप युधिष्ठिर ! इस प्रकार आठ लाख दानवोंका संहार करके पुरुषसिंह पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण पातालगुफामें गये । जहाँ देवसमुदायको आतंकित करनेवाला नरकासुर रहता था । अत्यन्त तेजस्वी भगवान् मधुसूदनने मधुकी भाँति पराक्रमी नरकासुरसे युद्ध प्रारम्भ किया ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं तेन भौमेन भारत ।
कुण्डलार्थे सुरेशस्य नरकेण महात्मना ॥

भारत ! देवमाता अदितिके कुण्डलोंके लिये भूमिपुत्र महाकाय नरकासुरके साथ छिड़ा हुआ वह युद्ध बड़ा भयंकर था।

मुहूर्तं लालयित्वाथ नरकं मधुसूदनः ।
प्रवृत्तचक्रं चक्रेण प्रममाथ बलाद् बली ॥

बलवान् मधुसूदनने चक्र हाथमें लिये हुए नरकासुरके साथ दो घड़ीतक खिलवाड़ करके बलपूर्वक चक्रसे उसके मस्तकको काट डाला ॥

चक्रप्रमथितं तस्य पपात सहसा भुवि ।
उत्तमाङ्गं हताङ्गस्य वृत्रे वज्रहते यथा ॥

चक्रसे छिन्न-भिन्न होकर घायल हुए शरीरवाले नरका-

सुरका मस्तक वज्रके मारे हुए वृत्रासुरके सिरकी भाँति सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥

भूमिस्तु पतितं दृष्ट्वा ते वै प्रादाच्च कुण्डले।
प्रदाय च महाबाहुमिदं वचनमब्रवीत् ॥

भूमिने अपने पुत्रको रणभूमिमें गिरा देख अदितिके दोनों कुण्डल लौटा दिये और महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा ॥



भूमिरुवाच

सृष्टस्त्वयैव मधुहंस्त्वयैव निहतः प्रभो।
यथेच्छसि तथा क्रीडन् प्रजास्तस्यानुपालय ॥

भूमि बोली—प्रभो मधुसूदन ! आपने ही इसे जन्म दिया था और आपने ही इसे मारा है। आपकी जैसी इच्छा हो, वैसी ही लीला करते हुए नरकासुरकी संतानका पालन कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

देवानां च मुनीनां च पितॄणां च महात्मनाम्।
उद्वेजनीयो भूतानां ब्रह्मद्विट् पुरुषाधमः ॥
लोकद्विष्टः सुतस्ते तु देवारिर्लोककण्टकः।

श्रीभगवान्ने कहा—भामिनी ! तुम्हारा यह पुत्र देवताओं, मुनियों, पितरों, महात्माओं तथा सम्पूर्ण भूतोंके उद्वेगका पात्र हो रहा था। यह पुरुषाधम ब्राह्मणोंसे द्वेष रखनेवाला, देवताओंका शत्रु तथा सम्पूर्ण विश्वका कण्टक था, इसलिये सब लोग इससे द्वेष रखते थे ॥

सर्वलोकनमस्कार्यामदितिं बाधते बली ॥
कुण्डले दर्पसम्पूर्णस्ततोऽसौ निहतोऽसुरः।

इस बलवान् असुरने बलके घमंडमें आकर सम्पूर्ण विश्वके लिये वन्दनीय देवमाता अदितिको भी कष्ट पहुँचाया और उनके कुण्डल ले लिये। इन्हीं सब कारणोंसे यह मारा गया है॥

नैव मन्युस्त्वया कार्यो यत् कृतं मयि भामिनि ॥
मत्प्रभावाच्च ते पुत्रो लब्धवान् गतिमुत्तमाम्।
तस्माद् गच्छ महाभागे भारावतरणं कृतम् ॥

भामिनि ! मैंने इस समय जो कुछ किया है, उसके लिये तुम्हें मुझपर क्षोभ नहीं करना चाहिये। महाभागे ! तुम्हारे पुत्रने मेरे प्रभावसे अत्यन्त उत्तम गति प्राप्त की है; इसलिये जाओ, मैंने तुम्हारा भार उतार दिया है ॥

भीष्म उवाच

निहत्य नरकं भौमं सत्यभामासहायवान्।
सहितो लोकपालैश्च ददर्श नरकालयम् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! भूमिपुत्र नरकासुरको मारकर सत्यभामा सहित भगवान् श्रीकृष्णने लोकपालोंके साथ जाकर नरकासुरके घरको देखा ॥

अथास्य गृहमासाद्य नरकस्य यशस्विनः।
ददर्श धनमक्षय्यं रत्नानि विविधानि च ॥

यशस्वी नरकके घरमें जाकर उन्होंने नाना प्रकारके रत्न और अक्षय धन देखा ॥

मणिमुक्ताप्रवालानि वैडूर्यविकृतानि च।
अश्मसारानर्कमणीन् विमलान् स्फाटिकानपि ॥

मणि, मोती, मूँगे, वैदूर्यमणिकी बनी हुई वस्तुएँ, पुखराज, सूर्यकान्त मणि और निर्मल स्फटिक मणिकी वस्तुएँ भी वहाँ देखनेमें आयीं ॥

जाम्बूनदमयान्येव शातकुम्भमयानि च।
प्रदीप्तज्वलनाभानि शीतरश्मिप्रभाणि च ॥

जाम्बूनद तथा शातकुम्भसंज्ञक सुवर्णकी बनी हुई बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ वहाँ दृष्टिगोचर हुईं, जो प्रज्वलित अग्नि और शीतरश्मि चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रही थीं ॥

हिरण्यवर्णं रुचिरं श्वेतमभ्यन्तरं गृहम्।
यदक्षयं गृहे दृष्टं नरकस्य धनं बहु ॥
न हि राज्ञः कुबेरस्य तावद् धनसमुच्छ्रयः।
दृष्टपूर्वः पुरा साक्षान्महेन्द्रसदनेष्वपि ॥

नरकासुरका भीतरी भवन सुवर्णके समान सुन्दर, कान्तिमान् एवं उज्ज्वल था। उसके घरमें जो असंख्य एवं अक्षय धन दिखायी दिया, उतनी धनराशि राजा कुबेरके घरमें भी नहीं है। देवराज इन्द्रके भवनमें भी पहले कभी उतना वैभव नहीं देखा गया था ॥

इन्द्र उवाच

इमानि मणिरत्नानि विविधानि वसूनि च ॥
हेमसूत्रा महाकक्ष्यास्तोमरैर्वीर्यशालिनः।



भूमिका भगवान्‌को अदितिके कुण्डल देना

भीमरूपाश्च मातङ्गाः प्रवालविकृताः कुथाः ॥
विमलाभिः पताकाभिर्वासांसि विविधानि च ।
ते च विंशतिसाहस्रा द्विस्तावत्यः करेणवः ॥

इन्द्र बोले—जनार्दन ! ये जो नाना प्रकारके माणिक्य, रत्न, धन तथा सोनेकी जालियोंसे सुशोभित बड़े-बड़े हौदोंवाले, तोमरसहित पराक्रमशाली बड़े भारी गजराज एवं उनपर बिछानेके लिये मूँगेसे विभूषित कम्बल, निर्मल पताकाओंसे युक्त नाना प्रकारके वस्त्र आदि हैं, इन सबपर आपका अधिकार है। इन गजराजोंकी संख्या बीस हजार है तथा इससे दूनी हथिनियाँ हैं।

अष्टौ शतसहस्राणि देशजाश्चोत्तमा हयाः ।
गोभिश्चाविकृतैर्यानैः कामं तव जनार्दन ॥

जनार्दन ! यहाँ आठ लाख उत्तम देशी घोड़े हैं और बैल जुते हुए नये-नये वाहन हैं। इनमेंसे जिनकी आपको आवश्यकता हो, वे सब आपके यहाँ जा सकते हैं ॥

आविकानि च सूक्ष्माणि शयनान्यासनानि च ।
कामव्याहारिणश्चैव पक्षिणः प्रियदर्शनाः ॥
चन्दनागुरुमिश्राणि यानानि विविधानि च ।
एतत् ते प्रापयिष्यामि वृष्ण्यावासमरिंदम ॥

शत्रुदमन ! ये महीन ऊनी वस्त्र, अनेक प्रकारकी शय्याएँ, बहुत-से आसन, इच्छानुसार बोली बोलनेवाले देखनेमें सुन्दर पक्षी, चन्दन और अगुरुमिश्रित नाना प्रकारके रथ—ये सब वस्तुएँ मैं आपके लिये वृष्णियोंके निवासस्थान द्वारकामें पहुँचा दूँगा ॥

भीष्म उवाच

देवगन्धर्वरत्नानि दैतेयासुरजानि च ।
यानि सन्तीह रत्नानि नरकस्य निवेशने ॥
एतत् तु गरुडे सर्वं क्षिप्रमारोप्य वासवः ।
दाशार्हपतिना सार्धमुपायान्मणिपर्वतम् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! देवता, गन्धर्व, दैत्य और असुरसम्बन्धी जितने भी रत्न नरकासुरके घरमें उपलब्ध हुए, उन्हें शीघ्र ही गरुड़पर रखकर देवराज इन्द्र दाशार्हवंशके अधिपति भगवान् श्रीकृष्णके साथ मणिपर्वतपर गये ॥

तत्र पुण्या ववुर्वाताः प्रभाश्चित्राः समुज्ज्वलाः ।
प्रेक्षतां सुरसङ्घानां विस्मयः समपद्यत ॥

वहाँ बड़ी पवित्र हवा बह रही थी तथा विचित्र एवं उज्ज्वल प्रभा सब ओर फैली हुई थी। यह सब देखकर देवताओंको बड़ा विस्मय हुआ ॥

त्रिदशा ऋषयश्चैव चन्द्रादित्यौ यथा दिवि ।
प्रभया तस्य शैलस्य निर्विशेषमिवाभवत् ॥

आकाशमण्डलमें प्रकाशित होनेवाले देवता, ऋषि, चन्द्रमा और सूर्यकी भाँति वहाँ आये हुए देवगण उस पर्वतकी प्रभासे तिरस्कृत हो साधारण-से प्रतीत हो रहे थे ॥

अनुज्ञातस्तु रामेण वासवेन च केशवः ।
प्रीयमाणो महाबाहुर्विवेश मणिपर्वतम् ॥

तदनन्तर बलरामजी तथा देवराज इन्द्रकी आज्ञासे महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णने नरकासुरके मणिपर्वतपर बने हुए अन्तःपुरमें प्रसन्नतापूर्वक प्रवेश किया ॥

तत्र वैडूर्यवर्णानि ददर्श मधुसूदनः ।
सतोरणपताकानि द्वाराणि शरणानि च ॥

मधुसूदनने देखा, उस अन्तःपुरके द्वार और गृह वैदूर्य-मणिके समान प्रकाशित हो रहे हैं। उनके फाटकोंपर पताकाएँ फहरा रही थीं ॥

चित्रग्रथितमेघाभः प्रबभौ मणिपर्वतः ।
हेमचित्रपताकैश्च प्रासादैरुपशोभितः ॥

सुवर्णमय विचित्र पताकाओंवाले महलोंसे सुशोभित वह मणिपर्वत चित्रलिखित मेघोंके समान प्रतीत होता था ॥

हर्म्याणि च विशालानि मणिसोपानवन्ति च ।
तत्रस्था वरवर्णाभा ददृशुर्मधुसूदनम् ॥
गन्धर्वासुरमुख्यानां प्रिया दुहितरस्तदा ।
त्रिविष्टपसमे देशे तिष्ठन्तमपराजितम् ॥

उन महलोंमें विशाल अट्टालिकाएँ बनी थीं, जिनपर चढ़नेके लिये मणिनिर्मित सीढ़ियाँ सुशोभित हो रही थीं। वहाँ रहनेवाली प्रधान-प्रधान गन्धर्वों और असुरोंकी परम सुन्दरी प्यारी पुत्रियोंने उस स्वर्गके समान प्रदेशमें खड़े हुए अपराजित वीर भगवान् मधुसूदनको देखा ॥

परिवव्रुर्महाबाहुमेकवेणीधराः स्त्रियः ।
सर्वाः काषायवासिन्यः सर्वाश्च नियतेन्द्रियाः ॥

देखते-देखते ही उन सबने महाबाहु श्रीकृष्णको घेर लिया। वे सभी स्त्रियाँ एक वेणी धारण किये गेरुए वस्त्र पहिने इन्द्रियसंयमपूर्वक वहाँ तपस्या करती थीं ॥

व्रतसंतापजः शोको नात्र काश्चिदपीडयत् ।
अरजांसि च वासांसि बिभ्रत्यः कौशिकान्यपि ॥
समेत्य यदुसिंहस्य चक्रुरस्याञ्जलिं स्त्रियः ।
ऊचुश्चैनं हृषीकेशं सर्वास्ताः कमलेक्षणाः ॥

उस समय व्रत और संतापजनित शोक उनमेंसे किसीको पीड़ा नहीं दे सका। वे निर्मल रेशमी वस्त्र पहने हुए यदुवीर श्रीकृष्णके पास जा उनके सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गयीं। उन कमलनयनी कामिनियोंने अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों-के स्वामी श्रीहरिसे इस प्रकार कहा ॥



कन्यका ऊचुः

नारदेन समाख्यातमस्माकं पुरुषोत्तम ।
आगमिष्यति गोविन्दः सुरकार्यार्थसिद्धये ॥

कन्याएँ बोलीं—पुरुषोत्तम ! देवर्षि नारदने हमसे कह रक्खा था कि 'देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये भगवान् गोविन्द यहाँ पधारेंगे ॥

सोऽसुरं नरकं हत्वा निशुम्भं मुरमेव च ।
भौमं च सपरीवारं हयग्रीवं च दानवम् ॥
तथा पञ्चजनं चैव प्राप्स्यते धनमक्षयम् ।

'एवं वे सपरिवार नरकासुर, निशुम्भ, मुर, दानव हयग्रीव तथा पञ्चजनको मारकर अक्षय धन प्राप्त करेंगे ॥

सोऽचिरेणैव कालेन युष्मन्मोक्ता भविष्यति ॥
एवमुक्त्वागमद् धीमान् देवर्षिर्नारदस्तथा ।

'थोड़े ही दिनोंमें भगवान् यहाँ पधारकर तुम सब लोगोंका इस संकटसे उद्धार करेंगे ।' ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् देवर्षि नारद यहाँसे चले गये ॥

त्वां चिन्तयानाः सततं तपो घोरमुपास्महे ॥
कालेऽतीते महाबाहुं कदा द्रक्ष्याम माधवम् ।

हम सदा आपका ही चिन्तन करती हुई घोर तपस्यामें लग गयीं । हमारे मनमें यह संकल्प उठता रहता था कि कितना समय बीतनेपर हमें महाबाहु माधवका दर्शन प्राप्त होगा ॥

इत्येवं हृदि संकल्पं कृत्वा पुरुषसत्तम ॥
तपश्चराम सततं रक्ष्यमाणा हि दानवैः ।

पुरुषोत्तम ! यही संकल्प लेकर दानवोंद्वारा सुरक्षित हो हम सदा तपस्या करती आ रही हैं ॥

गान्धर्वेण विवाहेन विवाहं कुरु नः प्रियम् ॥
ततोऽस्मत्प्रियकामार्थं भगवान् मारुतोऽब्रवीत् ।
यथोक्तं नारदेनाद्य न चिरात् तद् भविष्यति ॥

भगवन् ! आप गान्धर्व विवाहकी रीतिसे हमारे साथ विवाह करके हमारा प्रिय करें । हमारे पूर्वोक्त मनोरथको जानकर भगवान् वायुदेवने भी हम सबके प्रिय मनोरथकी सिद्धिके लिये कहा था कि 'देवर्षि नारदजीने जो कहा है, वह शीघ्र ही पूर्ण होगा' ॥

भीष्म उवाच

तासां परमनारीणामृषभाक्षं पुरस्कृतम् ।
ददृशुर्देवगन्धर्वा गृष्टीनामिव गोपतिम् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! देवताओं तथा गन्धर्वोंने देखा, वृषभकेसमान विशाल नेत्रोंवाले भगवान् श्रीकृष्ण उन परम सुन्दरी नारियोंके समक्ष वैसे ही खड़े थे, जैसे नयी गायोंके आगे साँड़ हो ॥

तस्य चन्द्रोपमं वक्त्रमुदीक्ष्य मुदितेन्द्रियाः ।
सम्प्रहृष्टा महाबाहुमिदं वचनमब्रुवन् ॥

भगवान्के मुखचन्द्रको देखकर उन सबकी इन्द्रियाँ उल्लसित हो उठीं और वे हर्षमें भरकर महाबाहु श्रीकृष्णसे पुनः इस प्रकार बोलीं ॥

कन्यका ऊचुः

सत्यं बत पुरा वायुरिदमस्मानिहाब्रवीत् ।
सर्वभूतकृतज्ञश्च महर्षिरपि नारदः ॥

कन्याओंने कहा—बड़े हर्षकी बात है कि पूर्वकालमें वायुदेवने तथा सम्पूर्ण भूतोंके प्रति कृतज्ञता रखनेवाले महर्षि नारदजीने जो बात कही थी, वह सत्य हो गयी ।

विष्णुर्नारायणो देवः शङ्खचक्रगदासिधृक् ।
स भौमं नरकं हत्वा भर्ता वो भविता ह्यतः ॥

उन्होंने कहा था कि 'शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले सर्वव्यापी नारायण भगवान् विष्णु भूमिपुत्र नरकको मारकर तुमलोगोंके पति होंगे' ॥

दिष्ट्या तस्यर्षिमुख्यस्य नारदस्य महात्मनः ।
वचनं दर्शनादेव सत्यं भवितुमर्हति ॥

ऋषियोंमें प्रधान महात्मा नारदका वह वचन आज आपके दर्शनमात्रसे सत्य होने जा रहा है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥

यत् प्रियं बत पश्याम वक्त्रं चन्द्रोपमं तु ते ।
दर्शनेन कृतार्थाः स्मो वयमद्य महात्मनः ॥

तभी तो आज हम आपके परम प्रिय चन्द्रतुल्य मुखका दर्शन कर रही हैं । आप परमात्माके दर्शनमात्रसे ही हम कृतार्थ हो गयीं ॥

भीष्म उवाच

उवाच स यदुश्रेष्ठः सर्वास्ता जातमन्मथाः ।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! भगवान्के प्रति

उन सबके हृदयमें कामभावका संचार हो गया था। उस समय यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णने उनसे कहा ॥

श्रीभगवानुवाच

यथा ब्रूत विशालाक्ष्यस्तत् सर्वं वो भविष्यति ॥

श्रीभगवान् बोले--विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरियो ! जैसा तुम कहती हो, उसके अनुसार तुम्हारी सारी अभिलाषा पूर्ण हो जायगी ॥

भीष्म उवाच

तानि सर्वाणि रत्नानि गमयित्वाथ किङ्करैः ।
स्त्रियश्च गमयित्वाथ देवतानृपकन्यकाः ॥
वैनतेयभुजे कृष्णो मणिपर्वतमुत्तमम् ।
क्षिप्रमारोपयाञ्चक्रे भगवान् देवकीसुतः ॥

भीष्मजी कहते हैं--युधिष्ठिर ! सेवकोंद्वारा उन सब रत्नोंको तथा देवताओं एवं राजाओं आदिकी कन्याओंको द्वारका भेजकर देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने उस उत्तम मणिपर्वतको शीघ्र ही गरुड़की बाँह (पंख या पीठ) पर चढ़ा दिया ॥

सपक्षिगणमातङ्गं सव्यालमृगपन्नगम् ।
शाखामृगगणैर्जुष्टं सप्रस्तरशिलातलम् ॥
न्यङ्कुभिश्च वराहैश्च रुरुभिश्च निषेवितम् ।
सप्रपातमहासानुं विचित्रशिखिसंकुलम् ॥
तं महेन्द्रानुजः शौरिश्चकार गरुडोपरि ।
पश्यतां सर्वभूतानामुत्पाट्य मणिपर्वतम् ॥

केवल पर्वत ही नहीं, उसपर रहनेवाले जो पक्षियोंके समुदाय, हाथी, सर्प, मृग, नाग, वंदर, पत्थर, शिला, न्यङ्कु, वराह, रुरुमृग, झरने, बड़े-बड़े शिखर तथा विचित्र मोर आदि थे, उन सबके साथ मणिपर्वतको उखाड़कर इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्णने सब प्राणियोंके देखते-देखते गरुड़पर रख लिया ॥

उपेन्द्रं बलदेवं च वासवं च महाबलम् ।
तं च रत्नौघमतुलं पर्वतं च महाबलः ॥
वरुणस्यामृतं दिव्यं छत्रं चन्द्रोपमं शुभम् ॥
स्वपक्षबलविक्षेपैर्महाद्रिशिखरोपमः ॥
दिक्षु सर्वासु संरावं स चक्रे गरुडो वहन् ॥

महाबली गरुड़ श्रीकृष्ण, बलराम तथा महाबलवान् इन्द्रको, उस अनुपम रत्नराशि तथा पर्वतको, वरुणदेवताके दिव्य अमृत तथा चन्द्रतुल्य उज्ज्वल शुभकारक छत्रको वहन करते हुए चल दिये। उनका शरीर विशाल पर्वत-शिखरके समान था। वे अपनी पाँखोंको बलपूर्वक हिला-हिलाकर सब दिशाओंमें भारी शोर मचाते जा रहे थे ॥

आरुजन् पर्वताग्राणि पादपांश्च समुत्क्षिपन् ॥
संजहार महाभ्राणि वैश्वानरपथं गतः ।

उड़ते समय गरुड़ पर्वतोंके शिखर तोड़ डालते थे, पेड़ोंको उखाड़ फेंकते थे और ज्योतिष्पथ (आकाश) में चलते समय बड़े-बड़े बादलोंको अपने साथ उड़ा ले जाते थे ॥

ग्रहनक्षत्रताराणां सप्तर्षीणां स्वतेजसा ॥
प्रभाजालमतिक्रम्य चन्द्रसूर्यपथं ययौ ।

वे अपने तेजसे ग्रह, नक्षत्र, तारों और सप्तर्षियोंके प्रकाशपुञ्जको तिरस्कृत करते हुए चन्द्रमा और सूर्यके मार्गपर जा पहुँचे ॥

मेरोः शिखरमासाद्य मध्यमं मधुसूदनः ॥
देवस्थानानि सर्वाणि ददर्श भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर मधुसूदनने मेरुपर्वतके मध्यम शिखरपर पहुँचकर समस्त देवताओंके निवासस्थानोंका दर्शन किया ॥

विश्वेषां मरुतां चैव साध्यानां च युधिष्ठिर ॥
भ्राजमानान्यतिक्रम्य अश्विनोश्च परंतप ।
प्राप्य पुण्यतमं स्थानं देवलोकमरिंदमः ॥

युधिष्ठिर ! उन्होंने विश्वदेवों, मरुद्गणों और साध्योंके प्रकाशमान स्थानोंको लाँघकर अश्विनीकुमारोंके पुण्यतम लोकमें पदार्पण किया। परंतप ! तत्पश्चात् शत्रुहन्ता भगवान् श्रीकृष्ण देवलोकमें जा पहुँचे ॥

शक्रसद्म समासाद्य चावरुह्य जनार्दनः ।
सोऽभिवाद्यादितेः पादावर्चितः सर्वदैवतैः ॥
ब्रह्मदक्षपुरोगैश्च प्रजापतिभिरेव च ।

इन्द्रभवनके निकट आकर भगवान् जनार्दन गरुड़परसे उतर पड़े। वहाँ उन्होंने देवमाता अदितिके चरणोंमें प्रणाम किया। फिर ब्रह्मा और दक्ष आदि प्रजापतियोंने तथा सम्पूर्ण देवताओंने उनका भी स्वागत-सत्कार किया ॥

अदितेः कुण्डले दिव्ये ददावथ तदा विभुः ॥
रत्नानि च परार्ध्याणि रामेण सह केशवः ।

उस समय बलरामसहित भगवान् केशवने माता अदितिको दोनों दिव्य कुण्डल और बहुमूल्य रत्न भेंट किये ॥

प्रतिगृह्य च तत् सर्वमदितिर्वासवानुजम् ॥
पूजयामास दाशार्हं रामं च विगतज्वरा ।

वह सब ग्रहण करके माता अदितिका मानसिक दुःख दूर हो गया और उन्होंने इन्द्रके छोटे भाई यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण और बलरामका बहुत आदर-सत्कार किया ॥

शची महेन्द्रमहिषी कृष्णस्य महिषीं तदा ॥
सत्यभामां तु संगृह्य अदित्यै वै न्यवेदयत् ।

इन्द्रकी महारानी शचीने उस समय भगवान् श्रीकृष्णकी

पटरानी सत्यभामाका हाथ पकड़कर उन्हें माता अदितिकी सेवामें पहुँचाया ॥

सा तस्याः सत्यभामायाः कृष्णप्रियचिकीर्षया ॥
वरं प्रादाद् देवमाता सत्यायै विगतज्वरा ।

देवमाताकी सारी चिन्ता दूर हो गयी थी । उन्होंने श्रीकृष्णका प्रिय करनेकी इच्छासे सत्यभामाको उत्तम वर प्रदान किया ॥

अदितिरुवाच

जरां न यास्यसि वधूर्यावद् वै कृष्णमानुषम् ॥
सर्वगन्धगुणोपेता भविष्यसि वरानने ।

अदिति बोलीं—सुन्दर मुखवाली बहू ! जबतक श्रीकृष्ण मानवशरीरमें रहेंगे, तबतक तू वृद्धावस्थाको प्राप्त न होगी और सब प्रकारकी दिव्य सुगन्ध एवं उत्तम गुणोंसे सुशोभित होती रहेगी ॥

भीष्म उवाच

विहृत्य सत्यभामा वै सह शच्या सुमध्यमा ॥
शच्यापि समनुज्ञाता ययौ कृष्णनिवेशनम् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! सुन्दरी सत्यभामा शचीदेवीके साथ घूम-फिरकर उनकी आज्ञा ले भगवान् श्रीकृष्णके विश्रामगृहमें चली गयीं ॥

सम्पूज्यमानस्त्रिदशैर्महर्षिगणसेवितः ।
द्वारकां प्रययौ कृष्णो देवलोकादरिंदमः ॥

तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण महर्षियोंसे सेवित और देवताओंद्वारा पूजित होकर देवलोकसे द्वारकाको चले गये ॥

सोऽतिपत्य महाबाहुर्दीर्घमध्वानमच्युतः ।
वर्धमानपुरद्वारमाससाद पुरोत्तमम् ॥

महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण लंबा मार्ग तय करके उत्तम द्वारका नगरीमें, जिसके प्रधान द्वारका नाम वर्धमान था, जा पहुँचे ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[द्वारकापुरी एवं रुक्मिणी आदि रानियोंके महलोंका वर्णन, श्रीबलराम और श्रीकृष्णका द्वारकामें प्रवेश]

भीष्म उवाच

तां पुरीं द्वारकां दृष्ट्वा विभुर्नारायणो हरिः ।
हृष्टः सर्वार्थसम्पन्नां प्रवेष्टुमुपचक्रमे ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! सर्वव्यापी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने सब प्रकारके मनोवाञ्छित पदार्थोंसे भरी-पूरी द्वारकापुरीको देखकर प्रसन्नतापूर्वक उसमें प्रवेश करनेकी तैयारी की ॥

सोऽपश्यद् वृक्षषण्डांश्च रम्यानारामजान् बहून् ।
समन्ततो द्वारवत्यां नानापुष्पफलान्वितान् ॥

उन्होंने देखा, द्वारकापुरीके सब ओर बगीचोंमें बहुतसे रमणीय वृक्षसमूह शोभा पा रहे हैं, जिनमें नाना प्रकारके फल और फूल लगे हुए हैं ॥

अर्कचन्द्रप्रतीकाशैर्मेरुकूटनिभैर्गृहैः ।
द्वारका रचिता रम्यैः सुकृता विश्वकर्मणा ॥

वहाँके रमणीय राजसदन सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशमान तथा मेरुपर्वतके शिखरोंकी भाँति गगनचुम्बी थे । उन भवनोंसे विभूषित द्वारकापुरीकी रचना साक्षात् विश्वकर्माने की थी ॥

पद्मषण्डाकुलाभिश्च हंससेवितवारिभिः ।
गङ्गासिन्धुप्रकाशाभिः परिखाभिरलंकृता ॥

उस पुरीके चारों ओर बनी हुई चौड़ी खाइयाँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं । उनमें कमलके फूल खिले हुए थे । हंस आदि पक्षी उनके जलका सेवन करते थे । वे देखनेमें गङ्गा और सिन्धुके समान जान पड़ती थीं ॥

प्राकारेणार्कवर्णेन पाण्डरेण विराजिता ।
वियन्मूर्ध्नि निविष्टेन द्यौरिवाभ्रपरिच्छदा ॥

सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाली ऊँची गगनचुम्बिनी श्वेत चहारदीवारीसे सुशोभित द्वारकापुरी सफेद बादलोंसे घिरी हुई देवपुरी (अमरावती) के समान जान पड़ती थी ॥

नन्दनप्रतिमैश्चापि मिश्रकप्रतिमैर्वनैः ।
भाति चैत्ररथं दिव्यं पितामहवनं यथा ॥
वैभ्राजप्रतिमैश्चैव सर्वर्तुकुसुमोत्कटैः ।
भाति तारापरिक्षिप्ता द्वारका द्यौरिवाम्बरे ॥

नन्दन और मिश्रकके जैसे वन उस पुरीकी शोभा बढ़ा रहे थे । वहाँका दिव्य चैत्ररथ वन ब्रह्माजीके अलौकिक उद्यानकी भाँति शोभित था । सभी ऋतुओंके फूलोंसे भरे हुए वैभ्राज नामक वनके सदृश मनोहर उपवनोंसे घिरी हुई द्वारकापुरी ऐसी जान पड़ती थी, मानो आकाशमें तारिकाओंसे व्याप्त स्वर्गपुरी शोभा पा रही हो ॥

भाति रैवतकः शैलो रम्यसानुर्महाजिरः ॥
पूर्वस्यां दिशि रम्यायां द्वारकायां विभूषणम् ॥

रमणीय द्वारकापुरीकी पूर्वदिशामें महाकाय रैवतक पर्वत, जो उस पुरीका आभूषणरूप था, सुशोभित हो रहा था । उसके शिखर बड़े मनोहर थे ॥

दक्षिणस्यां लतावेष्टः पञ्चवर्णो विराजते ।
इन्द्रकेतुप्रतीकाशः पश्चिमां दिशमाश्रितः ॥
सुकक्षो राजतः शैलश्चित्रपुष्पमहावनः ।
उत्तरस्यां दिशि तथा वेणुमन्तो विराजते ॥
मन्दराद्रिप्रतीकाशः पाण्डरः पाण्डवर्षभ ।

पुरीके दक्षिण भागमें लतावेष्ट नामक पर्वत शोभा पा रहा था, जो पाँच रंगका होनेके कारण इन्द्रध्वज-सा प्रतीत होता था। पश्चिमदिशामें सुकक्ष नामक रजत-पर्वत था, जिसके ऊपर विचित्र पुष्पोंसे सुशोभित महान् वन शोभा पा रहा था। पाण्डवश्रेष्ठ ! इसी प्रकार उत्तर दिशामें मन्दराचलके सदृश श्वेत वर्णवाला वेणुमन्त पर्वत शोभायमान था ॥

चित्रकम्बलवर्णाभं पाञ्चजन्यवनं तथा ॥
सर्वर्तुकवनं चैव भाति रैवतकं प्रति ।

रैवतक पर्वतके पास चित्रकम्बलके-से वर्णवाले पाञ्चजन्य-वन तथा सर्वर्तुकवनकी भी बड़ी शोभा होती थी ॥

लतावेष्टं समन्तात् तु मेरुप्रभवनं महत् ॥
भाति तालवनं चैव पुष्पकं पुण्डरीकवत् ।

लतावेष्ट पर्वतके चारों ओर मेरुप्रभ नामक महान् वन, तालवन तथा कमलोंसे सुशोभित पुष्पकवन शोभा पा रहे हैं ॥

सुकक्षं परिवार्यैनं चित्रपुष्पं महावनम् ॥
शतपत्रवनं चैव करवीरकुसुम्भि च ।

सुकक्ष पर्वतको चारों ओरसे घेरकर चित्रपुष्प नामक महावन, शतपत्रवन, करवीरवन और कुसुम्भिवन सुशोभित होते हैं ॥

भाति चैत्ररथं चैव नन्दनं च महावनम् ॥
रमणं भावनं चैव वेणुमन्तं समन्ततः ।

वेणुमन्त पर्वतके सब ओर चैत्ररथ, नन्दन, रमण और भावन नामक महान् वन शोभा पाते हैं ॥

भाति पुष्करिणी रम्या पूर्वस्यां दिशि भारत ॥
धनुःशतपरीणाहा केशवस्य महात्मनः ॥

भारत ! महात्मा केशवकी उस पुरीमें पूर्वदिशाकी ओर एक रमणीय पुष्करिणी शोभा पाती है, जिसका विस्तार सौ धनुष है ॥

महापुरीं द्वारवतीं पञ्चाशद्भिर्मुखैर्युताम् ।
प्रविष्टो द्वारकां रम्यां भासयन्तीं समन्ततः ॥

पचास दरवाजोंसे सुशोभित और सब ओरसे प्रकाशमान उस सुरम्य महापुरी द्वारकामें श्रीकृष्णने प्रवेश किया ॥

अप्रमेयां महोत्सेधां महागाधपरिप्लवाम् ।
प्रासादवरसम्पन्नां श्वेतप्रासादशालिनीम् ॥

वह कितनी बड़ी है, इसका कोई माप नहीं था। उसकी ऊँचाई भी बहुत अधिक थी। वह पुरी चारों ओर अत्यन्त अगाध जलराशिसे घिरी हुई थी, सुन्दर-सुन्दर महलोंसे भरी हुई द्वारका श्वेत अट्टालिकाओंसे सुशोभित होती थी ॥

तीक्ष्णयन्त्रशतघ्नीभिर्यन्त्रजालैः समन्विताम् ।
आयसैश्च महाचक्रैर्ददर्श द्वारकां पुरीम् ॥

तीखे यन्त्र, शतघ्नी, विभिन्न यन्त्रोंके समुदाय और लोहेके बने हुए बड़े-बड़े चक्रोंसे सुरक्षित द्वारकापुरीको भगवान्ने देखा ॥

अष्टौ रथसहस्राणि प्राकारे किङ्किणीकिनः ।
समुच्छ्रितपताकानि यथा देवपुरे तथा ॥

देवपुरीकी भाँति उसकी चहारदीवारीके निकट क्षुद्र-घण्टिकाओंसे सुशोभित आठ हजार रथ शोभा पाते थे, जिनमें पताकाएँ फहराती रहती थीं ॥

अष्टयोजनविस्तीर्णामचलां द्वादशायताम् ।
द्विगुणोपनिवेशां च ददर्श द्वारकां पुरीम् ॥

द्वारकापुरीकी चौड़ाई आठ योजन है एवं लम्बाई बारह योजन है अर्थात् वह कुल ९६ योजन विस्तृत है। उसका उपनिवेश (समीपस्थ प्रदेश) उससे दुगुना अर्थात् १९२ योजन विस्तृत है। वह पुरी सब प्रकारसे अविचल है। श्रीकृष्णने उस पुरीको देखा ॥

अष्टमार्गां महाकक्ष्यां महाषोडशचत्वराम् ।
एवं मार्गपरिक्षिप्तां साक्षादुशनसा कृताम् ॥

उसमें जानेके लिये आठ मार्ग हैं, बड़ी-बड़ी ड्योढ़ियाँ हैं और सोलह बड़े-बड़े चौराहे हैं। इस प्रकार विभिन्न मार्गोंसे परिष्कृत द्वारकापुरी साक्षात् शुक्राचार्यकी नीतिके अनुसार बनायी गयी है ॥

व्यूहानामन्तरा मार्गाः सप्त चैव महापथाः ।
तत्र सा विहिता साक्षान्नगरी विश्वकर्मणा ॥

व्यूहोंके बीच-बीचमें मार्ग बने हैं, सात बड़ी-बड़ी सड़कें हैं। साक्षात् विश्वकर्माने इस द्वारकानगरीका निर्माण किया है ॥

काञ्चनैर्मणिसोपानैरुपेता जनहर्षिणी ।
गीतघोषमहाघोषैः प्रासादप्रवरैः शुभा ॥

सोने और मणियोंकी सीढ़ियोंसे सुशोभित यह नगरी जन-जनको हर्ष प्रदान करनेवाली है। यहाँ गीतके मधुर स्वर तथा अन्य प्रकारके घोष गूँजते रहते हैं। बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओंके कारण वह पुरी परम सुन्दर प्रतीत होती है ॥

तस्मिन् पुरवरश्रेष्ठे दाशार्हाणां यशस्विनाम् ।
वेश्मानि जहृषे दृष्ट्वा भगवान् पाकशासनः ॥

नगरोंमें श्रेष्ठ उस द्वारकामें यशस्वी दशार्हवंशियोंके महल देखकर भगवान् पाकशासन इन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

समुच्छ्रितपताकानि पारिप्लवनिभानि च ।
काञ्चनाभानि भास्वन्ति मेरुकूटनिभानि च ॥

उन महलोंके ऊपर ऊँची पताकाएँ फहरा रही थीं। वे मनोहर भवन मेघोंके समान जान पड़ते थे और सुवर्णमय होनेके कारण अत्यन्त प्रकाशमान थे। वे मेरुपर्वतके उत्तुङ्ग शिखरोंके समान आकाशको चूम रहे थे।

सुधापाण्डरशृङ्गैश्च शातकुम्भपरिच्छदैः ।
रत्नसानुगुहाशृङ्गैः सर्वरत्नविभूषितैः ॥

उन गृहोंके शिखर चूनेसे लिपे-पुते और सफेद थे। उनकी छतें सुवर्णकी बनी हुई थीं। वहाँके शिखर, गुफा और शृङ्ग—सभी रत्नमय थे। उस पुरीके भवन सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित थे ॥

सहर्म्यैः सार्धचन्द्रैश्च सनिर्यूहैः सपञ्जरैः ।
सयन्त्रगृहसम्बाधैः सधातुभिरिवाद्रिभिः ॥

(भगवान्‌ने देखा) वहाँ बड़े-बड़े महल, अटारी तथा छज्जे हैं और उन छज्जोंमें लटकते हुए पक्षियोंके पिंजड़े शोभा पाते हैं। कितने ही यन्त्रगृह वहाँके महलोंकी शोभा बढ़ाते हैं। अनेक प्रकारके रत्नोंसे जटित होनेके कारण द्वारकाके भवन विविध धातुओंसे विभूषित पर्वतोंके समान शोभा धारण करते हैं ॥

मणिकाञ्चनभौमैश्च सुधामृष्टतलैस्तथा ।
जाम्बूनदमयैर्द्वारैर्वैडूर्यविकृतार्गलैः ॥

कुछ गृह तो मणिके बने हैं, कुछ सुवर्णसे तैयार किये गये हैं और कुछ पार्थिव पदार्थों (ईंट, पत्थर आदि) द्वारा निर्मित हुए हैं। उन सबके निम्नभाग चूनेसे स्वच्छ किये गये हैं। उनके दरवाजे (चौखट-किंवाड़े) जाम्बूनद सुवर्णके बने हैं और अर्गलाएँ (सिटकनियाँ) वैदूर्यमणिसे तैयार की गयी हैं ॥

सर्वर्तुसुखसंस्पर्शैर्महाधनपरिच्छदैः ।
रम्यसानुगुहाशृङ्गैर्विचित्रैरिव पर्वतैः ॥

उन गृहोंका स्पर्श सभी ऋतुओंमें सुख देनेवाला है। वे सभी बहुमूल्य सामानोंसे भरे हैं। उनकी समतल भूमि, गुफा और शिखर सभी अत्यन्त मनोहर हैं। इससे उन भवनोंकी शोभा विचित्र पर्वतोंके समान जान पड़ती है ॥

पञ्चवर्णसुवर्णैश्च पुष्पवृष्टिसमप्रभैः ।
तुल्यपर्जन्यनिर्घोषैर्नानावर्णैरिवाम्बुदैः ॥

उन गृहोंमें पाँच रंगोंके सुवर्ण मढ़े गये हैं। उनसे जो बहुरङ्गी आभा फैलती है, वह फुलझड़ी-सी जान पड़ती है। उन गृहोंसे मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान शब्द होते रहते हैं। वे देखनेमें अनेक वर्णोंके बादलोंके समान जान पड़ते हैं ॥

महेन्द्रशिखरप्रख्यैर्विहितैर्विश्वकर्मणा ।
आलिखद्भिरिवाकाशमतिचन्द्रार्कभास्वरैः ॥

विश्वकर्माके बनाये हुए वे (ऊँचे और विशाल) भवन महेन्द्र पर्वतके शिखरोंकी शोभा धारण करते हैं। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो ये आकाशमें रेखा खींच रहे हों। उनका प्रकाश चन्द्रमा और सूर्यसे भी बढ़कर है ॥

तैर्दाशार्हमहाभागैर्बभासे भवनह्रदैः ।
चण्डनागाकुलैर्घोरैर्ह्रदैर्भोगवती यथा ॥

जैसे भोगवती गङ्गा प्रचण्ड नागगणोंसे भरे हुए भयंकर कुण्डोंसे सुशोभित होती है, उसी प्रकार द्वारकापुरी दशार्ह-कुलके महान् सौभाग्यशाली पुरुषोंसे भरे हुए उपर्युक्त भवन-रूपी ह्रदोंके द्वारा शोभा पा रही है ॥

कृष्णध्वजोपवाह्यैश्च दाशार्हायुधरोहितैः ।
वृष्णिमत्तमयूरैश्च स्त्रीसहस्रप्रभाकुलैः ॥
वासुदेवेन्द्रपर्जन्यैर्गृहमेघैरलङ्कृता ।
ददृशे द्वारकातीव मेघैर्द्यौरिव संवृता ।

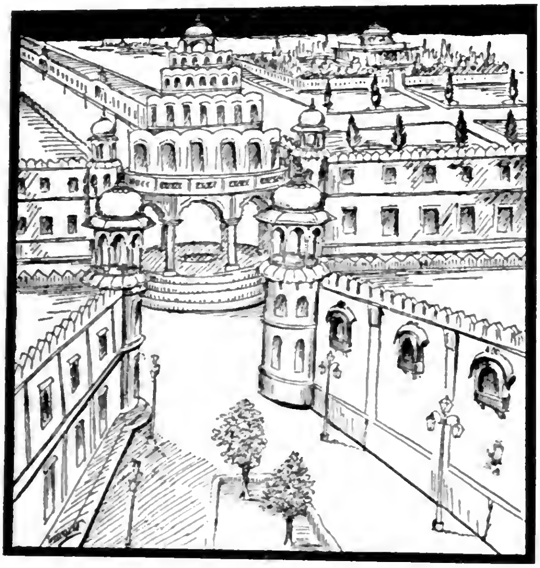
जैसे आकाश मेघोंकी घटासे आच्छादित होता है, उसी प्रकार द्वारकापुरी मनोहर भवनरूपी मेघोंसे अलङ्कृत दिखायी देती है। ये भगवान् श्रीकृष्ण ही वहाँ इन्द्र एवं पर्जन्य (प्रमुख मेघ) के समान हैं। वृष्णिवंशी युवक मतवाले मयूरोंके समान उन भवनरूपी मेघोंको देखकर हर्षसे नाच उठते हैं। सहस्रों स्त्रियोंकी कान्ति विद्युत्‌की प्रभाके समान उनमें व्याप्त है। जैसे मेघ कृष्णध्वज (अग्नि या सूर्यकिरण) के उपवाह्य (आधेय अथवा कार्य) हैं, उसी प्रकार द्वारका-के भवन भी कृष्णध्वजसे विभूषित उपवाह्य (वाहनों) से सम्पन्न हैं। यदुवंशियोंके विविध प्रकारके अस्त्र-शस्त्र उन मेघसदृश महलोंमें इन्द्रधनुषकी बहुरङ्गी छटा छिटकाते हैं ॥

साक्षाद् भगवतो वेश्म विहितं विश्वकर्मणा ॥
ददृशुर्देवदेवस्य चतुर्योजनमायतम् ।
तावदेव च विस्तीर्णमप्रमेयं महाधनैः ॥
प्रासादवरसम्पन्नं युक्तं जगति पर्वतैः ।

भारत ! देवाधिदेव भगवान् श्रीकृष्णका भवन, जिसे साक्षात् विश्वकर्माने अपने हाथों बनाया है, चार योजन लम्बा और उतना ही चौड़ा दिखायी देता है। उसमें कितनी बहुमूल्य सामग्रियाँ लगी हैं ! इसका अनुमान लगाना असम्भव है। उस विशाल भवनके भीतर सुन्दर-सुन्दर महल और अट्टालिकाएँ बनी हुई हैं। वह प्रासाद जगत्‌के सभी पर्वतीय दृश्योंसे युक्त है। श्रीकृष्ण, बलराम और इन्द्रने उस द्वारकाको देखा ॥

यं चकार महाबाहुस्त्वष्टा वासवचोदितः ॥
प्रासादं पद्मनाभस्य सर्वतो योजनायतम् ।
मेरोरिव गिरेः शृङ्गमुच्छ्रितं काञ्चनायुतम् ।
रुक्मिण्याः प्रवरो वासो विहितः सुमहात्मना ॥

महाबाहु विश्वकर्माने इन्द्रकी प्रेरणासे भगवान् पद्मनाभ-के लिये जिस मनोहर प्रासादका निर्माण किया है, उसका विस्तार सब ओरसे एक-एक योजनका है। उसके ऊँचे शिखरपर सुवर्ण मढ़ा गया है, जिससे वह मेरु पर्वतके उत्तुङ्ग शृङ्गकी शोभा धारण कर रहा है। वह प्रासाद महात्मा विश्वकर्माने महारानी रुक्मिणीके रहनेके लिये बनाया है। यह उनका सर्वोत्तम निवास है ॥



सत्यभामा पुनर्वेश्म सदा वसति पाण्डरम् ।
विचित्रमणिसोपानं यं विदुः शीतवानिति ॥

श्रीकृष्णकी दूसरी पटरानी सत्यभामा सदा श्वेत-रङ्गके प्रासादमें निवास करती हैं, जिसमें विचित्र मणियोंके सोपान बनाये गये हैं। उसमें प्रवेश करनेपर लोगोंको (ग्रीष्म ऋतुमें भी) शीतलताका अनुभव होता है ॥

विमलादित्यवर्णाभिः पताकाभिरलङ्कृतम् ।
व्यक्तबद्धं वनोद्देशे चतुर्दिशि महाध्वजम् ॥

निर्मल सूर्यके समान तेजस्विनी पताकाएँ उस मनोरम प्रासादकी शोभा बढ़ाती हैं । एक सुन्दर उद्यानमें उस भवनका निर्माण किया गया है। उसके चारों ओर ऊँची-ऊँची ध्वजाएँ फहराती रहती हैं ॥

स च प्रासादमुख्योऽत्र जाम्बवत्या विभूषितः ।
प्रभया भूषणैश्चित्रैस्त्रैलोक्यमिव भासयन् ॥
यस्तु पाण्डरवर्णाभस्तयोरन्तरमाश्रितः ।
विश्वकर्माकरोदेनं कैलासशिखरोपमम् ॥

इसके सिवा वह प्रमुख प्रासाद, जो रुक्मिणी तथा सत्यभामाके महलोंके बीचमें पड़ता है और जिसकी उज्ज्वल प्रभा सब ओर फैली रहती है, जाम्बवतीदेवीद्वारा विभूषित किया गया है । वह अपनी दिव्य प्रभा और विचित्र सजावटसे मानो तीनों लोकोंको प्रकाशित कर रहा है।उसे भी विश्वकर्माने ही बनाया है । जाम्बवतीका वह विशाल भवन कैलास-शिखरके समान सुशोभित होता है ॥

जाम्बूनदप्रदीप्ताग्रः प्रदीप्तज्वलनोपमः ।
सागरप्रतिमोऽतिष्ठन् मेरुरित्यभिविश्रुतः ॥
तस्मिन् गान्धारराजस्य दुहिता कुलशालिनी ।
सुकेशी नाम विख्याता केशवेन निवेशिता ॥

जिसका दरवाजा जाम्बूनद सुवर्णके समान उद्दीप्त होता है, जो देखनेमें प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ता है । विशालतामें समुद्रसे जिसकी उपमा दी जाती है,जो मेरुके नामसे विख्यात है, उस महान् प्रासादमें गान्धारराजकी कुलीन कन्या सुकेशीको भगवान् श्रीकृष्णने ठहराया है ॥

पद्मकूट इति ख्यातः पद्मवर्णो महाप्रभः ।
सुप्रभाया महाबाहो निवासः परमार्चितः ॥

महाबाहो ! पद्मकूट नामसे विख्यात जो कमलके समान कान्तिवाला प्रासाद है, वह महारानी सुप्रभाका परम पूजित निवासस्थान है ॥

यस्तु सूर्यप्रभो नाम प्रासादवर उच्यते ।
लक्ष्मणायाः कुरुश्रेष्ठ स दत्तः शार्ङ्गधन्वना ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जिस उत्तम प्रासादकी प्रभा सूर्यके समान है, उसे शार्ङ्गधन्वा श्रीकृष्णने महारानी लक्ष्मणाको दे रक्खा है॥

वैडूर्यवरवर्णाभः प्रासादो हरितप्रभः ।
यं विदुः सर्वभूतानि हरिरित्येव भारत ।
वासः स मित्रविन्दाया देवर्षिगणपूजितः ॥
महिष्या वासुदेवस्य भूषणं सर्ववेश्मनाम् ।

भारत ! वैदूर्यमणिके समान कान्तिमान् हरे रङ्गका महल जिसे देखकर सब प्राणियोंको 'श्रीहरि' ही हैं, ऐसा अनुभव होता है, वह मित्रविन्दाका निवासस्थान है। उसकी देवगण भी सराहना करते हैं । भगवान् वासुदेवकी रानी मित्रविन्दा-का यह भवन अन्य सब महलोंका आभूषणरूप है ॥

यस्तु प्रासादमुख्योऽत्र विहितः सर्वशिल्पिभिः ॥
अतीव रम्यः सोऽप्यत्र प्रहसन्निव तिष्ठति ।
सुदत्तायाः सुवासस्तु पूजितः सर्वशिल्पिभिः ॥
महिष्या वासुदेवस्य केतुमानिति विश्रुतः ।

युधिष्ठिर ! द्वारकामें जो दूसरा प्रमुख प्रासाद है, उसे सम्पूर्ण शिल्पियोंने मिलकर बनाया है । वह अत्यन्त रमणीय भवन हँसता-सा खड़ा है। सभी शिल्पी उसके निर्माण-कौशलकी सराहना करते हैं। उस प्रासादका नाम है केतुमान्।वह भगवान् वासुदेवकी महारानी सुदत्तादेवीका सुन्दर निवासस्थान है ॥

प्रासादो विरजो नाम विरजस्को महात्मनः ॥
उपस्थानगृहं तात केशवस्य महात्मनः ।

वहीं 'विरज' नामसे प्रसिद्ध एक प्रासाद है, जो निर्मल एवं रजोगुणके प्रभावसे शून्य है। वह परमात्मा श्रीकृष्णका उपस्थानगृह (खास रहनेका स्थान) है ॥

यस्तु प्रासादमुख्योऽत्र यं त्वष्टा व्यदधात् स्वयम्॥
योजनायतविष्कुम्भं सर्वरत्नमयं विभोः ।

इसी प्रकार वहाँ एक और भी प्रमुख प्रासाद है, जिसे

स्वयं विश्वकर्माने बनाया है। उसकी लंबाई-चौड़ाई एक-एक योजनकी है। भगवान्‌का वह भवन सब प्रकारके रत्नोंद्वारा निर्मित हुआ है ॥

तेषां तु विहिताः सर्वे रुक्मदण्डाः पताकिनः।
सदने वासुदेवस्य मार्गसंजनना ध्वजाः ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके सुन्दर सदनमें जो मार्गदर्शक-ध्वज हैं, उन सबके दण्ड सुवर्णमय बनाये गये हैं। उन सबपर पताकाएँ फहराती रहती हैं ॥

घण्टाजालानि तत्रैव सर्वेषां च निवेशने।
आहृत्य यदुसिंहेन वैजयन्त्यचलो महान् ॥

द्वारकापुरीमें सभीके घरोंमें घंटा लगाया गया है। यदुसिंह श्रीकृष्णने वहाँ लाकर वैजयन्ती पताकाओंसे युक्त पर्वत स्थापित किया है ॥

हंसकूटस्य यच्छृङ्गमिन्द्रद्युम्नसरो महत्।
षष्टितालसमुत्सेधमर्धयोजनविस्तृतम् ॥

वहाँ हंसकूट पर्वतका शिखर है, जो साठ ताड़के बराबर ऊँचा और आधा योजन चौड़ा है। वहीं इन्द्रद्युम्नसरोवर भी है, जिसका विस्तार बहुत बड़ा है ॥

सकिन्नरमहानादं तदप्यमिततेजसः।
पश्यतां सर्वभूतानां त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥

वहाँ सब भूतोंके देखते-देखते किन्नरोंके संगीतका महान् शब्द होता रहता है। वह भी अमिततेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णका ही लीलास्थल है। उसकी तीनों लोकोंमें प्रसिद्धि है॥

आदित्यपथगं यत् तन्मेरोः शिखरमुत्तमम्।
जाम्बूनदमयं दिव्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥
तदप्युत्पाट्य कृच्छ्रेण स्वं निवेशनमाहृतम्।
भ्राजमानं पुरा तत्र सर्वौषधिविभूषितम् ॥

मेरुपर्वतका जो सूर्यके मार्गतक पहुँचा हुआ जाम्बूनद-मय दिव्य और त्रिभुवनविख्यात उत्तम शिखर है, उसे उखाड़कर भगवान् श्रीकृष्ण कठिनाई उठाकर भी अपने महलमें ले आये हैं। सब प्रकारकी ओषधियोंसे अलंकृत वह मेरुशिखर द्वारकामें पूर्ववत् प्रकाशित है ॥

यमिन्द्रभवनाच्छौरिराजहार परंतपः।
पारिजातः स तत्रैव केशवेन निवेशितः॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण जिसे इन्द्रभवनसे हर ले आये थे, वह पारिजातवृक्ष भी उन्होंने द्वारकामें ही लगा रक्खा है ॥

विहिता वासुदेवेन ब्रह्मस्थलमहाद्रुमाः॥
शालतालाश्वकर्णाश्च शतशाखाश्च रोहिणाः।
भल्लातककपित्थाश्च चन्द्रवृक्षाश्च चम्पकाः ॥
खर्जूराः केतकाश्चैव समन्तात् परिरोपिताः।

भगवान् वासुदेवने ब्रह्मलोकके बड़े-बड़े वृक्षोंको भी लाकर द्वारकामें लगाया है। शाल, ताल, अश्वकर्ण (कनेर), सौ शाखाओंसे सुशोभित वटवृक्ष, भल्लातक (भिलावा), कपित्थ (कैथ), चन्द्र (बड़ी इलायचीके) वृक्ष, चम्पा, खजूर और केतक (केवड़ा)-ये वृक्ष वहाँ सब ओर लगाये गये थे ॥

पद्माकुलजलोपेता रक्ताः सौगन्धिकोत्पलाः॥
मणिमौक्तिकवालुकाः पुष्करिण्यः सरांसि च।
तासां परमकूलानि शोभयन्ति महाद्रुमाः॥

द्वारकामें जो पुष्करिणियाँ और सरोवर हैं, वे कमल-पुष्पोंसे सुशोभित स्वच्छ जलसे भरे हुए हैं। उनकी आभा लाल रङ्गकी है। उनमें सुगन्धयुक्त उत्पल खिले हुए हैं। उनमें स्थित वालूके कण मणियों और मोतियोंके चूर्ण जैसे जान पड़ते हैं। वहाँ लगाये हुए बड़े-बड़े वृक्ष उन सरोवरोंके सुन्दर तटोंकी शोभा बढ़ाते हैं ॥

ये च हैमवता वृक्षा ये च नन्दनजास्तथा।
आहृत्य यदुसिंहेन तेऽपि तत्र निवेशिताः॥

जो वृक्ष हिमालयपर उगते हैं तथा जो नन्दनवनमें उत्पन्न होते हैं, उन्हें भी यदुप्रवर श्रीकृष्णने वहाँ लाकर लगाया है॥

रक्तपीतारुणप्रख्याः सितपुष्पाश्च पादपाः।
सर्वर्तुफलपूर्णास्ते तेषु काननसंधिषु ॥

कोई वृक्ष लाल रङ्गके हैं, कोई पीत वर्णके हैं और कोई अरुण कान्तिसे सुशोभित हैं तथा बहुत-से वृक्ष ऐसे हैं, जिनमें श्वेत रङ्गके पुष्प शोभा पाते हैं। द्वारकाके उपवनोंमें लगे हुए पूर्वोक्त सभी वृक्ष सम्पूर्ण ऋतुओंके फलोंसे परिपूर्ण हैं ॥

सहस्रपत्रपद्माश्च मन्दराश्च सहस्रशः।
अशोकाः कर्णिकाराश्च तिलका नागमल्लिकाः ॥
कुरवा नागपुष्पाश्च चम्पकास्तृणगुल्मकाः।
सप्तपर्णाः कदम्बाश्च नीपाः कुरबकास्तथा ॥
केतक्यः केसराश्चैव हिन्तालतलताटकाः।
तालाः प्रियङ्गुवकुलाः पिण्डिका बीजपूरकाः ॥
द्राक्षामलककखर्जूरा मृद्वीका जम्बुकास्तथा।
आम्राः पनसवृक्षाश्च अङ्कोलास्तिलतिन्दुकाः ॥
लिकुचाम्रातकाश्चैव क्षीरिका कण्टकी तथा।
नालिकेरेङ्गुदाश्चैव उत्क्रोशकवनानि च ॥
वनानि च कदल्याश्च जातिमल्लिकपाटलाः।
भल्लातककपित्थाश्च तैतभा बन्धुजीवकाः ॥
प्रवालाशोककाश्मर्यः प्राचीनाश्चैव सर्वशः।
प्रियङ्गुबदरीभिश्च यवैः स्पन्दनचन्दनैः ॥
शमीबिल्वपलाशैश्च पाटलावटपिप्पलैः।
उदुम्बरैश्च द्विदलैः पालाशैः पारिभद्रकैः ॥

इन्द्रवृक्षार्जुनैश्चैव अश्वत्थैश्चिरिबिल्वकैः ।
सौभञ्जनकवृक्षैश्च भल्लटैरश्वसाह्वयैः ॥
सर्जैस्ताम्बूलवल्लीभिर्लवङ्गैः क्रमुकैस्तथा ।
वंशैश्च विविधैस्तत्र समन्तात् परिरोपितैः ॥

सहस्रदल कमल, सहस्रों मन्दार, अशोक, कर्णिकार, तिलक, नागमल्लिका, कुरव (कटसरैया), नागपुष्प, चम्पक, तृण, गुल्म, सप्तपर्ण (छितवन), कदम्ब, नीप, कुरवक, केतकी, केसर, हिंताल, तल, ताटक, ताल, प्रियङ्गु, वकुल (मौलसिरी), पिण्डिका, बीजपूर (बिजौरा), दाख, आँवला, खजूर, मुनक्का, जामुन, आम, कटहल, अङ्कोल, तिल, तिन्दुक, लिकुच (लीची), आमड़ा, क्षीरिका (काकोली नामकी जड़ी या पिंडखजूर), कण्टकी (बेर), नारियल, इङ्गुद (हिंगोट), उत्क्रोशकवन, कदली-वन, जाति (चमेली), मल्लिका (मोतिया), पाटल, भल्लातक, कपित्थ, तैतभ, बन्धुजीव (दुपहरिया), प्रवाल, अशोक और काश्मरी (गाँभारी) आदि सब प्रकारके प्राचीन वृक्ष, प्रियङ्गुलता, बेर, जौ, स्पन्दन, चन्दन, शमी, बिल्व, पलाश, पाटला, बड़, पीपल, गूलर, द्विदल, पालाश, पारिभद्रक, इन्द्रवृक्ष, अर्जुनवृक्ष, अश्वत्थ, चिरिबिल्व, सौभञ्जन, भल्लट, अश्व-पुष्प, सर्ज, ताम्बूललता, लवङ्ग, सुपारी तथा नाना प्रकारके बाँस—ये सब द्वारकापुरीमें श्रीकृष्णभवनके चारों ओर लगाये हैं ॥

ये च नन्दनजा वृक्षा ये च चैत्ररथे वने ।
सर्वे ते यदुनाथेन समन्तात् परिरोपिताः ॥

नन्दनवनमें और चैत्ररथवनमें जो-जो वृक्ष होते हैं, वे सभी यदुपति भगवान् श्रीकृष्णने लाकर यहाँ सब ओर लगाये हैं ॥

कुमुदोत्पलपूर्णाश्च वाप्यः कूपाः सहस्रशः ।
समाकुलमहावाप्यः पीता लोहितवालुकाः ॥

भगवान् श्रीकृष्णके गृहोद्यानमें कुमुद और कमलोंसे भरी हुई कितनी ही छोटी बावलियाँ हैं । सहस्रों कुएँ बने हुए हैं । जलसे भरी हुई बड़ी-बड़ी वापिकाएँ भी तैयार करायी गयी हैं, जो देखनेमें पीत वर्णकी हैं और जिनकी बालुकाएँ लाल हैं ॥

तस्मिन् गृहवने नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदाः ।
फुल्लोत्पलजलोपेता नानाद्रुमसमाकुलाः ॥

उनके गृहोद्यानमें स्वच्छ जलसे भरे हुए कुण्डवाली कितनी ही कृत्रिम नदियाँ प्रवाहित होती रहती हैं, जो प्रफुल्ल उत्पलयुक्त जलसे परिपूर्ण हैं तथा जिन्हें दोनों ओरसे अनेक प्रकारके वृक्षोंने घेर रक्खा है ॥

तस्मिन् गृहवने नद्यो मणिशर्करवालुकाः ।
मत्तबर्हिणसङ्घाश्च कोकिलाश्च मदोद्वहाः ॥

उस भवनके उद्यानकी सीमामें मणिमय कंकड़ और बालुकाओंसे सुशोभित नदियाँ निकाली गयी हैं, जहाँ मतवाले मयूरोंके झुंड विचरते हैं और मदोन्मत्त कोकिलाएँ कुहू-कुहू किया करती हैं ॥

बभूवुः परमोपेताः सर्वे जगतिपर्वताः ।
तत्रैव गजयूथानि तत्र गोमहिषास्तथा ॥
निवासाश्च कृतास्तत्र वराहमृगपक्षिणाम् ।

उस गृहोद्यानमें जगत्के सभी श्रेष्ठ पर्वत अंशतः संगृहीत हुए हैं । वहाँ हाथियोंके यूथ तथा गाय-भैंसोंके झुंड रहते हैं । वहीं जंगली सूअर, मृग और पक्षियोंके रहने योग्य निवासस्थान भी बनाये गये हैं ॥

विश्वकर्मकृतः शैलः प्राकारस्तस्य वेश्मनः ॥
व्यक्तं किष्कुशतोद्यामः सुधाकरसमप्रभः ।

विश्वकर्माद्वारा निर्मित पर्वतमाला ही उस विशाल भवनकी चहारदीवारी है । उसकी ऊँचाई सौ हाथकी है और वह चन्द्रमा-के समान अपनी श्वेत छटा छिटकाती रहती है ॥

तेन ते च महाशैलाः सरितश्च सरांसि च ॥
परिक्षिप्तानि हर्म्यस्य वनान्युपवनानि च ।

पूर्वोक्त बड़े-बड़े पर्वत, सरिताएँ, सरोवर और प्रासादके समीपवर्ती वन-उपवन इस चहारदीवारीसे घिरे हुए हैं ॥

एवं तच्छिल्पिवर्येण विहितं विश्वकर्मणा ॥
प्रविशन्नेव गोविन्दो ददर्श परितो मुहुः ।

इस प्रकार शिल्पियोंमें श्रेष्ठ विश्वकर्माद्वारा बनाये हुए द्वारका नगरमें प्रवेश करते समय भगवान् श्रीकृष्णने बारंबार सब ओर दृष्टिपात किया ॥

इन्द्रः सहामरैः श्रीमांस्तत्र तत्रावलोकयत् ।

देवताओंके साथ श्रीमान् इन्द्रने वहाँ द्वारकाको सब ओर दृष्टि दौड़ाते हुए देखा ॥

एवमालोकयांचक्रुर्द्वारकामृषभास्त्रयः ।
उपेन्द्रबलदेवौ च वासवश्च महायशाः ॥

इस प्रकार उपेन्द्र (श्रीकृष्ण), बलराम तथा महायशस्वी इन्द्र इन तीनों श्रेष्ठ महापुरुषोंने द्वारकापुरीकी शोभा देखी ॥

ततस्तं पाण्डरं शौरिर्मूर्ध्नि तिष्ठन् गरुत्मतः ॥
प्रीतः शङ्खमुपादध्मौ विद्विषां रोमहर्षणम् ।

तदनन्तर गरुडके ऊपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्नतापूर्वक श्वेतवर्णवाले अपने उस पाञ्चजन्य शङ्खको बजाया, जो शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देनेवाला है ॥

तस्य शङ्खस्य शब्देन सागरश्चुक्षुभे भृशम् ॥
ररास च नभः सर्वं तच्चित्रमभवत् तदा ।

उस घोर शङ्खध्वनिसे समुद्र विक्षुब्ध हो उठा तथा

सारा आकाशमण्डल गूँजने लगा। उस समय वहाँ यह अद्भुत बात हुई ॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं निशम्य कुकुरान्धकाः ॥
विशोकाः समपद्यन्त गरुडस्य च दर्शनात् ।

पाञ्चजन्यका गम्भीर घोष सुनकर और गरुडका दर्शन कर कुकुर और अन्धकवंशी यादव शोकरहित हो गये ॥

शङ्खचक्रगदापाणिं सुपर्णशिरसि स्थितम् ॥
दृष्ट्वा जहृषिरे कृष्णं भास्करोदयतेजसम् ।

भगवान् श्रीकृष्णके हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा आदि आयुध सुशोभित थे। वे गरुडके ऊपर बैठे थे। उनका तेज सूर्योदयके समान नूतन चेतना और उत्साह पैदा करनेवाला था। उन्हें देखकर सबको बड़ा हर्ष हुआ ॥

ततस्तूर्यप्रणादश्च भेरीणां च महास्वनः ॥
सिंहनादश्च संजज्ञे सर्वेषां पुरवासिनाम् ।

तदनन्तर तुरही और भेरियाँ बज उठीं। उनकी आवाज बहुत दूरतक फैल गयी। समस्त पुरवासी भी सिंहनाद कर उठे ॥

ततस्ते सर्वदाशार्हाः सर्वे च कुकुरान्धकाः ॥
प्रीयमाणाः समाजग्मुरालोक्य मधुसूदनम् ।

उस समय दशार्ह, कुकुर और अन्धकवंशके सब लोग भगवान् मधुसूदनका दर्शन करके बड़े प्रसन्न हुए और सभी उनकी अगवानीके लिये आ गये ॥

वासुदेवं पुरस्कृत्य वेणुशङ्खरवैः सह ॥
उग्रसेनो ययौ राजा वासुदेवनिवेशनम् ।

राजा उग्रसेन भगवान् वासुदेवको आगे करके वेणुनाद और शङ्खध्वनिके साथ उनके महलतक उन्हें पहुँचानेके लिये गये ॥

आनन्दितुं पर्यचरन् स्वेषु वेश्मसु देवकी ॥
रोहिणी च यथोद्देशमाहुकस्य च याः स्त्रियः ।

देवकी, रोहिणी तथा उग्रसेनकी स्त्रियाँ अपने अपने महलोंमें भगवान् श्रीकृष्णका अभिनन्दन करनेके लिये यथास्थान खड़ी थीं। पास आनेपर उन सबने उनका यथावत् सत्कार किया ॥

हता ब्रह्मद्विषः सर्वे जयन्त्यन्धकवृष्णयः ॥
एवमुक्तः स ह स्त्रीभिरीक्षितो मधुसूदनः ।

वे आशीर्वाद देती हुई इस प्रकार बोलीं—'समस्त ब्राह्मणद्वेषी असुर मारे गये; अन्धक और वृष्णिवंशके वीर सर्वत्र विजयी हो रहे हैं।' स्त्रियोंने भगवान् मधुसूदनसे ऐसा कहकर उनकी ओर देखा ॥

ततः शौरिः सुपर्णेन स्वं निवेशनमभ्ययात् ॥
चकाराथ यथोद्देशमीश्वरो मणिपर्वतम् ।

तदनन्तर श्रीकृष्ण गरुडके द्वारा ही अपने महलमें गये वहाँ उन परमेश्वरने एक उपयुक्त स्थानमें मणिपर्वतको स्थापित कर दिया ॥

ततो धनानि रत्नानि सभायां मधुसूदनः ॥
निधाय पुण्डरीकाक्षः पितुर्दर्शनलालसः ।

इसके बाद कमलनयन मधुसूदनने सभाभवनमें धन और रत्नोंको रखकर मन-ही-मन पिताके दर्शनकी अभिलाषा की ॥

ततः सान्दीपनिं पूर्वमुपस्पृष्ट्वा महायशाः ॥
ववन्दे पृथुताम्राक्षः प्रीयमाणो महाभुजः ।

फिर विशाल एवं कुछ लाल नेत्रोंवाले उन महायशस्वी महाबाहुने पहले मन-ही-मन गुरु सान्दीपनिके चरणोंका स्पर्श किया ॥

तथाश्रुपरिपूर्णाक्षमानन्दगतचेतसम् ॥
ववन्दे सह रामेण पितरं वासवानुजः ।

तत्पश्चात् भाई बलरामजीके साथ जाकर श्रीकृष्णने प्रसन्नतापूर्वक पिताके चरणोंमें प्रणाम किया। उस समय पिता वसुदेवके नेत्रोंमें प्रेमके आँसू भर आये और उनका हृदय आनन्दके समुद्रमें निमग्न हो गया ॥

रामकृष्णौ समाश्लिष्य सर्वे चान्धकवृष्णयः ॥

अन्धक और वृष्णिवंशके सब लोगोंने बलराम और श्रीकृष्णको हृदयसे लगाया ॥

तं तु कृष्णः समाहृत्य रत्नौघधनसंचयम् ॥
व्यभजत् सर्ववृष्णिभ्य आदध्वमिति चाब्रवीत् ।

भगवान् श्रीकृष्णने रत्न और धनकी उस राशिको एकत्र करके अलग-अलग बाँट दिया और सम्पूर्ण वृष्णिवंशियोंसे कहा—'यह सब आपलोग ग्रहण करें' ॥

यथाश्रेष्ठमुपागम्य सात्वतान् यदुनन्दनः ॥
सर्वेषां नाम जग्राह दाशार्हाणामधोक्षजः ।

ततः सर्वाणि वित्तानि सर्वरत्नमयानि च ॥
व्यभजत् तानि तेभ्योऽथ सर्वेभ्यो यदुनन्दनः ।

तदनन्तर यदुनन्दन श्रीकृष्णने यदुवंशियोंमें जो श्रेष्ठ पुरुष थे, उन सबसे क्रमशः मिलकर सब यादवोंको नाम ले-लेकर बुलाया और उन सबको वे सभी रत्नमय धन पृथक्-पृथक् बाँट दिये ॥

सा केशवमहामात्रैर्महेन्द्रप्रमुखैः सह ॥
शुशुभे वृष्णिशार्दूलैः सिंहैरिव गिरेर्गुहा ।

जैसे पर्वतकी कन्दरा सिंहोंसे सुशोभित होती है, उसी प्रकार द्वारकापुरी उस समय भगवान् श्रीकृष्ण, देवराज

इन्द्र तथा वृष्णिवंशी वीर पुरुषसिंहोंसे अत्यन्त शोभा पा रही थी ॥

अथासनगतान् सर्वानुवाच विबुधाधिपः ॥
शुभया हर्षयन् वाचा महेन्द्रस्तान् महायशाः ।
कुकुरान्धकमुख्यांश्च तं च राजानमाहुकम् ॥

जब सभी यदुवंशी अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये, उस समय देवताओंके स्वामी महायशस्वी महेन्द्र अपनी कल्याणमयी वाणीद्वारा कुकुर और अन्धक आदि यादवों तथा राजा उग्रसेनका हर्ष बढ़ाते हुए बोले ॥

इन्द्र उवाच

यदर्थं जन्म कृष्णस्य मानुषेषु महात्मनः ।
यत् कृतं वासुदेवेन तद् वक्ष्यामि समासतः ॥

इन्द्रने कहा—यदुवंशी वीरो ! परमात्मा श्रीकृष्णका मनुष्य-योनिमें जिस उद्देश्यको लेकर अवतार हुआ है और भगवान् वासुदेवने इस समय जो महान् पुरुषार्थ किया है, वह सब मैं संक्षेपसे बताऊँगा ॥

अयं शतसहस्राणि दानवानामरिंदमः ।
निहत्य पुण्डरीकाक्षः पातालविवरं ययौ ॥
यच्च नाधिगतं पूर्वैः प्रह्लादबलिशम्बरैः ।
तदिदं शौरिणा वित्तं प्रापितं भवतामिह ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले कमलनयन श्रीहरिने एक लाख दानवोंका संहार करके उस पाताल-विवरमें प्रवेश किया था, जहाँ पहलेके प्रह्लाद, बलि और शम्बर आदि दैत्य भी नहीं पहुँच सके थे। भगवान् आपलोगोंके लिये यह धन वहींसे लाये हैं ॥

सपाशं मुरमाक्रम्य पाञ्चजन्यं च धीमता ।
शिलासङ्घानतिक्रम्य निशुम्भः सगणो हतः ॥

बुद्धिमान् श्रीकृष्णने पाशसहित मुर नामक दैत्यको कुचलकर पञ्चजन नामवाले राक्षसोंका विनाश किया और शिला-समूहोंको लाँघकर सेवकगणोंसहित निशुम्भको मौतके घाट उतार दिया ॥

हयग्रीवश्च विक्रान्तो निहतो दानवो बली ॥
मथितश्च मृधे भौमः कुण्डले चाहृते पुनः ।
प्राप्तं च दिवि देवेषु केशवेन महद् यशः ॥

तत्पश्चात् इन्होंने बलवान् एवं पराक्रमी दानव हयग्रीवपर आक्रमण करके उसे मार गिराया और भौमासुरका भी युद्धमें संहार कर डाला। इसके बाद केशवने माता अदितिके कुण्डल प्राप्त करके उन्हें यथास्थान पहुँचाया और स्वर्गलोक तथा देवताओंमें अपने महान् यशका विस्तार किया ॥

वीतशोकभयाबाधाः कृष्णबाहुबलाश्रयाः ।
यजन्तु विविधैः सोमैर्मखैरन्धकवृष्णयः ॥

अन्धक और वृष्णिवंशके लोग श्रीकृष्णके बाहुबलका आश्रय लेकर शोक, भय और बाधाओंसे मुक्त हैं। अब ये सभी नाना प्रकारके यज्ञों तथा सोमरसद्वारा भगवान्‌का यजन करें ॥

पुनर्बाणवधे शौरिमादित्या वसुभिः सह ।
सम्मुखा हि गमिष्यन्ति साध्याश्च मधुसूदनम् ॥

अब पुनः बाणासुरके वधका अवसर उपस्थित होनेपर मैं तथा सब देवता, वसु और साध्यगण मधुसूदन श्रीकृष्णकी सेवामें उपस्थित होंगे ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा ततः सर्वानामन्त्र्य कुकुरान्धकान् ।
सस्वजे रामकृष्णौ च वसुदेवं च वासवः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! समस्त कुकुर और अन्धकवंशके लोगोंसे ऐसा कहकर सबसे विदा ले देवराज इन्द्रने बलराम, श्रीकृष्ण और वसुदेवको हृदयसे लगाया ॥

प्रद्युम्नसाम्बनिशठाननिरुद्धं च सारणम् ।
बभ्रुं झल्लिं गदं भानुं चारुदेष्णं च वृत्रहा ॥
सत्कृत्य सारणाक्रूरौ पुनराभाष्य सात्यकिम् ।
सस्वजे वृष्णिराजानमाहुकं कुकुराधिपम् ॥

प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, अनिरुद्ध, सारण, बभ्रु, झल्लि, गद, भानु, चारुदेष्ण, सारण और अक्रूरका भी सत्कार करके वृत्रासुरनिषूदन इन्द्रने पुनः सात्यकिसे वार्तालाप किया। इसके बाद वृष्णि और कुकुरवंशके अधिपति राजा उग्रसेनको गले लगाया ॥

भोजं च कृतवर्माणमन्यांश्चान्धकवृष्णिषु ।
आमन्त्र्य देवप्रवरो वासवो वासवानुजम् ॥

तत्पश्चात् भोज, कृतवर्मा तथा अन्य अन्धकवंशी एवं वृष्णिवंशियोंका आलिङ्गन करके देवराजने अपने छोटे भाई श्रीकृष्णसे विदा ली ॥

ततः श्वेताचलप्रख्यं गजमैरावतं प्रभुः ।
पश्यतां सर्वभूतानामारुरोह शचीपतिः ॥

तदनन्तर शचीपति भगवान् इन्द्र सब प्राणियोंके देखते-देखते श्वेतपर्वतके समान सुशोभित ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हुए ॥

पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिवं च वरवारणम् ।
मुखाडम्बरनिर्घोषैः पूरयन्तमिवासकृत् ॥

वह श्रेष्ठ गजराज अपनी गम्भीर गर्जनासे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गलोकको बारंबार निनादित-सा कर रहा था ॥

हैमयन्त्रमहाकक्ष्यं हिरण्मयविषाणिनम् ।
मनोहरकुथास्तीर्णं सर्वरत्नविभूषितम् ॥

उसकी पीठपर सोनेके खंभोंसे युक्त बहुत बड़ा हौदा कसा हुआ था। उसके दाँतोंमें सोना मढ़ा गया था। उसके ऊपर मनोहर झूल पड़ी हुई थी। वह सब प्रकारके रत्नमय आभूषणोंसे विभूषित था॥

अनेकशतरत्नाभिः पताकाभिरलंकृतम्।
नित्यस्रुतमदस्रावं क्षरन्तमिव तोयदम्॥

सैकड़ों रत्नोंसे अलंकृत पताकाएँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। उसके मस्तकसे निरन्तर मदकी धारा इस प्रकार बहती रहती थी, मानो मेघ पानी बरसा रहा हो॥

दिशागजं महामात्रं काञ्चनस्रजमास्थितः।
प्रबभौ मन्दराग्रस्थः प्रतपन् भानुमानिव॥

वह विशालकाय दिग्गज सोनेकी माला धारण किये हुए था। उसपर बैठे हुए देवराज इन्द्र मन्दराचलके शिखरपर तपते हुए सूर्यदेवकी भाँति उद्भासित हो रहे थे॥

ततो वज्रमयं भीमं प्रगृह्य परमाङ्कुशम्।
ययौ बलवता सार्धं पावकेन शचीपतिः॥

तदनन्तर शचीपति इन्द्र वज्रमय भयंकर एवं विशाल अङ्कुश लेकर बलवान् अग्निदेवके साथ स्वर्गलोकको चल दिये॥

तं करेणुगजव्रातैर्विमानैश्च मरुद्गणाः।
पृष्ठतोऽनुययुः प्रीताः कुबेरवरुणग्रहाः॥

उनके पीछे हाथी-हथिनियोंके समुदायों और विमानोंद्वारा मरुद्गण, कुबेर तथा वरुण आदि देवता भी प्रसन्नतापूर्वक चल पड़े॥

स वायुपथमास्थाय वैश्वानरपथं गतः।
प्राप्य सूर्यपथं देवस्तत्रैवान्तरधीयत॥

इन्द्रदेव पहले वायुपथमें पहुँचकर वैश्वानरपथ (तेजोमय लोक) में जा पहुँचे। तत्पश्चात् सूर्यदेवके मार्गमें जाकर वहाँ अन्तर्धान हो गये॥

ततः सर्वदशार्हाणामाहुकस्य च याः स्त्रियः।
नन्दगोपस्य महिषी यशोदा लोकविश्रुता॥
रेवती च महाभागा रुक्मिणी च पतिव्रता।
सत्या जाम्ववती चोभे गान्धारी शिंशुमापि वा॥
विशोका लक्ष्मणा साध्वी सुमित्रा केतुमा तथा।
वासुदेवमहिष्योऽन्याः श्रिया सार्धं ययुस्तदा॥
विभूतिं द्रष्टुमनसः केशवस्य वराङ्गनाः।
प्रीयमाणाः सभां जग्मुरालोकयितुमच्युतम्॥

तदनन्तर सब दशार्हकुलकी स्त्रियाँ, राजा उग्रसेनकी रानियाँ, नन्दगोपकी विश्वविख्यात रानी यशोदा, महाभागा रेवती(बलभद्र-पत्नी) तथा पतिव्रता रुक्मिणी, सत्या, जाम्बवती, गान्धारराज-कन्या शिंशुमा, विशोका, लक्ष्मणा, साध्वी सुमित्रा, केतुमा तथा भगवान् वासुदेवकी अन्य रानियाँ—ये सब-की-सब श्रीजीके साथ भगवान् केशवकी विभूति एवं नवागत सुन्दरी रानियोंको देखनेके लिये और श्रीअच्युतका दर्शन करनेके लिये बड़ी प्रसन्नताके साथ सभाभवनमें गयीं॥

देवकी सर्वदेवीनां रोहिणी च पुरस्कृता।
ददृशुर्देवमासीनं कृष्णं हलभृता सह॥

देवकी तथा रोहिणीजी सब रानियोंके आगे चल रही थीं। सबने वहाँ जाकर श्रीबलरामजीके साथ बैठे हुए श्रीकृष्णको देखा॥

तौ तु पूर्वमुपक्रम्य रोहिणीमभिवाद्य च।
अभ्यवादयतां देवौ देवकीं रामकेशवौ॥
देवकीं सप्तदेवीनां यथाश्रेष्ठं च मातरः।

उन दोनों भाई बलराम और श्रीकृष्णने उठकर पहले रोहिणीजीको प्रणाम किया। फिर देवकीजी तथा सात देवियोंमेंसे श्रेष्ठताके क्रमसे अन्य सभी माताओंकी चरण-वन्दना की॥

ववन्दे सह रामेण भगवान् वासवानुजः॥
अथासनवरं प्राप्य वृष्णिदारपुरस्कृता॥
उभावङ्कगतौ चक्रे देवकी रामकेशवौ।

बलरामसहित भगवान् उपेन्द्रने जब इस प्रकार मातृ-चरणोंमें प्रणाम किया, तब वृष्णिकुलकी महिलाओंमें अग्रणी माता देवकीजीने एक श्रेष्ठ आसनपर बैठकर बलराम और श्रीकृष्ण दोनोंको गोदमें ले लिया॥

सा ताभ्यामृषभाक्षाभ्यां पुत्राभ्यां शुशुभे तदा॥
देवकी देवमातेव मित्रेण वरुणेन च।

वृषभके सदृश विशाल नेत्रोंवाले उन दोनों पुत्रोंके साथ उस समय माता देवकीकी वैसी ही शोभा हुई, जैसी मित्र और वरुणके साथ देवमाता अदितिकी होती है॥

ततः प्राप्ता यशोदाया दुहिता वै क्षणेन हि॥
जाज्वल्यमाना वपुषा प्रभयातीव भारत।

इसी समय यशोदाजीकी पुत्री क्षणभरमें वहाँ आ पहुँची। भारत! उसके श्रीअङ्ग दिव्य प्रभासे प्रज्वलित-से हो रहे थे॥

एकानङ्गेति यामाहुः कन्यां तां कामरूपिणीम्॥
यत्कृते सगणं कंसं जघान पुरुषोत्तमः।

उस कामरूपिणी कन्याका नाम था 'एकानङ्गा'। जिसके निमित्तसे पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने सेवकोंसहित कंसका वध किया था॥

ततः स भगवान् रामस्तामुपाक्रम्य भामिनीम्॥
मूर्ध्न्युपाघ्राय सव्येन परिजग्राह पाणिना।
दक्षिणेन कराग्रेण परिजग्राह माधवः॥

तब भगवान् बलरामने आगे बढ़कर उस मानिनी बहिनको बायें हाथसे पकड़ लिया और वात्सल्य-स्नेहसे

उसका मस्तक सूँघा। तदनन्तर श्रीकृष्णने भी उस कन्याको दाहिने हाथसे पकड़ लिया॥

ददृशुस्तां सभामध्ये भगिनीं रामकृष्णयोः॥
रुक्मपद्मशयां पद्मां श्रीमिवोत्तमनागयोः।

लोगोंने उस सभामें बलराम और श्रीकृष्णकी इस बहिनको देखा; मानो दो श्रेष्ठ गजराजोंके बीचमें सुवर्णमय कमलके आसनपर विराजमान भगवती लक्ष्मी हों॥

अथाक्षतमहावृष्ट्या लाजपुष्पघृतैरपि॥
वृष्णयोऽवाकिरन् प्रीताः संकर्षणजनार्दनौ।

तत्पश्चात् वृष्णिवंशी पुरुषोंने प्रसन्न होकर बलराम और श्रीकृष्णपर लाजा (खील), फूल और घीसे युक्त अक्षतकी वर्षा की॥

सबालाः सहवृद्धाश्च सज्ञातिकुलबान्धवाः॥
उपोपविविशुः प्रीता वृष्णयो मधुसूदनम्।

उस समय बालक, वृद्ध, ज्ञाति, कुल और बन्धु-बान्धवोंसहित समस्त वृष्णिवंशी प्रसन्नतापूर्वक भगवान् मधुसूदनके समीप बैठ गये॥

पूज्यमानो महाबाहुः पौराणां रतिवर्धनः॥
विवेश पुरुषव्याघ्रः स्ववेश्म मधुसूदनः।

इसके बाद पुरवासियोंकी प्रीति बढ़ानेवाले पुरुषसिंह महाबाहु मधुसूदनने सबसे पूजित हो अपने महलमें प्रवेश किया॥

रुक्मिण्या सहितो देव्या प्रमुमोद सुखी सुखम्।
अनन्तरं च सत्याया जाम्बवत्याश्च भारत।
सर्वासां च यदुश्रेष्ठः सर्वकालविहारवान्॥

वहाँ सदा प्रसन्न रहनेवाले श्रीकृष्ण रुक्मिणीदेवीके साथ बड़े सुखका अनुभव करने लगे। भारत! तत्पश्चात् सदा लीला-विहार करनेवाले यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण क्रमशः सत्यभामा तथा जाम्बवती आदि सभी देवियोंके निवासस्थानोंमें गये॥

जगाम च हृषीकेशो रुक्मिण्याः स्वं निवेशनम्।

फिर अन्तमें श्रीकृष्ण रुक्मिणीदेवीके महलमें पधारे॥

एष तात महाबाहो विजयः शार्ङ्गधन्वनः॥
एतदर्थं च जन्माहुर्मानुषेषु महात्मनः।

तात! महाबाहु युधिष्ठिर! शार्ङ्ग नामक धनुष धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी यह विजयगाथा कही गयी है। इसीके लिये महात्मा श्रीकृष्णका मनुष्योंमें अवतार हुआ बताया जाता है॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा बाणासुरपर विजय और भीष्मके द्वारा श्रीकृष्ण-माहात्म्यका उपसंहार]

भीष्म उवाच

द्वारकायां ततः कृष्णः स्वदारेषु दिवानिशम्।
सुखं लब्ध्वा महाराज प्रमुमोद महायशाः॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज युधिष्ठिर! तदनन्तर महायशस्वी भगवान् श्रीकृष्ण अपनी रानियोंके साथ दिन-रात सुखका अनुभव करते हुए द्वारकापुरीमें आनन्दपूर्वक रहने लगे॥

पौत्रस्य कारणाच्चक्रे विबुधानां हितं तदा।
सवासवैः सुरैः सर्वैर्दुष्करं भरतर्षभ॥

भरतश्रेष्ठ! उन्होंने अपने पौत्र अनिरुद्धको निमित्त बनाकर देवताओंका जो हित-साधन किया, वह इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये अत्यन्त दुष्कर था॥

बाणो नामाभवद् राजा बलेर्ज्येष्ठसुतो बली।
वीर्यवान् भरतश्रेष्ठ स च बाहुसहस्रवान्॥

भरतकुलभूषण! बाण नामक एक राजा हुआ था, जो बलिका ज्येष्ठ पुत्र था। वह महान् बलवान् और पराक्रमी होनेके साथ ही सहस्र भुजाओंसे सुशोभित था॥

ततश्चक्रे तपस्तीव्रं सत्येन मनसा नृप।
रुद्रमाराधयामास स च बाणः समा बहूः॥

राजन्! बाणासुरने सच्चे मनसे बड़ी कठोर तपस्या की। उसने बहुत वर्षोंतक भगवान् शङ्करकी आराधना की॥

तस्मै बहुवरा दत्ताः शङ्करेण महात्मना।
तस्माल्लब्ध्वा वरान् बाणो दुर्लभान् ससुरैरपि॥
स शोणितपुरे राज्यं चकाराप्रतिमो बली।

महात्मा शङ्करने उसे अनेक वरदान दिये। भगवान् शङ्करसे देवदुर्लभ वरदान पाकर बाणासुर अनुपम बलशाली हो गया और शोणितपुरमें राज्य करने लगा॥

त्रासिताश्च सुराः सर्वे तेन बाणेन पाण्डव॥
विजित्य विबुधान् सर्वान् सेन्द्रान् बाणः समा बहूः।
अशासत महद् राज्यं कुबेर इव भारत॥

भरतवंशी पाण्डुनन्दन! बाणासुरने सब देवताओंको आतङ्कित कर रक्खा था। उसने इन्द्र आदि सब देवताओंको जीतकर कुबेरकी भाँति दीर्घकालतक इस भूतलपर महान् राज्यका शासन किया॥

ऋद्ध्यर्थं कुरुते यत्नं तस्य चैवोशना कविः।

ज्ञानी विद्वान् शुक्राचार्य उसकी समृद्धि बढ़ानेके लिये प्रयत्न करते रहते थे॥

ततो राजन्नुषा नाम बाणस्य दुहिता तथा॥
रूपेणाप्रतिमा लोके मेनकायाः सुता यथा।

राजन्! बाणासुरके एक पुत्री थी, जिसका नाम उषा था। संसारमें उसके रूपकी तुलना करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं थी। वह मेनका अप्सराकी पुत्री-सी प्रतीत होती थी॥

अथोपायेन कौन्तेय अनिरुद्धो महाद्युतिः॥
प्राद्युम्निस्तामुषां प्राप्य प्रच्छन्नः प्रमुमोद ह।

कुन्तीनन्दन ! महान् तेजस्वी प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्ध किसी उपायसे उषातक पहुँचकर छिपे रहकर उसके साथ आनन्दका उपभोग करने लगे ॥

अथ बाणो महातेजास्तदा तत्र युधिष्ठिर ॥
तं गुह्यनिलयं ज्ञात्वा प्राद्युम्निं सुतया सह ।
गृहीत्वा कारयामास वस्तुं कारागृहे बलात् ॥

युधिष्ठिर ! महातेजस्वी बाणासुरने गुप्तरूपसे छिपे हुए प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धका अपनी पुत्रीके साथ रहना जान लिया और उन्हें अपनी पुत्रीसहित बलपूर्वक कारागारमें ठूँस देनेके लिये बंदी बना लिया ॥

सुकुमारः सुखार्होऽथ तदा दुःखमवाप सः ।
बाणेन खेदितो राजन्ननिरुद्धो मुमोह च ॥

राजन् ! वे सुकुमार एवं सुख भोगनेके योग्य थे, तो भी उन्हें उस समय दुःख उठाना पड़ा । बाणासुरके द्वारा भाँति-भाँतिके कष्ट दिये जानेपर अनिरुद्ध मूर्च्छित हो गये ॥

एतस्मिन्नेव काले तु नारदो मुनिपुङ्गवः ।
द्वारकां प्राप्य कौन्तेय कृष्णं दृष्ट्वा वचोऽब्रवीत् ॥

कुन्तीकुमार ! इसी समय मुनिप्रवर नारदजी द्वारकामें आकर श्रीकृष्णसे मिले और इस प्रकार बोले ॥

नारद उवाच

कृष्ण कृष्ण महाबाहो यदूनां कीर्तिवर्धन ।
त्वत्पौत्रो बाध्यमानोऽथ बाणेनामिततेजसा ॥
कृच्छ्रं प्राप्तोऽनिरुद्धो वै शेते कारागृहे सदा ।

नारदजीने कहा—महाबाहु श्रीकृष्ण ! आप यदुवंशियोंकी कीर्ति बढ़ानेवाले हैं । इस समय अमिततेजस्वी बाणासुर आपके पौत्र अनिरुद्धको बहुत कष्ट दे रहा है । वे संकटमें पड़े हैं और सदा कारागारमें निवास कर रहे हैं ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा सुरर्षिर्वै बाणस्याथ पुरं ययौ ॥
नारदस्य वचः श्रुत्वा ततो राजञ्जनार्दनः ।
आहूय बलदेवं वै प्रद्युम्नं च महाद्युतिम् ॥
आरुरोह गरुत्मन्तं ताभ्यां सह जनार्दनः ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर देवर्षि नारद बाणासुरकी राजधानी शोणितपुरको चले गये । नारदजीकी बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजी तथा महातेजस्वी प्रद्युम्नको बुलाया और उन दोनोंके साथ वे गरुड़पर आरूढ़ हुए ॥

ततः सुपर्णमारुह्य त्रयस्ते पुरुषर्षभाः ॥
जग्मुः क्रुद्धा महावीर्या बाणस्य नगरं प्रति ।

तदनन्तर वे तीनों महापराक्रमी पुरुषरत्न गरुड़पर आरूढ़ हो क्रोधमें भरकर बाणासुरके नगरकी ओर चल दिये ॥

अथासाद्य महाराज तत्पुरीं ददृशुश्च ते ॥
ताम्रप्राकारसंवीतां रूप्यद्वारैश्च शोभिताम् ।

महाराज ! वहाँ जाकर उन्होंने बाणासुरकी पुरीको देखा, जो ताँबेकी चहारदिवारीसे घिरी हुई थी । चाँदीके बने हुए दरवाजे उसकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥

हेमप्रासादसम्बाधां मुक्तामणिविचित्रिताम् ॥
उद्यानवनसम्पन्नां नृत्तगीतैश्च शोभिताम् ।

वह पुरी सुवर्णमय प्रासादोंसे भरी हुई थी और मुक्तामणियोंसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। उसमें स्थान-स्थानपर उद्यान और वन शोभा पा रहे थे । वह नगरी नृत्य और गीतोंसे सुशोभित थी ॥

तोरणैःपक्षिभिःकीर्णां पुष्करिण्या च शोभिताम्॥
तां पुरीं स्वर्गसंकाशां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ।
दृष्ट्वा मुदा युतां हैमां विस्मयं परमं ययुः ॥

वहाँ अनेक सुन्दर फाटक बने थे । सब ओर भाँति-भाँतिके पक्षी चहचहाते थे । कमलोंसे भरी हुई पुष्करिणी उस पुरीकी शोभा बढ़ाती थी । उसमें हृष्ट-पुष्ट स्त्री-पुरुष निवास करते थे और वह पुरी स्वर्गके समान मनोहर दिखायी देती थी । प्रसन्नतासे भरी हुई उस सुवर्णमयी नगरीको देखकर श्रीकृष्ण, बलराम और प्रद्युम्न तीनोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥

तस्य बाणपुरस्यासन् द्वारस्था देवताः सदा ।
महेश्वरो गुहश्चैव भद्रकाली च पावकः ॥
एता वै देवता राजन् ररक्षुस्तां पुरीं सदा ।

बाणासुरकी राजधानीमें कितने ही देवता सदा द्वारपर बैठकर पहरा देते थे । राजन् ! भगवान् शङ्कर, कार्तिकेय, भद्रकालीदेवी और अग्नि—ये देवता सदा उस पुरीकी रक्षा करते थे ॥

अथ कृष्णो बलाज्जित्वा द्वारपालान् युधिष्ठिर ॥
सुसंक्रुद्धो महातेजाः शङ्खचक्रगदाधरः ।
आससादोत्तरद्वारं शङ्करेणाभिपालितम् ॥

युधिष्ठिर! शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले महातेजस्वी श्रीकृष्णने अत्यन्त कुपित हो पूर्वद्वारके रक्षकोंको बलपूर्वक जीतकर भगवान् शङ्करके द्वारा सुरक्षित उत्तरद्वारपर आक्रमण किया॥

तत्र तस्थौ महातेजाः शूलपाणिर्महेश्वरः ।
पिनाकं सशरं गृह्य बाणस्य हितकाम्यया ॥
ज्ञात्वा तमागतं कृष्णं व्यादितास्यमिवान्तकम् ।
महेश्वरो महाबाहुः कृष्णाभिमुखमाययौ ॥

वहाँ महान् तेजस्वी भगवान् महेश्वर हाथमें त्रिशूल लिये खड़े थे । जब उन्हें मालूम हुआ कि भगवान् श्रीकृष्ण मुँह बाये कालकी भाँति आ रहे हैं, तब वे महाबाहु महेश्वर

बाणासुरके हित-साधनकी इच्छासे बाणसहित पिनाक नामक धनुष हाथमें लेकर श्रीकृष्णके सम्मुख आये ॥

ततस्तौ चक्रतुर्युद्धं वासुदेवमहेश्वरौ ।
तद् युद्धमभवद् घोरमचिन्त्यं रोमहर्षणम् ॥

तदनन्तर भगवान् वासुदेव और महेश्वर परस्पर युद्ध करने लगे । उनका वह युद्ध अचिन्त्य, रोमाञ्चकारी तथा भयंकर था ॥

अन्योन्यं तौ ततक्षाते अन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ ।
दिव्यास्त्राणि च तौ देवौ क्रुद्धौ मुमुचतुस्तदा ॥

वे दोनों देवता एक दूसरेपर विजय पानेकी इच्छासे परस्पर प्रहार करने लगे । दोनों ही क्रोधमें भरकर एक दूसरेपर दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करते थे ॥

ततः कृष्णो रणं कृत्वा मुहूर्तं शूलपाणिना ।
विजित्य तं महादेवं ततो युद्धे जनार्दनः ॥
अन्यांश्च जित्वा द्वारस्थान् प्रविवेश पुरोत्तमम् ।

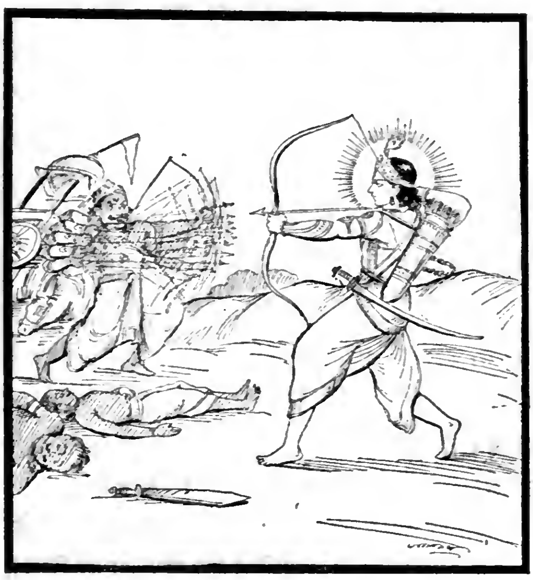
तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने शूलपाणि भगवान् शङ्करके साथ दो घड़ीतक युद्ध करके महादेवजीको जीत लिया तथा द्वारपर खड़े हुए अन्य शिवगणोंको भी परास्त करके उस उत्तम नगरमें प्रवेश किया !

प्रविश्य बाणमासाद्य स तत्राथ जनार्दनः ॥
चक्रे युद्धं महाक्रुद्धस्तेन बाणेन पाण्डव ।

पाण्डुनन्दन ! पुरीमें प्रवेश करके अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए श्रीजनार्दनने बाणासुरके पास पहुँचकर उसके साथ युद्ध छेड़ दिया ॥

बाणोऽपि सर्वशस्त्राणि शितानि भरतर्षभ ॥
सुसंक्रुद्धस्तदा युद्धे पातयामास केशवे ।

भरतश्रेष्ठ ! बाणासुर भी क्रोधसे आगबबूला हो रहा था । उसने भी युद्धमें भगवान् केशवपर सभी तीखे-तीखे अस्त्र-शस्त्र चलाये ॥



पुनरुद्यम्य शस्त्राणां सहस्रं सर्वबाहुभिः ॥
मुमोच बाणः संक्रुद्धः कृष्णं प्रति रणाजिरे ।

फिर उसने उद्योगपूर्वक अपनी सभी भुजाओंसे उस समराङ्गणमें कुपित हो श्रीकृष्णपर सहस्रों शस्त्रोंका प्रहार किया ॥

ततः कृष्णस्तु सञ्छिद्य तानि सर्वाणि भारत ॥
कृत्वा मुहूर्तं बाणेन युद्धं राजन्नधोक्षजः ।
चक्रमुद्यम्य राजन् वै दिव्यं शस्त्रोत्तमं ततः ॥
सहस्रबाहूंश्चिच्छेद बाणस्यामिततेजसः ।

भारत ! परंतु श्रीकृष्णने वे सभी शस्त्र काट डाले । राजन् ! तदनन्तर भगवान् अधोक्षजने दो घड़ीतक बाणासुरके साथ युद्ध करके अपना दिव्य उत्तम शस्त्र चक्र हाथमें उठाया और अमित तेजस्वी बाणासुरकी सहस्र भुजाओंको काट दिया ॥

ततो बाणो महाराज कृष्णेन भृशपीडितः ॥
छिन्नबाहुः पपाताशु विशाख इव पादपः ।

महाराज ! तब श्रीकृष्णद्वारा अत्यन्त पीड़ित होकर बाणासुर भुजाएँ कट जानेपर शाखाहीन वृक्षकी भाँति धरतीपर गिर पड़ा ॥

स पातयित्वा बालेयं बाणं कृष्णस्त्वरान्वितः ॥
प्राद्युम्निं मोक्षयामास क्षिप्तं कारागृहे तदा ।

इस प्रकार बलिपुत्र बाणासुरको रणभूमिमें गिराकर श्रीकृष्णने बड़ी उतावलीके साथ कैदमें पड़े हुए प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धको छुड़ा लिया ॥

मोक्षयित्वाथ गोविन्दः प्राद्युम्निं सह भार्यया ।
बाणस्य सर्वरत्नानि असंख्यानि जहार सः ॥

पत्नीसहित अनिरुद्धको छुड़ाकर भगवान् गोविन्दने बाणासुरके सभी प्रकारके असंख्य रत्न हर लिये ॥

गोधनान्यथ सर्वस्वं स बाणस्यालये बलात् ।
जहार च हृषीकेशो यदूनां कीर्तिवर्धनः ॥
ततः स सर्वरत्नानि चाहृत्य मधुसूदनः ।
क्षिप्रमारोपयाञ्चक्रे तत् सर्वं गरुडोपरि ॥

उसके घरमें जो भी गोधन अथवा अन्य किसी प्रकारके धन मौजूद थे, उन सबको भी यदुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले भगवान् हृषीकेशने हर लिया । फिर वे सब रत्न लेकर मधुसूदनने शीघ्रतापूर्वक गरुड़पर रख लिये ॥

त्वरयाथ स कौन्तेय बलदेवं महाबलम् ।
प्रद्युम्नं च महावीर्यमनिरुद्धं महाद्युतिम् ॥
उषां च सुन्दरीं राजन् भृत्यदासीगणैः सह ।
सर्वानेतान् समारोप्य रत्नानि विविधानि च ॥

कुन्तीनन्दन ! तत्पश्चात् उन्होंने महाबली बलदेव, अमितपराक्रमी प्रद्युम्न, परमकान्तिमान् अनिरुद्ध तथा सेवकों और दासियोंसहित सुन्दरी उषा—इन सबको और नाना प्रकारके रत्नोंको भी गरुड़पर चढ़ाया ॥

मुदा युक्तो महातेजाः पीताम्बरधरो बली ।
दिव्याभरणचित्राङ्गः शङ्खचक्रगदासिभृत् ॥
आरुरोह गरुत्मन्तमुदयं भास्करो यथा ।

इसके बाद शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले, पीताम्बरधारी, महाबली एवं महातेजस्वी श्रीकृष्ण बड़ी प्रसन्नताके साथ स्वयं भी गरुड़पर आरूढ़ हुए, मानो भगवान् भास्कर उदयाचलपर आसीन हुए हों। उस समय भगवान्के श्रीअङ्ग दिव्य आभूषणोंसे विचित्र शोभा धारण कर रहे थे ॥

अथारुह्य सुपर्णं स प्रययौ द्वारकां प्रति ॥
प्रविश्य स्वपुरं कृष्णो यादवैः सहितस्ततः ।
प्रमुमोद तदा राजन् स्वर्गस्थो वासवो यथा ॥

गरुड़पर आरुढ़ हो श्रीकृष्ण द्वारकाकी ओर चल दिये। राजन् ! अपनी पुरी द्वारकामें पहुँचकर वे यदुवंशियोंके साथ ठीक वैसे ही आनन्दपूर्वक रहने लगे, जैसे इन्द्र स्वर्गलोकमें देवताओंके साथ रहते हैं ॥

सूदिता मौरवाः पाशा निशुम्भनरकौ हतौ ।
कृतक्षेमः पुनः पन्थाः पुरं प्राग्ज्योतिषं प्रति ॥
शौरिणा पृथिवीपालास्त्रासिता भरतर्षभ ।
धनुषश्च प्रणादेन पाञ्चजन्यस्वनेन च ।

भरतश्रेष्ठ ! भगवान् श्रीकृष्णने मुरदैत्यके पाश काट दिये, निशुम्भ और नरकासुरको मार डाला और प्राग्ज्योतिषपुरका मार्ग सब लोगोंके लिये निष्कण्टक बना दिया। इन्होंने अपने धनुषकी टंकार और पाञ्चजन्य शङ्खके हुंकारसे समस्त भूपालोंको आतङ्कित कर दिया है ॥

मेघप्रख्यैरनीकैश्च दाक्षिणात्यैः सुसंवृतम् ।
रुक्मिणं त्रासयामास केशवो भरतर्षभ ॥

भरतकुलभूषण ! भगवान् केशवने उस रुक्मीको भी भयभीत कर दिया, जिसके पास मेघोंकी घटाके समान असंख्य सेनाएँ हैं और जो दाक्षिणात्य सेवकोंसे सदा सुरक्षित रहता है ॥

ततः पर्जन्यघोषेण रथेनादित्यवर्चसा ।
उवाह महिषीं भोज्यामेष चक्रगदाधरः ॥

इन चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान्ने रुक्मीको हराकर सूर्यके समान तेजस्वी तथा मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले रथके द्वारा भोजकुलोत्पन्ना रुक्मिणीका अपहरण किया, जो इस समय इनकी महारानीके पदपर प्रतिष्ठित है ॥

जारूथ्यामाहुतिः क्राथः शिशुपालश्च निर्जितः ।
वक्रश्च सह शैब्येन शतधन्वा च क्षत्रियः ॥

ये जारूथी नगरीमें वहाँके राजा आहुतिको तथा क्राथ एवं शिशुपालको भी परास्त कर चुके हैं। इन्होंने शैब्य, दन्तवक्र तथा शतधन्वा नामक क्षत्रियोंको भी हराया है ॥

इन्द्रद्युम्नो हतः क्रोधाद् यवनश्च कशेरुमान् ।

इन्होंने इन्द्रद्युम्न, कालयवन और कशेरुमान्का भी क्रोधपूर्वक वध किया है ॥

पर्वतानां सहस्रं च चक्रेण पुरुषोत्तमः ॥
विभिद्य पुण्डरीकाक्षो द्युमत्सेनमयोधयत् ।

कमलनयन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने चक्रद्वारा सहस्रों पर्वतोंको विदीर्ण करके द्युमत्सेनके साथ युद्ध किया ॥

महेन्द्रशिखरे चैव निमेषान्तरचारिणौ ॥
जग्राह भरतश्रेष्ठ वरुणस्याभितश्चरौ ।
इरावत्यामुभौ चैतावग्निसूर्यसमौ बले ॥
गोपतिस्तालकेतुश्च निहतौ शार्ङ्गधन्वना ।

भरतश्रेष्ठ ! जो बलमें अग्नि और सूर्यके समान थे और वरुणदेवताके उभय पार्श्वमें विचरण करते तथा जिनमें पलक मारते-मारते एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुँच जानेकी शक्ति थी, वे गोपति और तालकेतु भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा महेन्द्र पर्वतके शिखरपर इरावती नदीके किनारे पकड़े और मारे गये ॥

अक्षप्रपतने चैव नेमिहंसपथेषु च ॥
उभौ तावपि कृष्णेन स्वराष्ट्रे विनिपातितौ ।

अक्षप्रपतनके अन्तर्गत नेमिहंसपथ नामक स्थानमें, जो उनके अपने ही राज्यमें पड़ता था, उन दोनोंको भगवान् श्रीकृष्णने मारा था ॥

प्राग्ज्योतिषं पुरश्रेष्ठमसुरैर्बहुभिर्वृतम् ।
प्राप्य लोहितकूटानि कृष्णेन वरुणो जितः ॥
अजेयो दुष्प्रधर्षश्च लोकपालो महाद्युतिः ।

बहुतेरे असुरोंसे घिरे हुए पुरश्रेष्ठ प्राग्ज्योतिषमें पहुँचकर वहाँकी पर्वतमालाके लाल शिखरोंपर जाकर श्रीकृष्णने उन लोकपाल वरुणदेवतापर विजय पायी, जो दूसरोंके लिये दुर्धर्ष, अजेय एवं अत्यन्त तेजस्वी हैं ॥

इन्द्रद्वीपो महेन्द्रेण गुप्तो मघवता स्वयम् ॥
पारिजातो हृतः पार्थ केशवेन बलीयसा ।

पार्थ ! यद्यपि इन्द्र पारिजातके लिये द्वीप (रक्षक) बने हुए थे, स्वयं ही उसकी रक्षा करते थे, तथापि महाबली केशवने उस वृक्षका अपहरण कर लिया ॥

पाण्ड्यं पौण्ड्रं च मात्स्यं च कलिङ्गं च जनार्दनः ॥
जघान सहितान् सर्वानङ्गराजं च माधवः ।

लक्ष्मीपति जनार्दनने पाण्ड्य, पौण्ड्र, मत्स्य, कलिंग और अङ्ग आदि देशोंके समस्त राजाओंको एक साथ पराजित किया ॥

एष चैकशतं हत्वा रथेन क्षत्रपुङ्गवान् ॥
गान्धारीमवहत् कृष्णो महिषीं यादवर्षभः ।

यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णने केवल एक रथपर चढ़कर अपने विरोधमें खड़े हुए सौ क्षत्रियनरेशोंको मौतके घाट उतारकर गान्धारराजकुमारी शिंशुमाको अपनी महारानी बनाया ॥

बभ्रोश्च प्रियमन्विच्छन्नेष चक्रगदाधरः ॥
वेणुदारिहृतां भार्यामुन्ममाथ युधिष्ठिर ।

युधिष्ठिर ! चक्र और गदा धारण करनेवाले इन भगवान्ने बभ्रुका प्रिय करनेकी इच्छासे वेणुदारिके द्वारा अपहृत की हुई उनकी भार्याका उद्धार किया था ॥

पर्याप्तां पृथिवीं सर्वां साश्वां सरथकुञ्जराम् ॥
वेणुदारिवशे युक्तां जिगाय मधुसूदनः ।

इतना ही नहीं; मधुसूदनने वेणुदारिके वशमें पड़ी हुई घोड़ों, हाथियों एवं रथोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वीको भी जीत लिया ॥

अवाप्य तपसा वीर्यं बलमोजश्च भारत ॥
त्रासिताः सगणाः सर्वे बाणेन विबुधाधिपाः ।
वज्राशनिगदापाशैस्त्रासयद्भिरनेकशः ॥
तस्य नासीद् रणे मृत्युर्देवैरपि सवासवैः ।
सोऽभिभूतश्च कृष्णेन निहतश्च महात्मना ॥
छित्त्वा बाहुसहस्रं तद् गोविन्देन महात्मना ।

भारत ! जिस बाणासुरने तपस्याद्वारा बल, वीर्य और ओज पाकर समस्त देवेश्वरोंको उनके गणोंसहित भयभीत कर दिया था, इन्द्र आदि देवताओंके द्वारा बारंबार वज्र, अशनि, गदा और पाशोंका प्रहार करके त्रास दिये जानेपर भी समराङ्गणमें जिसकी मृत्यु न हो सकी, उसी दैत्यराज बाणासुरको महामना भगवान् गोविन्दने उसकी सहस्र भुजाएँ काटकर पराजित एवं क्षत-विक्षत कर दिया ॥

एष पीठं महाबाहुः कंसं च मधुसूदनः ॥
पैठकं चातिलोमानं निजघान जनार्दनः ।

मधु दैत्यका विनाश करनेवाले इन महाबाहु जनार्दनने पीठ, कंस, पैठक और अतिलोमा नामक असुरोंको भी मार दिया ॥

जम्भमैरावतं चैव विरूपं च महायशाः ॥
जघान भरतश्रेष्ठ शम्बरं चारिमर्दनम् ।

भरतश्रेष्ठ ! इन महायशस्वी श्रीकृष्णने जम्भ, ऐरावत, विरूप और शत्रुमर्दन शम्बरासुरको भी (अपनी विभूतियों-द्वारा) मरवा डाला ॥

एष भोगवतीं गत्वा वासुकिं भरतर्षभ ॥
निर्जित्य पुण्डरीकाक्षो रौहिणेयममोचयत् ।

भरतकुलभूषण ! इन कमलनयन श्रीहरिने भोगवती-पुरीमें जाकर वासुकि नागको हराकर रोहिणीनन्दनको[1] बन्धनसे छुड़ाया ॥

एवं बहूनि कर्माणि शिशुरेव जनार्दनः ॥
कृतवान् पुण्डरीकाक्षः संकर्षणसहायवान् ।

इस प्रकार संकर्षणसहित कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण-ने बाल्यावस्थामें ही बहुत-से अद्भुत कर्म किये थे ॥

एवमेषोऽसुराणां च सुराणां चापि सर्वशः ॥
भयाभयकरः कृष्णः सर्वलोकेश्वरः प्रभुः ।

ये ही देवताओं और असुरोंको सर्वथा अभय तथा भय देनेवाले हैं । भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण लोकोंके अधीश्वर हैं ॥

एवमेष महाबाहुः शास्ता सर्वदुरात्मनाम् ॥
कृत्वा देवार्थममितं स्वस्थानं प्रतिपत्स्यते ।

इस प्रकार सम्पूर्ण दुष्टोंका दमन करनेवाले ये महाबाहु भगवान् श्रीहरि अनन्त देवकार्य सिद्ध करके अपने परम-धामको पधारेंगे ॥

एष भोगवतीं रम्यामृषिकान्तां महायशाः ॥
द्वारकामात्मसात् कृत्वा सागरं गमयिष्यति ।

ये महायशस्वी श्रीकृष्ण मुनिजनवाञ्छित एवं भोगोंसे सम्पन्न रमणीय द्वारकापुरीको आत्मसात् करके समुद्रमें विलीन कर देंगे ॥

बहुपुण्यवतीं रम्यां चैत्ययूपवतीं शुभाम् ॥
द्वारकां वरुणावासं प्रवेक्ष्यति सकाननाम् ।

ये चैत्य और यूपोंसे सम्पन्न, परम पुण्यवती, रमणीय एवं मङ्गलमयी द्वारकाको वन-उपवनोंसहित वरुणालयमें डुबा देंगे ॥

तां सूर्यसदनप्रख्यां मनोज्ञां शार्ङ्गधन्वना ॥
विश्लिष्टां वासुदेवेन सागरः प्लावयिष्यति ।

सूर्यलोकके समान कान्तिमती एवं मनोरम द्वारकापुरी-को जब शार्ङ्गधन्वा वासुदेव त्याग देंगे, उस समय समुद्र इसे अपने भीतर ले लेगा ॥

सुरासुरमनुष्येषु नाभून्न भविता क्वचित् ॥
यस्तामध्यवसद् राजा अन्यत्र मधुसूदनात् ।

भगवान् मधुसूदनके सिवा देवताओं, असुरों और मनुष्योंमें ऐसा कोई राजा न हुआ और न होगा ही, जो द्वारकापुरीमें रहनेका संकल्प भी कर सके ॥

भ्राजमानास्तु शिशवो वृष्ण्यन्धकमहारथाः ॥
तज्जुष्टं प्रतिपत्स्यन्ते नाकपृष्ठं गतासवः ।

उस समय वृष्णि और अन्धकवंशके महारथी एवं उनके कान्तिमान् शिशु भी प्राण त्यागकर भगवत्सेवित परमधामको प्राप्त करेंगे ॥

एवमेव दशार्हाणां विधाय विधिना विधिम् ॥
विष्णुर्नारायणः सोमः सूर्यश्च सविता स्वयम् ।

१. रोहिणीके गद और सारण आदि कई पुत्र थे ।

इस प्रकार ये दशार्हवंशियोंके सब कार्य विधिपूर्वक सम्पन्न करेंगे । ये स्वयं ही विष्णु, नारायण, सोम, सूर्य और सविता हैं ॥

अप्रमेयोऽनियोज्यश्च यत्रकामगमो वशी ॥
मोदते भगवान् भूतैर्बालः क्रीडनकैरिव ।

ये अप्रमेय हैं । इनपर किसीका नियन्त्रण नहीं चल सकता । ये इच्छानुसार चलनेवाले और सबको अपने वशमें रखनेवाले हैं । जैसे बालक खिलौनेसे खेलता है, उसी प्रकार ये भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ आनन्दमयी क्रीडा करते हैं ॥

नैष गर्भत्वमापेदे न योन्यामवसत् प्रभुः ॥
आत्मनस्तेजसा कृष्णः सर्वेषां कुरुते गतिम् ।

ये प्रभु न तो किसीके गर्भमें आते हैं और न किसी योनिविशेषमें ही इनका आवास हुआ है अर्थात् ये अपने-आप ही प्रकट हो जाते हैं । श्रीकृष्ण अपने ही तेजसे सबकी सद्गति करते हैं ॥

यथा बुद्बुद उत्थाय तत्रैव प्रविलीयते ॥
चराचराणि भूतानि तथा नारायणे सदा ।

जैसे बुद्बुद पानीसे उठकर फिर उसीमें विलीन हो जाता है, उसी प्रकार समस्त चराचर भूत सदा भगवान् नारायणसे प्रकट होकर उन्हींमें विलीन हो जाते हैं ॥

न प्रमातुं महाबाहुः शक्यो भारत केशवः ॥
परं ह्यपरमेतस्माद् विश्वरूपान्न विद्यते ।

भारत ! इन महाबाहु केशवकी कोई इतिश्री नहीं बतायी जा सकती । इन विश्वरूप परमेश्वरसे भिन्न पर और अपर कुछ भी नहीं है ॥

अयं तु पुरुषो बालः शिशुपालो न बुध्यते ।
सर्वत्र सर्वदा कृष्णं तस्मादेवं प्रभाषते ॥ ३० ॥

यह शिशुपाल मूढ़बुद्धि पुरुष है, यह भगवान् श्रीकृष्णको सर्वत्र व्यापक तथा सर्वदा स्थिर नहीं जानता है, इसीलिये उनके सम्बन्धमें ऐसी बातें कहता है ॥ ३० ॥

यो हि धर्मं विचिनुयादुत्कृष्टं मतिमान् नरः ।
स वै पश्येद् यथा धर्मं न तथा चेदिराडयम् ॥ ३१ ॥

जो बुद्धिमान् मनुष्य उत्तम धर्मकी खोज करता है, वह धर्मके स्वरूपको जैसा समझता है, वैसा यह चेदिराज शिशुपाल नहीं समझता ॥ ३१ ॥

सवृद्धबालेष्वथवा पार्थिवेषु महात्मसु ।
को नार्हं मन्यते कृष्णं को वाप्येनं न पूजयेत् ॥ ३२ ॥

अथवा वृद्धों और बालकोंसहित यहाँ बैठे हुए समस्त महात्मा राजाओंमें ऐसा कौन है, जो श्रीकृष्णको पूज्य न मानता हो या कौन है, जो इनकी पूजा न करता हो ! ॥ ३२ ॥

अथैनां दुष्कृतां पूजां शिशुपालो व्यवस्यति ।
दुष्कृतायां यथान्यायं तथायं कर्तुमर्हति ॥ ३३ ॥

यदि शिशुपाल इस पूजाको अनुचित मानता है, तो अब उस अनुचित पूजाके विषयमें उसे जो उचित जान पड़े, वैसा करे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि भीष्मवाक्ये अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अर्घाभिहरणपर्वमें भीष्मवाक्यनामक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७२८½ श्लोक मिलाकर कुल ७६१½ श्लोक हैं)

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

सहदेवकी राजाओंको चुनौती तथा क्षुब्ध हुए शिशुपाल आदि नरेशोंका युद्धके लिये उद्यत होना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततो भीष्मो विरराम महाबलः ।
व्याजहारोत्तरं तत्र सहदेवोऽर्थवद् वचः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर महाबली भीष्म चुप हो गये । तत्पश्चात् माद्रीकुमार सहदेवने शिशुपालकी बातोंका मुँहतोड़ उत्तर देते हुए यह सार्थक बात कही—॥ १ ॥

केशवं केशिहन्तारमप्रमेयपराक्रमम् ।
पूज्यमानं मया यो वः कृष्णं न सहते नृपाः ॥ २ ॥
सर्वेषां बलिनां मूर्ध्नि मयेदं निहितं पदम् ।
एवमुक्ते मया सम्यगुत्तरं प्रब्रवीतु सः ॥ ३ ॥
स एव हि मया वध्यो भविष्यति न संशयः ।

'राजाओ ! केशी दैत्यका वध करनेवाले अनन्तपराक्रमी भगवान् श्रीकृष्णकी मेरेद्वारा जो पूजा की गयी है, उसे आपलोगोंमेंसे जो सहन न कर सकें, उन सब बलवानोंके मस्तकपर मैंने यह पैर रख दिया । मैंने खूब सोच-समझकर यह बात कही है । जो इसका उत्तर देना चाहे, वह सामने आ जाय । मेरेद्वारा वह वधके योग्य होगा; इसमें संशय नहीं है ॥ २-३½ ॥

मतिमन्तश्च ये केचिदाचार्यं पितरं गुरुम् ॥ ४ ॥
अर्च्यमर्चितमर्घार्हमनुजानन्तु ते नृपाः ।

'जो बुद्धिमान् राजा हों वे मेरेद्वारा की हुई आचार्य, पिता, गुरु, पूजनीय तथा अर्घ्यनिवेदनके सर्वथा योग्य भगवान् श्रीकृष्णकी पूजाका हृदयसे अनुमोदन करें' ॥४½॥

ततो न व्याजहारैषां कश्चिद् बुद्धिमतां सताम् ॥ ५ ॥

मानिनां बलिनां राज्ञां मध्ये वै दर्शिते पदे ।

सहदेवने महामानी और बलवान् राजओंके बीच खड़े होकर अपना पैर दिखाया था, तो भी जो बुद्धिमान् एवं श्रेष्ठ नरेश थे, उनमेंसे कोई कुछ न बोला ॥ ५½ ॥

ततोऽपतत् पुष्पवृष्टिः सहदेवस्य मूर्धनि ॥ ६ ॥
अदृश्यरूपा वाचश्चाप्यब्रुवन् साधु साध्विति ।

उस समय सहदेवके मस्तकपर आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी और अदृश्यरूपसे खड़े हुए देवताओंने 'साधु', 'साधु', कहकर उनके सत्साहसकी प्रशंसा की ॥ ६½ ॥

आविध्यदजितं कृष्णं भविष्यद्भूतजल्पकः ॥ ७ ॥
सर्वसंशयनिर्मोक्ता नारदः सर्वलोकवित् ।
उवाचाखिलभूतानां मध्ये स्पष्टतरं वचः ॥ ८ ॥

तदनन्तर कभी पराजित न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाके ज्ञाता, भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंकी बातें बतानेवाले, सब लोगोंके सभी संशयोंका निवारण करनेवाले तथा सम्पूर्ण लोकोंसे परिचित देवर्षि नारद समस्त उपस्थित प्राणियोंके बीच स्पष्ट शब्दोंमें बोले—॥ ७–८ ॥

कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः ।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न सम्भाष्याः कदाचन ॥ ९ ॥

'जो मानव कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा नहीं करेंगे, वे जीते-जी ही मृतक-तुल्य समझे जायँगे । ऐसे लोगोंसे कभी बातचीत नहीं करनी चाहिये' ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

पूजयित्वा च पूजार्हान् ब्रह्मक्षत्रविशेषवित् ।
सहदेवो नृणां देवः समापयत कर्म तत् ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वहाँ आये हुए ब्राह्मणों और क्षत्रियोंमें विशिष्ट व्यक्तियोंको पहचाननेवाले नरदेव सहदेवने क्रमशः पूज्य व्यक्तियोंकी पूजा करके वह अर्घ्यनिवेदनका कार्य पूरा कर दिया ॥ १० ॥

तस्मिन्नभ्यर्चिते कृष्णे सुनीथः शत्रुकर्षणः ।
अतिताम्रेक्षणः कोपादुवाच मनुजाधिपान् ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णका पूजन सम्पन्न हो जानेपर शत्रुविजयी शिशुपालने क्रोधसे अत्यन्त लाल आँखें करके समस्त राजाओंसे कहा—॥ ११ ॥

स्थितः सेनापतिर्योऽहं मन्यध्वं किं तु साम्प्रतम् ।
युधि तिष्ठाम संनह्य समेतान् वृष्णिपाण्डवान् ॥ १२ ॥

'भूमिपालो ! मैं सबका सेनापति बनकर खड़ा हूँ । अब तुमलोग किस चिन्तामें पड़े हो । आओ, हम सब लोग युद्धके लिये सुसज्जित हो पाण्डवों और यादवोंकी सम्मिलित सेनाका सामना करनेके लिये डट जायँ' ॥ १२ ॥

इति सर्वान् समुत्साह्य राजस्तांश्चेदिपुङ्गवः ।
यज्ञोपघाताय ततः सोऽमन्त्रयत राजभिः ॥ १३ ॥
तत्राहूता गताः सर्वे सुनीथप्रमुखा गणाः ।
समदृश्यन्त संक्रुद्धा विवर्णवदनास्तथा ॥ १४ ॥

इस प्रकार उन सब राजाओंको युद्धके लिये उत्साहित करके चेदिराजने युधिष्ठिरके यज्ञमें विघ्न डालनेके उद्देश्यसे राजाओंसे सलाह की। शिशुपालके इस प्रकार बुलानेपर उसके सेनापतित्वमें सुनीथ आदि कुछ प्रमुख नरेशगण चले आये। वे सब-के-सब अत्यन्त क्रोधसे भर रहे थे एवं उनके मुखकी कान्ति बदली हुई दिखायी देती थी ॥ १३-१४ ॥

युधिष्ठिराभिषेकं च वासुदेवस्य चार्हणम् ।
न स्याद् यथा तथा कार्यमेवं सर्वे तदाब्रुवन् ॥ १५ ॥

उन सबने यह कहा कि 'युधिष्ठिरके अभिषेक और श्रीकृष्णकी पूजाका कार्य सफल न हो, वैसा प्रयत्न करना चाहिये' ॥ १५ ॥

निष्कर्षान्निश्चयात् सर्वे राजानः क्रोधमूर्छिताः ।
अब्रुवंस्तत्र राजानो निर्वेदादात्मनिश्चयात् ॥ १६ ॥

इस निर्णय एवं निष्कर्षपर पहुँचकर वे सभी नरेश क्रोधसे मोहित हो गये । सहदेवकी बातोंसे अपमानका अनुभव करके अपनी शक्तिकी प्रबलताका विश्वास करके राजाओंने उपर्युक्त बातें कही थीं ॥ १६ ॥

सुहृद्भिर्वार्यमाणानां तेषां हि वपुराबभौ ।
आमिषादपकृष्टानां सिंहानामिव गर्जताम् ॥ १७ ॥

अपने सगे-सम्बन्धियोंके मना करनेपर भी उनका क्रोधसे तमतमाता हुआ शरीर उन सिंहोंके समान सुशोभित हुआ, जो मांससे वञ्चित कर दिये जानेके कारण दहाड़ रहे हों ॥

तं बलौघमपर्यन्तं राजसागरमक्षयम् ।
कुर्वाणं समयं कृष्णो युद्धाय बुबुधे तदा ॥ १८ ॥

राजाओंका वह समुदाय अक्षय समुद्रकी भाँति उमड़ रहा था । उसका कहीं अन्त नहीं दिखायी देता था। सेनाएँ ही उसकी अपार जलराशि थीं । उसे इस प्रकार शपथ करते देख भगवान् श्रीकृष्णने यह समझ लिया कि अब ये नरेश युद्धके लिये तैयार हैं ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि राजमन्त्रणे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अर्घाभिहरणपर्वमें राजाओंकी मन्त्रणाविषयक उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

(शिशुपालवधपर्व)

चत्वारिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी चिन्ता और भीष्मजीका उन्हें सान्त्वना देना

वैशम्पायन उवाच

ततः सागरसंकाशं दृष्ट्वा नृपतिमण्डलम्।
संवर्तवाताभिहतं भीमं क्षुब्धमिवार्णवम्॥ १ ॥
रोषात् प्रचलितं सर्वमिदमाह युधिष्ठिरः।
भीष्मं मतिमतां मुख्यं वृद्धं कुरुपितामहम्।
बृहस्पतिं बृहत्तेजाः पुरुहूत इवारिहा॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर प्रलय-कालीन महावायुके थपेड़ोंसे क्षुब्ध हुए भयंकर महासागरकी भाँति राजाओंके उस समुदायको क्रोधसे चञ्चल हुआ देख धर्मराज युधिष्ठिर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ और कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्मजीसे उसी प्रकार बोले, जैसे शत्रुहन्ता महातेजस्वी इन्द्र बृहस्पतिजीसे कोई बात पूछते हैं—॥१-२॥

असौ रोषात् प्रचलितो महान् नृपतिसागरः।
अत्र यत् प्रतिपत्तव्यं तन्मे ब्रूहि पितामह॥ ३ ॥

'पितामह! यह देखिये, राजाओंका महासमुद्र रोषसे अत्यन्त चञ्चल हो उठा है। अब यहाँ इन सबको शान्त करनेका जो उचित उपाय जान पड़े, वह मुझे बताइये॥३॥

यज्ञस्य च न विघ्नः स्यात् प्रजानां च हितं भवेत्।
यथा सर्वत्र तत् सर्वं ब्रूहि मेऽद्य पितामह॥ ४ ॥

'दादाजी! यज्ञमें विघ्न न पड़े और प्रजाओंका हित हो तथा जिस प्रकार सर्वत्र शान्ति भी बनी रहे, वह सब उपाय अब मुझे बतानेकी कृपा करें॥ ४ ॥

इत्युक्तवति धर्मज्ञे धर्मराजे युधिष्ठिरे।
उवाचेदं वचो भीष्मस्ततः कुरुपितामहः॥ ५ ॥

धर्मके ज्ञाता धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर कुरुकुल पितामह भीष्मजी इस प्रकार बोले—॥ ५ ॥

मा भैस्त्वं कुरुशार्दूल श्वा सिंहं हन्तुमर्हति।
शिवः पन्थाः सुनीतोऽत्र मया पूर्वतरं वृतः॥ ६ ॥

'कुरुवंशके वीर! तुम डरो मत, क्या कुत्ता कभी सिंहको मार सकता है? हमने कल्याणमय मार्ग पहले ही चुन लिया है (श्रीकृष्णका आश्रय ही वह मार्ग है, जिसका मैंने वरण कर लिया है)॥

प्रसुप्ते हि यथा सिंहे श्वानस्तस्मिन् समागताः।
भषेयुः सहिताः सर्वे तथेमे वसुधाधिपाः॥ ७ ॥
वृष्णिसिंहस्य सुप्तस्य तथामी प्रमुखे स्थिताः।

'जैसे सिंहके सो जानेपर बहुत-से कुत्ते उसके निकट आकर एक साथ भूँकने लगते हैं, उसी प्रकार ये सामने खड़े हुए राजा भी तभीतक भूँक रहे हैं, जबतक वृष्णिवंशका सिंह सो रहा है॥७½॥

भषन्ते तात संक्रुद्धाः श्वानः सिंहस्य संनिधौ॥ ८ ॥
न हि सम्बुध्यते यावत् सुप्तः सिंह इवाच्युतः।
तेन सिंहीकरोत्येतान् नृसिंहश्चेदिपुङ्गवः॥ ९ ॥
पार्थिवान् पार्थिवश्रेष्ठः शिशुपालोऽप्यचेतनः।
सर्वान् सर्वात्मना तात नेतुकामो यमक्षयम्॥ १० ॥

'क्रोधमें भरे हुए कुत्तोंके समान ये लोग सिंहके निकट तभीतक कोलाहल मचा रहे हैं, जबतक भगवान् श्रीकृष्ण सिंहकी तरह जाग नहीं उठते—इन्हें दण्ड देनेके लिये उद्यत नहीं हो जाते। राजाओंमें श्रेष्ठ चेदिकुलभूषण नृसिंह शिशुपाल भी अपनी विवेकशक्ति खो बैठा है, तभी इन सब नरेशोंको यमलोकमें भेज देनेकी इच्छासे कुत्तेसे सिंह बनानेकी कोशिश कर रहा है॥ ८—१० ॥

नूनमेतत् समादातुं पुनरिच्छत्यधोक्षजः।
यदस्य शिशुपालस्य तेजस्तिष्ठति भारत॥११॥

'भारत! अवश्य ही भगवान् श्रीकृष्ण इस शिशुपालके भीतर उनका जो तेज है, उसे पुनः समेट लेना चाहते हैं॥११॥

विप्लुता चास्य भद्रं ते बुद्धिर्बुद्धिमतां वर।
चेदिराजस्य कौन्तेय सर्वेषां च महीक्षिताम्॥१२॥

'बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! तुम्हारा कल्याण हो। अवश्य ही इस चेदिराज शिशुपालकी तथा इन समस्त भूपालोंकी बुद्धि मारी गयी है॥ १२ ॥

आदातुं च नरव्याघ्रो यं यमिच्छत्ययं तदा।
तस्य विप्लवते बुद्धिरेवं चेदिपतेर्यथा॥१३॥

'क्योंकि नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण जिस-जिसको अपनेमें विलीन कर लेना चाहते हैं, उस-उस मनुष्यकी बुद्धि इसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे इस चेदिराज शिशुपालकी॥ १३ ॥

चतुर्विधानां भूतानां त्रिषु लोकेषु माधवः।
प्रभवश्चैव सर्वेषां निधनं च युधिष्ठिर॥१४॥

'युधिष्ठिर! माधव श्रीकृष्ण तीनों लोकोंमें जो स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज और जरायुज—ये चार प्रकारके प्राणी हैं, उन सबकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

इति तस्य वचः श्रुत्वा ततश्चेदिपतिर्नृपः।
भीष्मं रूक्षाक्षरा वाचः श्रावयामास भारत॥ १५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मजीकी यह बात सुनकर चेदिराज शिशुपाल उनको बड़ी कठोर बातें सुनाने लगा॥ १५॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि युधिष्ठिराश्वासने चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें युधिष्ठिरको आश्वासन नामक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४०॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

शिशुपालद्वारा भीष्मकी निन्दा

शिशुपाल उवाच

विभीषिकाभिर्बह्वीभिर्भीषयन् सर्वपार्थिवान्।
न व्यपत्रपसे कस्माद् वृद्धः सन् कुलपांसन॥ १॥

शिशुपाल बोला—कुलको कलंकित करनेवाले भीष्म! तुम अनेक प्रकारकी विभीषिकाओंद्वारा इन सब राजाओंको डरानेकी चेष्टा कर रहे हो। बड़े-बूढ़े होकर भी तुम्हें अपने इस कृत्यपर लज्जा क्यों नहीं आती?॥ १॥

युक्तमेतत् तृतीयायां प्रकृतौ वर्तता त्वया।
वक्तुं धर्मादपेतार्थं त्वं हि सर्वकुरूत्तमः॥ २॥

तुम तीसरी प्रकृतिमें स्थित (नपुंसक) हो, अतः तुम्हारे लिये इस प्रकार धर्मविरुद्ध बातें कहना उचित ही है। फिर भी यह आश्चर्य है कि तुम समूचे कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष कहे जाते हो॥ २॥

नावि नौरिव सम्बद्धा यथान्धो वान्धमन्वियात्।
तथाभूता हि कौरव्या येषां भीष्म त्वमग्रणीः॥ ३॥

भीष्म! जैसे एक नाव दूसरी नावमें बाँध दी जाय; एक अंधा दूसरे अंधेके पीछे चले; वही दशा इन सब कौरवोंकी है, जिन्हें तुम-जैसा अगुआ मिला है॥ ३॥

पूतनाघातपूर्वाणि कर्माण्यस्य विशेषतः।
त्वया कीर्तयतास्माकं भूयः प्रव्यथितं मनः॥ ४॥

तुमने श्रीकृष्णके पूतना-वध आदि कर्मोंका जो विशेष-रूपसे वर्णन किया है, उससे हमारे मनको पुनः बहुत बड़ी चोट पहुँची है॥ ४॥

अवलिप्तस्य मूर्खस्य केशवं स्तोतुमिच्छतः।
कथं भीष्म न ते जिह्वा शतधेयं विदीर्यते॥ ५॥

भीष्म! तुम्हें अपने ज्ञानीपनका बड़ा घमंड है, परंतु तुम हो वास्तवमें बड़े मूर्ख। ओह! इस केशवकी स्तुति करनेकी इच्छा होते ही तुम्हारी जीभके सैकड़ों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते?॥ ५॥

यत्र कुत्सा प्रयोक्तव्या भीष्म बालतरैर्नरैः।
तमिमं ज्ञानवृद्धः सन् गोपं संस्तोतुमिच्छसि॥ ६॥

भीष्म! जिसके प्रति मूर्ख-से-मूर्ख मनुष्योंको भी घृणा करनी चाहिये, उसी ग्वालियेकी तुम ज्ञानवृद्ध होकर भी स्तुति करना चाहते हो (यह आश्चर्य है!)॥ ६॥

यद्यनेन हतो बाल्ये शकुनिश्चित्रमत्र किम्।
तौ वाश्ववृषभौ भीष्म यौ न युद्धविशारदौ॥ ७॥

भीष्म! यदि इसने बचपनमें एक पक्षी (बकासुर) को अथवा जो युद्धकी कलासे सर्वथा अनभिज्ञ थे, उन अश्व (केशी) और वृषभ (अरिष्टासुर) नामक पशुओंको मार डाला तो इसमें क्या आश्चर्यकी बात हो गयी?॥ ७॥

चेतनारहितं काष्ठं यद्यनेन निपातितम्।
पादेन शकटं भीष्म तत्र किं कृतमद्भुतम्॥ ८॥

भीष्म! छकड़ा क्या है, चेतनाशून्य लकड़ियोंका ढेर ही तो, यदि इसने पैरसे उसको उलट ही दिया तो कौन अनोखी करामात कर डाली?॥ ८॥

(अर्कप्रमाणौ तौ वृक्षौ यद्यनेन निपातितौ।
नागश्च पातितोऽनेन तत्र को विस्मयः कृतः॥)

आकके पौधोंके बराबर दो अर्जुन वृक्षोंको यदि श्रीकृष्णने गिरा दिया अथवा एक नागको ही मार गिराया तो कौन बड़े आश्चर्यका काम कर डाला?॥

वल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचलः।
तदा गोवर्धनो भीष्म न तच्चित्रं मतं मम॥ ९॥

भीष्म! यदि इसने गोवर्धनपर्वतको सात दिनतक अपने हाथपर उठाये रक्खा तो उसमें भी मुझे कोई आश्चर्यकी बात नहीं जान पड़ती; क्योंकि गोवर्धन तो दीमकोंकी खोदी हुई मिट्टीका ढेर मात्र है॥ ९॥

भुक्तमेतेन बह्वन्नं क्रीडता नगमूर्धनि।
इति ते भीष्म शृण्वानाः परे विस्मयमागताः॥ १०॥

भीष्म! कृष्णने गोवर्धनपर्वतके शिखरपर खेलते हुए अकेले ही बहुत-सा अन्न खा लिया, यह बात भी तुम्हारे मुँह-से सुनकर दूसरे लोगोंको ही आश्चर्य हुआ होगा (मुझे नहीं)॥ १०॥

यस्य चानेन धर्मज्ञ भुक्तमन्नं बलीयसः।
स चानेन हतः कंस इत्येतन्न महाद्भुतम्॥ ११॥

धर्मज्ञ भीष्म ! जिस महाबली कंसका अन्न खाकर यह पला था, उसीको इसने मार डाला। यह भी इसके लिये कोई बड़ी अद्भुत बात नहीं है ॥ ११ ॥

न ते श्रुतमिदं भीष्म नूनं कथयतां सताम्।
यद् वक्ष्ये त्वामधर्मज्ञं वाक्यं कुरुकुलाधम ॥ १२ ॥

कुरुकुलाधम भीष्म ! तुम धर्मको बिलकुल नहीं जानते। मैं तुमसे धर्मकी जो बात कहूँगा, वह तुमने संत-महात्माओंके मुखसे भी नहीं सुनी होगी ॥ १२ ॥

स्त्रीषु गोषु न शस्त्राणि पातयेद् ब्राह्मणेषु च।
यस्य चान्नानि भुञ्जीत यत्र च स्यात् प्रतिश्रयः॥ १३ ॥

स्त्रीपर, गौपर, ब्राह्मणोंपर तथा जिसका अन्न खाय अथवा जिनके यहाँ अपनेको आश्रय मिला हो, उनपर भी हथियार न चलाये ॥ १३ ॥

इति सन्तोऽनुशासन्ति सज्जनं धर्मिणः सदा।
भीष्म लोके हि तत् सर्वं वितथं त्वयि दृश्यते॥ १४ ॥

भीष्म ! जगत्में साधु धर्मात्मा पुरुष सज्जनोंको सदा इसी धर्मका उपदेश देते रहते हैं; किंतु तुम्हारे निकट यह सब धर्म मिथ्या दिखायी देता है ॥ १४ ॥

ज्ञानवृद्धं च वृद्धं च भूयांसं केशवं मम।
अजानत इवाख्यासि संस्तुवन् कौरवाधम ॥ १५ ॥

कौरवाधम ! तुम मेरे सामने इस कृष्णकी स्तुति करते हुए इसे ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध बता रहे हो, मानो मैं इसके विषयमें कुछ जानता ही न होऊँ ॥ १५ ॥

गोघ्नःस्त्रीघ्नश्च सन् भीष्म त्वद्वाक्याद् यदि पूज्यते।
एवंभूतश्च यो भीष्म कथं संस्तवमर्हति ॥ १६ ॥

भीष्म ! यदि तुम्हारे कहनेसे गोघाती और स्त्रीहन्ता होते हुए भी इस कृष्णकी पूजा हो रही है तो तुम्हारी धर्मज्ञताकी हद हो गयी। तुम्हीं बताओ, जो इन दोनों ही प्रकारकी हत्याओंका अपराधी है, वह स्तुतिका अधिकारी कैसे हो सकता है ? ॥ १६ ॥

असौ मतिमतां श्रेष्ठो य एष जगतः प्रभुः।
सम्भावयति चाप्येवं त्वद्वाक्याच्च जनार्दनः।
एवमेतत् सर्वमिति तत् सर्वं वितथं ध्रुवम् ॥ १७ ॥

तुम कहते हो, 'ये बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं, ये ही सम्पूर्ण जगत्के ईश्वर हैं' और तुम्हारे ही कहनेसे यह कृष्ण अपनेको ऐसा ही समझने भी लगा है। वह इन सभी बातोंको ज्यों-की-त्यों ठीक मानता है; परंतु मेरी दृष्टिमें कृष्णके सम्बन्धमें तुम्हारे द्वारा जो कुछ कहा गया है, वह सब निश्चय ही झूठा है ॥ १७ ॥

न गाथागाथिनं शास्ति बहु चेदपि गायति।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि भूलिङ्गशकुनिर्यथा ॥ १८ ॥

कोई भी गीत गानेवालेको कुछ सिखा नहीं सकता, चाहे वह कितनी ही बार क्यों न गाता हो। भूलिङ्ग पक्षीकी भाँति सब प्राणी अपनी प्रकृतिका ही अनुसरण करते हैं ॥ १८ ॥

नूनं प्रकृतिरेषा ते जघन्या नात्र संशयः।
अति पापीयसी चैषा पाण्डवानामपीष्यते ॥ १९ ॥

निश्चय ही तुम्हारी यह प्रकृति बड़ी अधम है, इसमें संशय नहीं है। अतएव इन पाण्डवोंकी प्रकृति भी तुम्हारे ही समान अत्यन्त पापमयी होती जा रही है ॥ १९ ॥

येषामर्च्यतमः कृष्णस्त्वं च येषां प्रदर्शकः।
धर्मवांस्त्वमधर्मज्ञः सतां मार्गादवप्लुतः ॥ २० ॥

अथवा क्यों न हो, जिनका परम पूजनीय कृष्ण है और सत्पुरुषोंके मार्गसे गिरा हुआ तुम-जैसा धर्मज्ञानशून्य धर्मात्मा जिनका मार्गदर्शक है ॥ २० ॥

को हि धर्मिणमात्मानं जानञ्ज्ञानविदां वरः।
कुर्याद् यथा त्वया भीष्म कृतं धर्ममवेक्षता ॥ २१ ॥

भीष्म ! कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपनेको ज्ञानवानोंमें श्रेष्ठ और धर्मात्मा जानते हुए भी ऐसे नीच कर्म करेगा, जो धर्मपर दृष्टि रखते हुए भी तुम्हारे द्वारा किये गये हैं ॥ २१ ॥

चेत् त्वं धर्मं विजानासि यदि प्राज्ञा मतिस्तव।
अन्यकामा हि धर्मज्ञा कन्यका प्राज्ञमानिना।
अम्बा नामेति भद्रं ते कथं सापहृता त्वया ॥ २२ ॥

यदि तुम धर्मको जानते हो, यदि तुम्हारी बुद्धि उत्तम ज्ञान और विवेकसे सम्पन्न है तो तुम्हारा भला हो, बताओ, काशिराजकी जो धर्मज्ञ कन्या अम्बा दूसरे पुरुषमें अनुरक्त थी, उसका अपनेको पण्डित माननेवाले तुमने क्यों अपहरण किया ? ॥ २२ ॥

तां त्वयापि हृतां भीष्म कन्यां नैषितवान् यतः।
भ्राता विचित्रवीर्यस्ते सतां मार्गमनुष्ठितः ॥ २३ ॥

भीष्म ! तुम्हारे द्वारा अपहरण की गयी उस काशिराजकी कन्याको तुम्हारे भाई विचित्रवीर्यने अपनानेकी इच्छा नहीं की, क्योंकि वे सन्मार्गपर स्थित रहनेवाले थे ॥ २३ ॥

दारयोर्यस्य चान्येन मिषतः प्राज्ञमानिनः।
तव जातान्यपत्यानि सज्जनाचरिते पथि ॥ २४ ॥

उन्हींकी दोनों विधवा पत्नियोंके गर्भसे तुम-जैसे पण्डित-

मानीके देखते-देखते दूसरे पुरुषद्वारा संतानें उत्पन्न की गयीं, फिर भी तुम अपनेको साधु पुरुषोंके मार्गपर स्थिर मानते हो ॥ २४ ॥

को हि धर्मोऽस्ति ते भीष्म ब्रह्मचर्यमिदं वृथा ।
यद् धारयसि मोहाद् वा क्लीबत्वाद् वा न संशयः ॥ २५ ॥

भीष्म ! तुम्हारा धर्म क्या है! तुम्हारा यह ब्रह्मचर्य भी व्यर्थका ढकोसलामात्र है, जिसे तुमने मोहवश अथवा नपुंसकताके कारण धारण कर रखा है, इसमें संशय नहीं॥

न त्वहं तव धर्मज्ञ पश्याम्युपचयं क्वचित् ।
न हि ते सेविता वृद्धा य एवं धर्ममब्रवीः ॥ २६ ॥

धर्मराज भीष्म ! मैं तुम्हारी कहीं कोई उन्नति भी तो नहीं देख रहा हूँ। मेरा तो विश्वास है, तुमने ज्ञानवृद्ध पुरुषोंका कभी सङ्ग नहीं किया है। तभी तो तुम ऐसे धर्मका उपदेश करते हो ॥ २६ ॥

इष्टं दत्तमधीतं च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ।
सर्वमेतदपत्यस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ २७ ॥

यज्ञ, दान, स्वाध्याय तथा बहुत दक्षिणावाले बड़े-बड़े यज्ञ—ये सब संतानकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हो सकते ॥ २७ ॥

व्रतोपवासैर्बहुभिः कृतं भवति भीष्म यत् ।
सर्वं तदनपत्यस्य मोघं भवति निश्चयात् ॥ २८ ॥

भीष्म ! अनेक व्रतों और उपवासोंद्वारा जो पुण्य कार्य किया जाता है, वह सब संतानहीन पुरुषके लिये निश्चय ही व्यर्थ हो जाता है ॥ २८ ॥

सोऽनपत्यश्च वृद्धश्च मिथ्याधर्मानुसारकः ।
हंसवत् त्वमपीदानीं ज्ञातिभ्यः प्राप्नुया वधम् ॥ २९ ॥

तुम संतानहीन, वृद्ध और मिथ्याधर्मका अनुसरण करनेवाले हो; अतः इस समय हंसकी भाँति तुम भी अपने जातिभाइयोंके हाथसे ही मारे जाओगे ॥ २९ ॥

एवं हि कथयन्त्यन्ये नरा ज्ञानविदः पुरा ।
भीष्म यत् तदहं सम्यग् वक्ष्यामि तव शृण्वतः ॥ ३० ॥

भीष्म ! पहलेके विवेकी मनुष्य एक प्राचीन वृत्तान्त सुनाया करते हैं, वही मैं ज्यों-का-त्यों तुम्हारे सामने उपस्थित करता हूँ, सुनो ॥ ३० ॥

वृद्धः किल समुद्रान्ते कश्चिद्धंसोऽभवत् पुरा ।
धर्मवागन्यथावृत्तः पक्षिणः सोऽनुशास्ति च ॥ ३१ ॥
धर्मं चरत माधर्ममिति तस्य वचः किल ।
पक्षिणः शुश्रुवुर्भीष्म सततं सत्यवादिनः ॥ ३२ ॥

पूर्वकालकी बात है, समुद्रके निकट कोई बूढ़ा हंस रहता था। वह धर्मकी बातें करता; परंतु उसका आचरण ठीक उसके विपरीत होता था। वह पक्षियोंको सदा यह उपदेश दिया करता कि धर्म करो, अधर्मसे दूर रहो। सदा सत्य बोलनेवाले उस हंसके मुखसे दूसरे-दूसरे पक्षी यही उपदेश सुना करते थे ॥ ३१-३२ ॥

अथास्य भक्ष्यमाजह्रुः समुद्रजलचारिणः ।
अण्डजा भीष्म तस्यान्ये धर्मार्थमिति शुश्रुम ॥ ३३ ॥

भीष्म ! ऐसा सुननेमें आया है कि वे समुद्रके जलमें विचरनेवाले पक्षी धर्म समझकर उसके लिये भोजन जुटा दिया करते थे ॥ ३३ ॥

ते च तस्य समभ्याशे निक्षिप्याण्डानि सर्वशः ।
समुद्राम्भस्यमज्जन्त चरन्तो भीष्म पक्षिणः ।
तेषामण्डानि सर्वेषां भक्षयामास पापकृत् ॥ ३४ ॥

भीष्म ! हंसपर विश्वास हो जानेके कारण वे सभी पक्षी अपने अण्डे उसके पास ही रखकर समुद्रके जलमें गोते लगाते और विचरते थे; परंतु वह पापी हंस उन सबके अण्डे खा जाता था ॥ ३४ ॥

स हंसः सम्प्रमत्तानामप्रमत्तः स्वकर्मणि ।
ततः प्रक्षीयमाणेषु तेषु तेष्वण्डजोऽपरः ।
अशङ्कत महाप्राज्ञः स कदाचिद् ददर्श ह ॥ ३५ ॥

वे बेचारे पक्षी असावधान थे और वह अपना काम बनानेके लिये सदा चौकन्ना रहता था। तदनन्तर जब वे अण्डे नष्ट होने लगे, तब एक बुद्धिमान् पक्षीको हंसपर कुछ संदेह हुआ और एक दिन उसने उसकी सारी करतूत देख भी ली ॥ ३५ ॥

ततः स कथयामास दृष्ट्वा हंसस्य किल्बिषम् ।
तेषां परमदुःखार्तः स पक्षी सर्वपक्षिणाम् ॥ ३६ ॥

हंसका यह पापपूर्ण कृत्य देखकर वह पक्षी दुःखसे अत्यन्त आतुर हो उठा और उसने अन्य सब पक्षियोंसे सारा हाल कह सुनाया ॥ ३६ ॥

ततः प्रत्यक्षतो दृष्ट्वा पक्षिणस्ते समीपगाः ।
निजघ्नुस्तं तदा हंसं मिथ्यावृत्तं कुरूद्वह ॥ ३७ ॥

कुरुवंशी भीष्म ! तब उन पक्षियोंने निकट जाकर सब कुछ प्रत्यक्ष देख लिया और धर्मात्माका मिथ्या ढोंग बनाये हुए उस हंसको मार डाला ॥ ३७ ॥

ते त्वां हंसधर्माणमपीमे वसुधाधिपाः ।
निहन्युर्भीष्म संक्रुद्धाः पक्षिणस्तं यथाण्डजम् ॥ ३८ ॥
गाथामप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः ।
भीष्म यां तां च ते सम्यक् कथयिष्यामि भारत ॥ ३९ ॥

तुम भी उस हंसके ही समान हो, अतः ये सब नरेश अत्यन्त कुपित होकर आज तुम्हें उसी तरह मार डालेंगे, जैसे उन पक्षियोंने हंसकी हत्या कर डाली थी। भीष्म! इस

विषयमें पुराणवेत्ता विद्वान् एक गाथा गाया करते हैं। भरतकुलभूषण ! मैं उसे भी तुमको भलीभाँति सुनाये देता हूँ ॥ ३८-३९ ॥

अन्तरात्मन्यभिहते रौषि पत्ररथाशुचि।
अण्डभक्षणकर्मैतत् तव वाचमतीयते ॥ ४० ॥

'हंस ! तुम्हारी अन्तरात्मा रागादि दोषोंसे दूषित है, तुम्हारा यह अण्डभक्षणरूप अपवित्र कर्म तुम्हारी इस धर्मोपदेशमयी वाणीके सर्वथा विरुद्ध है' ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवाक्ये एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें शिशुपालवाक्यविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४१ श्लोक हैं)

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

शिशुपालकी बातोंपर भीमसेनका क्रोध और भीष्मजीका उन्हें शान्त करना

शिशुपाल उवाच

स मे बहुमतो राजा जरासंधो महाबलः।
योऽनेन युद्धं नेयेष दासोऽयमिति संयुगे ॥ १ ॥

शिशुपाल बोला—महाबली राजा जरासंध मेरे लिये बड़े ही सम्माननीय थे। वे कृष्णको दास समझकर इसके साथ युद्धमें लड़ना ही नहीं चाहते थे ॥ १ ॥

केशवेन कृतं कर्म जरासंधवधे तदा।
भीमसेनार्जुनाभ्यां च कस्तत् साध्विति मन्यते ॥ २ ॥

तब इस केशवने जरासंधके वधके लिये भीमसेन और अर्जुनको साथ लेकर जो नीच कर्म किया है, उसे कौन अच्छा मान सकता है ? ॥ २ ॥

अद्वारेण प्रविष्टेन छद्मना ब्रह्मवादिना।
दृष्टः प्रभावः कृष्णेन जरासंधस्य भूपतेः ॥ ३ ॥

पहले तो (चैत्यकगिरिके शिखरको तोड़कर) बिना दरवाजेके ही इसने नगरमें प्रवेश किया। उसपर भी छद्मवेष बना लिया और अपनेको ब्राह्मण प्रसिद्ध कर दिया। इस प्रकार इस कृष्णने भूपाल जरासंधका प्रभाव देखा ॥ ३ ॥

येन धर्मात्मनाऽऽत्मानं ब्रह्मण्यमविजानता।
नेषितं पाद्यमस्मै तद् दातुमग्रे दुरात्मने ॥ ४ ॥

उस धर्मात्मा जरासंधने जब इस दुरात्माके आगे ब्राह्मण अतिथिके योग्य पाद्य आदि प्रस्तुत किये, तब इसने यह जानकर कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, उसे ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं की ॥ ४ ॥

भुज्यतामिति तेनोक्ताः कृष्णभीमधनंजयाः।
जरासंधेन कौरव्य कृष्णेन विकृतं कृतम् ॥ ५ ॥

कौरव्य भीष्म ! तत्पश्चात् जब उन्होंने कृष्ण, भीम और अर्जुन तीनोंसे भोजन करनेका आग्रह किया, तब इस कृष्णने ही उसका निषेध किया था ॥ ५ ॥

यद्ययं जगतः कर्ता यथैनं मूर्ख मन्यसे।
कस्मान्न ब्राह्मणं सम्यगात्मानमवगच्छति ॥ ६ ॥

मूर्ख भीष्म ! यदि यह कृष्ण सम्पूर्ण जगत्का कर्ता-धर्ता है, जैसा कि तुम इसे मानते हो तो यह अपनेको भलीभाँति ब्राह्मण भी क्यों नहीं मानता ? ॥ ६ ॥

इदं त्वाश्चर्यभूतं मे यदिमे पाण्डवास्त्वया।
अपकृष्टाः सतां मार्गान्मन्यन्ते तच्च साध्विति ॥ ७ ॥

मुझे सबसे बढ़कर आश्चर्यकी बात तो यह जान पड़ती है कि ये पाण्डव भी तुम्हारे द्वारा सन्मार्गसे दूर हटा दिये गये हैं; इसलिये ये भी कृष्णके इस कार्यको ठीक समझते हैं ॥ ७ ॥

अथ वा नैतदाश्चर्यं येषां त्वमसि भारत।
स्त्रीसधर्मा च वृद्धश्च सर्वार्थानां प्रदर्शकः ॥ ८ ॥

अथवा भारत ! स्त्रीके समान धर्मवाले (नपुंसक) और बूढ़े तुम-जैसे लोग जिनके सभी कार्योंमें पथप्रदर्शन करते हैं, उनका ऐसा समझना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रूक्षं रूक्षाक्षरं बहु।
चुकोप बलिनां श्रेष्ठो भीमसेनः प्रतापवान् ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शिशुपालकी बातें बड़ी रूखी थीं। उनका एक-एक अक्षर कटुतासे भरा हुआ था। उन्हें सुनकर बलवानोंमें श्रेष्ठ प्रतापी भीमसेन क्रोधाग्निसे जल उठे ॥ ९ ॥

तथा पद्मप्रतीकाशे स्वभावायतविस्तृते।
भूयः क्रोधाभिताम्राक्षे रक्ते नेत्रे बभूवतुः ॥ १० ॥

उनकी आँखें स्वभावतः बड़ी-बड़ी और कमलके समान सुन्दर थीं। वे क्रोधके कारण अधिक लाल हो गयीं; मानो उनमें खून उतर आया हो ॥ १० ॥

त्रिशिखां भ्रुकुटीं चास्य ददृशुः सर्वपार्थिवाः।
ललाटस्थां त्रिकूटस्थां गङ्गां त्रिपथगामिव ॥ ११ ॥

सब राजाओंने देखा, उनके ललाटमें तीन रेखाओंसे युक्त भ्रुकुटी तन गयी है; मानो त्रिकूट पर्वतपर त्रिपथ-गामिनी गङ्गा लहरा उठी हों ॥ ११ ॥

दन्तान् संदशतस्तस्य कोपाद् ददृशुराननम्।
युगान्ते सर्वभूतानि कालस्येव जिघत्सतः ॥ १२ ॥

वे दाँतोंसे दाँत पीसने लगे, रोषकी अधिकतासे उनका मुख ऐसा भयंकर दिखायी देने लगा; मानो प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंको निगल जानेकी इच्छावाला विकराल काल ही प्रकट हो गया हो ॥ १२ ॥

उत्पतन्तं तु वेगेन जग्राहैनं मनस्विनम् ।
भीष्म एव महाबाहुर्महासेनमिवेश्वरः ॥ १३ ॥

वे उछलकर शिशुपालके पास पहुँचना ही चाहते थे कि महाबाहु भीष्मने बड़े वेगसे उठकर उन मनस्वी भीमको पकड़ लिया, मानो महेश्वरने कार्तिकेयको रोक लिया हो॥ १३॥

तस्य भीमस्य भीष्मेण वार्यमाणस्य भारत ।
गुरुणा विविधैर्वाक्यैः क्रोधः प्रशममागतः ॥ १४ ॥

भारत ! पितामह भीष्मके द्वारा अनेक प्रकारकी बातें कहकर रोके जानेपर भीमसेनका क्रोध शान्त हो गया ॥१४॥

नातिचक्राम भीष्मस्य स हि वाक्यमरिंदमः ।
समुद्वृत्तो घनापाये वेलामिव महोदधिः ॥ १५ ॥

शत्रुदमन भीम भीष्मजीकी आज्ञाका उल्लंघन उसी प्रकार न कर सके, जैसे वर्षाके अन्तमें उमड़ा हुआ होनेपर भी महासागर अपनी तटभूमिसे आगे नहीं बढ़ता है ॥ १५ ॥

शिशुपालस्तु संक्रुद्धे भीमसेने जनाधिप ।
नाकम्पत तदा वीरः पौरुषे स्वे व्यवस्थितः ॥ १६ ॥

राजन्! भीमसेनके कुपित होनेपर भी वीर शिशुपाल भयभीत नहीं हुआ। उसे अपने पुरुषार्थका पूरा भरोसा था ॥ १६ ॥

उत्पतन्तं तु वेगेन पुनः पुनररिंदमः ।
न स तं चिन्तयामास सिंहः क्रुद्धो मृगं यथा ॥ १७ ॥

भीमको बार-बार वेगसे उछलते देख शत्रुदमन शिशुपालने उनकी कुछ भी परवा नहीं की, जैसे क्रोधमें भरा हुआ सिंह मृगको कुछ भी नहीं समझता ॥ १७ ॥

प्रहसंश्चाब्रवीद् वाक्यं चेदिराजः प्रतापवान् ।
भीमसेनमभिक्रुद्धं दृष्ट्वा भीमपराक्रमम् ॥ १८ ॥

उस समय भयानक पराक्रमी भीमसेनको कुपित देख प्रतापी चेदिराज हँसते हुए बोला—॥ १८ ॥

मुञ्चैनं भीष्म पश्यन्तु यावदेनं नराधिपाः ।
मत्प्रभावविनिर्दग्धं पतङ्गमिव वह्निना ॥ १९ ॥

'भीष्म ! छोड़ दो इसे, ये सभी राजा देख लें कि यह भीम मेरे प्रभावसे उसी प्रकार दग्ध हो जायगा जैसे फतिंगा आगके पास जाते ही भस्म हो जाता है' ॥ १९ ॥

ततश्चेदिपतेर्वाक्यं श्रुत्वा तत् कुरुसत्तमः ।
भीमसेनमुवाचेदं भीष्मो मतिमतां वरः ॥ २० ॥

तब चेदिराजकी वह बात सुनकर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुरुकुलतिलक भीष्मने भीमसे यह कहा ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि भीमक्रोधे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें भीमक्रोधविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

भीष्मजीके द्वारा शिशुपालके जन्मके वृत्तान्तका वर्णन

भीष्म उवाच

चेदिराजकुले जातस्त्र्यक्ष एष चतुर्भुजः ।
रासभारावसदृशं रराश च ननाद च ॥ १ ॥

भीष्मजी बोले—भीमसेन ! सुनो, चेदिराज दमघोषके कुलमें जब यह शिशुपाल उत्पन्न हुआ, उस समय इसके तीन आँखें और चार भुजाएँ थीं । इसने रोनेकी जगह गदहे-के रेंकनेकी भाँति शब्द किया और जोर-जोरसे गर्जना भी की ॥ १ ॥



तेनास्य मातापितरौ त्रेसतुस्तौ सबान्धवौ ।
वैकृतं तस्य तौ दृष्ट्वा त्यागायाकुरुतां मतिम् ॥ २ ॥

इससे इसके माता-पिता अन्य भाई-बन्धुओंसहित भयसे थर्रा उठे । इसकी वह विकराल आकृति देख उन्होंने इसे त्याग देनेका निश्चय किया ॥ २ ॥

ततः सभार्यं नृपतिं सामात्यं सपुरोहितम् ।
चिन्तासम्मूढहृदयं वागुवाचाशरीरिणी ॥ ३ ॥

पत्नी, पुरोहित तथा मन्त्रियोंसहित चेदिराजका हृदय चिन्तासे मोहित हो रहा था । उस समय आकाशवाणी हुई—॥ ३ ॥

एष ते नृपते पुत्रः श्रीमाञ्जातो बलाधिकः ।
तस्मादस्मान्न भेतव्यमव्यग्रः पाहि वै शिशुम् ॥ ४ ॥

'राजन् ! तुम्हारा यह पुत्र श्रीसम्पन्न और महाबली है, अतः तुम्हें इससे डरना नहीं चाहिये । तुम शान्तचित्त होकर इस शिशुका पालन करो ॥ ४ ॥

न च वै तस्य मृत्युर्वै न कालः प्रत्युपस्थितः ।
मृत्युर्हन्तास्य शस्त्रेण स चोत्पन्नो नराधिप ॥ ५ ॥

'नरेश्वर ! अभी इसकी मृत्यु नहीं आयी है और न काल ही उपस्थित हुआ है। जो इसकी मृत्युका कारण है तथा जो शस्त्रद्वारा इसका वध करेगा, वह अन्यत्र उत्पन्न हो चुका है' ॥ ५ ॥

संश्रुत्योदाहृतं वाक्यं भूतमन्तर्हितं ततः।
पुत्रस्नेहाभिसंतप्ता जननी वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥

तदनन्तर यह आकाशवाणी सुनकर उस अन्तर्हित भूतको लक्ष्य करके पुत्रस्नेहसे संतप्त हुई इसकी माता बोली—॥ ६ ॥

येनेदमीरितं वाक्यं ममैतं तनयं प्रति।
प्राञ्जलिस्तं नमस्यामि ब्रवीतु स पुनर्वचः ॥ ७ ॥
याथातथ्येन भगवान् देवो वा यदि वेतरः।
श्रोतुमिच्छामि पुत्रस्य कोऽस्य मृत्युर्भविष्यति ॥ ८ ॥

'मेरे इस पुत्रके विषयमें जिन्होंने यह बात कही है, उन्हें मैं हाथ जोड़कर प्रणाम करती हूँ। चाहे वे कोई देवता हों अथवा और कोई प्राणी ! वे फिर मेरे प्रश्नका उत्तर दें। मैं यह यथार्थरूपसे सुनना चाहती हूँ कि मेरे इस पुत्रकी मृत्युमें कौन निमित्त बनेगा ?' ॥७-८ ॥

अन्तर्भूतं ततो भूतमुवाचेदं पुनर्वचः।
यस्योत्सङ्गे गृहीतस्य भुजावभ्यधिकावुभौ ॥ ९ ॥
पतिष्यतः क्षितितले पञ्चशीर्षाविवोरगौ।
तृतीयमेतद् बालस्य ललाटस्थं तु लोचनम् ॥ १० ॥
निमज्जिष्यति यं दृष्ट्वा सोऽस्य मृत्युर्भविष्यति।

तब पुनः उसी अदृश्य भूतने यह उत्तर दिया—'जिसके द्वारा गोदमें लिये जानेपर पाँच सिरवाले दो सर्पोंकी भाँति इसकी पाँचों अँगुलियोंसे युक्त दो अधिक भुजाएँ पृथ्वीपर गिर जायँगी और जिसे देखकर इस बालकका ललाटवर्ती तीसरा नेत्र भी ललाटमें लीन हो जायगा, वही इसकी मृत्युमें निमित्त बनेगा' ॥ ९-१०½ ॥

त्र्यक्षं चतुर्भुजं श्रुत्वा तथा च समुदाहृतम् ॥ ११ ॥
पृथिव्यां पार्थिवाः सर्वे अभ्यागच्छन् दिदृक्षवः।

चार बाँह और तीन आँखवाले बालकके जन्मका समाचार सुनकर भूमण्डलके सभी नरेश उसे देखनेके लिये आये ॥ ११½ ॥

तान् पूजयित्वा सम्प्राप्तान् यथार्हं स महीपतिः ॥ १२ ॥
एकैकस्य नृपस्याङ्के पुत्रमारोपयत् तदा।

चेदिराजने अपने घर पधारे हुए उन सभी नरेशोंका यथायोग्य सत्कार करके अपने पुत्रको हर एककी गोदमें रक्खा ॥ १२½ ॥

एवं राजसहस्राणां पृथक्त्वेन यथाक्रमम् ॥ १३ ॥
शिशुरङ्कसमारूढो न तत् प्राप निदर्शनम्।

इस प्रकार वह शिशु क्रमशः सहस्रों राजाओंकी गोदमें अलग-अलग रक्खा गया; परंतु मृत्युसूचक लक्षण कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ ॥ १३½ ॥

एतदेव तु संश्रुत्य द्वारवत्यां महाबलौ ॥ १४ ॥
ततश्चेदिपुरं प्राप्तौ संकर्षणजनार्दनौ।
यादवौ यादवीं द्रष्टुं स्वसारं तौ पितुस्तदा ॥ १५ ॥

द्वारकामें यही समाचार सुनकर महाबली बलराम और श्रीकृष्ण दोनों यदुवंशी वीर अपनी बुआसे मिलनेके लिये उस समय चेदिराज्यकी राजधानीमें गये ॥ १४-१५ ॥

अभिवाद्य यथान्यायं यथाश्रेष्ठं नृपं च ताम्।
कुशलानामयं पृष्ट्वा निषण्णौ रामकेशवौ ॥ १६ ॥

वहाँ बलराम और श्रीकृष्णने बड़े-छोटेके क्रमसे सबको यथायोग्य प्रणाम किया एवं राजा दमघोष और अपनी बुआ श्रुतश्रवासे कुशल और आरोग्यविषयक प्रश्न किया। तत्पश्चात् दोनों भाई एक उत्तम आसनपर विराजमान हुए ॥ १६ ॥

साभ्यर्च्य तौ तदा वीरौ प्रीत्या चाभ्यधिकं ततः।
पुत्रं दामोदरोत्सङ्गे देवी संन्यदधात् स्वयम् ॥ १७ ॥

महादेवी श्रुतश्रवाने बड़े प्रेमसे उन दोनों वीरोंका सत्कार किया और स्वयं ही अपने पुत्रको श्रीकृष्णकी गोदमें डाल दिया ॥ १७ ॥

न्यस्तमात्रस्य तस्याङ्के भुजावभ्यधिकावुभौ।
पेततुस्तच्च नयनं न्यमज्जत ललाटजम् ॥ १८ ॥

उनकी गोदमें रखते ही बालककी वे दोनों बाँहें गिर गयीं और ललाटवर्ती नेत्र भी वहीं विलीन हो गया ॥ १८ ॥

तद् दृष्ट्वा व्यथिता त्रस्ता वरं कृष्णमयाचत।
ददस्व मे वरं कृष्ण भयार्ताया महाभुज ॥ १९ ॥

यह देखकर बालककी माता भयभीत हो मन-ही-मन व्यथित हो गयी और श्रीकृष्णसे वर माँगती हुई बोली—'महाबाहु श्रीकृष्ण ! मैं भयसे व्याकुल हो रही हूँ। मुझे इस पुत्रकी जीवनरक्षाके लिये कोई वर दो ॥ १९ ॥

त्वं ह्यार्तानां समाश्वासो भीतानामभयप्रदः।
एवमुक्तस्ततः कृष्णः सोऽब्रवीद् यदुनन्दनः ॥ २० ॥

'क्योंकि तुम संकटमें पड़े हुए प्राणियोंके सबसे बड़े सहारे और भयभीत मनुष्योंको अभय देनेवाले हो।'

अपनी बुआके ऐसा कहनेपर यदुनन्दन श्रीकृष्णने कहा—॥ २० ॥

मा भैस्त्वं देवि धर्मज्ञे न मत्तोऽस्ति भयं तव।
ददामि कं वरं किं च करवाणि पितृष्वसः ॥ २१ ॥

'देवि ! धर्मज्ञे ! तुम डरो मत। तुम्हें मुझसे कोई भय नहीं है। बुआ ! तुम्हीं कहो, मैं तुम्हें कौन-सा वर दूँ ? तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध कर दूँ ? ॥ २१ ॥

शक्यं वा यदि वाशक्यं करिष्यामि वचस्तव ।
एवमुक्ता ततः कृष्णमब्रवीद् यदुनन्दनम् ॥ २२ ॥

'सम्भव हो या असम्भव, तुम्हारे वचनका मैं अवश्य पालन करूँगा ।' इस प्रकार आश्वासन मिलनेपर श्रुतश्रवा यदुनन्दन श्रीकृष्णसे बोली—॥ २२ ॥

शिशुपालस्यापराधान् क्षमेथास्त्वं महाबल ।
मत्कृते यदुशार्दूल विद्ध्येनं मे वरं प्रभो ॥ २३ ॥

'महाबली यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण ! तुम मेरे लिये शिशुपालके सब अपराध क्षमा कर देना । प्रभो ! यही मेरा मनोवाञ्छित वर समझो' ॥ २३ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

अपराधशतं क्षम्यं मया ह्यस्य पितृष्वसः ।
पुत्रस्य ते वधार्हस्य मा त्वं शोके मनः कृथाः ॥ २४ ॥

श्रीकृष्णने कहा—बुआ ! तुम्हारा पुत्र अपने दोषोंके कारण मेरेद्वारा यदि वधके योग्य होगा, तो भी मैं इसके सौ अपराध क्षमा करूँगा । तुम अपने मनमें शोक न करो ॥ २४ ॥

भीष्म उवाच

एवमेष नृपः पापः शिशुपालः सुमन्दधीः ।
त्वां समाह्वयते वीर गोविन्दवरदर्पितः ॥ २५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—वीरवर भीमसेन ! इस प्रकार यह मन्दबुद्धि पापी राजा शिशुपाल भगवान् श्रीकृष्णके दिये हुए वरदानसे उन्मत्त होकर तुम्हें युद्धके लिये ललकार रहा है ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवृत्तान्तकथने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें शिशुपालवृत्तान्तवर्णनविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

भीष्मकी बातोंसे चिढ़े हुए शिशुपालका उन्हें फटकारना तथा भीष्मका श्रीकृष्णसे युद्ध करनेके लिये समस्त राजाओंको चुनौती देना

भीष्म उवाच

नैषा चेदिपतेर्बुद्धिर्यया त्वाऽऽह्वयतेऽच्युतम् ।
नूनमेष जगद्भर्तुः कृष्णस्यैव विनिश्चयः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भीमसेन ! यह चेदिराज शिशुपालकी बुद्धि नहीं है, जिसके द्वारा वह युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले तुम-जैसे महावीरको ललकार रहा है, अवश्य ही सम्पूर्ण जगत्के स्वामी भगवान् श्रीकृष्णका ही यह निश्चित विधान है ॥ १ ॥

को हि मां भीमसेनाद्य क्षितावर्हति पार्थिवः ।
क्षेप्तुं कालपरीतात्मा यथैष कुलपांसनः ॥ २ ॥

भीमसेन ! कालने ही इसके मन और बुद्धिको ग्रस लिया है, अन्यथा इस भूमण्डलमें कौन ऐसा राजा होगा, जो मुझपर इस तरह आक्षेप कर सके, जैसे यह कुलकलङ्क शिशुपाल कर रहा है ॥ २ ॥

एष ह्यस्य महाबाहुस्तेजोंऽशश्च हरेर्ध्रुवम् ।
तमेव पुनरादातुमिच्छत्युत तथा विभुः ॥ ३ ॥

यह महाबाहु चेदिराज निश्चय ही भगवान् श्रीकृष्णके तेजका अंश है । ये सर्वव्यापी भगवान् अपने उस अंशको पुनः समेट लेना चाहते हैं ॥ ३ ॥

येनैष कुरुशार्दूल शार्दूल इव चेदिराट् ।
गर्जत्यतीव दुर्बुद्धिः सर्वानस्मानचिन्तयन् ॥ ४ ॥

कुरुसिंह भीम ! यही कारण है कि यह दुर्बुद्धि शिशुपाल हम सबको कुछ न समझकर आज सिंहके समान गरज रहा है ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो न ममृषे चैद्यस्तद् भीष्मवचनं तदा ।
उवाच चैनं संक्रुद्धः पुनर्भीष्ममथोत्तरम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मकी यह बात शिशुपाल न सह सका । वह पुनः अत्यन्त क्रोधमें भरकर भीष्मको उनकी बातोंका उत्तर देते हुए बोला ॥ ५ ॥

शिशुपाल उवाच

द्विषतां नोऽस्तु भीष्मैष प्रभावः केशवस्य यः ।
यस्य संस्तववक्ता त्वं वन्दिवत् सततोत्थितः ॥ ६ ॥

शिशुपालने कहा—भीष्म ! तुम सदा भाटकी तरह खड़े होकर जिसकी स्तुति गाया करते हो, उस कृष्णका जो प्रभाव है, वह हमारे शत्रुओंके पास ही रहे ॥ ६ ॥

संस्तवे च मनो भीष्म परेषां रमते यदि ।
तदा संस्तौषि राज्ञस्त्वमिमं हित्वा जनार्दनम् ॥ ७ ॥

भीष्म ! यदि तुम्हारा मन सदा दूसरोंकी स्तुतिमें ही लगता है तो इस जनार्दनको छोड़कर इन राजाओंकी ही स्तुति करो ॥ ७ ॥

दरदं स्तुहि बाह्लीकमिमं पार्थिवसत्तमम् ।
जायमानेन येनेयमभवद् दारिता मही ॥ ८ ॥

ये दरददेशके राजा हैं, इनकी स्तुति करो । ये

भूमिपालोंमें श्रेष्ठ बाह्लीक बैठे हैं, इनके गुण गाओ। इन्होंने जन्म लेते ही अपने शरीरके भारसे इस पृथ्वीको विदीर्ण कर दिया था ॥ ८ ॥

वङ्गाङ्गविषयाध्यक्षं सहस्राक्षसमं बले।
स्तुहि कर्णमिमं भीष्म महाचापविकर्षणम् ॥ ९ ॥

भीष्म ! ये जो वङ्ग और अङ्ग दोनों देशोंके राजा हैं, इन्द्रके समान बल-पराक्रमसे सम्पन्न हैं तथा महान् धनुषकी प्रत्यञ्चा खींचनेवाले हैं, इन वीरवर कर्णकी कीर्तिका गान करो ॥ ९ ॥

यस्येमे कुण्डले दिव्ये सहजे देवनिर्मिते।
कवचं च महाबाहो बालार्कसदृशप्रभम् ॥ १० ॥

महाबाहो ! इन कर्णके ये दोनों दिव्य कुण्डल जन्मके साथ ही प्रकट हुए हैं। किसी देवताने ही इन कुण्डलोंका निर्माण किया है। कुण्डलोंके साथ-साथ इनके शरीरपर यह दिव्य कवच भी जन्मसे ही पैदा हुआ है, जो प्रातःकालके सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा है ॥ १० ॥

वासवप्रतिमो येन जरासंधोऽतिदुर्जयः।
विजितो बाहुयुद्धेन देहभेदं च लम्भितः ॥ ११ ॥

जिन्होंने इन्द्रके तुल्य पराक्रमी तथा अत्यन्त दुर्जय जरासंधको बाहुयुद्धके द्वारा केवल परास्त ही नहीं किया, उनके शरीरको चीर भी डाला, उन भीमसेनकी स्तुति करो। ११।

द्रोणं द्रौणिं च साधु त्वं पितापुत्रौ महारथौ।
स्तुहि स्तुत्यावुभौ भीष्म सततं द्विजसत्तमौ ॥ १२ ॥

द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा दोनों पिता-पुत्र महारथी हैं तथा ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ हैं, अतएव स्तुत्य भी हैं। भीष्म ! तुम उन दोनोंकी अच्छी तरह स्तुति करो ॥ १२ ॥

ययोरन्यतरो भीष्म संक्रुद्धः सचराचराम्।
इमां वसुमतीं कुर्यान्निःशेषामिति मे मतिः ॥ १३ ॥

भीष्म ! इन दोनों पिता-पुत्रोंमेंसे यदि एक भी अत्यन्त क्रोधमें भर जाय, तो चराचर प्राणियोंसहित इस सारी पृथ्वीको नष्ट कर सकता है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १३ ॥

द्रोणस्य हि समं युद्धे न पश्यामि नराधिपम्।
नाश्वत्थाम्नः समं भीष्म न च तौ स्तोतुमिच्छसि॥ १४ ॥

भीष्म ! मुझे तो कोई भी ऐसा राजा नहीं दिखायी देता, जो युद्धमें द्रोण अथवा अश्वत्थामाकी बराबरी कर सके। तो भी तुम इन दोनोंकी स्तुति करना नहीं चाहते ॥ १४ ॥

पृथिव्यां सागरान्तायां यो वै प्रतिसमो भवेत्।
दुर्योधनं त्वं राजेन्द्रमतिक्रम्य महाभुजम् ॥ १५ ॥
जयद्रथं च राजानं कृतास्त्रं दृढविक्रमम्।
द्रुमं किम्पुरुषाचार्यं लोके प्रथितविक्रमम्।
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ १६ ॥

इस समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीपर जो अद्वितीय अनुपम वीर हैं, उन राजाधिराज महाबाहु दुर्योधनको, अस्त्रविद्यामें निपुण और सुदृढ़पराक्रमी राजा जयद्रथको और विश्वविख्यात विक्रमशाली महाबली किम्पुरुषाचार्य द्रुमको छोड़कर तुम कृष्णकी प्रशंसा क्यों करते हो। ॥ १५-१६ ॥

वृद्धं च भारताचार्यं तथा शारद्वतं कृपम्।
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ १७ ॥

शरद्वान् मुनिके पुत्र महापराक्रमी कृप भरतवंशके वृद्ध आचार्य हैं। इनका उल्लङ्घन करके तुम कृष्णका गुण क्यों गाते हो ? ॥ १७ ॥

धनुर्धराणां प्रवरं रुक्मिणं पुरुषोत्तमम्।
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ १८ ॥

धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ पुरुषरत्न महाबली रुक्मीकी अवहेलना करके तुम केशवकी प्रशंसाके गीत क्यों गाते हो ? ॥ १८ ॥

भीष्मकं च महावीर्यं दन्तवक्रं च भूमिपम्।
भगदत्तं यूपकेतुं जयत्सेनं च मागधम् ॥ १९ ॥
विराटद्रुपदौ चोभौ शकुनिं च बृहद्बलम्।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पाण्ड्यं श्वेतमथोत्तरम् ॥ २० ॥
शङ्खं च सुमहाभागं वृषसेनं च मानिनम्।
एकलव्यं च विक्रान्तं कालिङ्गं च महारथम् ॥ २१ ॥
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम्।

महापराक्रमी भीष्मक, भूमिपाल दन्तवक्र, भगदत्त, यूपकेतु, जयत्सेन, मगधराज सहदेव, विराट, द्रुपद, शकुनि, बृहद्बल, अवन्तीके राजकुमार विन्द-अनुविन्द, पाण्ड्यनरेश, श्वेत, उत्तर, महाभाग शङ्ख, अभिमानी वृषसेन, पराक्रमी एकलव्य तथा महारथी एवं महाबली कलिंगनरेशकी अवहेलना करके कृष्णकी प्रशंसा क्यों कर रहे हो ? ॥ १९–२१½ ॥

शल्यादीनपि कस्मात् त्वं न स्तौषि वसुधाधिपान्।
स्तवाय यदि ते बुद्धिर्वर्तते भीष्म सर्वदा ॥ २२ ॥

भीष्म ! यदि तुम्हारा मन सदा दूसरोंकी स्तुति करनेमें ही लगता है तो इन शल्य आदि श्रेष्ठ राजाओंकी स्तुति क्यों नहीं करते ? ॥ २२ ॥

किं हि शक्यं मया कर्तुं यद् वृद्धानां त्वया नृप।
पुरा कथयतां नूनं न श्रुतं धर्मवादिनाम् ॥ २३ ॥

भीष्म ! तुमने पहले बड़े-बूढ़े धर्मोपदेशकोंके मुखसे यदि यह धर्मसंगत बात, जिसे मैं अभी बताऊँगा नहीं सुनी, तो मैं क्या कर सकता हूँ ? ॥ २३ ॥

आत्मनिन्दाऽऽत्मपूजा च परनिन्दा परस्तवः।
अनाचरितमार्याणां वृत्तमेतच्चतुर्विधम् ॥ २४ ॥

भीष्म ! अपनी निन्दा, अपनी प्रशंसा, दूसरेकी निन्दा और दूसरेकी स्तुति —ये चार प्रकारके कार्य पहलेके श्रेष्ठ पुरुषोंने कभी नहीं किये हैं ॥ २४ ॥

यदस्तव्यमिमं शश्वन्मोहात् संस्तौषि भक्तितः ।
केशवं तच्च ते भीष्म न कश्चिदनुमन्यते ॥२५॥

भीष्म ! जो स्तुतिके सर्वथा अयोग्य है, उसी केशवकी तुम मोहवश सदा भक्तिभावसे जो स्तुति करते रहते हो, उसका कोई अनुमोदन नहीं करता ॥ २५ ॥

कथं भोजस्य पुरुषे वर्गपाले दुरात्मनि ।
समावेशयसे सर्वं जगत् केवलकाम्यया ॥२६॥

दुरात्मा कृष्ण तो राजा कंसका सेवक है, उनकी गौओंका चरवाहा रहा है। तुम केवल स्वार्थवश इसमें सारे जगत्का समावेश कर रहे हो ॥ २६ ॥

अथ चैषा न ते बुद्धिः प्रकृतिं याति भारत ।
मयैव कथितं पूर्वं भूलिङ्गशकुनिर्यथा ॥२७॥

भारत ! तुम्हारी बुद्धि ठिकानेपर नहीं आ रही है। मैं यह बात पहले ही बता चुका हूँ कि तुम भूलिङ्ग पक्षीके समान कहते कुछ और करते कुछ हो ॥ २७ ॥

भूलिङ्गशकुनिर्नाम पार्श्वे हिमवतः परे ।
भीष्म तस्याः सदा वाचः श्रूयन्तेऽर्थविगर्हिताः ॥२८॥

भीष्म ! हिमालयके दूसरे भागमें भूलिङ्ग नामसे प्रसिद्ध एक चिड़िया रहती है। उसके मुखसे सदा ऐसी बात सुनायी पड़ती है, जो उसके कार्यके विपरीत भावकी सूचक होनेके कारण अत्यन्त निन्दनीय जान पड़ती है ॥ २८ ॥

मा साहसमितीदं सा सततं वाशते किल ।
साहसं चात्मनातीव चरन्ती नावबुध्यते ॥२९॥

वह चिड़िया सदा यही बोला करती है 'मा साहसम्' (अर्थात् साहसका काम न करो), परंतु वह स्वयं ही भारी साहसका काम करती हुई भी यह नहीं समझ पाती ॥२९॥

सा हि मांसार्गलं भीष्म मुखात् सिंहस्य खादतः ।
दन्तान्तरविलग्नं यत् तदादत्तेऽल्पचेतना ॥३०॥

भीष्म ! वह मूर्ख चिड़िया मांस खाते हुए सिंहके दाँतोंमें लगे हुए मांसके टुकड़ेको अपनी चोंचसे चुगती रहती है ॥३०॥

इच्छतः सा हि सिंहस्य भीष्म जीवत्यसंशयम् ।
तद्वत् त्वमप्यधर्मिष्ठ सदा वाचः प्रभाषसे ॥३१॥

निःसंदेह सिंहकी इच्छासे ही वह अबतक जी रही है। पापी भीष्म ! इसी प्रकार तुम भी सदा बढ़-बढ़कर बातें करते हो ॥ ३१ ॥

इच्छतां भूमिपालानां भीष्म जीवस्यसंशयम् ।
लोकविद्विष्टकर्मा हि नान्योऽस्ति भवता समः ॥३२॥

भीष्म ! निःसंदेह तुम्हारा जीवन इन राजाओंकी इच्छासे ही बचा हुआ है; क्योंकि तुम्हारे समान दूसरा कोई राजा ऐसा नहीं है, जिसके कर्म सम्पूर्ण जगत्से द्वेष करनेवाले हों ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततश्चेदिपतेः श्रुत्वा भीष्मः स कटुकं वचः ।
उवाचेदं वचो राजंश्चेदिराजस्य शृण्वतः ॥३३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शिशुपालका यह कटु वचन सुनकर भीष्मजीने शिशुपालके सुनते हुए यह बात कही—॥ ३३ ॥

इच्छतां किल नामाहं जीवाम्येषां महीक्षिताम् ।
सोऽहं न गणयाम्येतांस्तृणेनापि नराधिपान् ॥३४॥

'अहो ! शिशुपालके कथनानुसार मैं इन राजाओंकी इच्छापर जी रहा हूँ; परंतु मैं तो इन समस्त भूपालोंको तिनके-बराबर भी नहीं समझता' ॥ ३४ ॥

एवमुक्ते तु भीष्मेण ततः संचुक्रुशुर्नृपाः ।
केचिज्जहृषिरे तत्र केचिद् भीष्मं जगर्हिरे ॥३५॥

भीष्मके ऐसा कहनेपर बहुत-से राजा कुपित हो उठे। कुछ लोगोंको हर्ष हुआ तथा कुछ भीष्मजीकी निन्दा करने लगे ॥ ३५ ॥

केचिदूचुर्महेष्वासाः श्रुत्वा भीष्मस्य तद् वचः ।
पापोऽवलिप्तो वृद्धश्च नायं भीष्मोऽर्हति क्षमाम् ॥३६॥

कुछ महान् धनुर्धर नरेश भीष्मकी वह बात सुनकर कहने लगे—'यह बूढ़ा भीष्म पापी और घमण्डी है, अतः क्षमाके योग्य नहीं है ॥ ३६ ॥

हन्यतां दुर्मतिर्भीष्मः पशुवत् साध्वयं नृपाः ।
सर्वैः समेत्य संरब्धैर्दह्यतां वा कटाग्निना ॥३७॥

'राजाओ ! क्रोधमें भरे हुए हम सब लोग मिलकर इस खोटी बुद्धिवाले भीष्मको पशुकी भाँति गला दबाकर मार डालें अथवा घास-फूसकी आगमें इसे जीते-जी जला दें' ॥३७॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा ततः कुरुपितामहः ।
उवाच मतिमान् भीष्मस्तानेव वसुधाधिपान् ॥३८॥

उन राजाओंकी ये बातें सुनकर कुरुकुलके पितामह बुद्धिमान् भीष्मजी फिर उन्हीं नरेशोंसे बोले—॥ ३८ ॥

उक्तस्योक्तस्य नेहान्तमहं समुपलक्षये ।
यत् तु वक्ष्यामि तत् सर्वं शृणुध्वं वसुधाधिपाः ॥३९॥

'राजाओ ! यदि मैं सबकी बातका अलग-अलग उत्तर दूँ तो यहाँ उसकी समाप्ति होती नहीं दिखायी देती। अतः मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह सब ध्यान देकर सुनो ॥ ३९ ॥

पशुवद् घातनं वा मे दहनं वा कटाग्निना ।
क्रियतां मूर्ध्नि वो न्यस्तं मयेदं सकलं पदम् ॥४०॥

'तुमलोगोंमें साहस या शक्ति हो, तो पशुकी भाँति मेरी हत्या कर दो अथवा घास-फूसकी आगमें मुझे जला दो। मैंने तो तुमलोगोंके मस्तकपर अपना यह पूरा पैर रख दिया ॥ ४० ॥

एष तिष्ठति गोविन्दः पूजितोऽस्माभिरच्युतः।
यस्य वस्त्वरते बुद्धिर्मरणाय स माधवम् ॥४१॥
कृष्णमाह्वयतामद्य युद्धे चक्रगदाधरम्।
यादवस्यैव देवस्य देहं विशतु पातितः ॥४२॥

'हमने जिनकी पूजा की है, अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले वे भगवान् गोविन्द तुमलोगोंके सामने मौजूद हैं। तुमलोगोंमेंसे जिसकी बुद्धि मृत्युका आलिङ्गन करनेके लिये उतावली हो रही हो, वह इन्हीं यदुकुलतिलक चक्रगदाधर श्रीकृष्णको आज युद्धके लिये ललकारे और इनके हाथों मारा जाकर इन्हीं भगवान्‌के शरीरमें प्रविष्ट हो जाय' ।४१-४२।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि भीष्मवाक्ये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें भीष्मवाक्यविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा शिशुपालका वध, राजसूययज्ञकी समाप्ति तथा सभी ब्राह्मणों, राजाओं और श्रीकृष्णका स्वदेशगमन

वैशम्पायन उवाच

ततः श्रुत्वैव भीष्मस्य चेदिराडुरुविक्रमः।
युयुत्सुर्वासुदेवेन वासुदेवमुवाच ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मकी यह बात सुनते ही महापराक्रमी चेदिराज शिशुपाल भगवान् वासुदेवके साथ युद्धके लिये उत्सुक हो उनसे इस प्रकार बोला ॥ १ ॥

आह्वये त्वां रणं गच्छ मया सार्धं जनार्दन।
यावदद्य निहन्मि त्वां सहितं सर्वपाण्डवैः ॥ २ ॥

जनार्दन ! मैं तुम्हें बुला रहा हूँ। आओ, मेरे साथ युद्ध करो, जिससे आज मैं समस्त पाण्डवोंसहित तुम्हें मार डालूँ॥

सह त्वया हि मे वध्याः सर्वथा कृष्ण पाण्डवाः।
नृपतीन् समतिक्रम्य यैरराजा त्वमर्चितः ॥ ३ ॥

'कृष्ण ! तुम्हारे साथ ये पाण्डव भी सर्वथा मेरे वध्य हैं; क्योंकि इन्होंने सब राजाओंकी अवहेलना करके राजा न होनेपर भी तुम्हारी पूजा की ॥ ३ ॥

ये त्वां दासमराजानं बाल्यादर्चन्ति दुर्मतिम्।
अनर्हमर्हवत् कृष्ण वध्यास्त इति मे मतिः ॥ ४ ॥

'तुम कंसके दास थे तथा राजा भी नहीं हो, इसीलिये राजोचित पूजाके अनधिकारी हो। तो भी कृष्ण ! जो लोग मूर्खतावश तुम-जैसे दुर्बुद्धिकी पूजनीय पुरुषकी भाँति पूजा करते हैं, वे अवश्य ही मेरे वध्य हैं, मैं तो ऐसा ही मानता हूँ' ॥ ४ ॥

इत्युक्त्वा राजशार्दूलस्तस्थौ गर्जन्नमर्षणः।

ऐसा कहकर क्रोधमें भरा हुआ राजसिंह शिशुपाल दहाड़ता हुआ युद्धके लिये डट गया ॥ ४½ ॥

एवमुक्तस्ततः कृष्णो मृदुपूर्वमिदं वचः।
उवाच पार्थिवान् सर्वान् स समक्षं च वीर्यवान् ॥ ५ ॥

शिशुपालके ऐसा कहनेपर अनन्तपराक्रमी भगवान् श्रीकृष्णने उसके सामने समस्त राजाओंसे मधुर वाणीमें कहा—॥

एष नः शत्रुरत्यन्तं पार्थिवाः सात्वतीसुतः।
सात्वतानां नृशंसात्मा न हितोऽनपकारिणाम् ॥ ६ ॥

'भूमिपालो ! यह है तो यदुकुलकी कन्याका पुत्र, परंतु हमलोगोंसे अत्यन्त शत्रुता रखता है। यद्यपि यादवोंने इसका कभी कोई अपराध नहीं किया है, तो भी यह क्रूरात्मा उनके अहितमें ही लगा रहता है ॥ ६ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरं यातानस्माञ्ज्ञात्वा नृशंसकृत्।
अदहद् द्वारकामेष स्वस्रीयः सन् नराधिपाः ॥ ७ ॥

'नरेश्वरो ! हम प्राग्ज्योतिषपुरमें गये थे, यह बात जब इसे मालूम हुई, तब इस क्रूरकर्माने मेरे पिताजीका भानजा होकर भी द्वारकामें आग लगवा दी ॥ ७ ॥

क्रीडतो भोजराजस्य एष रैवतके गिरौ।
हत्वा बद्ध्वा च तान् सर्वानुपायात् स्वपुरं पुरा ॥ ८ ॥

'एक बार भोजराज (उग्रसेन) रैवतक पर्वतपर क्रीड़ा कर रहे थे। उस समय यह वहीं जा पहुँचा और उनके सेवकोंको मारकर तथा शेष व्यक्तियोंको कैद करके उन सबको अपने नगरमें ले गया ॥ ८ ॥

अश्वमेधे हयं मेध्यमुत्सृष्टं रक्षिभिर्वृतम्।
पितुर्मे यज्ञविघ्नार्थमहरत् पापनिश्चयः ॥ ९ ॥

'मेरे पिताजी अश्वमेधयज्ञकी दीक्षा ले चुके थे। उसमें रक्षकोंसे घिरा हुआ पवित्र अश्व छोड़ा गया था। इस पापपूर्ण विचारवाले दुष्टात्माने पिताजीके यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये उस अश्वको भी चुरा लिया था ॥ ९ ॥

सौवीरान् प्रति यातां च बभ्रोरेष तपस्विनः।
भार्यामभ्यहरन्मोहादकामां तामितो गताम् ॥ १० ॥

'इतना ही नहीं, इसने बभ्रुकी पत्नीका, जो यहाँसे द्वारका जाते समय सौवीरदेश पहुँची थी और इसके प्रति जिसके मनमें तनिक भी अनुराग नहीं था, मोहवश अपहरण कर लिया ॥ १० ॥

एष मायाप्रतिच्छन्नः करूषार्थे तपस्विनीम् ।
जहार भद्रां वैशालीं मातुलस्य नृशंसकृत् ॥ ११ ॥

'इस क्रूरकर्माने मायासे अपने असली रूपको छिपाकर करूषराजकी प्राप्तिके लिये तपस्या करनेवाली अपने मामा विशालानरेशकी कन्या भद्राका (करूषराजके ही वेषमें उपस्थित हो उसे धोखा देकर) अपहरण कर लिया ॥ ११ ॥

पितृष्वसुः कृते दुःखं सुमहन्मर्षयाम्यहम् ।
दिष्ट्या हीदं सर्वराज्ञां संनिधावद्य वर्तते ॥ १२ ॥

'मैं अपनी बुआके संतोषके लिये ही इसके बड़े दुःखद अपराधोंको सहन कर रहा हूँ; सौभाग्यकी बात है कि आज यह समस्त राजाओंके समीप मौजूद है ॥ १२ ॥

पश्यन्ति हि भवन्तोऽद्य मय्यतीव व्यतिक्रमम् ।
कृतानि तु परोक्षं मे यानि तानि निबोधत ॥ १३ ॥

'आप सब लोग देख ही रहे हैं कि इस समय यह मेरे प्रति कैसा अभद्र बर्ताव कर रहा है। इसने परोक्षमें मेरे प्रति जो अपराध किये हैं, उन्हें भी आप अच्छी तरह जान लें ॥ १३ ॥

इमं त्वस्य न शक्ष्यामि क्षन्तुमद्य व्यतिक्रमम् ।
अवलेपाद् वधार्हस्य समग्रे राजमण्डले ॥ १४ ॥

'परंतु आज इसने अहंकारवश समस्त राजाओंके सामने मेरे साथ जो दुर्व्यवहार किया है, उसे मैं कभी क्षमा न कर सकूँगा ॥ १४ ॥

रुक्मिण्यामस्य मूढस्य प्रार्थनाऽऽसीन्मुमूर्षतः ।
न च तां प्राप्तवान् मूढः शूद्रो वेदश्रुतीमिव ॥ १५ ॥

'अब यह मरना ही चाहता है। इस मूर्खने पहले रुक्मिणीके लिये उसके बन्धु-बान्धवोंसे याचना की थी, परंतु जैसे शूद्र वेदकी ऋचाओंको श्रवण नहीं कर सकता, उसी प्रकार इस अज्ञानीको वह प्राप्त न हो सकी' ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमादि ततः सर्वे सहितास्ते नराधिपाः ।
वासुदेववचः श्रुत्वा चेदिराजं व्यगर्हयन् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णकी ये सब बातें सुनकर उन समस्त राजाओंने एक स्वरसे चेदिराज शिशुपालको धिक्कारा और उसकी निन्दा की ॥ १६ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा शिशुपालः प्रतापवान् ।
जहास स्वनवद्धासं वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ १७ ॥

श्रीकृष्णका उपर्युक्त वचन सुनकर प्रतापी शिशुपाल खिलखिलाकर हँसने लगा और इस प्रकार बोला—॥ १७ ॥

मत्पूर्वां रुक्मिणीं कृष्ण संसत्सु परिकीर्तयन् ।
विशेषतः पार्थिवेषु व्रीडां न कुरुषे कथम् ॥ १८ ॥

'कृष्ण ! तुम इस भरी सभामें, विशेषतः सभी राजाओंके सामने रुक्मिणीको मेरी पहलेकी मनोनीत पत्नी बताते हुए लज्जाका अनुभव कैसे नहीं करते ? ॥ १८ ॥

मन्यमानो हि कः सत्सु पुरुषः परिकीर्तयेत् ।
अन्यपूर्वां स्त्रियं जातु त्वदन्यो मधुसूदन ॥ १९ ॥

'मधुसूदन ! तुम्हारे सिवा दूसरा कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपनी स्त्रीको पहले दूसरेकी वाग्दत्ता पत्नी स्वीकार करते हुए सत्पुरुषोंकी सभामें इसका वर्णन करेगा ? ॥ १९ ॥

क्षम वा यदि ते श्रद्धा मा वा कृष्ण मम क्षम ।
क्रुद्धाद् वापि प्रसन्नाद् वा किं मे त्वत्तो भविष्यति ॥ २० ॥

'कृष्ण ! यदि अपनी बुआकी बातोंपर तुम्हें श्रद्धा हो तो मेरे अपराध क्षमा करो या न भी करो, तुम्हारे कुपित होने या प्रसन्न होनेसे मेरा क्या बनने-बिगड़नेवाला है ?' ॥ २० ॥

तथा ब्रुवत एवास्य भगवान् मधुसूदनः ।
मनसाचिन्तयच्चक्रं दैत्यवर्गनिषूदनम् ॥ २१ ॥

शिशुपाल इस तरहकी बातें कर ही रहा था कि भगवान् मधुसूदनने मन-ही-मन दैत्यवर्गविनाशक सुदर्शन चक्रका स्मरण किया ॥ २१ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु चक्रे हस्तगते सति ।
उवाच भगवानुच्चैर्वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ २२ ॥

चिन्तन करते ही तत्काल चक्र हाथमें आ गया । तब बोलनेमें कुशल भगवान् श्रीकृष्णने उच्च स्वरसे यह वचन कहा—॥ २२ ॥

शृण्वन्तु मे महीपाला येनैतत् क्षमितं मया ।
अपराधशतं क्षाम्यं मातुरस्यैव याचने ॥ २३ ॥
दत्तं मया याचितं च तानि पूर्णानि पार्थिवाः ।
अधुना वधयिष्यामि पश्यतां वो महीक्षिताम् ॥ २४ ॥

'यहाँ बैठे हुए सब महीपाल यह सुन लें कि मैंने क्यों अबतक इसके अपराध क्षमा किये हैं ! इसीकी माताके याचना करनेपर मैंने उसे यह प्रार्थित वर दिया था कि शिशुपालके सौ अपराध क्षमा कर दूँगा । राजाओ ! वे सब अपराध अब पूरे हो गये हैं; अतः आप सभी भूमिपतियोंके देखते-देखते मैं अभी इसका वध किये देता हूँ' ॥ २३-२४ ॥

एवमुक्त्वा यदुश्रेष्ठश्चेदिराजस्य तत्क्षणात्।
व्यपाहरच्छिरः क्रुद्धश्चक्रेणामित्रकर्षणः ॥ २५ ॥

ऐसा कहकर कुपित हुए शत्रुहन्ता यदुकुलतिलक भगवान् श्रीकृष्णने चक्रसे उसी क्षण चेदिराज शिशुपालका सिर उड़ा दिया ॥ २५ ॥



स पपात महाबाहुर्वज्राहत इवाचलः।
ततश्चेदिपतेर्देहात् तेजोऽग्र्यं ददृशुर्नृपाः ॥ २६ ॥
उत्पतन्तं महाराज गगनादिव भास्करम्।
ततः कमलपत्राक्षं कृष्णं लोकनमस्कृतम्।
ववन्दे तत् तदा तेजो विवेश च नराधिप ॥ २७ ॥

महाबाहु शिशुपाल वज्रके मारे हुए पर्वत-शिखरकी भाँति धराशायी हो गया। महाराज! तदनन्तर सभी नरेशोंने देखा; चेदिराजके शरीरसे एक उत्कृष्ट तेज निकलकर ऊपर उठ रहा है; मानो आकाशसे सूर्य उदित हुआ हो। नरेश्वर! उस तेजने विश्ववन्दित कमलदललोचन श्रीकृष्णको नमस्कार किया और उसी समय उनके भीतर प्रविष्ट हो गया ॥ २६-२७ ॥

तदद्भुतममन्यन्त दृष्ट्वा सर्वे महीक्षितः।
यद् विवेश महाबाहुं तत् तेजः पुरुषोत्तमम् ॥ २८ ॥

यह देखकर सभी राजाओंको बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि उसका तेज महाबाहु पुरुषोत्तममें प्रविष्ट हो गया ॥ २८ ॥

अनभ्रे प्रववर्ष द्यौः पपात ज्वलिताशनिः।
कृष्णेन निहते चैद्ये चचाल च वसुंधरा ॥ २९ ॥

श्रीकृष्णके द्वारा शिशुपालके मारे जानेपर सारी पृथ्वी हिलने लगी, बिना बादलोंके ही आकाशसे वर्षा होने लगी और प्रज्वलित बिजली टूट-टूटकर गिरने लगी ॥ २९ ॥

ततः केचिन्महीपाला नाब्रुवंस्तत्र किंचन।
अतीतवाक्पथे काले प्रेक्षमाणा जनार्दनम् ॥ ३० ॥

वह समय वाणीकी पहुँचके परे था। उसका वर्णन करना कठिन था। उस समय कोई भूपाल वहाँ इस विषयमें कुछ भी न बोल सके—मौन रह गये। वे बार-बार केवल श्रीकृष्णके मुखकी ओर देखते रहे ॥ ३० ॥

हस्तैर्हस्ताग्रमपरे प्रत्यपिषन्नमर्षिताः।
अपरे दशनैरोष्ठानदशन् क्रोधमूर्च्छिताः ॥ ३१ ॥

कुछ अन्य नरेश अत्यन्त अमर्षमें भरकर हाथोंसे हाथ मसलने लगे तथा दूसरे लोग क्रोधसे मूर्च्छित होकर दाँतोंसे ओठ चबाने लगे ॥ ३१ ॥

रहश्च केचिद् वार्ष्णेयं प्रशशंसुर्नराधिपाः।
केचिदेव सुसंरब्धा मध्यस्थास्त्वपरेऽभवन् ॥ ३२ ॥

कुछ राजा एकान्तमें भगवान् श्रीकृष्णकी प्रशंसा करने लगे। कुछ ही भूपाल अत्यन्त क्रोधके वशीभूत हो रहे थे तथा कुछ लोग तटस्थ थे ॥ ३२ ॥

प्रहृष्टाः केशवं जग्मुः संस्तुवन्तो महर्षयः।
ब्राह्मणाश्च महात्मानः पार्थिवाश्च महाबलाः ॥ ३३ ॥
शशंसुर्निर्वृता सर्वे दृष्ट्वा कृष्णस्य विक्रमम्।

बड़े-बड़े ऋषि, महात्मा ब्राह्मणों तथा महाबली भूमिपालोंने भगवान् श्रीकृष्णका वह पराक्रम देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो उनकी स्तुति करते हुए उन्हींकी शरण ली ॥ ३३½ ॥

पाण्डवस्त्वब्रवीद् भ्रातॄन् सत्कारेण महीपतिम् ॥ ३४ ॥
दमघोषात्मजं वीरं संस्कारयत मा चिरम्।
तथा च कृतवन्तस्ते भ्रातुर्वै शासनं तदा ॥ ३५ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने अपने भाइयोंसे कहा—'दमघोषपुत्र वीर राजा शिशुपालका अन्त्येष्टि संस्कार बड़े सत्कारके साथ करो, इसमें देर न लगाओ।' पाण्डवोंने भाईकी उस आज्ञाका यथार्थरूपसे पालन किया ॥ ३४-३५ ॥

चेदीनामाधिपत्ये च पुत्रमस्य महीपतेः।
अभ्यषिञ्चत् तदा पार्थः सह तैर्वसुधाधिपैः ॥ ३६ ॥

उस समय कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरने वहाँ आये हुए सभी भूमिपालोंके साथ चेदिदेशके राजसिंहासनपर शिशुपालके पुत्रको अभिषिक्त कर दिया ॥ ३६ ॥

ततः स कुरुराजस्य क्रतुः सर्वसमृद्धिमान्।
यूनां प्रीतिकरो राजन् स बभौ विपुलौजसः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी कुरुराज युधिष्ठिरका वह सम्पूर्ण समृद्धियोंसे भरा-पूरा राजसूययज्ञ तरुण राजाओंकी प्रसन्नताको बढ़ाता हुआ अनुपम शोभा पाने लगा ॥ ३७ ॥

शिशुपालके वधके लिये भगवान्‌का हाथमें चक्र ग्रहण करना





दुर्योधनका स्थलके भ्रमसे जलमें गिरना

शान्तविघ्नः सुखारम्भः प्रभूतधनधान्यवान्।
अन्नवान् बहुभक्ष्यश्च केशवेन सुरक्षितः ॥ ३८ ॥

उस यज्ञका विघ्न शान्त हो गया था; अतः उसका सुखपूर्वक आरम्भ हुआ। उसमें अपरिमित धन-धान्यका संग्रह एवं सदुपयोग किया गया था। भगवान् श्रीकृष्णसे सुरक्षित होनेके कारण उस यज्ञमें कभी अन्नकी कमी नहीं होने पायी। उसमें सदा पर्याप्तमात्रामें भक्ष्य-भोज्य आदिकी सामग्री प्रस्तुत रहती थी ॥ ३८ ॥

(ददृशुस्तं नृपतयो यज्ञस्य विधिमुत्तमम्।
उपेन्द्रबुद्ध्या विहितं सहदेवेन भारत ॥

भरतनन्दन! राजाओंने सहदेवके द्वारा विष्णु-बुद्धिसे भगवान् श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये किये जानेवाले उस यज्ञका उत्तम विधि-विधान देखा ॥

ददृशुस्तोरणान्यत्र हेमतालमयानि च।
दीप्तभास्करतुल्यानि प्रदीप्तानीव तेजसा।
स यज्ञस्तोरणैस्तैश्च ग्रहैर्द्यौरिव सम्बभौ ॥

उस यज्ञमण्डपमें सुवर्णमय तालके बने हुए फाटक दिखायी देते थे, जो अपनी प्रभासे तेजस्वी सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहे थे। उन तेजस्वी द्वारोंसे वह विशाल यज्ञ-मण्डप ग्रहोंसे आकाशकी भाँति प्रकाशित हो रहा था ॥

शय्यासनविहारांश्च सुबहून् वित्तसम्भृतान्।
घटान् पात्रीः कटाहानि कलशानि समन्ततः।
न ते किञ्चिदसौवर्णमपश्यंस्तत्र पार्थिवाः ॥

वहाँ शय्या, आसन और क्रीडाभवनोंकी संख्या बहुत थी। उनके निर्माणमें प्रचुर धन लगा था। चारों ओर घड़े, भाँति-भाँतिके पात्र, कड़ाहे और कलश आदि सुवर्णनिर्मित सामान दृष्टिगोचर हो रहे थे। वहाँ राजाओंने कोई ऐसी वस्तु नहीं देखी, जो सोनेकी बनी हुई न हो ॥

ओदनानां विकाराणि स्वादूनि विविधानि च।
सुबहूनि च भक्ष्याणि पेयानि मधुराणि च।
ददुर्द्विजानां सततं राजप्रेष्या महाध्वरे ॥

उस महान् यज्ञमें राजसेवकगण ब्राह्मणोंके आगे सदा नाना प्रकारके स्वादिष्ट भात तथा चावलकी बनी हुई बहुत-सी दूसरी भोज्य वस्तुएँ परोसते रहते थे। वे उनके लिये मधुर पेय पदार्थ भी अर्पण करते थे ॥

पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां भुञ्जतां तदा।
स्थापिता तत्र संज्ञाभूच्छङ्खोऽध्मायत नित्यशः ॥

भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंकी संख्या जब एक लाख पूरी हो जाती थी, तब वहाँ प्रतिदिन शङ्ख बजाया जाता था ॥

मुहुर्मुहुः प्रणादस्तु तस्य शङ्खस्य भारत।
उत्तमं शङ्खशब्दं तं श्रुत्वा विस्मयमागताः ॥

जनमेजय! दिनमें कई बार इस तरहकी शंख-ध्वनि होती थी। वह उत्तम शंखनाद सुनकर लोगोंको बड़ा विस्मय होता था ॥

एवं प्रवृत्ते यज्ञे तु तुष्टपुष्टजनायुते।
अन्नस्य बहवो राजन्नुत्सेधाः पर्वतोपमाः।
दधिकुल्याश्च ददृशुः सर्पिषां च ह्रदाञ्जनाः ॥

इस प्रकार सहस्रों हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरे हुए उस यज्ञका कार्य चलने लगा। राजन्! उसमें अन्नके बहुत-से ऊँचे ढेर लगाये गये थे, जो पर्वतोंके समान जान पड़ते थे। लोगोंने देखा, वहाँ दहीकी नहरें बह रही थीं तथा घीके कितने ही कुण्ड भरे हुए थे ॥

जम्बूद्वीपो हि सकलो नानाजनपदायुतः।
राजन्नदृश्यतैकस्थो राज्ञस्तस्मिन् महाक्रतौ ॥

राजन्! महाराज युधिष्ठिरके उस महान् यज्ञमें नाना जनपदोंसे युक्त सारा जम्बूद्वीप ही एकत्र हुआ-सा दिखायी देता था ॥

राजानः स्रग्विणस्तत्र सुमृष्टमणिकुण्डलाः।
विविधान्यन्नपानानि लेह्यानि विविधानि च।
तेषां नृपोपभोग्यानि ब्राह्मणेभ्यो ददुः स्म ते ॥

वहाँ विशुद्ध मणिमय कुण्डल तथा हार धारण किये नरेश ब्राह्मणोंको राजाओंके उपभोगमें आनेयोग्य नाना प्रकारके अन्न-पान और भाँति-भाँतिकी चटनी परोसते थे ॥

एतानि सततं भुक्त्वा तस्मिन् यज्ञे द्विजातयः।
परां प्रीतिं ययुः सर्वे मोदमानास्तदा भृशम् ॥

उस यज्ञमें निरन्तर उपर्युक्त पदार्थ भोजन करके सब ब्राह्मण आनन्दमग्न हो बड़ी तृप्ति और प्रसन्नताका अनुभव करते थे ॥

एवं समुदितं सर्वं बहुगोधनधान्यवत्।
यज्ञवाटं नृपा दृष्ट्वा विस्मयं परमं ययुः ॥

इस प्रकार बहुत-सी गायों तथा धन-धान्यसे सम्पन्न उस समृद्धिशाली यज्ञमण्डपको देखकर सब राजाओंको बड़ा आश्चर्य होता था ॥

ऋत्विजश्च यथाशास्त्रं राजसूयं महाक्रतुम्।
पाण्डवस्य यथाकालं जुहुवुः सर्वयाजकाः ॥

ऋत्विजलोग शास्त्रीय विधिके अनुसार राजा युधिष्ठिरके उस राजसूय नामक महायज्ञका अनुष्ठान करते थे और समस्त याजक ठीक समयपर अग्निमें आहुतियाँ देते थे ॥

व्यासधौम्यादयः सर्वे विधिवद् षोडशर्त्विजः ।
स्वस्वकर्माणि चक्रुस्ते पाण्डवस्य महाक्रतौ ॥

व्यास और धौम्य आदि जो सोलह ऋत्विज थे, वे युधिष्ठिरके उस महायज्ञमें विधिपूर्वक अपने-अपने निश्चित कार्योंका सम्पादन करते थे ॥

नाषडङ्गविदत्रासीत् सदस्यो नाबहुश्रुतः ।
नाव्रतो नानुपाध्यायो नपापो नाक्षमो द्विजः ॥

उस यज्ञमण्डपमें कोई भी सदस्य ऐसा नहीं था, जो वेदके छहों अङ्गोंका ज्ञाता, बहुश्रुत, व्रतशील, अध्यापक, पापरहित, क्षमाशील एवं सामर्थ्यशील न हो ॥

न तत्र कृपणः कश्चिद् दरिद्रो न बभूव ह ।
क्षुधितो दुःखितो वापि प्राकृतो वापि मानुषः ॥

उस यज्ञमें कोई भी मनुष्य दीन, दरिद्र, दुखी, भूखा-प्यासा अथवा मूढ़ नहीं था ॥

भोजनं भोजनार्थिभ्यो दापयामास सर्वदा ।
सहदेवो महातेजाः सततं राजशासनात् ॥

महातेजस्वी सहदेव महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे भोजनार्थियोंको सदा भोजन दिलाया करते थे ॥

संस्तरे कुशलाश्चापि सर्वकर्माणि याजकाः ।
दिवसे दिवसे चक्रुर्यथाशास्त्रार्थचक्षुषः ॥

शास्त्रोक्त अर्थपर दृष्टि रखनेवाले यज्ञकुशल याजक प्रतिदिन सब कार्योंको विधिवत् सम्पन्न करते थे ॥

ब्राह्मणा वेदशास्त्रज्ञाः कथाश्चक्रुश्च सर्वदा ।
रेमिरे च कथान्ते तु सर्वे तस्मिन् महाक्रतौ ॥

वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता ब्राह्मण वहाँ सदा कथा-प्रवचन किया करते थे । उस महायज्ञमें सब लोग कथाके अन्तमें बड़े सुखका अनुभव करते थे ॥

देवैरन्यैश्च यक्षैश्च उरगैर्दिव्यमानुषैः ।
विद्याधरगणैः कीर्णः पाण्डवस्य महात्मनः ॥
स राजसूयः शुशुभे धर्मराजस्य धीमतः ।

देवता, असुर, यक्ष, नाग, दिव्य मानव तथा विद्याधरगणोंसे भरा हुआ बुद्धिमान् पाण्डुनन्दन महात्मा धर्मराजका वह राजसूययज्ञ बड़ी शोभा पाता था ॥

गन्धर्वगणसंकीर्णः शोभितोऽप्सरसां गणैः ॥
देवैर्मुनिगणैर्यक्षैर्देवलोक इवापरः ।
स किम्पुरुषगीतैश्च किन्नरैरुपशोभितः ॥

वह यज्ञमण्डप गन्धर्वों, अप्सरा-समूहों, देवताओं, मुनिगणों तथा यक्षोंसे सुशोभित हो दूसरे देवलोकके समान जान पड़ता था। किम्पुरुषोंके गीत तथा किन्नरगण उस स्थानकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥

नारदश्च जगौ तत्र तुम्बुरुश्च महाद्युतिः ।
विश्वावसुश्चित्रसेनस्तथान्ये गीतकोविदाः ॥
रमयन्ति स्म तान् सर्वान् यज्ञकर्मान्तरेष्वथ ॥

नारद, महातेजस्वी तुम्बुरु, विश्वावसु, चित्रसेन तथा दूसरे गीतकुशल गन्धर्व वहाँ गीत गाकर यज्ञकार्योंके बीच-बीचमें अवकाश मिलनेपर सब लोगोंका मनोरंजन करते थे ॥

इतिहासपुराणानि आख्यानानि च सर्वशः ।
ऊचुर्वै शब्दशास्त्रज्ञा नित्यं कर्मान्तरेष्वथ ॥

यज्ञसम्बन्धी कर्मोंके बीचमें अवसर मिलनेपर व्याकरणशास्त्रके ज्ञाता विद्वान् पुरुष इतिहास, पुराण तथा सब प्रकारके उपाख्यान सुनाया करते थे ॥

भेर्यश्च मुरजाश्चैव मड्डुका गोमुखाश्च ये ।
शृङ्गवंशाम्बुजाश्चैव श्रूयन्ते स्म सहस्रशः ॥

वहाँ सहस्रों भेरी, मृदङ्ग, मड्डुक, गोमुख, शृङ्ग, वंशी और शंखोंके शब्द सुनायी पड़ते थे ॥

लोकेऽस्मिन् सर्वविप्राश्च वैश्याः शूद्राश्च सर्वशः।
सर्वे म्लेच्छाः सर्ववर्णाः सादिमध्यान्तजास्तथा॥
नानादेशसमुद्भूतैर्नानाजातिभिरागतैः ।
पर्याप्त इव लोकोऽयं युधिष्ठिरनिवेशने ॥

इस जगत्में रहनेवाले समस्त ब्राह्मण, (क्षत्रिय,) वैश्य, शूद्र, सब प्रकारके म्लेच्छ तथा अग्रज, मध्यज और अन्त्यज आदि सभी वर्णोंके लोग उस यज्ञमें उपस्थित हुए थे । अनेक देशोंमें उत्पन्न विभिन्न जातिके लोगोंके शुभागमनसे युधिष्ठिरके उस राजभवनमें ऐसा जान पड़ता था कि यह समस्त लोक यहाँ उपस्थित हो गया है ॥

भीष्मद्रोणादयः सर्वे कुरवः ससुयोधनाः ।
वृष्णयश्च समग्राश्च पञ्चालाश्चापि सर्वशः ।
यथार्हं सर्वकर्माणि चक्रुर्दासा इव क्रतौ ॥

उस राजसूययज्ञमें भीष्म,, द्रोण और दुर्योधन आदि समस्त कौरव, सारे वृष्णिवंशी तथा सम्पूर्ण पाञ्चाल भी सेवकोंकी भाँति यथायोग्य सभी कार्य अपने हाथों करते थे ॥

एवं प्रवृत्तो यज्ञः स धर्मराजस्य धीमतः ।
शुशुभे च महाबाहो सोमस्येव क्रतुर्यथा ॥

महाबाहु जनमेजय ! इस प्रकार बुद्धिमान् युधिष्ठिरका वह यज्ञ चन्द्रमाके राजसूययज्ञकी भाँति शोभा पाता था ॥

वस्त्राणि कम्बलांश्चैव प्रावारांश्चैव सर्वदा ।
निष्कहेमजभाण्डानि भूषणानि च सर्वशः ।
प्रददौ तत्र सततं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥

धर्मराज युधिष्ठिर उस यज्ञमें हर समय वस्त्र, कम्बल,

चादर, स्वर्णपदक, सोनेके बर्तन और सब प्रकारके आभूषणोंका दान करते रहते थे ॥

यानि तत्र महीपेभ्यो लब्धं वा धनमुत्तमम्।
तानि रत्नानि सर्वाणि विप्राणां प्रददौ तदा ॥

वहाँ राजाओंसे जो-जो रत्न अथवा उत्तम धन भेंटके रूपमें प्राप्त हुए, उन सबको युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंकी सेवामें समर्पित कर दिया ॥

कोटीसहस्रं प्रददौ ब्राह्मणानां महात्मनाम्।

उन्होंने महात्मा ब्राह्मणोंको दक्षिणाके रूपमें सहस्र कोटि स्वर्णमुद्राएँ प्रदान कीं ॥

न करिष्यति तं लोके कश्चिदन्यो महीपतिः ॥
याजकाः सर्वकामैश्च सततं तत्पुर्धनैः।

उन्होंने संसारमें वह कार्य किया जिसे दूसरा कोई राजा नहीं कर सकेगा। यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण सम्पूर्ण मनोवाञ्छित वस्तुएँ और प्रचुर धन पाकर सदाके लिये तृप्त हो गये ॥

व्यासं धौम्यं च प्रयतो नारदं च महामतिम् ॥
सुमन्तुं जैमिनिं पैलं वैशम्पायनमेव च।
याज्ञवल्क्यं कठं चैव कलापं च महौजसम् ॥
सर्वांश्च विप्रप्रवरान् पूजयामास सत्कृतान् ॥

फिर राजा युधिष्ठिरने व्यास, धौम्य, महामति नारद, सुमन्तु, जैमिनि, पैल, वैशम्पायन, याज्ञवल्क्य, कठ तथा महातेजस्वी कलाप—इन सब श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका पूर्ण मनोयोगके साथ सत्कार एवं पूजन किया ॥

युधिष्ठिर उवाच

युष्मत्प्रभावात् प्राप्तोऽयं राजसूयो महाक्रतुः।
जनार्दनप्रभावाच्च सम्पूर्णो मे मनोरथः ॥

युधिष्ठिर उनसे बोले—महर्षियो ! आपलोगोंके प्रभावसे यह राजसूय महायज्ञ साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न हुआ। भगवान् श्रीकृष्णके प्रतापसे मेरा सारा मनोरथ पूर्ण हो गया ॥

वैशम्पायन उवाच

अथ यज्ञं समाप्यान्ते पूजयामास माधवम्।
बलदेवं च देवेशं भीष्माद्यांश्च कुरूत्तमान् ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार यज्ञ-समाप्तिके समय राजा युधिष्ठिरने अन्तमें लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण, देवेश्वर बलदेव तथा कुरुश्रेष्ठ भीष्म आदिका पूजन किया ॥

समापयामास च तं राजसूयं महाक्रतुम्।
तं तु यज्ञं महाबाहुरासमाप्तेर्जनार्दनः।
ररक्ष भगवाञ्छौरिः शार्ङ्गचक्रगदाधरः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर उस राजसूय महायज्ञको विधिपूर्वक समाप्त किया। शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णने आरम्भसे लेकर अन्ततक उस यज्ञकी रक्षा की ॥ ३९ ॥

ततस्त्ववभृथस्नातं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम्।
समस्तं पार्थिवं क्षत्रमुपगम्येदमब्रवीत् ॥ ४० ॥

तदनन्तर धर्मात्मा युधिष्ठिर जब अवभृथस्नान कर चुके, उस समय समस्त क्षत्रियराजाओंका समुदाय उनके पास जाकर बोला—॥ ४० ॥

दिष्ट्या वर्धसि धर्मज्ञ साम्राज्यं प्राप्तवानसि।
आजमीढाजमीढानां यशः संवर्धितं त्वया ॥ ४१ ॥
कर्मणैतेन राजेन्द्र धर्मश्च सुमहान् कृतः।
आपृच्छामो नरव्याघ्र सर्वकामैः सुपूजिताः ॥ ४२ ॥

'धर्मज्ञ ! आपका अभ्युदय हो रहा है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। आपने सम्राट्का पद प्राप्त कर लिया। अजमीढ-कुलनन्दन राजाधिराज ! आपने इस कर्मद्वारा अजमीढवंशी क्षत्रियोंके यशका विस्तार तो किया ही है, महान् धर्मका भी सम्पादन किया है। नरव्याघ्र ! आपने हमारे लिये सब प्रकारके अभीष्ट पदार्थ सुलभ करके हमारा बड़ा सम्मान किया है। अब हम आपसे जानेकी अनुमति लेना चाहते हैं ॥ ४१-४२ ॥

स्वराष्ट्राणि गमिष्यामस्तदनुज्ञातुमर्हसि।
श्रुत्वा तु वचनं राज्ञां धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४३ ॥
यथार्हं पूज्य नृपतीन् भ्रातॄन् सर्वानुवाच ह।
राजानः सर्व एवैते प्रत्यास्मान् समुपागताः ॥ ४४ ॥
प्रस्थिताः स्वानि राष्ट्राणि मामापृच्छ्य परंतपाः।
अनुव्रजत भद्रं वो विषयान्तं नृपोत्तमान् ॥ ४५ ॥

'हम अपने-अपने राष्ट्रको जायँगे, आप हमें आज्ञा दें।' राजाओंका यह वचन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने उन पूजनीय नरेशोंका यथायोग्य सत्कार करके सब भाइयोंसे कहा—'ये सभी राजा प्रेमसे ही हमारे यहाँ पधारे थे। ये परंतप भूपाल अब मुझसे पूछकर अपने राष्ट्रको जानेके लिये उद्यत हैं। तुमलोगोंका भला हो। तुमलोग अपने राज्यकी सीमातक आदरपूर्वक इन श्रेष्ठ नरपतियोंको पहुँचा आओ' ॥ ४३-४५ ॥

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय पाण्डवा धर्मचारिणः।
यथार्हं नृपतीन् सर्वानेकैकं समनुव्रजन् ॥ ४६ ॥

भाईकी बात मानकर वे धर्मात्मा पाण्डव एक-एक करके यथायोग्य सभी राजाओंके साथ गये ॥ ४६ ॥

विराटमन्वयात् तूर्णं धृष्टद्युम्नः प्रतापवान्।
धनंजयो यज्ञसेनं महात्मानं महारथम् ॥ ४७ ॥

प्रतापी धृष्टद्युम्न तुरंत ही राजा विराटके साथ गया। धनंजयने महारथी महात्मा द्रुपदका अनुसरण किया ॥ ४७ ॥

भीष्मं च धृतराष्ट्रं च भीमसेनो महाबलः।
द्रोणं तु ससुतं वीरं सहदेवो युधाम्पतिः ॥ ४८ ॥

महाबली भीमसेन भीष्म और धृतराष्ट्रके साथ गये। योद्धाओंमें श्रेष्ठ सहदेवने द्रोणाचार्य तथा उनके वीर पुत्र अश्वत्थामाको पहुँचाया ॥ ४८ ॥

नकुलः सुबलं राजन् सहपुत्रं समन्वयात्।
द्रौपदेयाः ससौभद्राः पर्वतीयान् महारथान् ॥ ४९ ॥

राजन्! सुबल और उनके पुत्रके साथ नकुल गये। द्रौपदीके पाँच पुत्रों तथा अभिमन्युने पर्वतीय महारथियोंको अपने राज्यकी सीमातक पहुँचाया ॥ ४९ ॥

अन्वगच्छंस्तथैवान्यान् क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभाः।
एवं सुपूजिताः सर्वे जग्मुर्विप्राः सहस्रशः ॥ ५० ॥
गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु सर्वेषु ब्राह्मणेषु च।
युधिष्ठिरमुवाचेदं वासुदेवः प्रतापवान् ॥ ५१ ॥

इसी प्रकार अन्य क्षत्रियशिरोमणियोंने दूसरे दूसरे क्षत्रिय राजाओंका अनुगमन किया। इसी तरह सभी ब्राह्मण भी अत्यन्त पूजित हो सहस्रोंकी संख्यामें वहाँसे विदा हुए। राजाओं तथा ब्राह्मणोंके चले जानेपर प्रतापी भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिरसे कहा—॥ ५०-५१ ॥

आपृच्छे त्वां गमिष्यामि द्वारकां कुरुनन्दन।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं दिष्ट्या त्वं प्राप्तवानसि ॥ ५२ ॥

'कुरुनन्दन! मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ, अब मैं द्वारकापुरीको जाऊँगा। सौभाग्यसे आपने सब यज्ञोंमें उत्तम राजसूयका सम्पादन कर लिया ॥ ५२ ॥

तमुवाचैवमुक्तस्तु धर्मराजो जनार्दनम्।
तव प्रसादाद् गोविन्द प्राप्तः क्रतुवरो मया ॥ ५३ ॥

उनके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिर जनार्दनसे बोले—'गोविन्द! आपकी ही कृपासे मैंने यह श्रेष्ठ यज्ञ सम्पन्न किया है ॥ ५३ ॥

क्षत्रं समग्रमपि च त्वत्प्रसादाद् वशे स्थितम्।
उपादाय बलिं मुख्यं मामेव समुपस्थितम् ॥ ५४ ॥

'तथा सारा क्षत्रियमण्डल भी आपके ही प्रसादसे मेरे अधीन हुआ और उत्तमोत्तम रत्नोंकी भेंट ले मेरे पास आया ॥

कथं त्वद्गमनार्थं मे वाणी वितरतेऽनघ।
न ह्यहं त्वामृते वीर रतिं प्राप्नोमि कर्हिचित् ॥ ५५ ॥

'अनघ! आपको जानेके लिये मेरी वाणी कैसे कह सकती है? वीर! मैं आपके बिना कभी प्रसन्न नहीं रह सकूँगा ॥

अवश्यं चैव गन्तव्या भवता द्वारकापुरी।
एवमुक्तः स धर्मात्मा युधिष्ठिरसहायवान् ॥ ५६ ॥
अभिगम्याब्रवीत् प्रीतः पृथां पृथुयशा हरिः।
साम्राज्यं समनुप्राप्ताः पुत्रास्तेऽद्य पितृष्वसः ॥ ५७ ॥
सिद्धार्था वसुमन्तश्च सा त्वं प्रीतिमवाप्नुहि।
अनुज्ञातस्त्वया चाहं द्वारकां गन्तुमुत्सहे ॥ ५८ ॥

'परंतु आपका द्वारकापुरी जाना भी आवश्यक ही है।' उनके ऐसा कहनेपर महायशस्वी धर्मात्मा श्रीहरि युधिष्ठिरको साथ ले बुआ कुन्तीके पास गये और प्रसन्नतापूर्वक बोले—'बुआजी! तुम्हारे पुत्रोंने अब साम्राज्य प्राप्त कर लिया, उनका मनोरथ पूर्ण हो गया। वे सब के-सब धन तथा रत्नोंसे सम्पन्न हैं। अब तुम इनके साथ प्रसन्नतापूर्वक रहो। यदि तुम्हारी आज्ञा हो तो मैं द्वारका जाना चाहता हूँ' ॥ ५६—५८ ॥

सुभद्रां द्रौपदीं चैव सभाजयत केशवः।
निष्क्रम्यान्तःपुरात् तस्माद् युधिष्ठिरसहायवान् ॥ ५९ ॥

कुन्तीकी आज्ञा ले श्रीकृष्ण सुभद्रा और द्रौपदीसे भी मिले और मीठे वचनोंसे उन दोनोंको प्रसन्न किया। तत्पश्चात् वे युधिष्ठिरके साथ अन्तःपुरसे बाहर निकले ॥ ५९ ॥

स्नातश्च कृतजप्यश्च ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च।
ततो मेघवपुःप्रख्यं स्यन्दनं च सुकल्पितम्।
योजयित्वा महाबाहुर्दारुकः समुपस्थितः ॥ ६० ॥
उपस्थितं रथं दृष्ट्वा तार्क्ष्यप्रवरकेतनम्।
प्रदक्षिणमुपावृत्य समारुह्य महामनाः ॥ ६१ ॥
प्रययौ पुण्डरीकाक्षस्ततो द्वारवतीं पुरीम् ॥ ६२ ॥

फिर स्नान और जप करके उन्होंने ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया। इसके बाद महाबाहु दारुक मेघके समान नीले रंगका सुन्दर रथ जोतकर उनकी सेवामें उपस्थित हुआ। गरुडध्वजसे सुशोभित उस सुन्दर रथको उपस्थित देख महामना कमलनयन श्रीकृष्णने उसकी दक्षिणावर्त प्रदक्षिणा की और उसपर आरूढ़ हो वे द्वारकापुरीकी ओर चल पड़े ॥

(सात्यकिः कृतवर्मा च रथमारुह्य सत्वरौ।
बीजयामासतुस्तत्र चामराभ्यां हरिं तथा ॥
बलदेवश्च देवेशो यादवाश्च सहस्रशः।
प्रययू राजवत् सर्वे धर्मपुत्रेण पूजिताः।
ततः स सम्मतं राजा हित्वा सौवर्णमासनम् ॥)
तं पद्भ्यामनुवव्राज धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान् वासुदेवं महाबलम् ॥ ६३ ॥

सात्यकि और कृतवर्मा शीघ्रतापूर्वक उस रथपर आरूढ़ हो श्रीहरिकी सेवाके लिये चँवर डुलाने लगे। देवेश्वर बलदेवजी तथा सहस्रों यदुवंशी धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे पूजित हो राजाकी भाँति वहाँसे विदा हुए। तदनन्तर सोनेके श्रेष्ठ सिंहासनको छोड़कर भाइयोंसहित श्रीमान् धर्मराज युधिष्ठिर पैदल ही महाबली भगवान् वासुदेवके पीछे-पीछे चलने लगे ॥

ततो मुहूर्तं संगृह्य स्यन्दनप्रवरं हरिः।
अब्रवीत् पुण्डरीकाक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ६४ ॥

तब कमललोचन भगवान् श्रीहरिने दो घड़ीतक अपने श्रेष्ठ रथको रोककर कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे कहा—॥ ६४ ॥

अप्रमत्तः स्थितो नित्यं प्रजाः पाहि विशाम्पते ।
पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिव द्विजाः ॥६५॥
बान्धवास्त्वोपजीवन्तु सहस्राक्षमिवामराः ।
कृत्वा परस्परेणैवं संविदं कृष्णपाण्डवौ ॥६६॥
अन्योन्यं समनुज्ञाप्य जग्मतुः स्वगृहान् प्रति ।

'राजन्! आप सदा सावधान रहकर प्रजाजनोंके पालनमें लगे रहें। जैसे सब प्राणी मेघको, पक्षी महान् वृक्षको और सम्पूर्ण देवता इन्द्रको अपने जीवनका आधार मानकर उनका आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार सभी बन्धु-बान्धव जीवन-निर्वाहके लिये आपका आश्रय लें।' श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर आपसमें इस प्रकार बातें करके एक दूसरेकी आज्ञा ले अपने-अपने स्थानको चल दिये ॥ ६५-६६½ ॥

गते द्वारवतीं कृष्णे सात्वतप्रवरे नृप ॥६७॥
एको दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः ।
तस्यां सभायां दिव्यायामूषतुस्तौ नरर्षभौ ॥६८॥

राजन्! यदुवंशशिरोमणि श्रीकृष्णके द्वारका चले जानेपर भी राजा दुर्योधन तथा सुबलपुत्र शकुनि ये दोनों नरश्रेष्ठ उस दिव्य सभाभवनमें ही रहे ॥ ६७-६८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवधे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें शिशुपालवधविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४२ श्लोक मिलाकर कुल ११० श्लोक हैं)

(द्यूतपर्व)

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

व्यासजीकी भविष्यवाणीसे युधिष्ठिरकी चिन्ता और समत्वपूर्ण बर्ताव करनेकी प्रतिज्ञा

वैशम्पायन उवाच

समाप्ते राजसूये तु क्रतुश्रेष्ठे सुदुर्लभे ।
शिष्यैः परिवृतो व्यासः पुरस्तात् समपद्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यज्ञोंमें श्रेष्ठ परम दुर्लभ राजसूययज्ञके समाप्त हो जानेपर शिष्योंसे घिरे हुए भगवान् व्यास राजा युधिष्ठिरके पास आये ॥ १ ॥

सोऽभ्ययादासनात् तूर्णं भ्रातृभिः परिवारितः ।
पाद्येनासनदानेन पितामहमपूजयत् ॥ २ ॥

उन्हें देखकर भाइयोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिर तुरंत आसनसे उठकर खड़े हो गये और आसन एवं पाद्य आदि समर्पण करके उन्होंने पितामह व्यासजीका यथावत् पूजन किया ॥



अथोपविश्य भगवान् काञ्चने परमासने ।
आस्यतामिति चोवाच धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् सुवर्णमय उत्तम आसनपर बैठकर भगवान् व्यासने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'बैठ जाओ' ॥ ३ ॥

अथोपविष्टं राजानं भ्रातृभिः परिवारितम् ।
उवाच भगवान् व्यासस्तत्तद्वाक्यविशारदः ॥ ४ ॥

भाइयोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरके बैठ जानेपर बातचीतमें कुशल भगवान् व्यासने उनसे कहा—॥ ४ ॥

दिष्ट्या वर्धसि कौन्तेय साम्राज्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
वर्धिताः कुरवः सर्वे त्वया कुरुकुलोद्वह ॥ ५ ॥

'कुन्तीनन्दन! बड़े आनन्दकी बात है कि तुम परम दुर्लभ सम्राट्का पद पाकर सदा उन्नतिशील हो रहे हो। कुरुकुलका भार वहन करनेवाले नरेश! तुमने समस्त कुरुवंशियोंको समृद्धिशाली बना दिया ॥ ५ ॥

आपृच्छे त्वां गमिष्यामि पूजितोऽस्मि विशाम्पते ।
एवमुक्तः स कृष्णेन धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥
अभिवाद्योपसंगृह्य पितामहमथाब्रवीत् ।

'राजन्! अब मैं जाऊँगा। इसके लिये तुम्हारी अनुमति चाहता हूँ। तुमने मेरा अच्छी तरह सम्मान किया है।'

महात्मा कृष्णद्वैपायन व्यासके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने उन पितामहके दोनों चरणोंको पकड़कर प्रणाम किया और कहा ॥ ६½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

संशयो द्विपदां श्रेष्ठ ममोत्पन्नः सुदुर्लभः ॥ ७ ॥
तस्य नान्योऽस्ति वक्ता वै त्वामृते द्विजपुङ्गव ।

युधिष्ठिर बोले—नरश्रेष्ठ ! मेरे मनमें एक भारी संशय उत्पन्न हो गया है । विप्रवर ! आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो उसका समाधान कर सके ॥ ७½ ॥

उत्पातांस्त्रिविधान् प्राह नारदो भगवानृषिः ॥ ८ ॥
दिव्यांश्चैवान्तरिक्षांश्च पार्थिवांश्च पितामह ।
अपि चैद्यस्य पतनाच्छन्नमौत्पातिकं महत् ॥ ९ ॥

पितामह ! देवर्षि भगवान् नारदने स्वर्ग, अन्तरिक्ष और पृथ्वीविषयक तीन प्रकारके उत्पात बताये हैं । क्या शिशुपालके मारे जानेसे वे महान् उत्पात शान्त हो गये ? ॥ ८-९ ॥

वैशम्पायन उवाच

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा पराशरसुतः प्रभुः ।
कृष्णद्वैपायनो व्यास इदं वचनमब्रवीत् ॥१०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरका यह प्रश्न सुनकर पराशरनन्दन कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासने इस प्रकार कहा—॥ १० ॥

त्रयोदश समा राजन्नुत्पातानां फलं महत् ।
सर्वक्षत्रविनाशाय भविष्यति विशाम्पते ॥११॥

'राजन् ! उत्पातोंका महान् फल तेरह वर्षोंतक हुआ करता है । इस समय जो उत्पात प्रकट हुआ था, वह समस्त क्षत्रियोंका विनाश करनेवाला होगा ॥ ११ ॥

त्वामेकं कारणं कृत्वा कालेन भरतर्षभ ।
समेतं पार्थिवं क्षत्रं क्षयं यास्यति भारत ।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥१२॥

'भरतकुलतिलक ! एकमात्र तुम्हींको निमित्त बनाकर यथासमय समस्त भूमिपालोंका समुदाय आपसमें लड़कर नष्ट हो जायगा । भारत ! क्षत्रियोंका यह विनाश दुर्योधनके अपराधसे तथा भीमसेन और अर्जुनके पराक्रमद्वारा सम्पन्न होगा॥

स्वप्ने द्रक्ष्यसि राजेन्द्र क्षपान्ते त्वं वृषध्वजम् ।
नीलकण्ठं भवं स्थाणुं कपालिं त्रिपुरान्तकम् ॥१३॥
उग्रं रुद्रं पशुपतिं महादेवमुमापतिम् ।
हरं शर्वं वृषं शूलं पिनाकिं कृत्तिवाससम् ॥१४॥

'राजेन्द्र ! तुम रातके अन्तमें स्वप्नमें उन वृषभध्वज भगवान् शंकरका दर्शन करोगे, जो नीलकण्ठ, भव, स्थाणु, कपाली, त्रिपुरान्तक, उग्र, रुद्र, पशुपति, महादेव, उमापति, हर, शर्व, वृष, शूली, पिनाकी तथा कृत्तिवासा कहलाते हैं ॥ १३-१४ ॥

कैलासकूटप्रतिमं वृषभेऽवस्थितं शिवम् ।
निरीक्षमाणं सततं पितृराजाश्रितां दिशम् ॥१५॥

उन भगवान् शिवकी कान्ति कैलासशिखरके समान उज्ज्वल होगी । वे वृषभपर आरूढ़ हुए सदा दक्षिण दिशाकी ओर देख रहे होंगे ॥ १५ ॥

एवमीदृशकं स्वप्नं द्रक्ष्यसि त्वं विशाम्पते ।
मा तत्कृते ह्यनुध्याहि कालो हि दुरतिक्रमः ॥१६॥

'राजन् ! तुम्हें इस प्रकार ऐसा स्वप्न दिखायी देगा, किंतु उसके लिये तुम्हें चिन्ता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि काल सबके लिये दुर्लङ्घ्य है ॥ १६ ॥

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि कैलासं पर्वतं प्रति ।
अप्रमत्तः स्थितो दान्तः पृथिवीं परिपालय ॥१७॥

'तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं कैलासपर्वतपर जाऊँगा । तुम सावधान एवं जितेन्द्रिय होकर पृथ्वीका पालन करो' ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् कैलासं पर्वतं ययौ ।
कृष्णद्वैपायनो व्यासः सह शिष्यैः श्रुतानुगैः ॥१८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास वेदमार्गका अनुसरण करनेवाले अपने शिष्योंके साथ कैलासपर्वतपर चले गये ॥ १८ ॥

गते पितामहे राजा चिन्ताशोकसमन्वितः ।
निःश्वसन्नुष्णमसकृत् तमेवार्थं विचिन्तयन् ॥१९॥
कथं तु दैवं शक्येत पौरुषेण प्रबाधितुम् ।
अवश्यमेव भविता यदुक्तं परमर्षिणा ॥२०॥

अपने पितामह व्यासजीके चले जानेपर चिन्ता और शोकसे युक्त राजा युधिष्ठिर बारंबार गरम साँसें लेते हुए उसी बातका चिन्तन करते रहे । अहो ! दैवका विधान पुरुषार्थसे किस प्रकार टाला जा सकता है ? महर्षिने जो कुछ कहा है, वह निश्चय ही होगा ॥ १९-२० ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजाः सर्वान् भ्रातॄन् युधिष्ठिरः ।
श्रुतं वै पुरुषव्याघ्रा यन्मां द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥२१॥
तदा तद्वचनं श्रुत्वा मरणे निश्चिता मतिः ।
सर्वक्षत्रस्य निधने यद्यहं हेतुरीप्सितः ॥२२॥
कालेन निर्मितस्तात को ममार्थोऽस्ति जीवतः ।
एवं ब्रुवन्तं राजानं फाल्गुनः प्रत्यभाषत ॥२३॥

यही सोचते-सोचते महातेजस्वी युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंसे कहा—'पुरुषसिंहो ! महर्षि व्यासने मुझसे जो कहा है, उसे तुमलोगोंने सुना है न ? उनकी वह बात सुनकर मैंने मरनेका निश्चय कर लिया है । तात ! यदि समस्त क्षत्रियोंके विनाशमें विधाताने मुझे ही निमित्त बनानेकी इच्छा की है, कालने मुझे ही इस अनर्थका कारण बनाया है तो

मेरे जीवनका क्या प्रयोजन है ?' राजाकी ऐसी बातें सुनकर अर्जुनने उत्तर दिया—॥ २१–२३ ॥

मा राजन् कश्मलं घोरं प्रविशो बुद्धिनाशनम् ।
सम्प्रधार्य महाराज यत् क्षेमं तत् समाचर ॥ २४ ॥

'राजन् ! इस भयंकर मोहमें न पड़िये, यह बुद्धिको नष्ट करनेवाला है । महाराज ! अच्छी तरह सोच-विचारकर आपको जो कल्याणप्रद जान पड़े, वह कीजिये' ॥ २४ ॥

ततोऽब्रवीत् सत्यधृतिर्भ्रातॄन् सर्वान् युधिष्ठिरः ।
द्वैपायनस्य वचनं ह्येवं समनुचिन्तयन् ॥ २५ ॥

तब सत्यवादी युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंसे व्यासजीकी बातोंपर विचार करते हुए कहा—॥ २५ ॥

अद्यप्रभृति भद्रं वः प्रतिज्ञां मे निबोधत ।
त्रयोदश समास्तात को ममार्थोऽस्ति जीवतः ॥ २६ ॥

'तात ! तुमलोगोंका कल्याण हो, भाइयोंके विनाशका कारण बननेके लिये मुझे तेरह वर्षोंतक जीवित रहनेसे क्या लाभ ? यदि जीना ही है तो आजसे मेरी यह प्रतिज्ञा सुन लो—॥ २६ ॥

न प्रवक्ष्यामि परुषं भ्रातॄनन्यांश्च पार्थिवान् ।
स्थितो निदेशे ज्ञातीनां योक्ष्ये तत् समुदाहरन् ॥ २७ ॥

'मैं अपने भाइयों तथा दूसरे राजाओंसे कभी कड़वी बात नहीं बोलूँगा । बन्धु-बान्धवोंकी आज्ञामें रहकर प्रसन्नतापूर्वक उनकी मुँहमाँगी वस्तुएँ लानेमें संलग्न रहूँगा' ॥ २७ ॥

एवं मे वर्तमानस्य स्वसुतेष्वितरेषु च ।
भेदो न भविता लोके भेदमूलो हि विग्रहः ॥ २८ ॥

'इस प्रकार समतापूर्ण बर्ताव करते हुए मेरा अपने पुत्रों तथा दूसरोंके प्रति भेदभाव न होगा; क्योंकि जगत्में लड़ाई-झगड़ेका मूल कारण भेदभाव ही है ॥ २८ ॥

विग्रहं दूरतो रक्षन् प्रियाण्येव समाचरन् ।
वाच्यतां न गमिष्यामि लोकेषु मनुजर्षभाः ॥ २९ ॥

'नररत्नो ! विग्रह या वैर-विरोधको अपनेसे दूर ही रखकर सबका प्रिय करते हुए मैं संसारमें निन्दाका पात्र नहीं हो सकूँगा ॥ २९ ॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य वचनं पाण्डवाः संनिशम्य तत् ।
तमेव समवर्तन्त धर्मराजहिते रताः ॥ ३० ॥

अपने बड़े भाईकी बात सुनकर सब पाण्डव उन्हींके हितमें तत्पर हो सदा उनका ही अनुसरण करने लगे ॥ ३० ॥

संसत्सु समयं कृत्वा धर्मराड् भ्रातृभिः सह ।
पितॄंस्तर्प्य यथान्यायं देवताश्च विशाम्पते ॥ ३१ ॥

राजन् ! धर्मराजने अपने भाइयोंके साथ भरी सभामें यह प्रतिज्ञा करके देवताओं तथा पितरोंका विधिपूर्वक तर्पण किया ॥ ३१ ॥

कृतमङ्गलकल्याणो भ्रातृभिः परिवारितः ।
गतेषु क्षत्रियेन्द्रेषु सर्वेषु भरतर्षभ ॥ ३२ ॥
युधिष्ठिरः सहामात्यः प्रविवेश पुरोत्तमम् ।
दुर्योधनो महाराज शकुनिश्चापि सौबलः ।
सभायां रमणीयायां तत्रैवास्ते नराधिप ॥ ३३ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! समस्त क्षत्रियोंके चले जानेपर कल्याणमय माङ्गलिक कृत्य पूर्ण करके भाइयोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरने मन्त्रियोंके साथ अपने उत्तम नगरमें प्रवेश किया । महाराज ! दुर्योधन तथा सुबलपुत्र शकुनि ये दोनों उस रमणीय सभामें ही रह गये ॥ ३२-३३ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरसमये षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिर-प्रतिज्ञाविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

दुर्योधनका मयनिर्मित सभाभवनको देखना और पग-पगपर भ्रमके कारण उपहासका पात्र बनना तथा युधिष्ठिरके वैभवको देखकर उसका चिन्तित होना

वैशम्पायन उवाच

वसन् दुर्योधनस्तस्यां सभायां पुरुषर्षभ ।
शनैर्ददर्श तां सर्वां सभां शकुनिना सह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ जनमेजय ! राजा दुर्योधनने उस सभाभवनमें निवास करते समय शकुनिके साथ धीरे-धीरे उस सारी सभाका निरीक्षण किया ॥ १ ॥

तस्यां दिव्यानभिप्रायान् ददर्श कुरुनन्दनः ।
न दृष्टपूर्वा ये तेन नगरे नागसाह्वये ॥ २ ॥

कुरुनन्दन दुर्योधन उस सभामें उन दिव्य अभिप्रायों (दृश्यों) को देखने लगा, जिन्हें उसने हस्तिनापुरमें पहले कभी नहीं देखा था ॥ २ ॥

स कदाचित् सभामध्ये धार्तराष्ट्रो महीपतिः ।
स्फाटिकं स्थलमासाद्य जलमित्यभिशङ्कया ॥ ३ ॥

स्ववस्त्रोत्कर्षणं राजा कृतवान् बुद्धिमोहितः ।
दुर्मना विमुखश्चैव परिचक्राम तां सभाम् ॥ ४ ॥

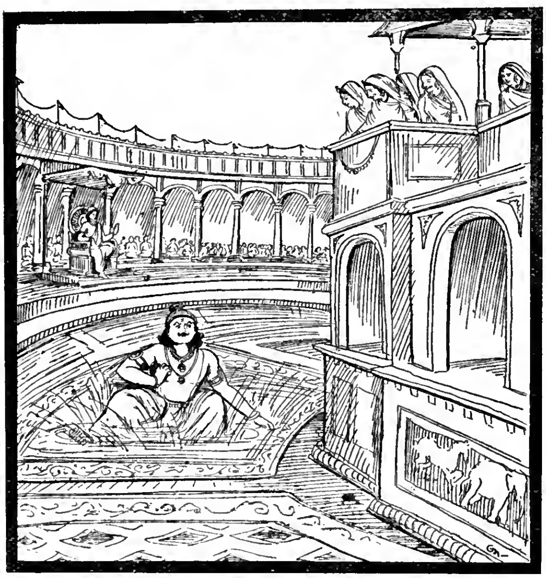
एक दिनकी बात है, राजा दुर्योधन उस सभाभवनमें घूमता हुआ स्फटिक-मणिमय स्थलपर जा पहुँचा और वहाँ जलकी आशंकासे उसने अपना वस्त्र ऊपर उठा लिया । इस प्रकार बुद्धि-मोह हो जानेसे उसका मन उदास हो गया और वह उस स्थानसे लौटकर सभामें दूसरी ओर चक्कर लगाने लगा ॥ ३-४ ॥

ततः स्थले निपतितो दुर्मना व्रीडितो नृपः ।
निःश्वसन् विमुखश्चापि परिचक्राम तां सभाम्॥ ५ ॥

तदनन्तर वह स्थलमें ही गिर पड़ा, इससे वह मन-ही-मन दुखी और लज्जित हो गया तथा वहाँसे हटकर लम्बी साँसें लेता हुआ सभाभवनमें घूमने लगा ॥ ५ ॥

ततः स्फाटिकतोयां वै स्फाटिकाम्बुजशोभिताम् ।
वापीं मत्वा स्थलमिव सवासाः प्रापतज्जले ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् स्फटिकमणिके समान स्वच्छ जलसे भरी और स्फटिकमणिमय कमलोंसे सुशोभित बावलीको स्थल मानकर वह वस्त्रसहित जलमें गिर पड़ा ॥ ६ ॥



जले निपतितं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ।
जहास जहसुश्चैव किंकराश्च सुयोधनम् ॥ ७ ॥
वासांसि च शुभान्यस्मै प्रददू राजशासनात् ।
तथागतं तु तं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ॥ ८ ॥
अर्जुनश्च यमौ चोभौ सर्वे ते प्राहसंस्तदा ।
नामर्षयत् ततस्तेषामवहासममर्षणः ॥ ९ ॥

उसे जलमें गिरा देख महाबली भीमसेन हँसने लगे । उनके सेवकोंने भी दुर्योधनकी हँसी उड़ायी तथा राजाज्ञासे उन्होंने दुर्योधनको सुन्दर वस्त्र दिये । दुर्योधन-की यह दुरवस्था देख महाबली भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेव सभी उस समय जोर-जोरसे हँसने लगे । दुर्योधन स्वभावसे ही अमर्षशील था; अतः वह उनका उपहास न सह सका ॥ ७–९ ॥

आकारं रक्षमाणस्तु न स तान् समुदैक्षत ।
पुनर्वसनमुत्क्षिप्य प्रतरिष्यन्निव स्थलम् ॥ १० ॥

वह अपने चेहरेके भावको छिपाये रखनेके लिये उनकी ओर दृष्टि नहीं डालता था । फिर स्थलमें ही जलका भ्रम हो जानेसे वह कपड़े उठाकर इस प्रकार चलने लगा; मानो तैरनेकी तैयारी कर रहा हो ॥ १० ॥

आरुरोह ततः सर्वे जहसुश्च पुनर्जनाः ।
द्वारं तु पिहिताकारं स्फाटिकं प्रेक्ष्य भूमिपः ।
प्रविशन्नाहतो मूर्ध्नि व्याघूर्णित इव स्थितः ॥ ११ ॥

इस प्रकार जब वह ऊपर चढ़ा, तब सब लोग उसकी भ्रान्तिपर हँसने लगे । उसके बाद राजा दुर्योधनने एक स्फटिकमणिका बना हुआ दरवाजा देखा, जो वास्तवमें बंद था, तो भी खुला दीखता था । उसमें प्रवेश करते ही उसका सिर टकरा गया और उसे चक्कर-सा आ गया॥११॥

तादृशं च परं द्वारं स्फाटिकोरुकपाटकम् ।
विघट्टयन् कराभ्यां तु निष्क्रम्याग्रे पपात ह ॥ १२ ॥

ठीक उसी तरहका एक दूसरा दरवाजा मिला, जिसमें स्फटिकमणिके बड़े-बड़े किंवाड़ लगे थे । यद्यपि वह खुला था, तो भी दुर्योधनने उसे बंद समझकर उसपर दोनों हाथोंसे धक्का देना चाहा । किंतु धक्केसे वह स्वयं द्वारके बाहर निकलकर गिर पड़ा ॥ १२ ॥

द्वारं तु वितताकारं समापेदे पुनश्च सः ।
तद्वृत्तं चेति मन्वानो द्वारस्थानादुपारमत् ॥ १३ ॥

आगे जानेपर उसे एक बहुत बड़ा फाटक और मिला; परंतु कहीं पिछले दरवाजोंकी भाँति यहाँ भी कोई अप्रिय घटना न घटित हो इस भयसे वह उस दरवाजेके इधरसे ही लौट आया ॥ १३ ॥

एवं प्रलम्भान् विविधान् प्राप्य तत्र विशाम्पते ।
पाण्डवेयाभ्यनुज्ञातस्ततो दुर्योधनो नृपः ॥ १४ ॥
अप्रहृष्टेन मनसा राजसूये महाक्रतौ ।
प्रेक्ष्य तामद्भुतामृद्धिं जगाम गजसाह्वयम् ॥ १५ ॥

राजन् ! इस प्रकार बार-बार धोखा खाकर राजा दुर्योधन राजसूय महायज्ञमें पाण्डवोंके पास आयी हुई अद्भुत समृद्धिपर दृष्टि डालकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा ले अप्रसन्न मनसे हस्तिनापुरको चला गया ॥ १४-१५ ॥

पाण्डवश्रीप्रतप्तस्य ध्यायमानस्य गच्छतः ।
दुर्योधनस्य नृपतेः पापा मतिरजायत ॥ १६ ॥

पाण्डवोंकी राजलक्ष्मीसे संतप्त हो उसीका चिन्तन करते

हुए जानेवाले राजा दुर्योधनके मनमें पापपूर्ण विचारका उदय हुआ ॥ १६ ॥

पार्थान् सुमनसो दृष्ट्वा पार्थिवांश्च वशानुगान् ।
कृत्स्नं चापि हितं लोकमाकुमारं कुरूद्वह ॥ १७ ॥
महिमानं परं चापि पाण्डवानां महात्मनाम् ।
दुर्योधनो धार्तराष्ट्रो विवर्णः समपद्यत ॥ १८ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! यह देखकर कि कुन्तीके पुत्रोंका मन प्रसन्न है, भूमण्डलके सब नरेश उनके वशमें हैं तथा बच्चोंसे लेकर बूढ़ोंतक सारा जगत् उनका हितैषी है, इस प्रकार महात्मा पाण्डवोंकी महिमा अत्यन्त बढ़ी हुई देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनका रंग फीका पड़ गया ॥ १७-१८ ॥

स तु गच्छन्ननेकाग्रः सभामेकोऽन्वचिन्तयत् ।
श्रियं च तामनुपमां धर्मराजस्य धीमतः ॥ १९ ॥

रास्तेमें जाते समय वह नाना प्रकारके विचारोंसे चिन्तातुर था । वह अकेला ही परम बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरकी अलौकिक सभा तथा अनुपम लक्ष्मीके विषयमें सोच रहा था ॥ १९ ॥

प्रमत्तो धृतराष्ट्रस्य पुत्रो दुर्योधनस्तदा ।
नाभ्यभाषत् सुबलजं भाषमाणं पुनः पुनः ॥ २० ॥

इस समय धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन उन्मत्त-सा हो रहा था । वह शकुनिके बार-बार पूछनेपर भी उसे कोई उत्तर नहीं दे रहा था ॥ २० ॥

अनेकाग्रं तु तं दृष्ट्वा शकुनिः प्रत्यभाषत ।
दुर्योधन कुतोमूलं निःश्वसन्निव गच्छसि ॥ २१ ॥

उसे नाना प्रकारकी चिन्ताओंसे युक्त देख शकुनिने पूछा—'दुर्योधन ! तुम्हें कहाँसे यह दुःखका कारण प्राप्त हो गया, जिससे तुम लंबी साँसें खींचते चल रहे हो ?' ॥ २१ ॥



दुर्योधन उवाच

दृष्ट्वेमां पृथिवीं कृत्स्नां युधिष्ठिरवशानुगाम् ।
जितामस्त्रप्रतापेन श्वेताश्वस्य महात्मनः ॥ २२ ॥
तं च यज्ञं तथाभूतं दृष्ट्वा पार्थस्य मातुल ।
यथा शक्रस्य देवेषु तथाभूतं महाद्युतेः ॥ २३ ॥
अमर्षेण तु सम्पूर्णो दह्यमानो दिवानिशम् ।
शुचिशुक्रागमे काले शुष्येत् तोयमिवाल्पकम् ॥ २४ ॥

दुर्योधनने कहा—मामाजी ! मैंने देखा है, श्वेतवाहन महात्मा अर्जुनके अस्त्रोंके प्रतापसे जीती हुई यह सारी पृथ्वी युधिष्ठिरके वशमें हो गयी है । महातेजस्वी युधिष्ठिरका वह राजसूययज्ञ उसी प्रकार सम्पन्न हुआ है, जैसे देवताओंमें देवराज इन्द्रका यज्ञ पूर्ण हुआ था । यह सब देखकर मैं दिन-रात ईर्ष्यासे भरा ठीक उसी प्रकार जलता रहता हूँ, जैसे ग्रीष्म-ऋतुमें थोड़ा-सा जल जल्दी सूख जाता है ॥ २२–२४ ॥

पश्य सात्वतमुख्येन शिशुपालो निपातितः ।
न च तत्र पुमानासीत् कश्चित् तस्य पदानुगः ॥ २५ ॥

और भी देखिये, यदुवंशशिरोमणि श्रीकृष्णने शिशुपालको मार गिराया, परंतु वहाँ कोई भी वीर पुरुष उसका बदला लेनेको तैयार नहीं हुआ ॥ २५ ॥

दह्यमाना हि राजानः पाण्डवोत्थेन वह्निना ।
क्षान्तवन्तोऽपराधं ते को हि तत् क्षन्तुमर्हति ॥ २६ ॥

पाण्डवजनित आगसे दग्ध होनेवाले राजाओंने वह अपराध क्षमा कर दिया । अन्यथा इतने बड़े अन्यायको कौन सह सकता है ? ॥ २६ ॥

वासुदेवेन तत् कर्म यथायुक्तं महत् कृतम् ।
सिद्धं च पाण्डुपुत्राणां प्रतापेन महात्मनाम् ॥ २७ ॥

वासुदेव श्रीकृष्णने जैसा महान् अनुचित कर्म किया था वह महामना पाण्डवोंके प्रतापसे सफल हो गया ॥ २७ ॥

तथा हि रत्नान्यादाय विविधानि नृपा नृपम् ।
उपातिष्ठन्त कौन्तेयं वैश्या इव करप्रदाः ॥ २८ ॥

जैसे कर देनेवाले व्यापारी वैश्य नाना प्रकारके रत्नोंकी भेंट लेकर राजाकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार सब राजा अनेक प्रकारके उत्तम रत्न लेकर राजा युधिष्ठिरकी सेवामें उपस्थित हुए थे ॥ २८ ॥

श्रियं तथाऽऽगतां दृष्ट्वा ज्वलन्तीमिव पाण्डवे ।
अमर्षवशमापन्नो दह्यामि न तथोचितः ॥ २९ ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके समीप प्राप्त हुई उस प्रकाशमयी लक्ष्मीको देखकर मैं ईर्ष्यावश जल रहा हूँ । यद्यपि मेरी यह दुरवस्था उचित नहीं है ॥ २९ ॥

एवं स निश्चयं कृत्वा ततो वचनमब्रवीत्।
पुनर्गान्धारनृपतिं दह्यमान इवाग्निना ॥ ३० ॥

ऐसा निश्चय करके दुर्योधन चिन्ताकी आगसे दग्ध-सा होता हुआ पुनः गान्धारराज शकुनिसे बोला ॥ ३० ॥

वह्निमेव प्रवेक्ष्यामि भक्षयिष्यामि वा विषम्।
अपो वापि प्रवेक्ष्यामि न हि शक्ष्यामि जीवितुम्॥ ३१ ॥

मैं आगमें प्रवेश कर जाऊँगा, विष खा लूँगा अथवा जलमें डूब मरूँगा, अब मैं जीवित नहीं रह सकूँगा ॥ ३१ ॥

को हि नाम पुमाँल्लोके मर्षयिष्यति सत्त्ववान्।
सपत्नानृद्ध्यतो दृष्ट्वा हीनमात्मानमेव च ॥ ३२ ॥

संसारमें कौन ऐसा शक्तिशाली पुरुष होगा, जो शत्रुओंकी वृद्धि और अपनी हीन दशा होती देखकर भी चुपचाप सहन कर लेगा ॥ ३२ ॥

सोऽहं न स्त्री न चाप्यस्त्री न पुमान्नापुमानपि।
योऽहं तां मर्षयाम्यद्य तादृशीं श्रियमागताम् ॥ ३३ ॥

मैं इस समय न तो स्त्री हूँ, न अस्त्रबलसे सम्पन्न हूँ, न पुरुष हूँ और न नपुंसक ही हूँ, तो भी अपने शत्रुओंके पास आयी हुई वैसी उत्कृष्ट सम्पत्तिको देखकर भी चुपचाप सहन कर रहा हूँ ! ॥ ३३ ॥

ईश्वरत्वं पृथिव्याश्च वसुमत्तां च तादृशीम्।
यज्ञं च तादृशं दृष्ट्वा मादृशः को न संज्वरेत् ॥ ३४ ॥

शत्रुओंके पास समस्त भूमण्डलका वह साम्राज्य, वैसी धन-रत्नोंसे भरी सम्पदा और उनका वैसा उत्कृष्ट राजसूययज्ञ देखकर मेरे-जैसा कौन पुरुष चिन्तित न होगा ! ॥ ३४ ॥

अशक्तश्चैक एवाहं तामाहर्तुं नृपश्रियम्।
सहायांश्च न पश्यामि तेन मृत्युं विचिन्तये ॥ ३५ ॥

मैं अकेला उस राजलक्ष्मीको हड़प लेनेमें असमर्थ हूँ और अपने पास योग्य सहायक नहीं देखता हूँ, इसीलिये मृत्युका चिन्तन करता हूँ ॥ ३५ ॥

दैवमेव परं मन्ये पौरुषं च निरर्थकम्।
दृष्ट्वा कुन्तीसुते शुद्धां श्रियं तामहतां तथा ॥ ३६ ॥

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके पास उस अक्षय विशुद्ध लक्ष्मीका संचय देख मैं दैवको ही प्रबल मानता हूँ, पुरुषार्थ तो निरर्थक जान पड़ता है ॥ ३६ ॥

कृतो यत्नो मया पूर्वं विनाशे तस्य सौबल।
तच्च सर्वमतिक्रम्य संवृद्धोऽप्स्विव पङ्कजम् ॥ ३७ ॥

सुबलपुत्र ! मैंने पहले धर्मराज युधिष्ठिरको नष्ट कर देनेका प्रयत्न किया था, किंतु उन सारे संकटोंको लाँघ करके वे जलमें कमलकी भाँति उत्तरोत्तर बढ़ते गये ॥३७॥

तेन दैवं परं मन्ये पौरुषं च निरर्थकम्।
धार्तराष्ट्राश्च हीयन्ते पार्था वर्धन्ति नित्यशः ॥ ३८ ॥

इसीसे मैं दैवको उत्तम मानता हूँ और पुरुषार्थको निरर्थक; क्योंकि हम धृतराष्ट्रपुत्र हानि उठा रहे हैं और ये कुन्तीके पुत्र प्रतिदिन उन्नति करते जा रहे हैं ॥ ३८ ॥

सोऽहं श्रियं च तां दृष्ट्वा सभां तां च तथाविधाम्।
रक्षिभिश्चावहासं तं परितप्ये यथाग्निना ॥ ३९ ॥

मैं उस राजलक्ष्मीको, उस दिव्य सभाको तथा रक्षकोंद्वारा किये गये अपने उपहासको देखकर निरन्तर संतप्त हो रहा हूँ मानो आगमें जलता होऊँ ॥ ३९ ॥

स मामभ्यनुजानीहि मातुलाद्य सुदुःखितम्।
अमर्षं च समाविष्टं धृतराष्ट्रे निवेदय ॥ ४० ॥

मामाजी! अब मुझे (मरनेके लिये) आज्ञा दीजिये, क्योंकि मैं बहुत दुखी हूँ और ईर्ष्याकी आगमें जल रहा हूँ। महाराज धृतराष्ट्रको मेरी यह अवस्था सूचित कर दीजियेगा ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

पाण्डवोंपर विजय प्राप्त करनेके लिये शकुनि और दुर्योधनकी बातचीत

शकुनिरुवाच

दुर्योधन न तेऽमर्षः कार्यः प्रति युधिष्ठिरम्।
भागधेयानि हि स्वानि पाण्डवा भुञ्जते सदा ॥ १ ॥
विधानं विविधाकारं परं तेषां विधानतः।
अनेकैरभ्युपायैश्च त्वया न शकिताः पुरा ॥ २ ॥

शकुनि बोला—दुर्योधन ! तुम्हें युधिष्ठिरके प्रति ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये; क्योंकि पाण्डव सदा अपने भाग्यका ही उपभोग करते आ रहे हैं। तुमने उन्हें वशमें लानेके लिये अनेक प्रकारके उपायोंका अवलम्बन किया, परंतु उनके द्वारा तुम उन्हें अपने अधीन न कर सके ॥ १-२ ॥

आरब्धाश्च महाराज पुनः पुनररिंदम।
विमुक्ताश्च नरव्याघ्रा भागधेयपुरस्कृताः ॥ ३ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले महाराज ! तुमने बार-बार पाण्डवोंपर कुचक्र चलाये, परंतु वे नरश्रेष्ठ अपने भाग्यसे

उन सभी संकटोंसे छुटकारा पाते गये ॥ ३ ॥

तैर्लब्धा द्रौपदी भार्या द्रुपदश्च सुतैः सह।
सहायः पृथिवीलाभे वासुदेवश्च वीर्यवान्॥ ४॥

उन पाँचोंने पत्नीरूपमें द्रौपदीको तथा पुत्रोंसहित राजा द्रुपद एवं सम्पूर्ण पृथ्वीकी प्राप्तिमें कारण महापराक्रमी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको सहायकरूपमें प्राप्त किया है ॥ ४ ॥

(अजितः सोऽपि सर्वैर्हि सदेवासुरमानुषैः।
तत्तेजसा प्रवृद्धोऽसौ तत्र का परिदेवना॥)

श्रीकृष्णको सब देवता, असुर और मनुष्य मिलकर भी जीत नहीं सकते। उन्हींके तेजसे राजा युधिष्ठिरकी उन्नति हुई है; इसके लिये शोक करनेकी क्या बात है ? ॥

लब्धश्चानभिभूतार्थैः पित्र्योंऽशः पृथिवीपते।
विवृद्धस्तेजसा तेषां तत्र का परिदेवना॥ ५॥

पृथ्वीपते! पाण्डवोंने अपने उद्देश्यसे विचलित न होकर निरन्तर प्रयत्न करके राज्यमें अपना पैतृक अंश प्राप्त किया है और वह पैतृक सम्पत्ति आज उन्हींके तेजसे बहुत बढ़ गयी है, अतः उसके लिये चिन्ता करनेकी क्या आवश्यकता है ? ॥ ५ ॥

धनंजयेन गाण्डीवमक्षय्यौ च महेषुधी।
लब्धान्यस्त्राणि दिव्यानि तोषयित्वा हुताशनम्॥ ६॥
तेन कार्मुकमुख्येन बाहुवीर्येण चात्मनः।
कृता वशे महीपालास्तत्र का परिदेवना॥ ७॥

अर्जुनने अग्निदेवको संतुष्ट करके गाण्डीव धनुष, अक्षय तरकस तथा कितने ही दिव्य अस्त्र प्राप्त किये हैं। उस श्रेष्ठ धनुषके द्वारा तथा अपनी भुजाओंके बलसे उन्होंने समस्त राजाओंको वशमें किया है, अतः इसके लिये शोककी क्या आवश्यकता है ? ॥ ६-७ ॥

अग्निदाहान्मयं चापि मोक्षयित्वा स दानवम्।
सभां तां कारयामास सव्यसाची परंतपः॥ ८॥

सव्यसाची परंतप अर्जुनने मय दानवको आगमें जलनेसे बचाया और उसीके द्वारा उस दिव्य सभाका निर्माण कराया ॥ ८ ॥

तेन चैव मयेनोक्ताः किंकरा नाम राक्षसाः।
वहन्ति तां सभां भीमास्तत्र का परिदेवना॥ ९॥
यच्चासहायतां राजन्नुक्तवानसि भारत।
तन्मिथ्या भ्रातरो हीमे तव सर्वे वशानुगाः॥ १०॥

उस मयके ही कहनेसे किंकरनामधारी भयंकर राक्षसगण उस सभाको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाते हैं। अतः इसके लिये भी शोक-संताप क्यों किया जाय ? भारत! तुमने जो अपनेको असहाय बताया है, वह मिथ्या है; क्योंकि तुम्हारे ये सब भाई तुम्हारी आज्ञाके अधीन हैं ॥ ९-१० ॥

द्रोणस्तव महेष्वासः सह पुत्रेण वीर्यवान्।
सूतपुत्रश्च राधेयो गौतमश्च महारथः॥ ११॥
अहं च सह सोदर्यैः सौमदत्तिश्च पार्थिवः।
एतैस्त्वं सहितः सर्वैर्जय कृत्स्नां वसुन्धराम्॥ १२॥

महान् धनुर्धर और पराक्रमी द्रोणाचार्य अपने पुत्र अश्वत्थामाके साथ तुम्हारी सहायताके लिये उद्यत हैं। राधानन्दन सूतपुत्र कर्ण, महारथी कृपाचार्य, भाइयोंसहित मैं तथा राजा भूरिश्रवा—इन सबके साथ तुम भी सारी पृथ्वीपर विजय प्राप्त करो ॥ ११-१२ ॥

दुर्योधन उवाच

त्वया च सहितो राजन्नेतैश्चान्यैर्महारथैः।
एतानेव विजेष्यामि यदि त्वमनुमन्यसे॥ १३॥
एतेषु विजितेष्वद्य भविष्यति मही मम।
सर्वे च पृथिवीपालाः सभा सा च महाधना॥ १४॥

दुर्योधनने कहा—राजन्! यदि तुम्हारी अनुमति हो, तो तुम्हारे और इन द्रोण आदि अन्य महारथियोंके साथ इन पाण्डवोंको ही युद्धमें जीत लूँ। इनके पराजित हो जानेपर अभी यह सारी पृथ्वी, समस्त भूपाल और वह महाधन-सम्पन्न सभा भी हमारे अधीन हो जायगी ॥ १३-१४ ॥

शकुनिरुवाच

धनंजयो वासुदेवो भीमसेनो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च द्रुपदश्च सहात्मजैः॥ १५॥
नैते युधि पराजेतुं शक्या देवगणैरपि।
महारथा महेष्वासाः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः॥ १६॥

शकुनि बोला—राजन्! अर्जुन, श्रीकृष्ण, भीमसेन, युधिष्ठिर, नकुल,सहदेव तथा पुत्रोंसहित द्रुपद—इन्हें देवता भी युद्धमें परास्त नहीं कर सकते। ये सब-के-सब महारथी, महान् धनुर्धर, अस्त्रविद्यामें निपुण तथा युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले हैं ॥ १५-१६ ॥

अहं तु तद् विजानामि विजेतुं येन शक्यते।
युधिष्ठिरं स्वयं राजंस्तन्निबोध जुषस्व च॥ १७॥

राजन्! मैं वह उपाय जानता हूँ, जिससे युधिष्ठिर स्वयं पराजित हो सकते हैं। तुम उसे सुनो और उसका सेवन करो ॥ १७ ॥

दुर्योधन उवाच

अप्रमादेन सुहृदामन्येषां च महात्मनाम्।
यदि शक्या विजेतुं ते तन्ममाचक्ष्व मातुल॥ १८॥

दुर्योधनने कहा—मामाजी! यदि मेरे सगे-सम्बन्धियों तथा अन्य महात्माओंकी सतत सावधानीसे किसी उपायद्वारा पाण्डवोंको जीता जा सके तो वह मुझे बताइये ॥ १८ ॥

शकुनिरुवाच

द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न स जानाति देवितुम्।
समाहूतश्च राजेन्द्रो न शक्ष्यति निवर्तितुम् ॥ १९ ॥

शकुनि बोला—राजन्! कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको जूएका खेल बहुत प्रिय है, किंतु वे उसे खेलना नहीं जानते। यदि महाराज युधिष्ठिरको द्यूतक्रीडाके लिये बुलाया जाय तो वे पीछे नहीं हट सकेंगे ॥ १९ ॥

देवने कुशलश्चाहं न मेऽस्ति सदृशो भुवि।
त्रिषु लोकेषु कौरव्य तं त्वं द्यूते समाह्वय ॥ २० ॥

मैं जूआ खेलनेमें बहुत निपुण हूँ। इस कलामें मेरी समानता करनेवाला पृथ्वीपर दूसरा कोई नहीं है। केवल यहीं नहीं, तीनों लोकोंमें मेरे-जैसा द्यूतविद्याका जानकार नहीं है। अतः कुरुनन्दन! तुम द्यूतक्रीड़ाके लिये युधिष्ठिरको बुलाओ ॥ २० ॥

तस्याक्षकुशलो राजन्नादास्येऽहमसंशयम्।
राज्यं श्रियं च तां दीप्तां त्वदर्थं पुरुषर्षभ ॥ २१ ॥

नरश्रेष्ठ! मैं पाशा फेंकनेमें कुशल हूँ; अतः युधिष्ठिरके राज्य तथा देदीप्यमान राजलक्ष्मीको तुम्हारे लिये अवश्य प्राप्त कर लूँगा, इसमें संशय नहीं है ॥ २१ ॥

इदं तु सर्वं त्वं राज्ञे दुर्योधन निवेदय।
अनुज्ञातस्तु ते पित्रा विजेष्ये तान् न संशयः ॥ २२ ॥

दुर्योधन! तुम ये सारी बातें पिताजीसे कहो। उनकी आज्ञा मिल जानेपर मैं निःसंदेह पाण्डवोंको जीत लूँगा।२२।

दुर्योधन उवाच

त्वमेव कुरुमुख्याय धृतराष्ट्राय सौबल।
निवेदय यथान्यायं नाहं शक्ष्ये निवेदितुम् ॥ २३ ॥

दुर्योधनने कहा—सुबलनन्दन! आप ही कुरुकुलके प्रधान महाराज धृतराष्ट्रसे इन सब बातोंको यथोचित रूपसे कहिये। मैं स्वयं कुछ नहीं कह सकूँगा ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके पूछनेपर दुर्योधनका अपनी चिन्ता बताना और द्यूतके लिये धृतराष्ट्रसे अनुरोध करना एवं धृतराष्ट्रका विदुरको इन्द्रप्रस्थ जानेका आदेश

वैशम्पायन उवाच

अनुभूय तु राज्ञस्तं राजसूयं महाक्रतुम्।
युधिष्ठिरस्य नृपतेर्गान्धारीपुत्रसंयुतः ॥ १ ॥
प्रियकृन्मतमाज्ञाय पूर्वं दुर्योधनस्य तत्।
प्रज्ञाचक्षुषमासीनं शकुनिः सौबलस्तदा ॥ २ ॥
दुर्योधनवचः श्रुत्वा धृतराष्ट्रं जनाधिपम्।
उपगम्य महाप्राज्ञं शकुनिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! गान्धारीपुत्र दुर्योधनके सहित सुबलनन्दन शकुनि राजा युधिष्ठिरके राजसूय महायज्ञका उत्सव देखकर जब लौटा, तब पहले दुर्योधनके अपने अनुकूल मतको जानकर और उसकी पूरी बातें सुनकर सिंहासनपर बैठे हुए प्रज्ञाचक्षु महाप्राज्ञ राजा धृतराष्ट्रके पास जाकर इस प्रकार बोला ॥ १—३ ॥

शकुनिरुवाच

दुर्योधनो महाराज विवर्णो हरिणः कृशः।
दीनश्चिन्तापरश्चैव तं विद्धि मनुजाधिप ॥ ४ ॥

शकुनिने कहा—महाराज! दुर्योधनकी कान्ति फीकी पड़ती जा रही है। वह सफेद और दुर्बल हो गया है। उसकी बड़ी दयनीय दशा है। वह निरन्तर चिन्तामें डूबा रहता है। नरेश्वर! उसके मनोभावको समझिये ॥ ४ ॥

न वै परीक्षसे सम्यगसह्यं शत्रुसम्भवम्।
ज्येष्ठपुत्रस्य हृच्छोकं किमर्थं नावबुध्यसे ॥ ५ ॥

उसे शत्रुओंकी ओरसे कोई असह्य कष्ट प्राप्त हुआ है। आप उसकी अच्छी तरह परीक्षा क्यों नहीं करते? दुर्योधन आपका ज्येष्ठ पुत्र है। उसके हृदयमें महान् शोक व्याप्त है। आप उसका पता क्यों नहीं लगाते? ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन कुतोमूलं भृशमार्तोऽसि पुत्रक।
श्रोतव्यश्चेन्मया सोऽर्थो ब्रूहि मे कुरुनन्दन ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र दुर्योधनके पास जाकर बोले—बेटा दुर्योधन! तुम्हारे दुःखका कारण क्या है? सुना है, तुम बड़े कष्टमें हो। कुरुनन्दन! यदि मेरे सुनने योग्य हो तो वह बात मुझे बताओ ॥ ६ ॥

अयं त्वां शकुनिः प्राह विवर्णं हरिणं कृशम्।
चिन्तयंश्च न पश्यामि शोकस्य तव सम्भवम् ॥ ७ ॥

यह शकुनि कहता है कि तुम्हारी कान्ति फीकी पड़ गयी है। तुम सफेद और दुबले हो गये हो; परंतु मैं बहुत सोचनेपर भी तुम्हारे शोकका कोई कारण नहीं देखता ॥ ७ ॥

ऐश्वर्यं हि महत् पुत्र त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
भ्रातरः सुहृदश्चैव नाचरन्ति तवाप्रियम् ॥ ८ ॥

बेटा ! इस सम्पूर्ण महान् ऐश्वर्यका भार तुम्हारे ही ऊपर है । तुम्हारे भाई और सुहृद् कभी तुम्हारे प्रतिकूल आचरण नहीं करते ॥ ८ ॥

आच्छादयसि प्रावारानश्नासि पिशितौदनम् ।
आजानेया वहन्त्यश्वाः केनासि हरिणः कृशः ॥ ९ ॥

तुम बहुमूल्य वस्त्र ओढ़ते-पहनते हो, बढ़िया विशुद्ध भात खाते हो तथा अच्छी जातिके घोड़े तुम्हारी सवारीमें रहते हैं; फिर किस दुःखसे तुम सफेद और दुबले हो गये हो ? ॥ ९ ॥

शयनानि महार्हाणि योषितश्च मनोरमाः ।
गुणवन्ति च वेश्मानि विहाराश्च यथासुखम् ॥ १० ॥
देवानामिव ते सर्वं वाचि बद्धं न संशयः ।
स दीन इव दुर्धर्ष कस्माच्छोचसि पुत्रक ॥ ११ ॥

बहुमूल्य शय्याएँ, मनको प्रिय लगनेवाली युवतियाँ, सभी ऋतुओंमें लाभदायक भवन और इच्छानुसार सुख देनेवाले विहारस्थान—देवताओंकी भाँति ये सभी वस्तुएँ निःसंदेह तुम्हें वाणीद्वारा कहनेमात्रसे सुलभ हैं । मेरे दुर्द्धर्ष पुत्र ! फिर तुम दीनकी भाँति क्यों शोक करते हो ? ॥ १०-११ ॥

(उपस्थितः सर्वकामैस्त्रिदिवे वासवो यथा ।
विविधैरन्नपानैश्च प्रवरैः किं नु शोचसि ॥

जैसे स्वर्गमें इन्द्रको सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोग सुलभ हैं, उसी प्रकार समस्त अभिलषित भोग और खाने-पीनेकी विविध उत्तम वस्तुएँ तुम्हारे लिये सदा प्रस्तुत हैं । फिर तुम किसलिये शोक करते हो ? ॥

निरुक्तं निगमं छन्दः सषडङ्गार्थशास्त्रवान् ।
अधीतः कृतविद्यस्त्वमष्टव्याकरणैः कृपात् ॥

तुमने कृपाचार्यसे निरुक्त, निगम, छन्द, वेदके छहों अङ्ग, अर्थशास्त्र तथा आठ प्रकारके व्याकरणशास्त्रोंका अध्ययन किया है ॥

हलायुधात् कृपाद् द्रोणादस्त्रविद्यामधीतवान् ।
प्रभुस्त्वं भुञ्जसे पुत्र संस्तुतः सूतमागधैः ॥
तस्य ते विदितप्रज्ञ शोकमूलमिदं कथम् ।
लोकेऽस्मिञ्ज्येष्ठभागी त्वं तन्ममाचक्ष्व पुत्रक ॥

हलायुध, कृपाचार्य तथा द्रोणाचार्यसे तुमने अस्त्रविद्या सीखी है । बेटा ! तुम इस राज्यके स्वामी होकर इच्छानुसार सब वस्तुओंका उपभोग करते हो । सूत और मागध सदा तुम्हारी स्तुति करते रहते हैं । तुम्हारी बुद्धिकी प्रखरता प्रसिद्ध है । तुम इस जगत्में ज्येष्ठ पुत्रके लिये सुलभ समस्त राजोचित सुखोंके भागी हो । फिर भी तुम्हें कैसे चिन्ता हो रही है ? बेटा ! तुम्हारे इस शोकका कारण क्या है ? यह मुझे बताओ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा मन्दः क्रोधवशानुगः ।
पितरं प्रत्युवाचेदं स्वमतिं सम्प्रकाशयन् ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—पिताका यह कथन सुनकर क्रोधके वशीभूत हुए मूढ़ दुर्योधनने उन्हें अपना विचार बताते हुए इस प्रकार उत्तर दिया ॥

दुर्योधन उवाच

अश्नाम्याच्छादये चाहं यथा कुपुरुषस्तथा ।
अमर्षं धारये चोग्रं निनीषुः कालपर्ययम् ॥ १२ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! मैं अच्छा खाता-पहनता तो हूँ, परंतु कायरोंकी भाँति । मैं समयके परिवर्तनकी प्रतीक्षामें रहकर अपने हृदयमें भारी ईर्ष्या धारण करता हूँ ॥ १२ ॥

अमर्षणः स्वाः प्रकृतीरभिभूय परं स्थितः ।
क्लेशान् मुमुक्षुः परजान् स वै पुरुष उच्यते ॥ १३ ॥

जो शत्रुओंके प्रति अमर्ष रख उन्हें पराजित करके विश्राम लेता है और अपनी प्रजाको शत्रुजनित क्लेशसे छुड़ानेकी इच्छा करता है, वही पुरुष कहलाता है ॥ १३ ॥

संतोषो वै श्रियं हन्ति ह्यभिमानं च भारत ।
अनुक्रोशभये चोभे यैर्वृतो नाश्नुते महत् ॥ १४ ॥

भारत ! संतोष लक्ष्मी और अभिमानका नाश कर देता है । दया और भय—ये दोनों भी वैसे ही हैं । इन (संतोषादि) से युक्त मनुष्य कभी ऊँचा पद नहीं पा सकता ॥ १४ ॥

न मां प्रीणाति मद्भुक्तं श्रियं दृष्ट्वा युधिष्ठिरे ।
अति ज्वलन्तीं कौन्तेये विवर्णकरणीं मम ॥ १५ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी वह अत्यन्त प्रकाशमान राजलक्ष्मी देखकर मुझे भोजन अच्छा नहीं लगता । वही मेरी कान्तिको नष्ट करनेवाली है ॥ १५ ॥

सपत्नानृध्यतोऽऽत्मानं हीयमानं निशम्य च ।
अदृश्यामपि कौन्तेयश्रियं पश्यन्निवोद्यताम् ॥ १६ ॥
तस्मादहं विवर्णश्च दीनश्च हरिणः कृशः ।

शत्रुओंको बढ़ते और अपनेको हीन दशामें जाते देख तथा युधिष्ठिरकी उस अदृश्य लक्ष्मीपर भी प्रत्यक्षकी भाँति दृष्टिपात करके मैं चिन्तित हो उठा हूँ । यही कारण है कि मेरी कान्ति फीकी पड़ गयी है तथा मैं दीन, दुर्बल और सफेद हो गया हूँ ॥ १६½ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ॥ १७ ॥
त्रिंशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ।

राजा युधिष्ठिर अपने घरमें बसनेवाले अट्ठासी हजार

स्नातकोंका भरण-पोषण करते हैं । उनमेंसे प्रत्येककी सेवाके लिये तीस-तीस दासियाँ प्रस्तुत रहती हैं ॥ १७½ ॥

दशान्यानि सहस्राणि नित्यं तत्रान्नमुत्तमम् ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ॥ १८ ॥

इसके सिवा युधिष्ठिरके महलमें दस हजार अन्य ब्राह्मण प्रतिदिन सोनेकी थालियोंमें भोजन करते हैं ॥ १८ ॥

कदलीमृगमोकानि कृष्णश्यामारुणानि च ।
काम्बोजः प्राहिणोत् तस्मै परार्ध्यानपि कम्बलान् ।

काम्बोजराजने काले, नीले और लाल रंगके कदलीमृगके चर्म तथा अनेक बहुमूल्य कम्बल युधिष्ठिरके लिये भेंटमें भेजे थे ॥ १८½ ॥

गजयोषिद्गवाश्वस्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १९ ॥
त्रिंशतं चोष्ट्रवामीनां शतानि विचरन्त्युत ।
राजन्या बलिमादाय समेता हि नृपक्षये ॥ २० ॥

उन्हींकी भेजी हुई सैकड़ों हथिनियाँ, सहस्रों गायें और घोड़े तथा तीस-तीस हजार ऊँट और घोड़ियाँ वहाँ विचरती थीं । सभी राजालोग भेंट लेकर युधिष्ठिरके भवनमें एकत्र हुए थे ॥ १९-२० ॥

पृथग्विधानि रत्नानि पार्थिवाः पृथिवीपते ।
आहरन् क्रतुमुख्येऽस्मिन् कुन्तीपुत्राय भूरिशः॥ २१ ॥

पृथ्वीपते ! उस महान् यज्ञमें भूपालगण कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके लिये भाँति-भाँतिके बहुत-से रत्न लाये थे ॥२१॥

न क्वचिद्धि मया तादृग् दृष्टपूर्वो न च श्रुतः ।
यादृग् धनागमो यज्ञे पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ॥ २२ ॥

बुद्धिमान् पाण्डुकुमार युधिष्ठिरके यज्ञमें धनकी जैसी प्राप्ति हुई है, वैसी मैंने पहले कहीं न तो देखी है और न सुनी ही है ॥ २२ ॥

अपर्यन्तं धनौघं तं दृष्ट्वा शत्रोरहं नृप ।
शमं नैवाभिगच्छामि चिन्तयानो विशाम्पते ॥ २३ ॥

महाराज ! शत्रुकी वह अनन्त धनराशि देखकर मैं चिन्तित हो रहा हूँ; मुझे चैन नहीं मिलता ॥ २३ ॥

ब्राह्मणा वाटधानाश्च गोमन्तः शतसङ्घशः ।
त्रिखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ २४ ॥

ब्राह्मणलोग तथा हरी-भरी खेती उपजाकर जीवन-निर्वाह करनेवाले और बहुत-से गाय-बैल रखनेवाले वैश्य सैकड़ों दलोंमें इकट्ठे होकर तीन खर्व भेंट लेकर राजाके द्वार-पर रोके हुए खड़े थे ॥ २४ ॥

कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयाञ्छुभान् ।
एतद् धनं समादाय प्रवेशं लेभिरे न च ॥ २५ ॥

वे सब लोग सोनेके सुन्दर कलश और इतना धन लेकर आये थे, तो भी वे सभी राजद्वारमें प्रवेश नहीं कर पाते थे अर्थात् उनमेंसे कोई-कोई ही प्रवेश कर पाते थे ॥

यथैव मधु शक्राय धारयन्त्यमरस्त्रियः ।
तदस्मै कांस्यमाहार्षीद् वारुणं कलशोदधिः ॥ २६ ॥

देवाङ्गनाएँ इन्द्रके लिये कलशोंमें जैसा मधु लिये रहती हैं, वैसा ही वरुणदेवताका दिया हुआ और काँसके पात्रमें रक्खा हुआ मधु समुद्रने युधिष्ठिरके लिये उपहारमें भेजा था ॥ २६ ॥

शैक्यं रुक्मसहस्रस्य बहुरत्नविभूषितम् ।
शङ्खप्रवरमादाय वासुदेवोऽभिषिक्तवान् ॥ २७ ॥

वहाँ छींकेपर रखकर लाया हुआ एक हजार स्वर्णमुद्राओंका बना हुआ कलश रक्खा था, जिसमें अनेक प्रकारके रत्न जड़े हुए थे । उस पात्रमें स्थित समुद्रजलको उत्तम शङ्खमें लेकर श्रीकृष्णने युधिष्ठिरका अभिषेक किया था ॥ २७ ॥

दृष्ट्वा च मम तत् सर्वं ज्वररूपमिवाभवत् ।
गृहीत्वा तत् तु गच्छन्ति समुद्रौ पूर्वदक्षिणौ ॥ २८ ॥
तथैव पश्चिमं यान्ति गृहीत्वा भरतर्षभ ।
उत्तरं तु न गच्छन्ति विना तात पतत्रिणः ॥ २९ ॥
तत्र गत्वार्जुनो दण्डमाजहारामितं धनम् ।

तात ! वह सब देखकर मुझे ज्वर-सा आ गया । भरतश्रेष्ठ ! वैसे ही सुवर्णकलशोंको लेकर पाण्डवलोग जल लानेके लिये पूर्व, दक्षिण, पश्चिम समुद्रतट तो जाया करते थे, किंतु सुना जाता है कि उत्तर समुद्रके समीप, जहाँ पक्षियोंके सिवा मनुष्य नहीं जा सकते, वहाँ भी जाकर अर्जुन अपार धन करके रूपमें वसूल कर लाये ॥२८-२९½ ॥

इदं चाद्भुतमत्रासीत् तन्मे निगदतः शृणु ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें एक यह अद्भुत बात और भी हुई थी, वह मैं बताता हूँ, सुनिये ॥ ३० ॥

पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां परिविष्यताम् ।
स्थापिता तत्र संज्ञाभूच्छङ्खो ध्मायति नित्यशः ॥ ३१ ॥

जब एक लाख ब्राह्मणोंको रसोई परोस दी जाती, तब उसके लिये एक संकेत नियत किया गया था; प्रतिदिन लाखकी संख्या पूरी होते ही बड़े जोरसे शङ्ख बजाया जाता था ॥ ३१ ॥

मुहुर्मुहुः प्रणदतस्तस्य शङ्खस्य भारत ।
अनिशं शब्दमश्रौषं ततो रोमाणि मेऽहृषन् ॥ ३२ ॥

भारत ! ऐसा शङ्ख वहाँ बार-बार बजता था और मैं निरन्तर उस शङ्ख-ध्वनिको सुना करता था; इससे मेरे शरीरमें रोमाञ्च हो आता था ॥ ३२ ॥

पार्थिवैर्बहुभिः कीर्णमुपस्थानं दिदृक्षुभिः ।
अशोभत महाराज नक्षत्रैर्द्यौरिवामला ॥ ३३ ॥

महाराज ! वहाँ यज्ञ देखनेके लिये आये हुए बहुत-से राजाओंद्वारा भरी हुई यज्ञमण्डपकी बैठक ताराओंसे व्याप्त हुए निर्मल आकाशकी भाँति शोभा पाती थी ॥ ३३ ॥

सर्वरत्नान्युपादाय पार्थिवा वै जनेश्वर ।
यज्ञे तस्य महाराज पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ॥ ३४ ॥

जनेश्वर ! बुद्धिमान् पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके उस यज्ञमें भूपालगण सब रत्नोंकी भेंट लेकर आये थे ॥ ३४ ॥

वैश्या इव महीपाला द्विजातिपरिवेषकाः ।
न सा श्रीर्देवराजस्य यमस्य वरुणस्य च ।
गुह्यकाधिपतेर्वापि या श्री राजन् युधिष्ठिरे ॥ ३५ ॥

राजालोग वैश्योंकी भाँति ब्राह्मणोंको भोजन परोसते थे । राजा युधिष्ठिरके पास जो लक्ष्मी है, वह देवराज इन्द्र, यम, वरुण अथवा यक्षराज कुबेरके पास भी नहीं होगी ॥

तां दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रस्य श्रियं परमिकामहम् ।
शान्तिं न परिगच्छामि दह्यमानेन चेतसा ॥ ३६ ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी उस उत्कृष्ट लक्ष्मीको देखकर मेरे हृदयमें जलन पैदा हो गयी है; अतः मुझे क्षणभर भी शान्ति नहीं मिलती ॥ ३६ ॥

(अप्राप्य पाण्डवैश्वर्यं शमो मम न विद्यते ।
अवाप्स्ये वा रणं बाणैः शयिष्ये वा हतः परैः ॥
एतादृशस्य मे किं नु जीवितेन परंतप ।
वर्धन्ते पाण्डवा राजन् वयं हि स्थितवृद्धयः ॥)

पाण्डवोंका ऐश्वर्य यदि मुझे नहीं प्राप्त हुआ तो मेरे मनको शान्ति नहीं मिलेगी । या तो मैं बाणोंद्वारा रण भूमिमें उपस्थित होकर शत्रुओंकी सम्पत्तिपर अधिकार प्राप्त करूँगा या शत्रुओंद्वारा मारा जाकर संग्राममें सदाके लिये सो जाऊँगा । परंतप ! ऐसी स्थितिमें मेरे इस जीवनसे क्या लाभ ? पाण्डव दिनों-दिन बढ़ रहे हैं और हमारी उन्नति रुक गयी है ॥

शकुनिरुवाच

यामेतामतुलां लक्ष्मीं दृष्टवानसि पाण्डवे ।
तस्याः प्राप्तावुपायं मे शृणु सत्यपराक्रम ॥ ३७ ॥

शकुनिने दुर्योधनसे पुनः कहा—सत्यपराक्रमी दुर्योधन ! तुमने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके यहाँ जो अनुपम लक्ष्मी देखी है, उसकी प्राप्तिका उपाय मुझसे सुनो ॥ ३७ ॥

अहमक्षेष्वभिज्ञातः पृथिव्यामपि भारत ।
हृदयज्ञः पणज्ञश्च विशेषज्ञश्च देवने ॥ ३८ ॥

भारत ! मैं इस भूमण्डलमें द्यूतविद्याका विशेष जानकर हूँ, द्यूतिक्रीड़ाका मर्म जानता हूँ; दाव लगानेका भी मुझे ज्ञान है तथा पासे फेंकनेकी कलाका भी मैं विशेषज्ञ हूँ ॥ ३८ ॥

द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न च जानाति देवितुम् ।

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको जुआ खेलना बहुत प्रिय है, परंतु वे उसे खेलना जानते नहीं हैं ॥ ३८½ ॥

आहूतश्चैष्यति व्यक्तं द्यूतादपि रणादपि ॥ ३९ ॥

द्यूत अथवा युद्ध किसी भी उद्देश्यसे यदि उन्हें बुलाया जाय तो वे अवश्य पधारेंगे ॥ ३९ ॥

नियतं तं विजेष्यामि कृत्वा तु कपटं विभो ।
आनयामि समृद्धिं तां दिव्यां चोपाह्वयस्व तम् ॥ ४० ॥

प्रभो ! मैं छल करके युधिष्ठिरको निश्चय ही जीत लूँगा और उनकी उस दिव्य समृद्धिको यहाँ मँगा लूँगा; अतः तुम उन्हें बुलाओ ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः शकुनिना राजा दुर्योधनस्ततः ।
धृतराष्ट्रमिदं वाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ॥ ४१ ॥
अयमुत्सहते राजञ्छ्रियमाहर्तुमक्षवित् ।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रस्य तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शकुनिके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधनने तुरंत ही धृतराष्ट्रसे इस प्रकार कहा—'राजन् ! ये अक्षविद्याका मर्म जाननेवाले हैं और जूएके द्वारा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी राजलक्ष्मीका अपहरण कर लेनेका उत्साह रखते हैं; अतः इसके लिये इन्हें आज्ञा दीजिये' ॥ ४१-४२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

क्षत्ता मन्त्री महाप्राज्ञः स्थितो यस्यास्मि शासने ।
तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्यास्य विनिश्चयम् ॥ ४३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—महाबुद्धिमान् विदुर मेरे मन्त्री हैं, जिनके आदेशके अनुसार मैं चलता हूँ । उनसे मिलकर विचार करनेके पश्चात् मैं यह समझ सकूँगा कि इस कार्यके सम्बन्धमें क्या निश्चय किया जाय ॥ ४३ ॥

स हि धर्मं पुरस्कृत्य दीर्घदर्शी परं हितम् ।
उभयोः पक्षयोर्युक्तं वक्ष्यत्यर्थविनिश्चयम् ॥ ४४ ॥

विदुर दूरदर्शी हैं, वे धर्मको सामने रखकर दोनों पक्षोंके लिये उचित और परम हितकी बात सोचकर उसके अनुकूल ही कार्यका निश्चय बतायेंगे ॥ ४४ ॥

दुर्योधन उवाच

निवर्तयिष्यति त्वासौ यदि क्षत्ता समेष्यति ।
निवृत्ते त्वयि राजेन्द्र मरिष्येऽहमसंशयम् ॥ ४५ ॥

दुर्योधनने कहा—विदुरजी जब आपसे मिलेंगे, तब अवश्य ही आपको इस कार्यसे निवृत्त कर देंगे । राजेन्द्र ! यदि आपने इस कार्यसे मुँह मोड़ लिया तो मैं निःसंदेह प्राण त्याग दूँगा ॥ ४५ ॥

स त्वं मयि मृते राजन् विदुरेण सुखी भव।
भोक्ष्यसे पृथिवीं कृत्स्नां किं मया त्वं करिष्यसि॥ ४६॥

राजन्! मेरी मृत्यु हो जानेपर आप विदुरके साथ सुखसे रहियेगा और सारी पृथ्वीका राज्य भोगियेगा। मेरे जीवित रहनेसे आप क्या प्रयोजन सिद्ध करेंगे? ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच

आर्तवाक्यं तु तत् तस्य प्रणयोक्तं निशम्य सः।
धृतराष्ट्रोऽब्रवीत् प्रेष्यान् दुर्योधनमते स्थितः॥ ४७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने पुत्रका यह प्रेमपूर्ण आर्त वचन सुनकर राजा धृतराष्ट्र दुर्योधनके मतमें आ गये और सेवकोंसे इस प्रकार बोले—॥ ४७ ॥

स्थूणासहस्रैर्बृहतीं शतद्वारां सभां मम।
मनोरमां दर्शनीयामाशु कुर्वन्तु शिल्पिनः॥ ४८॥

'बहुत-से शिल्पी लगकर एक परम सुन्दर दर्शनीय एवं विशाल सभाभवनका शीघ्र निर्माण करें। उसमें सौ दरवाजे हों और एक हजार खंभे लगे हुए हों ॥ ४८ ॥

ततः संस्तीर्य रत्नैस्तां तक्ष्ण आनाय्य सर्वशः।
सुकृतां सुप्रवेशां च निवेदयत मे शनैः॥ ४९॥

फिर सब देशोंसे बढ़ई बुलाकर उस सभाभवनके खंभों और दीवारोंमें रत्न जड़वा दिये जायँ। इस प्रकार वह सुन्दर एवं सुसज्जित सभाभवन जब सुखपूर्वक प्रवेशके योग्य हो जाय, तब धीरे-से मेरे पास आकर इसकी सूचना दो, ॥४९॥

दुर्योधनस्य शान्त्यर्थमिति निश्चित्य भूमिपः।
धृतराष्ट्रो महाराज प्राहिणोद् विदुराय वै॥ ५०॥

महाराज! दुर्योधनकी शान्तिके लिये ऐसा निश्चय करके राजा धृतराष्ट्रने विदुरके पास दूत भेजा ॥ ५० ॥

अपृष्ट्वा विदुरं स्वस्य नासीत् कश्चिद् विनिश्चयः।
द्यूते दोषांश्च जानन् स पुत्रस्नेहादकृष्यत॥ ५१॥

विदुरसे पूछे बिना उनका कोई भी निश्चय नहीं होता था। जूएके दोषोंको जानते हुए भी वे पुत्रस्नेहसे उसकी ओर आकृष्ट हो गये थे ॥ ५१ ॥

तच्छ्रुत्वा विदुरो धीमान् कलिद्वारमुपस्थितम्।
विनाशमुखमुत्पन्नं धृतराष्ट्रमुपाद्रवत्॥ ५२॥

बुद्धिमान् विदुर कलहके द्वाररूप जूएका अवसर उपस्थित हुआ सुनकर और विनाशका मुख प्रकट हुआ जान धृतराष्ट्रके पास दौड़े आये ॥ ५२ ॥

सोऽभिगम्य महात्मानं भ्राता भ्रातरमग्रजम्।
मूर्ध्ना प्रणम्य चरणाविदं वचनमब्रवीत्॥ ५३॥

विदुरने अपने श्रेष्ठ भ्राता महामना धृतराष्ट्रके पास जाकर उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा ॥ ५३ ॥

विदुर उवाच

नाभिनन्दामि ते राजन् व्यवसायमिमं प्रभो।
पुत्रैर्भेदो यथा न स्याद् द्यूतहेतोस्तथा कुरु॥ ५४॥

विदुर बोले—राजन्! मैं आपके इस निश्चयको पसंद नहीं करता। प्रभो! आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे, जूएके लिये आपके और पाण्डुके पुत्रोंमें भेदभाव न हो ॥५४॥

धृतराष्ट्र उवाच

क्षत्तः पुत्रेषु पुत्रैर्मे कलहो न भविष्यति।
यदि देवाः प्रसादं नः करिष्यन्ति न संशयः॥ ५५॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! यदि हमलोगोंपर देवताओंकी कृपा होगी तो मेरे पुत्रोंका पाण्डुपुत्रोंके साथ निःसंदेह कलह न होगा ॥ ५५ ॥

अशुभं वा शुभं वापि हितं वा यदि वाहितम्।
प्रवर्ततां सुहृद्द्यूतं दिष्टमेतन्न संशयः॥ ५६॥

अशुभ हो या शुभ, हितकर हो या अहितकर, सुहृदोंमें यह द्यूतक्रीड़ा प्रारम्भ होनी ही चाहिये। निःसंदेह यह भाग्यसे ही प्राप्त हुई है ॥ ५६ ॥

मयि संनिहिते द्रोणे भीष्मे त्वयि च भारत।
अनयो दैवविहितो न कथंचिद् भविष्यति॥ ५७॥

भारत! जब मैं, द्रोणाचार्य, भीष्मजी तथा तुम—ये सब लोग संनिकट रहेंगे, तब किसी प्रकार दैवविहित अन्याय नहीं होने पायगा ॥ ५७ ॥

गच्छ त्वं रथमास्थाय हयैर्वातसमैर्जवे।
खाण्डवप्रस्थमद्यैव समानय युधिष्ठिरम्॥ ५८॥

तुम वायुके समान वेगशाली घोड़ोंद्वारा जुते हुए रथपर बैठकर अभी खाण्डवप्रस्थको जाओ और युधिष्ठिरको बुला ले आओ ॥ ५८ ॥

न वाच्यो व्यवसायो मे विदुरैतद् ब्रवीमि ते।
दैवमेव परं मन्ये येनैतदुपपद्यते॥ ५९॥

विदुर! मेरा निश्चय तुम युधिष्ठिरसे न बताना; यह बात मैं तुमसे कहे देता हूँ। मैं दैवको भी प्रबल मानता हूँ, जिसकी प्रेरणासे यह द्यूतक्रीड़ाका आरम्भ होने जा रहा है ॥

इत्युक्तो विदुरो धीमान् नेदमस्तीति चिन्तयन्।
आपगेयं महाप्राज्ञमभ्यगच्छत् सुदुःखितः॥ ६०॥

धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर बुद्धिमान् विदुरजी यह सोचते हुए कि यह द्यूतक्रीड़ा अच्छी नहीं है, अत्यन्त दुखी हो महाज्ञानी गङ्गानन्दन भीष्मजीके पास गये ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ४९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७ श्लोक मिलाकर कुल ६७ श्लोक हैं)

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्रको अपने दुःख और चिन्ताका कारण बताना

जनमेजय उवाच

कथं समभवद् द्यूतं भ्रातॄणां तन्महात्ययम्।
यत्र तद् व्यसनं प्राप्तं पाण्डवैर्मे पितामहैः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने! भाइयोंमें वह महाविनाशकारी द्यूत किस प्रकार आरम्भ हुआ; जिसमें मेरे पितामह पाण्डवोंको उस महान् संकटका सामना करना पड़ा ? ॥ १ ॥

के च तत्र सभास्तारा राजानो ब्रह्मवित्तम।
के चैनमन्वमोदन्त के चैनं प्रत्यषेधयन् ॥ २ ॥

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे! वहाँ कौन-कौनसे राजा सभासद् थे ? किसने द्यूतक्रीडाका अनुमोदन किया और किसने निषेध ? ॥ २ ॥

विस्तरेणैतदिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज।
मूलं ह्येतद् विनाशस्य पृथिव्या द्विजसत्तम ॥ ३ ॥

ब्रह्मन्! मैं इस प्रसङ्गको आपके मुखसे विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। विप्रवर! यह द्यूत ही समस्त भूमण्डलके विनाशका मुख्य कारण है ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच

एवमुक्तस्ततो राज्ञा व्यासशिष्यः प्रतापवान्।
आचचक्षेऽथ यद् वृत्तं तत् सर्वं वेदतत्त्ववित् ॥ ४ ॥

सौति कहते हैं—राजाके इस प्रकार पूछनेपर व्यासजीके प्रतापी शिष्य वेदतत्त्वज्ञ वैशम्पायनजी वह सब प्रसङ्ग सुनाने लगे ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु मे विस्तरेणेमां कथां भारतसत्तम।
भूय एव महाराज यदि ते श्रवणे मतिः ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भरतवंशशिरोमणे! महाराज जनमेजय! यदि तुम्हारा मन यह सब सुननेमें लगता है तो पुनः विस्तारके साथ इस कथाको सुनो ॥ ५ ॥

विदुरस्य मतिं ज्ञात्वा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
दुर्योधनमिदं वाक्यमुवाच विजने पुनः ॥ ६ ॥

विदुरका विचार जानकर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने एकान्तमें दुर्योधनसे पुनः इस प्रकार कहा— ॥ ६ ॥

अलं द्यूतेन गान्धारे विदुरो न प्रशंसति।
न ह्यसौ सुमहाबुद्धिरहितं नो वदिष्यति ॥ ७ ॥

'गान्धारीनन्दन! जूएका खेल नहीं होना चाहिये, विदुर इसे अच्छा नहीं बताते हैं। महाबुद्धिमान् विदुर हमें कोई ऐसी सलाह नहीं देंगे, जिससे हमलोगोंका अहित होनेवाला हो ॥ ७ ॥

हितं हि परमं मन्ये विदुरो यत् प्रभाषते।
क्रियतां पुत्र तत् सर्वमेतन्मन्ये हितं तव ॥ ८ ॥

'विदुर जो कहते हैं, उसीको मैं अपना सर्वोत्तम हित मानता हूँ। बेटा! तुम भी वही सब करो। मेरी समझमें तुम्हारे लिये यही हितकर है ॥ ८ ॥

देवर्षिर्वासवगुरुर्देवराजाय धीमते।
यत् प्राह शास्त्रं भगवान् बृहस्पतिरुदारधीः।
तद् वेद विदुरः सर्वं सरहस्यं महाकविः ॥ ९ ॥
स्थितस्तु वचने तस्य सदाहमपि पुत्रक।
विदुरो वापि मेधावी कुरूणां प्रवरो मतः ॥ १० ॥
उद्धवो वा महाबुद्धिर्वृष्णीनामर्चितो नृप।
तदलं पुत्र द्यूतेन द्यूते भेदो हि दृश्यते ॥ ११ ॥

'उदार बुद्धिवाले इन्द्रगुरु देवर्षि भगवान् बृहस्पतिने परम बुद्धिमान् देवराज इन्द्रको जिस शास्त्रका उपदेश दिया था, वह सब उसके रहस्यसहित महाज्ञानी विदुर जानते हैं। बेटा! मैं भी सदा विदुरकी बात मानता हूँ। कुरुकुलमें सबसे श्रेष्ठ और मेधावी विदुर माने गये हैं तथा वृष्णिवंशमें पूजित उद्धवको परम बुद्धिमान् बताया गया है। अतः बेटा! जूआ खेलनेसे कोई लाभ नहीं है। जूएमें वैर-विरोधकी सम्भावना दिखायी देती है ॥ ९—११ ॥

भेदे विनाशो राज्यस्य तत् पुत्र परिवर्जय।
पित्रा मात्रा च पुत्रस्य यद् वै कार्यं परं स्मृतम् ॥ १२ ॥

'वैर-विरोध होनेसे राज्यका नाश हो जाता है, अतः पुत्र! जूएका आग्रह छोड़ दो। पिता-माताको चाहिये कि वे पुत्रको उत्तम कर्त्तव्यकी शिक्षा दें; इसीलिये मैंने ऐसा कहा है ॥ १२ ॥

प्राप्तस्त्वमसि तन्नाम पितृपैतामहं पदम्।
अधीतवान् कृती शास्त्रे लालितः सततं गृहे ॥ १३ ॥

'बेटा! तुम अपने बाप-दादोंके पदपर प्रतिष्ठित हो, तुमने वेदोंका स्वाध्याय किया है, शास्त्रोंकी विद्वत्ता प्राप्त की है और घरमें सदा तुम्हारा लालन-पालन हुआ है ॥ १३ ॥

भ्रातृज्येष्ठः स्थितो राज्ये विन्दसे किं न शोभनम्।
पृथग्जनैरलभ्यं यद् भोजनाच्छादनं परम् ॥ १४ ॥
तत् प्राप्तोऽसि महाबाहो कस्माच्छोचसि पुत्रक।
स्फीतं राष्ट्रं महाबाहो पितृपैतामहं महत् ॥ १५ ॥

'महाबाहो! तुम अपने भाइयोंमें बड़े हो, अतः राजाके पदपर स्थित हो, तुम्हें किस कल्याणमय वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती है ? दूसरे लोगोंके लिये जो अलभ्य है, वह उत्तम भोजन और

वस्त्र तुम्हें प्राप्त हैं । फिर तुम क्यों शोक करते हो । महाबाहो ! तुम्हारे बाप-दादोंका यह महान् राष्ट्र धन-धान्यसे सम्पन्न है ॥ १४-१५ ॥

नित्यमाज्ञापयन् भासि दिवि देवेश्वरो यथा ।
तस्य ते विदितप्रज्ञ शोकमूलमिदं कथम् ।
समुत्थितं दुःखकरं यन्मे शंसितुमर्हसि ॥ १६ ॥

'स्वर्गमें देवराज इन्द्रकी भाँति तुम इस लोकमें सदा सबपर शासन करते हुए शोभा पाते हो । तुम्हारी उत्तम बुद्धि प्रसिद्ध है । फिर तुम्हें शोकको कारणभूत यह दुःखदायिनी चिन्ता कैसे प्राप्त हुई है । यह मुझसे बताओ' ॥ १६ ॥

दुर्योधन उवाच

अश्नाम्याच्छादयामीति प्रपश्यन् पापपूरुषः ।
नामर्षं कुरुते यस्तु पुरुषः सोऽधमः स्मृतः ॥ १७ ॥

दुर्योधन बोला—मैं अच्छा खाता हूँ और अच्छा पहिनता हूँ, इतना ही देखते हुए जो पापी पुरुष शत्रुओंके प्रति ईर्ष्या नहीं करता, वह अधम बताया गया है ॥ १७ ॥

न मां प्रीणाति राजेन्द्र लक्ष्मीः साधारणी विभो ।
ज्वलितामेव कौन्तेये श्रियं दृष्ट्वा च विव्यथे ॥ १८ ॥

राजेन्द्र ! यह साधारण लक्ष्मी मुझे प्रसन्न नहीं कर पाती । मैं तो कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी उस जगमगाती हुई लक्ष्मीको देखकर व्यथित हो रहा हूँ ॥ १८ ॥

सर्वां च पृथिवीं चैव युधिष्ठिरवशानुगाम् ।
स्थिरोऽस्मि योऽहं जीवामि दुःखादेतद् ब्रवीमि ते ॥ १९ ॥

सारी पृथ्वी युधिष्ठिरके अधीन हो गयी है; फिर भी मैं पाषाणतुल्य हूँ जो कि ऐसा दुःख प्राप्त होनेपर भी जीवित हूँ और आपसे बातें करता हूँ ॥ १९ ॥

आवर्जिता इवाभान्ति नीपाश्चित्रककौकुराः ।
कारस्कारा लोहजङ्घा युधिष्ठिरनिवेशने ॥ २० ॥

नीप, चित्रक, कुकुर, कारस्कर तथा लोहजङ्घ आदि क्षत्रियनरेश युधिष्ठिरके घरमें सेवकोंकी भाँति सेवा करते हुए शोभा पा रहे थे ॥ २० ॥

हिमवत्सागरानूपाः सर्वे रत्नाकरास्तथा ।
अन्त्याः सर्वे पर्युदस्ता युधिष्ठिरनिवेशने ॥ २१ ॥

हिमालय प्रदेश तथा समुद्री द्वीपोंके रहनेवाले और रत्नोंकी खानोंके सभी अधिपति म्लेच्छजातीय नरेश युधिष्ठिरके घरमें प्रवेश करने नहीं पाते थे, उन्हें महलसे दूर ही ठहराया गया था ॥ २१ ॥

ज्येष्ठोऽयमिति मां मत्वा श्रेष्ठश्चेति विशाम्पते ।
युधिष्ठिरेण सत्कृत्य युक्तो रत्नपरिग्रहे ॥ २२ ॥

महाराज ! मुझे अन्य सब भाइयोंसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ मानकर युधिष्ठिरने सत्कारपूर्वक रत्नोंकी भेंट लेनेके कामपर नियुक्त कर दिया था ॥ २२ ॥

उपस्थितानां रत्नानां श्रेष्ठानामर्घहारिणाम् ।
नादृश्यत परः पारो नापरस्तत्र भारत ॥ २३ ॥

भारत ! वहाँ भेंट लाये हुए नरेशोंके द्वारा उपस्थित श्रेष्ठ और बहुमूल्य रत्नोंकी जो राशि एकत्र हुई थी, उसका आरपार दिखायी नहीं देता था ॥ २३ ॥

न मे हस्तः समभवद् वसु तत् प्रतिगृह्णतः ।
अतिष्ठन्त मयि श्रान्ते गृह्य दूराहृतं वसु ॥ २४ ॥

उस रत्नराशिको ग्रहण करते-करते जब मेरा हाथ थक गया, तब मेरे थक जानेपर राजालोग रत्नराशि लिये बहुत दूरतक खड़े दिखायी देने लगते थे ॥ २४ ॥

कृतां बिन्दुसरोरत्नैर्मयेन स्फाटिकच्छदाम् ।
अपश्यं नलिनीं पूर्णामुदकस्येव भारत ॥ २५ ॥
वस्त्रमुत्कर्षति मयि प्राहसत् स वृकोदरः ।
शत्रोर्ऋद्धिविशेषेण विमूढं रत्नवर्जितम् ॥ २६ ॥

भारत ! बिन्दु-सरोवरसे लाये हुए रत्नोंद्वारा मयासुरने एक कृत्रिम पुष्करिणीका निर्माण किया था, जो स्फटिकमणिकी शिलाओंसे आच्छादित है । वह मुझे जलसे भरी हुई-सी दिखायी दी । भारत ! जब मैं उसमें उतरनेके लिये वस्त्र उठाने लगा, तब भीमसेन ठठाकर हँस पड़े । शत्रुकी विशिष्ट समृद्धिसे मैं मूढ़-सा हो रहा था और रत्नोंसे रहित तो था ही ॥ २५-२६ ॥

तत्र स्म यदि शक्तः स्यां पातयेऽहं वृकोदरम् ।
यदि कुर्यां समारम्भं भीमं हन्तुं नराधिप ॥ २७ ॥
शिशुपाल इवास्माकं गतिः स्यान्नात्र संशयः ।
सपत्नेनावहासो मे स मां दहति भारत ॥ २८ ॥

उस समय वहाँ यदि मैं समर्थ होता तो भीमसेनको वहीं मार गिराता । राजन् ! यदि मैं भीमसेनको मारनेका उद्योग करता तो मेरी भी शिशुपालकी-सी ही दशा हो जाती; इसमें संशय नहीं है । भारत ! शत्रुके द्वारा किया हुआ उपहास मुझे दग्ध किये देता है ॥ २७-२८ ॥

पुनश्च तादृशीमेव वापीं जलजशालिनीम् ।
मत्वा शिलासमां तोये पतितोऽस्मि नराधिप ॥ २९ ॥

नरेश्वर ! मैंने पुनः एक वैसी ही बावलीको देखकर, जो कमलोंसे सुशोभित हो रही थी, समझा कि यह भी पहली पुष्करिणीकी भाँति स्फटिकशिलासे पाटकर बराबर कर दी गयी होगी; परंतु वह वास्तवमें जलसे परिपूर्ण थी, इसलिये मैं भ्रमसे उसमें गिर पड़ा ॥ २९ ॥

तत्र मां प्राहसत् कृष्णः पार्थेन सह सुस्वरम् ।
द्रौपदी च सह स्त्रीभिर्व्यथयन्ती मनो मम ॥ ३० ॥

वहाँ श्रीकृष्ण अर्जुनके साथ मेरी ओर देखकर जोर-जोरसे हँसने लगे। स्त्रियोंसहित द्रौपदी भी मेरे हृदयमें चोट पहुँचाती हुई हँस रही थी ॥ ३० ॥

क्लिन्नवस्त्रस्य तु जले किंकरा राजनोदिताः ।
ददुर्वासांसि मेऽन्यानि तच्च दुःखं परं मम ॥ ३१ ॥

मेरे सब कपड़े जलमें भीग गये थे; अतः राजाकी आज्ञासे सेवकोंने मुझे दूसरे वस्त्र दिये। यह मेरे लिये बड़े दुःखकी बात हुई ॥ ३१ ॥

प्रलम्भं च शृणुष्वान्यद् वदतो मे नराधिप ।
अद्वारेण विनिर्गच्छन् द्वारसंस्थानरूपिणा ।
अभिहत्य शिलां भूयो ललाटेनास्मि विक्षतः ॥ ३२ ॥

महाराज ! एक और वञ्चना मुझे सहनी पड़ी, जिसे बताता हूँ, सुनिये। एक जगह बिना द्वारके ही द्वारकी आकृति बनी हुई थी, मैं उसीसे निकलने लगा; अतः शिलासे टकरा गया। जिससे मेरे ललाटमें बड़े जोरकी चोट लगी ॥ ३२ ॥

तत्र मां यमजौ दूरादालोक्याभिहतं तदा ।
बाहुभिः परिगृह्णीतां शोचन्तौ सहितावुभौ ॥ ३३ ॥

उस समय नकुल और सहदेवने दूरसे मुझे टकराते देख निकट आकर अपने हाथोंसे मुझे पकड़ लिया और दोनों भाई साथ रहकर मेरे लिये शोक करने लगे ॥ ३३ ॥

उवाच सहदेवस्तु तत्र मां विस्मयन्निव ।
इदं द्वारमितो गच्छ राजन्निति पुनः पुनः ॥ ३४ ॥

वहाँ सहदेवने मुझे आश्चर्यमें डालते हुए बार-बार यह कहा—'राजन् ! यह दरवाजा है, इधर चलिये' ॥ ३४ ॥

भीमसेनेन तत्रोक्तो धृतराष्ट्रात्मजेति च ।
सम्बोध्य प्रहसित्वा च इतो द्वारं नराधिप ॥ ३५ ॥

महाराज ! वहाँ भीमसेनने मुझे 'धृतराष्ट्रपुत्र' कहकर सम्बोधित किया और हँसते हुए कहा—'राजन् ! इधर दरवाजा है' ॥ ३५ ॥

नामधेयानि रत्नानां पुरस्तान्न श्रुतानि मे ।
यानि दृष्टानि मे तस्यां मनस्तपति तच्च मे ॥ ३६ ॥

मैंने उस सभामें जो-जो रत्न देखे हैं, उनके पहले कभी नाम भी नहीं सुने थे; अतः इन सब बातोंके लिये मेरे मनमें बड़ा संताप हो रहा है ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरको भेंटमें मिली हुई वस्तुओंका दुर्योधनद्वारा वर्णन

दुर्योधन उवाच

यन्मया पाण्डवेयानां दृष्टं तच्छृणु भारत ।
आहृतं भूमिपालैर्हि वसु मुख्यं ततस्ततः ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—भारत ! मैंने पाण्डवोंके यज्ञमें राजाओंके द्वारा भिन्न-भिन्न देशोंसे लाये हुए जो उत्तम धनरत्न देखे थे, उन्हें बताता हूँ, सुनिये ॥ १ ॥

नाविदं मूढमात्मानं दृष्ट्वाहं तदरेर्धनम् ।
फलतो भूमितो वापि प्रतिपद्यस्व भारत ॥ २ ॥

भरतकुलभूषण ! आप सच मानिये, शत्रुओंका वह वैभव देखकर मेरा मन मूढ़-सा हो गया था। मैं इस बात-को न जान सका कि यह धन कितना है और किस देशसे लाया गया है ॥ २ ॥

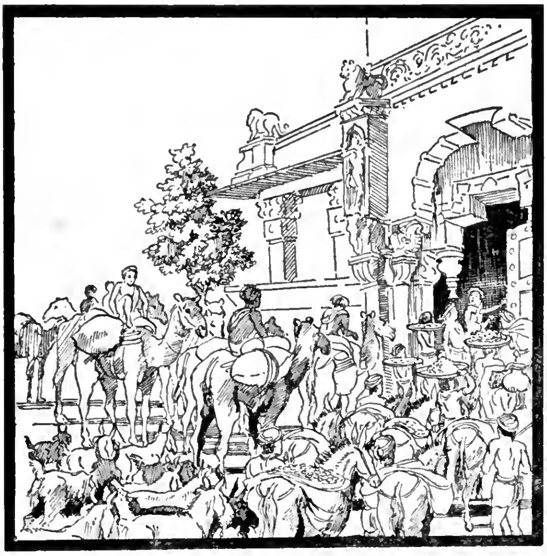
और्णान् बैलान् वार्षदंशाञ्जातरूपपरिष्कृतान् ।
प्रावाराजिनमुख्यांश्च काम्बोजः प्रददौ बहून् ॥ ३ ॥
अश्वांस्तित्तिरिकल्माषांस्त्रिशतं शुकनासिकान् ।
उष्ट्रवामीस्त्रिशतं च पुष्टाः पीलुशमीङ्गुदैः ॥ ४ ॥

काम्बोजनरेशने भेड़के ऊन, बिलमें रहनेवाले चूहे आदिके रोएँ तथा बिल्लियोंकी रोमावलियोंसे तैयार किये हुए सुवर्णचित्रित बहुत-से सुन्दर वस्त्र और मृगचर्म भेंटमें दिये थे। तीतर पक्षीकी भाँति चितकबरे और तोतेके समान नाकवाले तीन सौ घोड़े दिये थे। इसके सिवा तीन-तीन सौ ऊँटनियाँ और खच्चरियाँ भी दी थीं, जो पीलु, शमी और इङ्गुद खाकर मोटी-ताजी हुई थीं ॥ ३-४ ॥

गोवासना ब्राह्मणाश्च दासनीयाश्च सर्वशः ।
प्रीत्यर्थं ते महाराज धर्मराज्ञो महात्मनः ॥ ५ ॥
त्रिखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ।
ब्राह्मणा वाटधानाश्च गोमन्तः शतसङ्घशः ॥ ६ ॥
कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयाञ्छुभान् ।
एवं बलिं समादाय प्रवेशं लेभिरे न च ॥ ७ ॥

महाराज ! ब्राह्मण लोग तथा गाय-बैलोंका पोषण करनेवाले वैश्य और दास-कर्मके योग्य शूद्र आदि सभी महात्मा धर्मराजकी प्रसन्नताके लिये तीन खर्बके लागतकी भेंट लेकर दरवाजेपर रोके हुए खड़े थे। ब्राह्मणलोग तथा हरी-भरी

खेती उपजाकर जीवन-निर्वाह करनेवाले और बहुत-से गाय-बैल रखनेवाले वैश्य सैकड़ों दलोंमें इकट्ठे होकर सोनेके बने हुए सुन्दर कलश एवं अन्य भेंट-सामग्री लेकर द्वारपर खड़े थे। परंतु भीतर प्रवेश नहीं



कर पाते थे ॥ ५—७ ॥

(यश्च स द्विजमुख्येन राज्ञः शङ्खो निवेदितः ।
प्रीत्या दत्तः कुणिन्देन धर्मराजाय धीमते ॥

द्विजोंमें प्रधान राजा कुणिन्दने परम बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरको बड़े प्रेमसे एक शङ्ख निवेदन किया ॥

तं सर्वे भ्रातरो भ्रात्रे ददुः शङ्खं किरीटिने ।
तं प्रत्यगृह्णाद् बीभत्सुस्तोयजं हेममालिनम् ॥
चितं निष्कसहस्रेण भ्राजमानं स्वतेजसा ।

उस शङ्खको सब भाइयोंने मिलकर किरीटधारी अर्जुनको दे दिया। उसमें सोनेका हार जड़ा हुआ था और एक हजार स्वर्णमुद्राएँ मढ़ी गयी थीं। अर्जुनने उसे सादर ग्रहण किया। वह शङ्ख अपने तेजसे प्रकाशित हो रहा था ॥

रुचिरं दर्शनीयं च भूषितं विश्वकर्मणा ॥
अधारयच्च धर्मश्च तं नमस्य पुनः पुनः ।

साक्षात् विश्वकर्माने उसे रत्नोंद्वारा विभूषित किया था। वह बहुत ही सुन्दर और दर्शनीय था। साक्षात् धर्मने उस शङ्खको बार-बार नमस्कार करके धारण किया था ॥

योऽन्नदाने नदति स ननादाधिकं तदा ॥
प्रणादाद् भूमिपास्तस्य पेतुर्हीनाः स्वतेजसा ॥

अन्नदान करनेपर वह शङ्ख अपने आप बज उठता था। उस समय उस शङ्खने बड़े जोरसे अपनी ध्वनिका विस्तार किया। उसके गम्भीर नादसे समस्त भूमिपाल तेजोहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥

धृष्टद्युम्नः पाण्डवाश्च सात्यकिः केशवोऽष्टमः ।
सत्त्वस्थाः शौर्यसम्पन्ना अन्योन्यप्रियकारिणः ॥

केवल धृष्टद्युम्न, पाँच पाण्डव, सात्यकि तथा आठवें श्रीकृष्ण धैर्यपूर्वक खड़े रहे। ये सब-के-सब एक दूसरेका प्रिय करनेवाले तथा शौर्यसे सम्पन्न हैं ॥

विसंज्ञान् भूमिपान् दृष्ट्वा मां च ते प्राहसंस्तदा ॥
ततः प्रहृष्टो बीभत्सुरददाद्धेमशृङ्गिणः ।
शतान्यनडुहां पञ्च द्विजमुख्याय भारत ॥

इन्होंने मुझको तथा दूसरे भूमिपालोंको मूर्छित हुआ देख जोर-जोरसे हँसना आरम्भ किया। उस समय अर्जुनने अत्यन्त प्रसन्न होकर एक श्रेष्ठ ब्राह्मणको पाँच सौ हृष्ट-पुष्ट बैल दिये। वे बैल गाड़ीका बोझ ढोनेमें समर्थ थे और उनके सींगोंमें सोना मढ़ा गया था ॥

सुमुखेन बलिर्मुख्यः प्रेषितोऽजातशत्रवे ।
कुणिन्देन हिरण्यं च वासांसि विविधानि च ॥

भारत! राजा सुमुखने अजातशत्रु युधिष्ठिरके पास भेंटकी प्रमुख वस्तुएँ भेजी थीं। कुणिन्दने भाँति-भाँतिके वस्त्र और सुवर्ण दिये थे ॥

काश्मीरराजो मार्द्वीकं शुद्धं च रसवन्मधु ।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवायाभ्युपाहरत् ॥

काश्मीरनरेशने मीठे तथा रसीले शुद्ध अंगूरोंके गुच्छे भेंट किये थे। साथ ही सब प्रकारकी उपहार-सामग्री लेकर उन्होंने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी सेवामें उपस्थित की थी ॥

यवना हयानुपादाय पर्वतीयान् मनोजवान् ।
आसनानि महार्हाणि कम्बलांश्च महाधनान् ॥
नवान् विचित्रान् सूक्ष्मांश्च परार्ध्यान् सुप्रदर्शनान् ।
अन्यच्च विविधं रत्नं द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥

कितने ही यवन मनके समान वेगशाली पर्वतीय घोड़े, बहुमूल्य आसन, नूतन, सूक्ष्म, विचित्र दर्शनीय और कीमती कम्बल, भाँति-भाँतिके रत्न तथा अन्य वस्तुएँ लेकर राजद्वारपर खड़े थे, फिर भी अंदर नहीं जाने पाते थे ॥

श्रुतायुरपि कालिङ्गो मणिरत्नमनुत्तमम् ।

कलिङ्गनरेश श्रुतायुने उत्तम मणिरत्न भेंट किये ॥

दक्षिणात् सागराभ्याशात् प्रावारांश्च परःशतान् ॥
औदकानि सरत्नानि बलिं चादाय भारत ।
अन्येभ्यो भूमिपालेभ्यः पाण्डवाय न्यवेदयत् ॥

इसके सिवा, उन्होंने दूसरे भूपालोंसे दक्षिण समुद्रके निकटसे सैकड़ों उत्तरीय वस्त्र, शङ्ख, रत्न तथा अन्य उपहार-सामग्री लेकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको समर्पित की ॥

दार्दुरं चन्दनं मुख्यं भारान् षण्णवतिं ध्रुवम् ।
पाण्डवाय ददौ पाण्ड्यः शङ्खांस्तावत एव च ॥

पाण्ड्यनरेशने मलय और दर्दुरपर्वतके श्रेष्ठ चन्दनके छियानबे भार युधिष्ठिरको भेंट किये। फिर उतने ही शङ्ख भी समर्पित किये ॥

चन्दनागुरु चानन्तं मुक्तावैदूर्यचित्रकाः।
चोलश्च केरलश्चोभौ ददतुः पाण्डवाय वै ॥

चोल और केरलदेशके नरेशोंने असंख्य चन्दन, अगुरु तथा मोती, वैदूर्य तथा चित्रक नामक रत्न धर्मराज युधिष्ठिरको अर्पित किये ॥

अश्मको हेमशृङ्गीश्च दोग्ध्रीर्हेमविभूषिताः।
सवत्साः कुम्भदोहाश्च गाः सहस्राण्यदाद् दश ॥

राजा अश्मकने बछड़ोंसहित दस हजार दुधारू गौएँ भेंट कीं, जिनके सींगोंमें सोना मढ़ा हुआ था और गलेमें सोनेके आभूषण पहनाये गये थे। उनके थन घड़ोंके समान दिखायी देते थे ॥

सैन्धवानां सहस्राणि हयानां पञ्चविंशतिम्।
अददात् सैन्धवो राजा हेममाल्यैरलंकृतान् ॥

सिन्धुनरेशने सुवर्ण-मालाओंसे अलंकृत पचीस हजार सिन्धुदेशीय घोड़े उपहारमें दिये थे ॥

सौवीरो हस्तिभिर्युक्तान् रथांश्च त्रिशतावरान्।
जातरूपपरिष्कारान् मणिरत्नविभूषितान् ॥
मध्यंदिनार्कप्रतिमांस्तेजसाप्रतिमानिव ।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवाय न्यवेदयत् ॥

सौवीरराजने हाथी जुते हुए रथ प्रदान किये, जो तीन सौसे कम न रहे होंगे। उन रथोंको सुवर्ण, मणि तथा रत्नोंसे सजाया गया था। वे दोपहरके सूर्यकी भाँति जगमगा रहे थे। उनसे जो प्रभा फैल रही थी, उसकी कहीं भी उपमा न थी। इन रथोंके सिवा, उन्होंने अन्य सब प्रकारकी भी उपहार-सामग्री युधिष्ठिरको भेंट की थी ॥

अवन्तिराजो रत्नानि विविधानि सहस्रशः।
हाराङ्गदांश्च मुख्यान् वै विविधं च विभूषणम् ॥
दासीनामयुतं चैव बलिमादाय भारत।
सभाद्वारि नरश्रेष्ठ दिदृक्षुरवतिष्ठते ॥

नरश्रेष्ठ भरतनन्दन ! अवन्तीनरेश नाना प्रकारके सहस्रों रत्न, हार, श्रेष्ठ अङ्गद (बाजूबंद), भाँति-भाँतिके अन्यान्य आभूषण, दस हजार दासियों तथा अन्यान्य उपहार-सामग्री साथ लेकर राजसभाके द्वारपर खड़े थे और भीतर जाकर युधिष्ठिरका दर्शन पानेके लिये उत्सुक हो रहे थे ॥

दशार्णश्चेदिराजश्च शूरसेनश्च वीर्यवान्।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवाय न्यवेदयत् ॥

दशार्णनरेश, चेदिराज तथा पराक्रमी राजा शूरसेनने सब प्रकारकी उपहार-सामग्री लाकर युधिष्ठिरको समर्पित की ॥

काशिराजेन हृष्टेन बली राजन् निवेदितः ॥
अशीतिगोसहस्राणि शतान्यष्टौ च दन्तिनाम्।
विविधानि च रत्नानि काशिराजो बलिं ददौ ॥

राजन् ! काशीनरेशने भी बड़ी प्रसन्नताके साथ अस्सी हजार गौएँ, आठ सौ गजराज तथा नाना प्रकारके रत्न भेंट किये ॥

कृतक्षणश्च वैदेहः कौसलश्च बृहद्बलः।
ददतुर्वाजिमुख्यांश्च सहस्राणि चतुर्दश ॥

विदेहराज कृतक्षण तथा कोसलनरेश बृहद्बलने चौदह-चौदह हजार उत्तम घोड़े दिये थे ॥

शैब्यो वसादिभिः सार्धं त्रिगर्तो मालवैः सह।
तस्मै रत्नानि ददतुरेकैको भूमिपोऽमितम् ॥
हारांस्तु मुक्तान् मुख्यांश्च विविधं च विभूषणम्।)

वस आदि नरेशोंसहित राजा शैब्य तथा मालवोंसहित त्रिगर्तराजने युधिष्ठिरको बहुत-से रत्न भेंट किये, उनमेंसे एक-एक भूपालने असंख्य हार, श्रेष्ठ मोती तथा भाँति-भाँतिके आभूषण समर्पित किये थे ॥

शतं दासीसहस्राणां कार्पासिकनिवासिनाम् ॥ ८ ॥
श्यामास्तन्व्यो दीर्घकेश्यो हेमाभरणभूषिताः।

कार्पासिक देशमें निवास करनेवाली एक लाख दासियाँ उस यज्ञमें सेवा कर रही थीं। वे सब-की-सब श्यामा तथा तन्वङ्गी थीं। उन सबके केश बड़े-बड़े थे और वे सभी सोनेके आभूषणोंसे विभूषित थीं ॥ ८½ ॥

शूद्रा विप्रोत्तमार्हाणि राङ्कवाण्यजिनानि च ॥ ९ ॥
बलिं च कृत्स्नमादाय भरुकच्छनिवासिनः।
उपनिन्युर्महाराज हयान् गान्धारदेशजान् ॥ १० ॥

महाराज ! भरुकच्छ (भड़ौंच) निवासी शूद्र श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके उपभोगमें आने योग्य रङ्कुमृगके चर्म तथा अन्य सब प्रकारकी भेंट-सामग्री लेकर उपस्थित हुए थे। वे अपने साथ गान्धार-देशके बहुत-से घोड़े भी लाये थे ॥ ९-१० ॥

इन्द्रकृष्टैर्वर्तयन्ति धान्यैर्ये च नदीमुखैः।
समुद्रनिष्कुटे जाताः पारेसिन्धु च मानवाः ॥ ११ ॥
ते वैरामाः पारदाश्च आभीराः कितवैः सह।
विविधं बलिमादाय रत्नानि विविधानि च ॥ १२ ॥
अजाविकं गोहिरण्यं खरोष्ट्रं फलजं मधु।
कम्बलान् विविधांश्चैव द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः॥ १३ ॥

जो समुद्रतटवर्ती गृहोद्यानमें तथा सिन्धुके उस पार रहते हैं, वर्षाद्वारा इन्द्रके पैदा किये हुए तथा नदीके जलसे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके धान्योंद्वारा जीवननिर्वाह करते हैं, वे वैराम, पारद, आभीर तथा कितव जातिके लोग नाना प्रकारके रत्न एवं भाँति-भाँतिकी भेंट-सामग्री—बकरी,

भेंड़, गाय, सुवर्ण, गधे, ऊँट, फलसे तैयार किया हुआ मधु तथा अनेक प्रकारके कम्बल लेकर राजद्वारपर रोक दिये जानेके कारण (बाहर ही) खड़े थे और भीतर नहीं जाने पाते थे ॥ ११-१३ ॥

प्राग्ज्योतिषाधिपः शूरो म्लेच्छानामधिपो बली ।
यवनैः सहितो राजा भगदत्तो महारथः ॥ १४ ॥
आजानेयान् हयाञ्छीघ्रानादायानिलरंहसः ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठति वारितः ॥ १५ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरके अधिपति तथा म्लेच्छोंके स्वामी शूरवीर एवं बलवान् महारथी राजा भगदत्त यवनोंके साथ पधारे थे और वायुके समान वेगवाले अच्छी जातिके शीघ्रगामी घोड़े तथा सब प्रकारकी भेंट-सामग्री लेकर



राजद्वारपर खड़े थे । (अधिक भीड़के कारण) उनका प्रवेश भी रोक दिया गया था ॥ १४-१५ ॥

अश्मसारमयं भाण्डं शुद्धदन्तत्सरूनसीन् ।
प्राग्ज्योतिषाधिपो दत्त्वा भगदत्तोऽव्रजत् तदा ॥ १६ ॥

उस समय प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त हीरे और पद्मराग आदि मणियोंके आभूषण तथा विशुद्ध हाथी-दाँतकी मूँठवाले खड्ग देकर भीतर गये थे ॥ १६ ॥

द्व्यक्षांस्त्र्यक्षाँल्ललाटाक्षान् नानादिग्भ्यः समागतान् ।
औष्णीकानन्तवासांश्च रोमकान् पुरुषादकान् ॥ १७ ॥
एकपादांश्च तत्राहमपश्यं द्वारि वारितान् ।
राजानो बलिमादाय नानावर्णाननेकशः ॥ १८ ॥
कृष्णग्रीवान् महाकायान् रासभान् दूरपातिनः ।
आजह्रुर्दशसाहस्रान् विनीतान् दिक्षु विश्रुतान् ॥ १९ ॥

द्व्यक्ष, त्र्यक्ष, ललाटाक्ष, औष्णीक, अन्तवास, रोमक, पुरुषादक तथा एकपाद—इन देशोंके राजा नाना दिशाओंसे आकर राजद्वारपर रोक दिये जानेके कारण खड़े थे, यह मैंने अपनी आँखों देखा था । ये राजालोग भेंट-सामग्री लेकर आये थे और अपने साथ अनेक रंगवाले बहुत-से दूरगामी गधे (खच्चर) लाये थे, जिनकी गर्दन काली और शरीर विशाल थे । उनकी संख्या दस हजार थी । वे सभी रासभ सिखलाये हुए तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें विख्यात थे ॥ १७-१९ ॥

प्रमाणरागसम्पन्नान् वङ्क्षुतीरसमुद्भवान् ।
बल्यर्थं ददतस्तस्मै हिरण्यं रजतं बहु ॥ २० ॥
दत्त्वा प्रवेशं प्राप्तास्ते युधिष्ठिरनिवेशने ।

उनकी लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाई जैसी होनी चाहिये, वैसी ही थी । उसका रंग भी अच्छा था । वे समस्त रासभ वङ्क्षु नदीके तटपर उत्पन्न हुए थे । उक्त राजालोग युधिष्ठिरको भेंटके लिये बहुत-सा सोना और चाँदी देते थे और देकर युधिष्ठिर यज्ञमण्डपमें प्रविष्ट होते थे ॥ २०½ ॥

इन्द्रगोपकवर्णाभाञ्छुकवर्णान् मनोजवान् ॥ २१ ॥
तथैवेन्द्रायुधनिभान् संध्याभ्रसदृशानपि ।
अनेकवर्णानारण्यान् गृहीत्वाश्वान् महाजवान् ॥ २२ ॥
जातरूपमनर्घ्यं च ददुस्तस्यैकपादकाः ।

एकपाददेशीय राजाओंने इन्द्रगोप (वीरबहूटी) के समान लाल, तोतेके समान हरे, मनके समान वेगशाली, इन्द्रधनुषके तुल्य बहुरंगे, संध्याकालके बादलोंके सदृश लाल और अनेक वर्णवाले महावेगशाली जंगली घोड़े एवं बहुमूल्य सुवर्ण उन्हें भेंटमें दिये ॥ २१-२२½ ॥

चीनाञ्छकांस्तथा चौड्रान् बर्बरान् वनवासिनः ॥ २३ ॥
वार्ष्णेयान् हारहूणांश्च कृष्णान् हैमवतांस्तथा ।
नीपानूपानधिगतान् विविधान् द्वारवारितान् ॥ २४ ॥
बल्यर्थं ददतस्तस्य नानारूपाननेकशः ।
कृष्णग्रीवान् महाकायान् रासभाञ्छतपातिनः ।
अहार्षुर्दशसाहस्रान् विनीतान् दिक्षु विश्रुतान् ॥ २५ ॥

चीन, शक, ओड्र, वनवासी बर्बर, वार्ष्णेय, हार, हूण, कृष्ण, हिमालयप्रदेश, नीप और अनूप देशोंके नाना रूपधारी राजा वहाँ भेंट देनेके लिये आये थे, किंतु रोक दिये जानेके कारण दरवाजेपर ही खड़े थे । उन्होंने अनेक रूपवाले दस हजार गधे भेंटके लिये वहाँ प्रस्तुत किये थे, जिनकी गर्दन काली और शरीर विशाल थे, जो सौ कोसतक लगातार चल सकते थे । वे सभी सिखलाये हुए तथा सब दिशाओंमें विख्यात थे ॥ २३-२५ ॥

प्रमाणरागस्पर्शाढ्यं बाह्लीचीनसमुद्भवम् ।
और्णं च राङ्कवं चैव कीटजं पट्टजं तथा ॥ २६ ॥
कुटीकृतं तथैवात्र कमलाभं सहस्रशः ।
श्लक्ष्णं वस्त्रमकार्पासमाविकं मृदु चाजिनम् ॥ २७ ॥

निसितांश्चैव दीर्घासीनृष्टिशक्तिपरश्वधान् ।
अपरान्तसमुद्भूतांस्तथैव परशून्छितान् ॥ २८ ॥
रसान् गन्धांश्च विविधान् रत्नानि च सहस्रशः ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ २९ ॥
शकास्तुषाराः कङ्काश्च रोमशाः शृङ्गिणो नराः ।

जिनकी लंबाई-चौड़ाई पूरी थी, जिनका रंग सुन्दर और स्पर्श सुखद था, ऐसे बाह्लीकचीनके बने हुए, ऊनी, हिरनके रोमसमूहसे बने हुए, रेशमी, पाटके, विचित्र गुच्छेदार तथा कमलके तुल्य कोमल सहस्रों चिकने वस्त्र, जिनमें कपासका नाम भी नहीं था तथा मुलायम मृगचर्म—ये सभी वस्तुएँ भेंटके लिये प्रस्तुत थीं। तीखी और लंबी तलवारें, ऋष्टि, शक्ति, फरसे, अपरान्त (पश्चिम) देशके बने हुए तीखे परशु, भाँति-भाँतिके रस और गन्ध, सहस्रों रत्न तथा सम्पूर्ण भेंट-सामग्री लेकर शक, तुषार, कंक, रोमश तथा शृङ्गीदेशके लोग राजद्वारपर रोके जाकर खड़े थे ॥२६–२९½॥

महागजान् दूरगमान् गणितानर्बुदान् हयान् ॥ ३० ॥
शतशश्चैव बहुशः सुवर्णं पद्मसम्मितम् ।
बलिमादाय विविधं द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ३१ ॥

दूरतक जानेवाले बड़े-बड़े हाथी, जिनकी संख्या एक अर्बुद थी एवं घोड़े, जिनकी संख्या कई सौ अर्बुद थी और सुवर्ण जो एक पद्मकी लागतका था—इन सबको तथा भाँति-भाँतिकी दूसरी उपहार-सामग्रीको साथ लेकर कितने ही नरेश राजद्वारपर रोके जाकर भेंट देनेके लिये खड़े थे ॥३०-३१॥

आसनानि महार्हाणि यानानि शयनानि च ।
मणिकाञ्चनचित्राणि गजदन्तमयानि च ॥ ३२ ॥
कवचानि विचित्राणि शस्त्राणि विविधानि च ।
रथांश्च विविधाकाराञ्जातरूपपरिष्कृतान् ॥ ३३ ॥
हयैर्विनीतैः सम्पन्नान् वैयाघ्रपरिवारितान् ।
विचित्रांश्च परिस्तोमान् रत्नानि विविधानि च ॥ ३४ ॥
नाराचानर्धनाराचाञ्छस्त्राणि विविधानि च ।
एतद् दत्त्वा महद् द्रव्यं पूर्वदेशाधिपा नृपाः ॥
प्रविष्टा यज्ञसदनं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

बहुमूल्य आसन, वाहन, रत्न तथा सुवर्णसे जटित हाथीदाँतकी बनी हुई शय्याएँ, विचित्र कवच, भाँति-भाँतिके शस्त्र, सुवर्णभूषित, व्याघ्रचर्मसे आच्छादित और सुशिक्षित घोड़ोंसे जुते हुए अनेक प्रकारके रथ, हाथियोंपर बिछानेयोग्य विचित्र कम्बल, विभिन्न प्रकारके रत्न, नाराच, अर्धनाराच तथा अनेक तरहके शस्त्र—इन सब बहुमूल्य वस्तुओंको देकर पूर्वदेशके नरपतिगण महात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके यज्ञमण्डपमें प्रविष्ट हुए थे ॥ ३२–३५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २६ श्लोक मिलाकर कुल ६१ श्लोक हैं)

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरको भेंटमें मिली हुई वस्तुओंका दुर्योधनद्वारा वर्णन

दुर्योधन उवाच

दायं तु विविधं तस्मै शृणु मे गदतोऽनघ ।
यज्ञार्थं राजभिर्दत्तं महान्तं धनसंचयम् ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—अनघ! राजाओंद्वारा युधिष्ठिरके यज्ञके लिये दिये हुए जिस महान् धनका संग्रह वहाँ हुआ था, वह अनेक प्रकारका था। मैं उसका वर्णन करता हूँ, सुनिये ॥ १ ॥

मेरुमन्दरयोर्मध्ये शैलोदामभितो नदीम् ।
ये ते कीचकवेणूनां छायां रम्यामुपासते ॥ २ ॥
खसा एकासना ह्यर्हाः प्रदरा दीर्घवेणवः ।
पारदाश्च कुलिन्दाश्च तङ्गणाः परतङ्गणाः ॥ ३ ॥
तद् वै पिपीलिकं नाम उद्धृतं यत् पिपीलिकैः ।
जातरूपं द्रोणमेयमहार्षुः पुञ्जशो नृपाः ॥ ४ ॥

मेरु और मन्दराचलके बीचमें प्रवाहित होनेवाली शैलोदा नदीके दोनों तटोंपर छिद्रोंमें वायुके भर जानेसे वेणुकी तरह बजनेवाले बाँसोंकी रमणीय छायामें जो लोग बैठते और विश्राम करते हैं, वे खस, एकासन, अर्ह, प्रदर, दीर्घवेणु, पारद, पुलिन्द, तङ्गण और परतङ्गण आदि नरेश भेंटमें देनेके लिये पिपीलिकाओं (चींटियों) द्वारा निकाले हुए पिपीलिक नामवाले सुवर्णके ढेर-के-ढेर उठा लाये थे। उसका माप द्रोणसे किया जाता था ॥ २–४ ॥

कृष्णाँल्ललामांश्चमराञ्छुक्लांश्चान्याञ्छशिप्रभान् ।
हिमवत्पुष्पजं चैव स्वादु क्षौद्रं तथा बहु ॥ ५ ॥
उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्चाप्यपोढं माल्यमम्बुभिः ।
उत्तरादपि कैलासादोषधीः सुमहाबलाः ॥ ६ ॥
पार्वतीया बलिं चान्यमाहृत्य प्रणताः स्थिताः ।
अजातशत्रोर्नृपतेर्द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ७ ॥

इतना ही नहीं, वे सुन्दर काले रंगके चँवर तथा चन्द्रमाके समान श्वेत दूसरे चामर एवं हिमालयके पुष्पोंसे उत्पन्न हुआ स्वादिष्ट मधु भी प्रचुर मात्रामें लाये थे। उत्तरकुरु

देशसे गङ्गाजल और मालाके योग्य रत्न तथा उत्तरकैलाससे प्राप्त हुई अतीव बलसम्पन्न ओषधियाँ एवं अन्य भेंटकी सामग्री साथ लेकर आये हुए पर्वतीय भूपालगण अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरके द्वारपर रोके जाकर विनीतभावसे खड़े थे ॥५-७॥

ये परार्धे हिमवतः सूर्योदयगिरौ नृपाः।
कारूषे च समुद्रान्ते लौहित्यमभितश्च ये ॥ ८ ॥
फलमूलाशना ये च किराताश्चर्मवाससः।
क्रूरशस्त्राः क्रूरकृतस्तांश्च पश्याम्यहं प्रभो ॥ ९ ॥

पिताजी ! मैंने देखा कि जो राजा हिमालयके परार्धभागमें निवास करते हैं, जो उदयगिरिके निवासी हैं, जो समुद्रतटवर्ती कारूषदेशमें रहते हैं तथा जो लौहित्यपर्वतके दोनों ओर वास करते हैं, फल और मूल ही जिनका भोजन है, वे चर्मवस्त्रधारी क्रूरतापूर्वक शस्त्र चलानेवाले और क्रूरकर्मा किरातनरेश भी वहाँ भेंट लेकर आये थे ॥ ८-९ ॥

चन्दनागुरुकाष्ठानां भारान् कालीयकस्य च।
चर्मरत्नसुवर्णानां गन्धानां चैव राशयः ॥ १० ॥
कैरातकीनामयुतं दासीनां च विशाम्पते।
आहृत्य रमणीयार्थान् दूरजान् मृगपक्षिणः ॥ ११ ॥
निचितं पर्वतेभ्यश्च हिरण्यं भूरिवर्चसम्।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ १२ ॥

राजन् ! चन्दन और अगुरुकाष्ठ तथा कृष्णागुरु काष्ठके अनेक भार, चर्म, रत्न, सुवर्ण तथा सुगन्धित पदार्थोंकी राशि और दस हजार किरातदेशीय दासियाँ, सुन्दर-सुन्दर पदार्थ, दूर देशोंके मृग और पक्षी तथा पर्वतोंसे संगृहीत तेजस्वी सुवर्ण एवं सम्पूर्ण भेंट-सामग्री लेकर आये हुए राजालोग द्वारपर रोके जानेके कारण खड़े थे ॥ १०–१२ ॥

कैराता दरदा दर्वाः शूरा वै यमकास्तथा।
औदुम्बरा दुर्विभागाः पारदा बाह्लिकैः सह ॥ १३ ॥
काश्मीराश्च कुमाराश्च घोरका हंसकायनाः।
शिबित्रिगर्तयौधेया राजन्या भद्रकेकयाः ॥ १४ ॥
अम्बष्ठाः कौकुरास्तार्क्ष्या वस्त्रपाः पह्लवैः सह।
वशातलाश्च मौलेयाः सह क्षुद्रकमालवैः ॥ १५ ॥
शौण्डिकाःकुकुराश्चैव शकाश्चैव विशाम्पते।
अङ्गा वङ्गाश्च पुण्ड्राश्च शाणवत्या गयास्तथा ॥ १६ ॥
सुजातयः श्रेणिमन्तः श्रेयांसः शस्त्रधारिणः।
अहार्षुः क्षत्रिया वित्तं शतशोऽजातशत्रवे ॥ १७ ॥

किरात, दरद, दर्व, शूर, यमक, औदुम्बर, दुर्विभाग, पारद, बाह्लिक, काश्मीर, कुमार, घोरक, हंसकायन, शिबि, त्रिगर्त, यौधेय, मद्र, केकय, अम्बष्ठ, कौकुर, तार्क्ष्य, वस्त्रप, पह्लव, वशातल, मौलेय, क्षुद्रक, मालव, शौण्डिक, कुक्कुर, शक, अङ्ग, वङ्ग, पुण्ड्र, शाणवत्य तथा गय—ये उत्तम कुलमें उत्पन्न श्रेष्ठ एवं शस्त्रधारी क्षत्रिय राजकुमार सैकड़ोंकी संख्यामें पङ्क्तिबद्ध खड़े होकर अजातशत्रु युधिष्ठिरको बहुत धन अर्पित कर रहे थे ॥ १३–१७ ॥

वङ्गाः कलिङ्गा मगधास्ताम्रलिप्ताः सपुण्ड्रकाः।
दौवालिकाः सागरकाः पत्त्रोर्णाः शैशवास्तथा ॥१८॥
कर्णप्रावरणाश्चैव बहवस्तत्र भारत।
तत्रस्था द्वारपालैस्ते प्रोच्यन्ते राजशासनात्।
कृतकालाः सुबलयस्ततो द्वारमवाप्स्यथ ॥१९॥

भारत ! वङ्ग, कलिङ्ग, मगध, ताम्रलिप्त, पुण्ड्रक, दौवालिक, सागरक, पत्त्रोर्ण, शैशव तथा कर्णप्रावरण आदि बहुत-से क्षत्रियनरेश वहाँ दरवाजेपर खड़े थे तथा राजाज्ञासे द्वारपालगण उन सबको यह संदेश देते थे कि आपलोग अपने लिये समय निश्चित कर लें। फिर उत्तम भेंट-सामग्री अर्पित करें। इसके बाद आपलोगोंको भीतर जानेका मार्ग मिल सकेगा ॥ १८-१९ ॥

ईषादन्तान् हेमकक्षान् पद्मवर्णान् कुथावृतान्।
शैलाभान् नित्यमत्तांश्चाप्यभितः काम्यकं सरः ॥२०॥
दत्त्वैकैको दश शतान् कुञ्जरान् कवचावृतान्।
क्षमावन्तः कुलीनाश्च द्वारेण प्राविशंस्तदा ॥२१॥

तदनन्तर एक-एक क्षमाशील और कुलीन राजाने काम्यक सरोवरके निकट उत्पन्न हुए एक-एक हजार हाथियोंकी भेंट देकर द्वारके भीतर प्रवेश किया। उन हाथियोंके दाँत हलदण्डके समान लंबे थे। उनको बाँधनेकी रस्सी सोनेकी बनी हुई थी। उन हाथियोंका रंग कमलके समान सफेद था। उनकी पीठपर झूल पड़ा हुआ था। वे देखनेमें पर्वताकार और उन्मत्त प्रतीत होते थे ॥ २०-२१ ॥

एते चान्ये च बहवो गणा दिग्भ्यः समागताः।
अन्यैश्चोपाहृतान्यत्र रत्नानीह महात्मभिः ॥२२॥

ये तथा और भी बहुत-से भूपालगण अनेक दिशाओंसे भेंट लेकर आये थे। दूसरे-दूसरे महामना नरेशोंने भी वहाँ रत्नोंकी भेंट अर्पित की थी ॥ २२ ॥

राजा चित्ररथो नाम गन्धर्वो वासवानुगः।
शतानि चत्वार्यददद्धयानां वातरंहसाम् ॥२३॥

इन्द्रके अनुगामी गन्धर्वराज चित्ररथने चार सौ दिव्य अश्व दिये, जो वायुके समान वेगशाली थे ॥ २३ ॥

तुम्बुरुस्तु प्रमुदितो गन्धर्वो वाजिनां शतम्।
आम्रपत्त्रसवर्णानामददाद्धेममालिनाम् ॥२४॥

तुम्बुरु नामक गन्धर्वराजने प्रसन्नतापूर्वक सौ घोड़े भेंट किये, जो आमके पत्तेके समान हरे रंगवाले तथा सुवर्णकी मालाओंसे विभूषित थे ॥ २४ ॥

कृती राजा च कौरव्य शूकराणां विशाम्पते।
अददाद् गजरत्नानां शतानि सुबहून्यथ ॥२५॥

महाराज ! शूकरदेशके पुण्यात्मा राजाने कई सौ गजरत्न भेंट किये ॥ २५ ॥

विराटेन तु मत्स्येन बल्यर्थं हेममालिनाम्।
कुञ्जराणां सहस्रे द्वे मत्तानां समुपाहृते ॥२६॥

मत्स्यदेशके राजा विराटने सुवर्णमालाओंसे विभूषित दो हजार मतवाले हाथी उपहारके रूपमें दिये ॥ २६ ॥

पांशुराष्ट्राद् वसुदानो राजा षड्विंशतिं गजान्।
अश्वानां च सहस्रे द्वे राजन् काञ्चनमालिनाम् ॥२७॥
जवसत्त्वोपपन्नानां वयस्थानां नराधिप।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवेभ्यो न्यवेदयत् ॥२८॥

राजन् ! राजा वसुदानने पांशुदेशसे छब्बीस हाथी, वेग और शक्तिसे सम्पन्न दो हजार सुवर्णमालाभूषित जवान घोड़े और सब प्रकारकी दूसरी भेंट-सामग्री भी पाण्डवोंको समर्पित की ॥ २७-२८ ॥

यज्ञसेनेन दासीनां सहस्राणि चतुर्दश।
दासानामयुतं चैव सदाराणां विशाम्पते।
गजयुक्ता महाराज रथाः षड्विंशतिस्तथा ॥२९॥
राज्यं च कृत्स्नं पार्थेभ्यो यज्ञार्थं वै निवेदितम्।

राजन् ! राजा द्रुपदने चौदह हजार दासियाँ, दस हजार सपत्नीक दास, हाथी जुते हुए छब्बीस रथ तथा अपना सम्पूर्ण राज्य कुन्तीपुत्रोंको यज्ञके लिये समर्पित किया था॥२९½॥

वासुदेवोऽपि वार्ष्णेयो मानं कुर्वन् किरीटिनः ॥३०॥
अददाद् गजमुख्यानां सहस्राणि चतुर्दश।
आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्यात्मा धनंजयः ॥३१॥

वृष्णिकुलभूषण वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने भी अर्जुनका आदर करते हुए चौदह हजार उत्तम हाथी दिये। श्रीकृष्ण अर्जुनके आत्मा हैं और अर्जुन श्रीकृष्णके आत्मा हैं॥ ३०-३१ ॥

यद् ब्रूयादर्जुनः कृष्णं सर्वं कुर्यादसंशयम्।
कृष्णो धनंजयस्यार्थे स्वर्गलोकमपि त्यजेत् ॥३२॥

अर्जुन श्रीकृष्णसे जो कह देंगे, वह सब वे निःसंदेह पूर्ण करेंगे। श्रीकृष्ण अर्जुनके लिये परमधामको भी त्याग सकते हैं॥ ३२ ॥

तथैव पार्थः कृष्णार्थे प्राणानपि परित्यजेत्।
सुरभींश्चन्दनरसान् हेमकुम्भसमास्थितान् ॥३३॥
मलयाद् दर्दुराच्चैव चन्दनागुरुसंचयान्।

इसी प्रकार अर्जुन भी श्रीकृष्णके लिये अपने प्राणोंतकका त्याग कर सकते हैं। मलय तथा दर्दुरपर्वतसे वहाँके राजालोग सोनेके घड़ोंमें रक्खे हुए सुगन्धित चन्दन-रस तथा चन्दन एवं अगुरुके ढेर भेंटके लिये लेकर आये थे ॥ ३३½ ॥

मणिरत्नानि भास्वन्ति काञ्चनं सूक्ष्मवस्त्रकम् ॥३४॥
चोलपाण्ड्यावपि द्वारं न लेभाते ह्युपस्थितौ।

चोल और पाण्ड्यदेशोंके नरेश चमकीले मणि-रत्न, सुवर्ण तथा महीन वस्त्र लेकर उपस्थित हुए थे; परंतु उन्हें भी भीतर जानेके लिये रास्ता नहीं मिला ॥ ३४½ ॥

समुद्रसारं वैदूर्यं मुक्तासङ्घांस्तथैव च ॥३५॥
शतशश्च कुथांस्तत्र सिंहलाः समुपाहरन्।

सिंहलदेशके क्षत्रियोंने समुद्रका सारभूत वैदूर्य, मोतियोंके ढेर तथा हाथियोंके सैकड़ों झूल अर्पित किये ॥ ३५½ ॥

संवृता मणिचीरैस्तु श्यामास्ताम्रान्तलोचनाः ॥३६॥
ता गृहीत्वा नरास्तत्र द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः।
प्रीत्यर्थं ब्राह्मणाश्चैव क्षत्रियाश्च विनिर्जिताः ॥३७॥
उपाजह्रुर्विशश्चैव शूद्राः शुश्रूषवस्तथा।

वे सिंहलदेशीय वीर मणियुक्त वस्त्रोंसे अपने शरीरोंको ढके हुए थे। उनके शरीरका रंग काला था और उनकी आँखोंके कोने लाल दिखायी देते थे। उन भेंट-सामग्रियोंको लेकर वे सब लोग दरवाजेपर रोके हुए खड़े थे। ब्राह्मण, विजित क्षत्रिय, वैश्य तथा सेवाकी इच्छावाले शूद्र प्रसन्नतापूर्वक वहाँ उपहार अर्पित करते थे ॥ ३६-३७½ ॥

प्रीत्या च बहुमानाच्चाप्युपागच्छन् युधिष्ठिरम् ॥३८॥
सर्वे म्लेच्छाः सर्ववर्णा आदिमध्यान्तजास्तथा।

सभी म्लेच्छ तथा आदि, मध्य और अन्तमें उत्पन्न सभी वर्णके लोग विशेष प्रेम और आदरके साथ युधिष्ठिरके पास भेंट लेकर आये थे ॥ ३८½ ॥

नानादेशसमुत्थैश्च नानाजातिभिरेव च ॥३९॥
पर्यस्त इव लोकोऽयं युधिष्ठिरनिवेशने।

अनेक देशोंमें उत्पन्न और विभिन्न जातिके लोगोंके आगमनसे युधिष्ठिरके यज्ञमण्डपमें मानो यह सम्पूर्ण लोक ही एकत्र हुआ जान पड़ता था ॥ ३९½ ॥

उच्चावचानुपग्राहान् राजभिः प्रापितान् बहून् ॥४०॥
शत्रूणां पश्यतो दुःखान्मुमूर्षा मे व्यजायत।
भृत्यास्तु ये पाण्डवानां तांस्ते वक्ष्यामि पार्थिव ॥४१॥
येषामामं च पक्वं च संविधत्ते युधिष्ठिरः।

मेरे शत्रुओंके घरमें राजाओंद्वारा लाये हुए बहुत-से छोटे-बड़े उपहारोंको देखकर दुःखसे मुझे मरनेकी इच्छा होती थी। राजन्! पाण्डवोंके वहाँ जिन लोगोंका भरण-पोषण होता है, उनकी संख्या मैं आपको बता रहा हूँ। राजा युधिष्ठिर उन सबके लिये कच्चे-पक्के भोजनकी व्यवस्था करते हैं ॥ ४०-४१½ ॥

अयुतं त्रीणि पद्मानि गजारोहाः ससादिनः ॥४२॥
रथानामर्बुदं चापि पादाता बहवस्तथा ।

युधिष्ठिरके यहाँ तीन पद्म दस हजार हाथीसवार और घुड़सवार, एक अर्बुद (दस करोड़) रथारोही तथा असंख्य पैदल सैनिक हैं ॥ ४२½ ॥

प्रमीयमाणमामं च पच्यमानं तथैव च ॥४३॥
विसृज्यमानं चान्यत्र पुण्याहस्वन एव च ।

युधिष्ठिरके यज्ञमें कहीं कच्चा अन्न तौला जा रहा था, कहीं पक रहा था, कहीं परोसा जाता था और कहीं ब्राह्मणोंके पुण्याहवाचनकी ध्वनि सुनायी पड़ती थी ॥४३½॥

नाभुक्तवन्तं नापीतं नालंकृतमसत्कृतम् ॥४४॥
अपश्यं सर्ववर्णानां युधिष्ठिरनिवेशने ।

मैंने युधिष्ठिरके यज्ञमण्डपमें सभी वर्णके लोगोंमेंसे किसीको ऐसा नहीं देखा, जो खा-पीकर आभूषणोंसे विभूषित और सत्कृत न हुआ हो ॥ ४४½ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ॥४५॥
त्रिंशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ।

राजा युधिष्ठिर घरमें बसनेवाले जिन अट्ठासी हजार स्नातकोंका भरण-पोषण करते हैं, उनमेंसे प्रत्येककी सेवामें तीस-तीस दास-दासी उपस्थित रहते हैं ॥ ४५½ ॥

सुप्रीताः परितुष्टाश्च ते ह्याशंसन्त्यरिक्षयम् ॥४६॥

वे सब ब्राह्मण भोजनसे अत्यन्त तृप्त एवं संतुष्ट हो राजा युधिष्ठिरको उनके (काम-क्रोधादि) शत्रुओंके विनाशके लिये आशीर्वाद देते हैं ॥ ४६ ॥

दशान्यानि सहस्राणि यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ॥४७॥

इसी प्रकार युधिष्ठिरके महलमें दूसरे दस हजार ऊर्ध्वरेता यति भी सोनेकी थालियोंमें भोजन करते हैं ॥ ४७ ॥



अभुक्तं भुक्तवद् वापि सर्वमाकुब्जवामनम् ।
अभुञ्जाना याज्ञसेनी प्रत्यवैक्षद् विशाम्पते ॥४८॥

राजन् ! उस यज्ञमें द्रौपदी प्रतिदिन स्वयं पहले भोजन न करके इस बातकी देखभाल करती थी कि कुबड़े और बौनेसे लेकर सब मनुष्योंमें किसने खाया है और किसने अभीतक भोजन नहीं किया है ॥ ४८ ॥

द्वौ करौ न प्रयच्छेतां कुन्तीपुत्राय भारत ।
सम्बन्धिकेन पञ्चालाः सख्येनान्धकवृष्णयः ॥४९॥

भारत ! कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको दो ही कुलके लोग कर नहीं देते थे । सम्बन्धके कारण पाञ्चाल और मित्रताके कारण अन्धक एवं वृष्णि ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दुर्योधनद्वारा युधिष्ठिरके अभिषेकका वर्णन

दुर्योधन उवाच

आर्यास्तु ये वै राजानः सत्यसंधा महाव्रताः ।
पर्याप्तविद्या वक्तारो वेदोक्तावभृथप्लुताः ॥ १ ॥
धृतिमन्तो ह्रीनिषेवा धर्मात्मानो यशस्विनः ।
मूर्धाभिषिक्तास्ते चैनं राजानः पर्युपासते ॥ २ ॥
दक्षिणार्थं समानीता राजभिः कांस्यदोहनाः ।
आरण्या बहुसाहस्रा अपश्यंस्तत्र तत्र गाः ॥ ३ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! जो राजा आर्य, सत्यप्रतिज्ञ, महाव्रती, विद्वान्, वक्ता, वेदोक्त यज्ञोंके अन्तमें अवभृथ-स्नान करनेवाले, धैर्यवान्, लज्जाशील, धर्मात्मा, यशस्वी तथा मूर्धाभिषिक्त थे, वे सभी इन धर्मराज युधिष्ठिरकी उपासना करते थे । राजाओंने दक्षिणामें देनेके लिये जो गौएँ मँगवायी थीं, उन सबको मैंने जहाँ-तहाँ देखा । उनके दुग्धपात्र काँसेके थे । वे सब-की-सब जंगलोंमें खुली चरनेवाली थीं तथा उनकी संख्या कई हजार थी ॥ १-३ ॥

आजह्रुस्तत्र सत्कृत्य स्वयमुद्यम्य भारत ।
अभिषेकार्थमव्यग्रा भाण्डमुच्चावचं नृपाः ॥ ४ ॥

बाह्लीको रथमाहार्षीज्जाम्बूनदविभूषितम्।
सुदक्षिणस्तु युयुजे श्वेतैः काम्बोजजैर्हयैः ॥ ५ ॥

भारत ! राजालोग युधिष्ठिरके अभिषेकके लिये स्वयं ही प्रयत्न करके शान्तचित्त हो सत्कारपूर्वक छोटे-बड़े पात्र उठा-उठाकर ले आये थे। बाह्लीकनरेश रथ ले आये, जो सुवर्णसे सजाया गया था। सुदक्षिणने उस रथमें काम्बोज-देशके सफेद घोड़े जोत दिये ॥ ४-५ ॥

सुनीथः प्रीतिमांश्चैव ह्यनुकर्षं महाबलः।
ध्वजं चेदिपतिश्चैवमहार्षीत् स्वयमुद्यतम् ॥ ६ ॥
दाक्षिणात्यः संनहनं स्रगुष्णीषे च मागधः।
वसुदानो महेष्वासो गजेन्द्रं षष्टिहायनम् ॥ ७ ॥
मत्स्यस्त्वक्षान् हेमनद्धानेकलव्य उपानहौ।
आवन्त्यस्त्वभिषेकार्थमापो बहुविधास्तथा ॥ ८ ॥
चेकितान उपासङ्गं धनुः काश्य उपाहरत्।
असिं च सुत्सरुं शल्यः शैक्यं काञ्चनभूषणम् ॥ ९ ॥

महाबली सुनीथने बड़ी प्रसन्नताके साथ उसमें अनुकर्ष (रथके नीचे लगने योग्य काष्ठ) लगा दिया। चेदिराजने स्वयं उस रथमें ध्वजा फहरा दी। दक्षिणदेशके राजाने कवच दिया। मगधनरेशने माला और पगड़ी प्रस्तुत की। महान् धनुर्धर वसुदानने साठ वर्षकी अवस्थाका एक गजराज उपस्थित कर दिया। मत्स्यनरेशने सुवर्णजटित धुरी ला दी। एकलव्यने पैरोंके समीप जूते लाकर रख दिये। अवन्ती-नरेशने अभिषेकके लिये अनेक प्रकारका जल एकत्र कर दिया। चेकितानने तूणीर और काशिराजने धनुष अर्पित किया। शल्यने अच्छी मूठवाली तलवार तथा छींकेपर रक्खा हुआ सुवर्णभूषित कलश प्रदान किया ॥ ६-९ ॥

अभ्यषिञ्चत् ततो धौम्यो व्यासश्च सुमहातपाः।
नारदं च पुरस्कृत्य देवलं चासितं मुनिम् ॥ १० ॥

तदनन्तर धौम्य तथा महातपस्वी व्यासने देवर्षि नारद, देवल और असित मुनिको आगे करके युधिष्ठिरका अभिषेक किया ॥ १० ॥

प्रीतिमन्त उपातिष्ठन्नभिषेकं महर्षयः।
जामदग्न्येन सहितास्तथान्ये वेदपारगाः ॥ ११ ॥

परशुरामजीके साथ वेदके पारंगत दूसरे विद्वान् महर्षियोंने बड़ी प्रसन्नताके साथ राजा युधिष्ठिरका अभिषेक किया ॥ ११ ॥

अभिजग्मुर्महात्मानो मन्त्रवद् भूरिदक्षिणम्।
महेन्द्रमिव देवेन्द्रं दिवि सप्तर्षयो यथा ॥ १२ ॥

जैसे स्वर्गमें देवराज इन्द्रके पास सप्तर्षि पधारते हैं, उसी प्रकार पर्याप्त दक्षिणा देनेवाले महाराज युधिष्ठिरके पास बहुत-से महात्मा मन्त्रोच्चारण करते हुए पधारे थे ॥ १२ ॥

अधारयच्छत्रमस्य सात्यकिः सत्यविक्रमः।
धनंजयश्च व्यजने भीमसेनश्च पाण्डवः ॥ १३ ॥

सत्यपराक्रमी सात्यकिने युधिष्ठिरके लिये छत्र धारण किया तथा अर्जुन और भीमसेनने व्यजन डुलाये ॥ १३ ॥

चामरे चापि शुद्धे द्वे यमौ जगृहतुस्तथा।
उपागृह्णाद् यमिन्द्राय पुराकल्पे प्रजापतिः ॥ १४ ॥
तमस्मै शङ्खमाहार्षीद् वारुणं कलशोदधिः।
शैक्यं निष्कसहस्रेण सुकृतं विश्वकर्मणा ॥ १५ ॥
तेनाभिषिक्तः कृष्णेन तत्र मे कश्मलोऽभवत्।

तथा नकुल और सहदेवने दो विशुद्ध चँवर हाथमें ले लिये। पूर्वकालमें प्रजापतिने इन्द्रके लिये जिस शङ्खको धारण किया था, वही वरुणदेवताका शङ्ख समुद्रने युधिष्ठिरको भेंट किया था। विश्वकर्माने एक हजार स्वर्णमुद्राओंसे जिस शैक्यपात्र (छींकेपर रक्खे हुए सुवर्णकलश) का निर्माण किया था; उसमें स्थित समुद्रजलको शङ्खमें लेकर श्रीकृष्णने युधिष्ठिरका अभिषेक किया। उस समय वहाँ मुझे मूर्च्छा आ गयी थी ॥ १४-१५½ ॥

गच्छन्ति पूर्वादपरं समुद्रं चापि दक्षिणम् ॥ १६ ॥

पिताजी ! लोग जल लानेके लिये पूर्वसे पश्चिम समुद्र-तक जाते हैं, दक्षिण समुद्रकी भी यात्रा करते हैं ॥ १६ ॥

उत्तरं तु न गच्छन्ति विना तात पतत्रिभिः।
तत्र स्म दध्मुः शतशः शङ्खान् मङ्गलकारकान् ॥ १७ ॥
प्राणदन्त समाध्मातास्ततो रोमाणि मेऽहृषन्।
प्रापतन् भूमिपालाश्च ये तु हीनाः स्वतेजसा ॥ १८ ॥

परंतु उत्तर समुद्रतक पक्षियोंके सिवा और कोई नहीं जाता; (किंतु वहाँ भी अर्जुन पहुँच गये।) वहाँ अभिषेकके समय सैकड़ों मङ्गलकारी शङ्ख एक साथ ही जोर-जोरसे बजने लगे, जिससे मेरे रोंगटे खड़े हो गये। उस समय वहाँ जो तेजोहीन भूपाल थे, वे भयके मारे मूर्च्छित होकर गिर पड़े ॥ १७-१८ ॥

धृष्टद्युम्नः पाण्डवाश्च सात्यकिः केशवोऽष्टमः।
सत्त्वस्था वीर्यसम्पन्ना ह्यन्योन्यप्रियदर्शनाः ॥ १९ ॥

धृष्टद्युम्न, पाँचों पाण्डव, सात्यकि और आठवें श्रीकृष्ण—ये ही धैर्यपूर्वक स्थिर रहे। ये सभी पराक्रमसम्पन्न तथा एक दूसरेका प्रिय करनेवाले हैं ॥ १९ ॥

विसंज्ञान् भूमिपान् दृष्ट्वा मां च ते प्राहसंस्तदा।
ततः प्रहृष्टो बीभत्सुः प्रादाद्धेमविषाणिनाम् ॥ २० ॥
शतान्यनडुहां पञ्च द्विजमुख्येषु भारत।
न रन्तिदेवो नाभागो यौवनाश्वो मनुर्न च ॥ २१ ॥
न च राजा पृथुर्वैन्यो न चाप्यासीद् भगीरथः।
ययातिर्नहुषो वापि यथा राजा युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥

वे मुझे तथा अन्य राजाओंको अचेत हुए देखकर उस समय जोर-जोरसे हँस रहे थे । भारत ! तदनन्तर अर्जुनने



प्रसन्न होकर पाँच सौ बैलोंको, जिनके सींगोंमें सोना मँढ़ा हुआ था, मुख्य-मुख्य ब्राह्मणोंमें बाँट दिया । पिताजी ! न रन्तिदेव, न नाभाग, न मान्धाता, न मनु, न वेननन्दन राजा पृथु, न भगीरथ, न ययाति और न नहुष ही वैसे ऐश्वर्यसम्पन्न सम्राट् थे, जैसे कि आज राजा युधिष्ठिर हैं ॥ २०–२२ ॥

यथातिमात्रं कौन्तेयः श्रिया परमया युतः ।
राजसूयमवाप्यैवं हरिश्चन्द्र इव प्रभुः ॥ २३ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर राजसूययज्ञ पूर्ण करके अत्यन्त उच्च कोटिकी राजलक्ष्मीसे सम्पन्न हो गये हैं । ये शक्तिशाली महाराज हरिश्चन्द्रकी भाँति सुशोभित होते हैं ॥ २३ ॥

एतां दृष्ट्वा श्रियं पार्थे हरिश्चन्द्रे यथा विभो ।
कथं तु जीवितं श्रेयो मम पश्यसि भारत ॥ २४ ॥

भारत ! हरिश्चन्द्रकी भाँति कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी इस राजलक्ष्मीको देखकर मेरा जीवित रहना आप किस दृष्टिसे अच्छा समझते हैं ? ॥ २४ ॥

अन्धेनेव युगं नद्धं विपर्यस्तं नराधिप ।
कनीयांसो विवर्धन्ते ज्येष्ठा हीयन्त एव च ॥ २५ ॥

राजन् ! यह युग अंधे विधातासे बँधा हुआ है । इसीलिये इसमें सब बातें उलटी हो रही हैं । छोटे बढ़ रहे हैं और बड़े हीन दशामें गिरते जा रहे हैं ॥ २५ ॥

एवं दृष्ट्वा नाभिविन्दामि शर्म
समीक्षमाणोऽपि कुरुप्रवीर ।
तेनाहमेवं कृशतां गतश्च
विवर्णतां चैव सशोकतां च ॥ २६ ॥

कुरुप्रवीर ! ऐसा देखकर अच्छी तरह विचार करनेपर भी मुझे चैन नहीं पड़ता । इसीसे मैं दुर्बल, कान्तिहीन और शोकमग्न हो रहा हूँ ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका दुर्योधनको समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

त्वं वै ज्येष्ठो ज्यैष्ठिनेयः पुत्र मा पाण्डवान् द्विषः ।
द्वेष्टा ह्यसुखमादत्ते यथैव निधनं तथा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—दुर्योधन ! तुम मेरे ज्येष्ठ पुत्र हो, जेठी रानीके गर्भसे उत्पन्न हुए हो । बेटा ! पाण्डवोंसे द्वेष मत करो; क्योंकि द्वेष करनेवाला मनुष्य मृत्युके समान कष्ट पाता है ॥ १ ॥

अव्युत्पन्नं समानार्थं तुल्यमित्रं युधिष्ठिरम् ।
अद्विषन्तं कथं द्विष्यात् त्वादृशो भरतर्षभ ॥ २ ॥

युधिष्ठिर किसीके साथ छल नहीं करते, उनका धन तुम्हारे ही-जैसा है । जो तुम्हारे मित्र हैं, वे उनके भी मित्र हैं और युधिष्ठिर तुमसे कभी द्वेष नहीं करते । भरतकुलतिलक ! फिर तुम्हारे-जैसे पुरुषको उनसे द्वेष क्यों करना चाहिये ? ॥२॥

तुल्याभिजनवीर्यश्च कथं भ्रातुः श्रियं नृप ।
पुत्र कामयसे मोहान्मैवं भूः शाम्य मा शुचः ॥ ३ ॥

राजन् ! तुम्हारा और युधिष्ठिरका कुल एवं पराक्रम एक-सा है । बेटा ! तुम मोहवश अपने भाईकी लक्ष्मीकी इच्छा क्यों करते हो ? ऐसे अधम न बनो; शान्तभावसे रहो । शोक न करो ॥ ३ ॥

अथ यज्ञविभूतिं तां काङ्क्षसे भरतर्षभ ।
ऋत्विजस्तव तन्वन्तु सप्ततन्तुं महाध्वरम् ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यदि तुम उस यज्ञ-वैभवको पानेकी अभिलाषा रखते हो तो ऋत्विजलोग तुम्हारे लिये भी गायत्री आदि सात छन्दरूपी तन्तुओंसे युक्त राजसूय महायज्ञका अनुष्ठान करा देंगे ॥ ४ ॥

आहरिष्यन्ति राजानस्तवापि विपुलं धनम् ।
प्रीत्या च बहुमानाच्च रत्नान्याभरणानि च ॥ ५ ॥

उसमें देश-देशके राजालोग तुम्हारे लिये भी बड़े प्रेम और आदरसे रत्न, आभूषण तथा बहुत धन ले आयेंगे॥५॥

(मही कामदुघा सा हि वीरपत्नीति चोच्यते ।
तथा वीर्याश्रिता भूमिस्तनुते हि मनोरथम् ॥
तवाप्यस्ति हि चेद् वीर्यं भोक्ष्यसे हि महीमिमाम्॥)

बेटा ! यह पृथ्वी कामधेनु है । इसे वीरपत्नी भी कहते हैं । अपने पराक्रमसे जीती हुई भूमि मनोवाञ्छित फल प्रदान करती है । यदि तुममें भी बल और पराक्रम हो तो तुम इस पृथ्वीका यथेष्ट उपभोग कर सकते हो ॥

अनार्यचरितं तात परस्वस्पृहणं भृशम् ।
स्वसंतुष्टः स्वधर्मस्थो यः स वै सुखमेधते ॥ ६ ॥
अव्यापारः परार्थेषु नित्योद्योगः स्वकर्मसु ।
रक्षणं समुपात्तानामेतद् वैभवलक्षणम् ॥ ७ ॥

तात ! दूसरेके धनकी स्पृहा रखना नीच पुरुषोंका काम है । जो भलीभाँति अपने धनसे संतुष्ट तथा अपने धर्ममें ही स्थित है, वही सुखपूर्वक उन्नतिशील होता है । दूसरेके धनको हड़पनेकी कोई चेष्टा न करना, अपने कर्तव्यको पूरा करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहना और अपनेको जो कुछ प्राप्त है, उसकी रक्षा करना—यही उत्तम वैभवका लक्षण है ॥ ६-७ ॥

विपत्तिष्वव्यथो दक्षो नित्यमुत्थानवान् नरः ।
अप्रमत्तो विनीतात्मा नित्यं भद्राणि पश्यति ॥ ८ ॥

जो विपत्तिमें व्यथित नहीं होता, सदा उद्योगशील बना रहता है, जिसमें प्रमादका अभाव है तथा जिसके हृदयमें विनयरूप सद्गुण है, वह चतुर मनुष्य सदा कल्याण ही देखता है ॥ ८ ॥

बाहूनिवैतान् मा छेत्सीः पाण्डुपुत्रास्तथैव ते ।
भ्रातॄणां तद्धनार्थं वै मित्रद्रोहं च मा कुरु ॥ ९ ॥

ये पाण्डुपुत्र तुम्हारी भुजाओंके समान हैं, इन्हें काटो मत । इसी प्रकार तुम भाइयोंके धनके लिये मित्रद्रोह न करो ॥ ९ ॥

पाण्डोः पुत्रान् मा द्विषस्वेह राजं-
स्तथैव ते भ्रातृधनं समग्रम् ।
मित्रद्रोहे तात महानधर्मः
पितामहा ये तव तेऽपि तेषाम् ॥ १० ॥

राजन् ! तुम पाण्डवोंसे द्वेष न करो । वे तुम्हारे भाई हैं और भाइयोंका सारा धन तुम्हारा ही है । तात ! मित्रद्रोहसे बहुत बड़ा पाप होता है । देखो, जो तुम्हारे बाप-दादे हैं, वे ही उनके भी हैं ॥ १० ॥

अन्तर्वेद्यां ददद् वित्तं कामाननुभवन् प्रियान् ।
क्रीडन् स्त्रीभिर्निरातङ्कः प्रशाम्य भरतर्षभ ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तुम यज्ञमें धन दान करो, मनको प्रिय लगनेवाले भोग भोगो और निर्भय होकर स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा करते हुए शान्त रहो ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल १२½ श्लोक हैं)

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्रको उकसाना

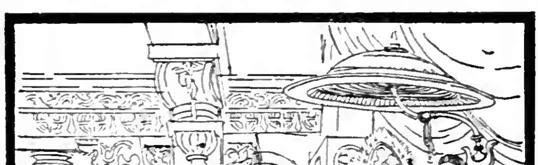
दुर्योधन उवाच

यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलं तु बहुश्रुतः ।
न स जानाति शास्त्रार्थं दर्वी सूपरसानिव ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! जिसके पास अपनी बुद्धि नहीं है, जिसने केवल बहुत-से शास्त्रोंका श्रवणभर किया है, वह शास्त्रके तात्पर्यको नहीं समझ सकता; ठीक उसी तरह, जैसे कलछी दालके रसको नहीं जानती ॥ १ ॥

जानन् वै मोहयसि मां नावि नौरिव संयता ।
स्वार्थे किं नावधानं ते उताहो द्वेषि मां भवान् ॥ २ ॥

एक नौकामें बँधी हुई दूसरी नौकाके समान आप विदुरकी बुद्धिके आश्रित हैं । जानते हुए भी मुझे मोहमें क्यों डालते हैं, स्वार्थसाधनके लिये क्या आपमें तनिक भी सावधानी नहीं है, अथवा आप मुझसे द्वेष रखते हैं ? ॥ २ ॥



न सन्तीमे धार्तराष्ट्रा येषां त्वमनुशासिता ।
भविष्यमर्थमाख्यासि सर्वदा कृत्यमात्मनः ॥ ३ ॥

आप जिनके शासक हैं, वे धार्तराष्ट्र नहींके बराबर हैं (क्योंकि आप उन्हें स्वेच्छासे उन्नतिके पथपर बढ़ने नहीं देते)। आप सदा अपने वर्तमान कर्तव्यको भविष्यपर ही टालते रहते हैं ॥ ३ ॥

परनेयोऽग्रणीर्यस्य स मार्गान् प्रति मुह्यति ।
पन्थानमनुगच्छेयुः कथं तस्य पदानुगाः ॥ ४ ॥

जिस दलका अगुआ दूसरेकी बुद्धिपर चलता हो वह अपने मार्गमें सदा मोहित होता रहता है। फिर उसके पीछे चलनेवाले लोग अपने मार्गका अनुसरण कैसे कर सकते हैं ? ॥ ४ ॥

राजन् परिणतप्रज्ञो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ।
प्रतिपन्नान् स्वकार्येषु सम्मोहयसि नो भृशम् ॥ ५ ॥

राजन् ! आपकी बुद्धि परिपक्व है, आप वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करते रहते हैं, आपने अपनी इन्द्रियोंपर विजय पा ली है, तो भी जब हमलोग अपने कार्योंमें तत्पर होते हैं, उस समय आप हमें बार-बार मोहमें ही डाल देते हैं ॥ ५ ॥

लोकवृत्ताद् राजवृत्तमन्यदाह बृहस्पतिः ।
तस्माद् राज्ञाप्रमत्तेन स्वार्थश्चिन्त्यः सदैव हि ॥ ६ ॥
क्षत्रियस्य महाराज जये वृत्तिः समाहिता ।
स वै धर्मस्त्वधर्मो वा स्ववृत्तौ का परीक्षणा ॥ ७ ॥

बृहस्पतिने राजव्यवहारको लोकव्यवहारसे भिन्न बताया है; अतः राजाको सावधान होकर सदा अपने प्रयोजनका ही चिन्तन करना चाहिये। महाराज ! क्षत्रियकी वृत्ति विजयमें ही लगी रहती है, वह चाहे धर्म हो या अधर्म। अपनी वृत्तिके विषयमें क्या परीक्षा करनी है ? ॥ ६-७ ॥

प्रकालयेद् दिशः सर्वाः प्रतोदेनेव सारथिः ।
प्रत्यमित्रश्रियं दीप्तां जिघृक्षुर्भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भरतकुलभूषण ! शत्रुकी जगमगाती हुई राजलक्ष्मीको अपने अधिकारमें करनेकी इच्छावाला भूपाल सम्पूर्ण दिशाओंका उसी प्रकार संचालन करे, जैसे सारथि चाबुकसे घोड़ोंको हाँककर अपनी रुचिके अनुसार चलाता है ॥ ८ ॥

प्रच्छन्नो वा प्रकाशो वा योगो योऽरिं प्रबाधते।
तद् वै शस्त्रं शस्त्रविदां न शस्त्रं छेदनं स्मृतम्॥ ९ ॥

गुप्त या प्रकट, जो उपाय शत्रुको संकटमें डाल दे, वही शस्त्रज्ञ पुरुषोंका शस्त्र है। केवल काटनेवाला शस्त्र ही शस्त्र नहीं है ॥ ९ ॥

शत्रुश्चैव हि मित्रं च न लेख्यं न च मातृका ।
यो वै संतापयति यं स शत्रुः प्रोच्यते नृप ॥ १० ॥

राजन् ! अमुक शत्रु है और अमुक मित्र, इसका कोई लेखा नहीं है और न शत्रु-मित्र-सूचक कोई अक्षर ही है। जो जिसको संताप देता है, वही उसका शत्रु कहा जाता है ॥ १० ॥

असंतोषः श्रियो मूलं तस्मात् तं कामयाम्यहम् ।
समुच्छ्रये यो यतते स राजन् परमो नयः ॥ ११ ॥

असंतोष ही लक्ष्मीकी प्राप्तिका मूल कारण है; अतः मैं असंतोष चाहता हूँ। राजन् ! जो अपनी उन्नतिके लिये प्रयत्न करता है, उसका वह प्रयत्न ही सर्वोत्तम नीति है॥११॥

ममत्वं हि न कर्तव्यमैश्वर्ये वा धनेऽपि वा ।
पूर्वावाप्तं हरन्त्यन्ये राजधर्मं हि तं विदुः ॥ १२ ॥

ऐश्वर्य अथवा धनमें ममता नहीं करनी चाहिये, क्योंकि पहलेके उपार्जित धनको दूसरे लोग बलात्कारसे छीन लेते हैं। यही राजधर्म माना गया है ॥ १२ ॥

अद्रोहसमयं कृत्वा चिच्छेद नमुचेः शिरः ।
शक्रः साभिमता तस्य रिपौ वृत्तिः सनातनी ॥ १३ ॥

इन्द्रने नमुचिसे कभी वैर न करनेकी प्रतिज्ञा करके उसपर विश्वास जमाया और मौका देखकर उसका सिर काट लिया। तात ! शत्रुके प्रति इसी प्रकारका व्यवहार सदासे होता चला आया है। यह इन्द्रको भी मान्य है ॥ १३ ॥

द्वावेतौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ १४ ॥

जैसे सर्प बिलमें रहनेवाले चूहों आदिको निगल जाता है, उसी प्रकार यह भूमि विरोध न करनेवाले राजा तथा परदेशमें न विचरनेवाले ब्राह्मण (संन्यासी) को ग्रस लेती है॥ १४ ॥

नास्ति वै जातितः शत्रुः पुरुषस्य विशाम्पते ।
येन साधारणी वृत्तिः स शत्रुर्नेतरो जनः ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! मनुष्यका जन्मसे कोई शत्रु नहीं होता, जिसके साथ एक-सी जीविका होती है, अर्थात् जो लोग एक ही वृत्तिसे जीवननिर्वाह करते हैं, वे ही (ईर्ष्याके कारण) आपसमें एक-दूसरेके शत्रु होते हैं, दूसरे नहीं ॥ १५ ॥

शत्रुपक्षं समृध्यन्तं यो मोहात् समुपेक्षते ।
व्याधिराप्यायित इव तस्य मूलं छिनत्ति सः ॥ १६ ॥

जो निरन्तर बढ़ते हुए शत्रुपक्षकी ओरसे मोहवश उदासीन हो जाता है, बढ़े हुए रोगकी भाँति शत्रु उस उदासीन राजाकी जड़ काट डालता है ॥ १६ ॥

अल्पोऽपि ह्यरिरत्यर्थं वर्धमानः पराक्रमैः ।
वल्मीको मूलज इव ग्रसते वृक्षमन्तिकात् ॥ १७ ॥

जैसे वृक्षकी जड़में उत्पन्न हुई दीमक उसमें लगी रहनेके कारण उस वृक्षको ही खा जाती है, वैसे ही छोटा-सा भी शत्रु यदि पराक्रमसे बहुत बढ़ जाय, तो वह पहलेके प्रबल शत्रुको भी नष्ट कर डालता है ॥ १७ ॥

आजमीढ रिपोर्लक्ष्मीर्मा ते रोचिष्ट भारत ।
एष भारः सत्त्ववतां नयः शिरसि विष्ठितः ॥ १८ ॥

भरतकुलभूषण ! अजमीढनन्दन ! आपको शत्रुकी

लक्ष्मी अच्छी नहीं लगनी चाहिये। हर समय न्यायको सिरपर चढ़ाये रखना भी बुद्धिमानोंके लिये भार ही है ॥ १८ ॥

जन्मवृद्धिमिवार्थानां यो वृद्धिमभिकाङ्क्षते।
एधते ज्ञातिषु स वै सद्यो वृद्धिर्हि विक्रमः ॥ १९ ॥

जो जन्मकालसे शरीर आदिकी वृद्धिके समान धनवृद्धिकी भी अभिलाषा करता है, वह कुटुम्बीजनोंमें बहुत आगे बढ़ जाता है। पराक्रम करना तत्काल उन्नतिका कारण है ॥ १९ ॥

नाप्राप्य पाण्डवैश्वर्यं संशयो मे भविष्यति।
अवाप्स्ये वा श्रियं तां हि शयिष्ये वा हतो युधि ॥ २० ॥

जबतक मैं पाण्डवोंकी सम्पत्तिको प्राप्त न कर लूँ, तबतक मेरे मनमें दुविधा ही रहेगी। इसलिये या तो मैं पाण्डवोंकी उस सम्पत्तिको ले लूँगा अथवा युद्धमें मरकर सो जाऊँगा (तभी मेरी दुविधा मिटेगी) ॥ २० ॥

एतादृशस्य किं मेऽद्य जीवितेन विशाम्पते।
वर्धन्ते पाण्डवा नित्यं वयं त्वस्थिरवृद्धयः ॥ २१ ॥

महाराज! आज जो मेरी दशा है; इसमें मेरे जीवित रहनेसे क्या लाभ? पाण्डव प्रतिदिन उन्नति कर रहे हैं और हमलोगोंकी वृद्धि (उन्नति) अस्थिर है—अधिक कालतक टिकनेवाली नहीं जान पड़ती है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र और दुर्योधनकी बातचीत, द्यूतक्रीडाके लिये सभानिर्माण और धृतराष्ट्रका युधिष्ठिरको बुलानेके लिये विदुरको आज्ञा देना

शकुनिरुवाच

यां त्वमेतां श्रियं दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रे युधिष्ठिरे।
तप्यसे तां हरिष्यामि द्यूतेन जयतां वर ॥ १ ॥

शकुनि बोला—विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ दुर्योधन! तुम पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी जिस लक्ष्मीको देखकर संतप्त हो रहे हो, उसका मैं द्यूतके द्वारा अपहरण कर लूँगा ॥ १ ॥

आहूयतां परं राजन् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अगत्वा संशयमहमयुद्ध्वा च चमूमुखे ॥ २ ॥
अक्षान् क्षिपन्नक्षतः सन् विद्वानविदुषो जये।
ग्लहान् धनूंषि मे विद्धि शरानक्षांश्च भारत ॥ ३ ॥

परंतु राजन्! तुम कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको बुला लो। मैं किसी संशयमें पड़े बिना, सेनाके सामने युद्ध किये बिना केवल पासे फेंककर स्वयं किसी प्रकारकी क्षति उठाये बिना ही पाण्डवोंको जीत लूँगा; क्योंकि मैं द्यूतविद्याका ज्ञाता हूँ और पाण्डव इस कलासे अनभिज्ञ हैं। भारत! दावोंको मेरे धनुष समझो और पासोंको मेरे बाण ॥ २-३ ॥

अक्षाणां हृदयं मे ज्यां रथं विद्धि ममास्तरम् ॥ ४ ॥

पासोंका जो हृदय (मर्म) है, उसीको मेरे धनुषकी प्रत्यञ्चा समझो और जहाँसे पासे फेंके जाते हैं, वह स्थान ही मेरा रथ है ॥ ४ ॥

दुर्योधन उवाच

अयमुत्सहते राजञ्छ्रियमाहर्तुमक्षवित्।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रेभ्यस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ५ ॥

दुर्योधन बोला—राजन्! ये मामाजी पासे फेंकनेकी कलामें निपुण हैं। ये द्यूतके द्वारा पाण्डवोंसे उनकी सम्पत्ति ले लेनेका उत्साह रखते हैं। उसके लिये इन्हें आज्ञा दीजिये ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

स्थितोऽस्मि शासने भ्रातुर्विदुरस्य महात्मनः।
तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्यास्य विनिश्चयम् ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—बेटा! मैं अपने भाई महात्मा विदुरकी सम्मतिके अनुसार चलता हूँ। उनसे मिलकर यह जान सकूँगा कि इस कार्यके विषयमें क्या निश्चय करना चाहिये? ॥ ६ ॥

दुर्योधन उवाच

व्यपनेष्यति ते बुद्धिं विदुरो मुक्तसंशयः।
पाण्डवानां हिते युक्तो न तथा मम कौरव ॥ ७ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी! विदुर सब प्रकारसे संशयरहित हैं। वे आपकी बुद्धिको जूएके निश्चयसे हटा देंगे। कुरुनन्दन! वे जैसे पाण्डवोंके हितमें संलग्न रहते हैं, वैसे मेरे हितमें नहीं ॥ ७ ॥

नारभेतान्यसामर्थ्यात् पुरुषः कार्यमात्मनः।
मतिसाम्यं द्वयोर्नास्ति कार्येषु कुरुनन्दन ॥ ८ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह अपना कार्य दूसरेके बलपर न करे। कुरुराज! किसी भी कार्यमें दो पुरुषोंकी राय पूर्णरूपसे नहीं मिलती ॥ ८ ॥

भयं परिहरन् मन्द आत्मानं परिपालयन्।
वर्षासु क्लिन्नकटवत् तिष्ठन्नेवावसीदति ॥ ९ ॥

मूर्ख मनुष्य भयका त्याग और आत्मरक्षा करते हुए भी यदि चुपचाप बैठा रहे, उद्योग न करे, तो वह वर्षा-

कालमें भीगी हुई चटाईके समान नष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

न व्याधयो नापि यमः प्राप्तुं श्रेयः प्रतीक्षते ।
यावदेव भवेत् कल्पस्तावच्छ्रेयः समाचरेत् ॥ १० ॥

रोग अथवा यमराज इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करते कि इसने श्रेय प्राप्त कर लिया या नहीं । अतः जबतक अपनेमें सामर्थ्य हो, तभीतक अपने हितका साधन कर लेना चाहिये ॥ १० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सर्वथा पुत्र बलिभिर्विग्रहो मे न रोचते ।
वैरं विकारं सृजति तद् वै शस्त्रमनायसम् ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा ! मुझे तो बलवानोंके साथ विरोध करना किसी प्रकार भी अच्छा नहीं लगता; क्योंकि वैर-विरोध बड़ा भारी झगड़ा खड़ा कर देता है, जो (कुलके विनाशके लिये) बिना लोहेका शस्त्र है ॥ ११ ॥

अनर्थमर्थं मन्यसे राजपुत्र
संग्रन्थनं कलहस्याति घोरम् ।
तद् वै प्रवृत्तं तु यथा कथंचित्
सृजेदसीन् निशितान् सायकांश्च ॥१२॥

राजकुमार ! तुम द्यूतरूपी अनर्थको ही अर्थ मान रहे हो। यह जूआ कलहको ही गूँथनेवाला एवं अत्यन्त भयंकर है । यदि किसी प्रकार यह शुरू हो गया तो तीखी तलवारों और बाणोंकी भी सृष्टि कर देगा ॥ १२ ॥

दुर्योधन उवाच

द्यूते पुराणैर्व्यवहारः प्रणीत-
स्तत्रात्ययो नास्ति न सम्प्रहारः ।
तद् रोचतां शकुनेर्वाक्यमद्य
सभां क्षिप्रं त्वमिहाज्ञापयस्व ॥ १३ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! पुराने लोगोंने भी द्यूतक्रीड़ाका व्यवहार किया है । उसमें न तो दोष है और न युद्ध ही होता है। अतः आप शकुनि मामाकी बात मान लीजिये और शीघ्र ही यहाँ (द्यूतके लिये) सभामण्डप बन जानेकी आज्ञा दीजिये। १३।

स्वर्गद्वारं दीव्यतां नो विशिष्टं
तद्वर्तिनां चापि तथैव युक्तम् ।
भवेदेवं ह्यात्मना तुल्यमेव
दुरोदरं पाण्डवैस्त्वं कुरुष्व ॥ १४ ॥

यह जूआ हम खेलनेवालोंके लिये एक विशिष्ट स्वर्गीय सुखका द्वार है । उसके आस-पास बैठनेवाले लोगोंके लिये भी वह वैसा ही सुखद होता है । इस प्रकार इसमें पाण्डवोंको भी हमारे समान ही सुख प्राप्त होगा । अतः आप पाण्डवोंके साथ द्यूतक्रीडाकी व्यवस्था कीजिये ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

वाक्यं न मे रोचते यत् त्वयोक्तं
यत् ते प्रियं तत् क्रियतां नरेन्द्र ।
पश्चात् तप्स्यसे तदुपाक्रम्य वाक्यं
न हीदृशं भावि वचो हि धर्म्यम् ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा ! तुमने जो बात कही है, वह मुझे अच्छी नहीं लगती । नरेन्द्र ! जैसी तुम्हारी रुचि हो, वैसा करो । जूएका आरम्भ करनेपर मेरी बातोंको याद करके तुम पीछे पछताओगे; क्योंकि ऐसी बातें जो तुम्हारे मुखसे निकली हैं, धर्मानुकूल नहीं कही जा सकतीं ॥ १५ ॥

दृष्टं ह्येतद् विदुरेणैव सर्वं
विपश्चिता बुद्धिविद्यानुगेन ।
तदेवैतदवशस्याभ्युपैति
महद् भयं क्षत्रियजीवघाति ॥ १६ ॥

बुद्धि और विद्याका अनुसरण करनेवाले विद्वान् विदुरने यह सब परिणाम पहलेसे ही देख लिया था । क्षत्रियोंके लिये विनाशकारी वही यह महान् भय मुझ विवशके सामने आ रहा है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी
दैवं मत्वा परमं दुस्तरं च ।
शशासोच्चैः पुरुषान् पुत्रवाक्ये
स्थितो राजा दैवसम्मूढचेताः ॥ १७ ॥
सहस्रस्तम्भां हेमवैदूर्यचित्रां
शतद्वारां तोरणस्फाटिकाख्याम् ।
सभामग्र्यां क्रोशमात्रायतां मे
तद्विस्तारामाशु कुर्वन्तु युक्ताः ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने दैवको परम दुस्तर माना और दैवके प्रतापसे ही उनके चित्तपर मोह छा गया। वे कर्तव्या-कर्तव्यका निर्णय करनेमें असमर्थ हो गये । फिर पुत्रकी बात मानकर उन्होंने सेवकोंको आज्ञा दी कि शीघ्र ही तत्पर होकर तोरणस्फाटिक नामक सभा तैयार कराओ । उसमें सुवर्ण तथा वैदूर्यसे जटित एक हजार खम्भे और सौ दरवाजे हों। उस सुन्दर सभाकी लम्बाई और चौड़ाई एक-एक कोसकी होनी चाहिये ॥ १७-१८ ॥

श्रुत्वा तस्य त्वरिता निर्विशङ्काः
प्राज्ञा दक्षास्तां तदा चक्रुराशु ।
सर्वद्रव्याण्युपजह्रुः सभायां
सहस्रशः शिल्पिनश्चैव युक्ताः ॥ १९ ॥

उनकी यह आज्ञा सुनकर तेज काम करनेवाले चतुर

एवं बुद्धिमान् सहस्रों शिल्पी निर्भीक होकर काममें लग गये । उन्होंने शीघ्र ही वह सभा तैयार कर दी और उसमें सब तरहकी वस्तुएँ यथास्थान सजा दीं ॥ १९ ॥

कालेनाल्पेनाथ निष्ठां गतां तां
सभां रम्यां बहुरत्नां विचित्राम्।
चित्रैर्हैमैरासनैरभ्युपेता-
माचख्युस्ते तस्य राज्ञः प्रतीताः ॥ २० ॥

थोड़े ही समयमें तैयार हुई उस असंख्य रत्नोंसे सुशोभित रमणीय एवं विचित्र सभाको अद्भुत सोनेके आसनोंद्वारा सजा दिया गया । तत्पश्चात् विश्वस्त सेवकोंने राजा धृतराष्ट्रको उस सभाभवनके तैयार हो जानेकी सूचना दी ॥ २० ॥

ततो विद्वान् विदुरं मन्त्रिमुख्य-
मुवाचेदं धृतराष्ट्रो नरेन्द्रः ।
युधिष्ठिरं राजपुत्रं च गत्वा
मद्वाक्येन क्षिप्रमिहानयस्व ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् विद्वान् राजा धृतराष्ट्रने मन्त्रियोंमें प्रधान विदुरको यह आज्ञा दी कि तुम राजकुमार युधिष्ठिरके पास जाकर मेरी आज्ञासे उन्हें शीघ्र यहाँ लिवा लाओ ॥ २१ ॥

सभेयं मे बहुरत्ना विचित्रा
शय्यासनैरुपपन्ना महार्हैः ।
सा दृश्यतां भ्रातृभिः सार्धमेत्य
सुहृद्द्यूतं वर्ततामत्र चेति ॥ २२ ॥

उनसे कहना, मेरी यह विचित्र सभा अनेक प्रकारके रत्नोंसे जटित है । इसे बहुमूल्य शय्याओं और आसनोंद्वारा सजाया गया है । युधिष्ठिर ! तुम अपने भाइयोंके साथ यहाँ आकर इसे देखो और इसमें सुहृदोंकी द्यूतक्रीड़ा आरम्भ हो' ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरानयने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिरके बुलानेसे सम्बन्ध रखनेवाला छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

विदुर और धृतराष्ट्रकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

मतमाज्ञाय पुत्रस्य धृतराष्ट्रो नराधिपः ।
मत्वा च दुस्तरं दैवमेतद् राजंश्चकार ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपने पुत्र दुर्योधनका मत जानकर राजा धृतराष्ट्रने दैवको दुस्तर माना और यह कार्य किया ॥ १ ॥

अन्यायेन तथोक्तस्तु विदुरो विदुषां वरः ।
नाभ्यनन्दद् वचो भ्रातुर्वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २ ॥

विद्वानोंमें श्रेष्ठ विदुरने धृतराष्ट्रका वह अन्यायपूर्ण आदेश सुनकर भाईकी उस बातका अभिनन्दन नहीं किया और इस प्रकार कहा ॥ २ ॥

विदुर उवाच

नाभिनन्दे नृपते प्रैषमेतं
मैवं कृथाः कुलनाशाद् बिभेमि ।
पुत्रैर्भिन्नैः कलहस्ते ध्रुवं स्या-
देतच्छङ्के द्यूतकृते नरेन्द्र ॥ ३ ॥

विदुर बोले—महाराज ! मैं आपके इस आदेशका अभिनन्दन नहीं करता, आप ऐसा काम मत कीजिये । इससे मुझे समस्त कुलके विनाशका भय है । नरेन्द्र ! पुत्रोंमें भेद होनेपर निश्चय ही आपको कलहका सामना करना पड़ेगा । इस जूएके कारण मुझे ऐसी आशङ्का हो रही है ॥ ३ ॥



धृतराष्ट्र उवाच

नेह क्षत्तः कलहस्तप्स्यते मां
न चेद् दैवं प्रतिलोमं भविष्यत् ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलेदं
सर्वं जगच्चेष्टति न स्वतन्त्रम् ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! यदि दैव प्रतिकूल न हो,

तो मुझे कलह भी कष्ट नहीं दे सकेगा। विधाताका बनाया हुआ यह सम्पूर्ण जगत् दैवके अधीन होकर ही चेष्टा कर रहा है, स्वतन्त्र नहीं है ॥ ४ ॥

तदद्य विदुर प्राप्य राजानं मम शासनात्।
क्षिप्रमानय दुर्धर्षं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५ ॥

इसलिये विदुर! तुम मेरी आज्ञासे आज राजा युधिष्ठिरके पास जाकर उन दुर्द्धर्ष कुन्तीकुमार युधिष्ठिरको यहाँ शीघ्र बुला ले आओ ॥ ५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरानयने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिरके बुलानेसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

विदुर और युधिष्ठिरकी बातचीत तथा युधिष्ठिरका हस्तिनापुरमें जाकर सबसे मिलना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रायाद् विदुरोऽश्वैरुदारै-
र्महाजवैर्बलिभिः साधुदान्तैः।
बलान्नियुक्तो धृतराष्ट्रेण राज्ञा
मनीषिणां पाण्डवानां सकाशे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा धृतराष्ट्रके बलपूर्वक भेजनेपर विदुरजी अत्यन्त वेगशाली, बलवान् और अच्छी प्रकार काबूमें किये हुए महान् अश्वोंसे जुते रथपर सवार हो परम बुद्धिमान् पाण्डवोंके समीप गये ॥ १ ॥

सोऽभिपत्य तदध्वानमासाद्य नृपतेः पुरम्।
प्रविवेश महाबुद्धिः पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ २ ॥

महाबुद्धिमान् विदुरजी उस मार्गको तय करके राजा युधिष्ठिरकी राजधानीमें जा पहुँचे और वहाँ द्विजातियोंसे सम्मानित होकर उन्होंने नगरमें प्रवेश किया ॥ २ ॥

स राजगृहमासाद्य कुबेरभवनोपमम्।
अभ्यागच्छत धर्मात्मा धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ३ ॥
तं वै राजा सत्यधृतिर्महात्मा
अजातशत्रुर्विदुरं यथावत्।
पूजापूर्वं प्रतिगृह्याजमीढ-
स्ततोऽपृच्छद् धृतराष्ट्रं सपुत्रम् ॥ ४ ॥

कुबेरके भवनके समान सुशोभित राजमहलमें जाकर धर्मात्मा विदुर धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे मिले। सत्यवादी महात्मा अजमीढनन्दन अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरने विदुरजीका यथावत् आदर-सत्कार करके उनसे पुत्रसहित धृतराष्ट्रकी कुशल पूछी ॥ ३-४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

विज्ञायते ते मनसोऽप्रहर्षः
कच्चित् क्षत्तः कुशलेनागतोऽसि।
कच्चित् पुत्रः स्थविरस्यानुलोमा
वशानुगाश्चापि विशोऽथ कच्चित् ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले—विदुरजी! आपका मन प्रसन्न नहीं जान पड़ता। आप कुशलसे तो आये हैं? बूढ़े राजा धृतराष्ट्रके पुत्र उनके अनुकूल चलते हैं न? तथा सारी प्रजा उनके वशमें है न? ॥ ५ ॥

विदुर उवाच

राजा महात्मा कुशली सपुत्र
आस्ते वृतो ज्ञातिभिरिन्द्रकल्पः।
प्रीतो राजन् पुत्रगणैर्विनीतै-
र्विशोक एवात्मरतिर्महात्मा ॥ ६ ॥

विदुरने कहा—राजन्! इन्द्रके समान प्रभावशाली महामना राजा धृतराष्ट्र अपने जातिभाइयों तथा पुत्रोंसहित सकुशल हैं। अपने विनीत पुत्रोंसे वे प्रसन्न रहते हैं। उनमें शोकका अभाव है। वे महामना अपनी आत्मामें ही अनुराग रखनेवाले हैं ॥ ६ ॥

इदं तु त्वां कुरुराजोऽभ्युवाच
पूर्वं पृष्ट्वा कुशलं चाव्ययं च।
इयं सभा त्वत्सभातुल्यरूपा
भ्रातॄणां ते दृश्यतामेत्य पुत्र ॥ ७ ॥
समागम्य भ्रातृभिः पार्थ तस्यां
सुहृद्द्यूतं क्रियतां रम्यतां च।
प्रीयामहे भवतां संगमेन
समागताः कुरवश्चापि सर्वे ॥ ८ ॥

कुरुराज धृतराष्ट्रने पहले तुमसे कुशल और आरोग्य पूछकर यह संदेश दिया है कि वत्स! मैंने तुम्हारी सभाके समान ही एक सभा तैयार करायी है। तुम अपने भाइयोंके साथ आकर अपने दुर्योधन आदि भाइयोंकी इस सभाको देखो। इसमें सभी इष्ट-मित्र मिलकर द्यूतक्रीडा करें और मन बहलावें। हम सभी कौरव तुम सबसे मिलकर बहुत प्रसन्न होंगे ॥ ७-८ ॥

दुरोदरा विहिता ये तु तत्र
महात्मना धृतराष्ट्रेण राज्ञा।
तान् द्रक्ष्यसे कितवान् संनिविष्टा-
नित्यागतोऽहं नृपते तज्जुषस्व ॥ ९ ॥

महामना राजा धृतराष्ट्रने वहाँ जो जूएके स्थान बनवाये हैं, उनको और वहाँ जुटकर बैठे हुए धूर्त जुआरियोंको तुम देखोगे। राजन्! मैं इसीलिये आया हूँ। तुम चलकर उस सभा एवं द्यूतक्रीडाका सेवन करो ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

द्यूते क्षत्तः कलहो विद्यते नः
को वै द्यूतं रोचयेद् बुध्यमानः ।
किं वा भवान् मन्यते युक्तरूपं
भवद्वाक्ये सर्व एव स्थिताः स्म ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने पूछा—विदुरजी ! जूएमें तो झगड़ा-फसाद होता है । कौन समझदार मनुष्य जूआ खेलना पसंद करेगा अथवा आप क्या ठीक समझते हैं; हम सब लोग तो आपकी आज्ञाके अनुसार ही चलनेवाले हैं ॥ १० ॥

विदुर उवाच

जानाम्यहं द्यूतमनर्थमूलं
कृतश्च यत्नोऽस्य मया निवारणे ।
राजा च मां प्राहिणोत् त्वत्सकाशं
श्रुत्वा विद्वञ्छ्रेय इहाचरस्व ॥ ११ ॥

विदुरजीने कहा—विद्वन् ! मैं जानता हूँ, जूआ अनर्थकी जड़ है; इसीलिये मैंने उसे रोकनेका प्रयत्न भी किया तथापि राजा धृतराष्ट्रने मुझे तुम्हारे पास भेजा है, यह सुनकर तुम्हें जो कल्याणकर जान पड़े, वह करो ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

के तत्रान्ये कितवा दीव्यमाना
विना राज्ञो धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः ।
पृच्छामि त्वां विदुर ब्रूहि नस्तान्
यैर्दीव्यामः शतशः संनिपत्य ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—विदुरजी ! वहाँ राजा धृतराष्ट्रके पुत्रोंको छोड़कर दूसरे कौन-कौन धूर्त जूआ खेलनेवाले हैं । यह मैं आपसे पूछता हूँ । आप उन सबको बताइये, जिनके साथ मिलकर और सैकड़ोंकी बाजी लगाकर हमें जूआ खेलना पड़ेगा ॥ १२ ॥



विदुर उवाच

गान्धारराजः शकुनिर्विशाम्पते
राजातिदेवी कृतहस्तो मताक्षः ।
विविंशतिश्चित्रसेनश्च राजा
सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयश्च ॥ १३ ॥

विदुरने कहा—राजन् ! वहाँ गान्धारराज शकुनि है, जो जुएका बहुत बड़ा खिलाड़ी है । वह अपनी इच्छाके अनुसार पासे फेंकनेमें सिद्धहस्त है । उसे द्यूतविद्याके रहस्यका ज्ञान है । उसके सिवा राजा विविंशति, चित्रसेन, राजा सत्यव्रत, पुरुमित्र और जय भी रहेंगे ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

महाभयाः कितवाः संनिविष्टा
मायोपधा देवितारोऽत्र सन्ति ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलेदं
सर्वं जगत् तिष्ठति न स्वतन्त्रम् ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर बोले—तब तो वहाँ बड़े भयंकर, कपटी और धूर्त जुआरी जुटे हुए हैं । विधाताका रचा हुआ यह सम्पूर्ण जगत् दैवके ही अधीन है; स्वतन्त्र नहीं है ॥ १४ ॥

नाहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य शासना-
न्न गन्तुमिच्छामि कवे दुरोदरम् ।
इष्टो हि पुत्रस्य पिता सदैव
तदस्मि कर्ता विदुरात्थ मां यथा ॥ १५ ॥

बुद्धिमान् विदुरजी ! मैं राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे जूएमें अवश्य चलना चाहता हूँ । पुत्रको पिता सदैव प्रिय है; अतः आपने मुझे जैसा आदेश दिया है, वैसा ही करूँगा ॥ १५ ॥

न चाकामः शकुनिना देविताहं
न चेन्मां जिष्णुराह्वयिता सभायाम् ।
आहूतोऽहं न निवर्ते कदाचित्
तदाहितं शाश्वतं वै व्रतं मे ॥ १६ ॥

मेरे मनमें जूआ खेलनेकी इच्छा नहीं है । यदि मुझे विजयशील राजा धृतराष्ट्र सभामें न बुलाते, तो मैं शकुनिसे कभी जुआ नहीं खेलता; किंतु बुलानेपर मैं कभी पीछे नहीं हटूँगा । यह मेरा सदाका नियम है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा विदुरं धर्मराजः
प्रायात्रिकं सर्वमाज्ञाप्य तूर्णम् ।
प्रायाच्छ्वोभूते सगणः सानुयात्रः
सह स्त्रीभिर्द्रौपदीमादि कृत्वा ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरसे ऐसा कहकर धर्मराज युधिष्ठिरने तुरंत ही यात्राकी सारी तैयारी करनेके

लिये आज्ञा दे दी। फिर सबेरा होनेपर उन्होंने अपने भाई-बन्धुओं, सेवकों तथा द्रौपदी आदि स्त्रियोंके साथ हस्तिनापुरकी यात्रा की ॥ १७ ॥

दैवं हि प्रज्ञां मुष्णाति चक्षुस्तेज इवापतत्।
धातुश्च वशमन्वेति पाशैरिव नरः सितः ॥ १८ ॥

जैसे उत्कृष्ट तेज सामने आनेपर आँखकी ज्योतिको हर लेता है, उसी प्रकार दैव मनुष्यकी बुद्धिको हर लेता है। दैवसे ही प्रेरित होकर मनुष्य रस्सीमें बँधे हुएकी भाँति विधाताके वशमें घूमता रहता है ॥ १८ ॥

इत्युक्त्वा प्रययौ राजा सह क्षत्रा युधिष्ठिरः।
अमृष्यमाणस्तस्याथ समाह्वानमरिंदमः ॥ १९ ॥

ऐसा कहकर शत्रुदमन राजा युधिष्ठिर जूएके लिये राजा धृतराष्ट्रके उस बुलावेको सहन न करते हुए भी विदुरजीके साथ वहाँ जानेको उद्यत हो गये ॥ १९ ॥

बाह्लीकेन रथं यत्तमास्थाय परवीरहा।
परिच्छन्नो ययौ पार्थो भ्रातृभिः सह पाण्डवः॥ २० ॥

बाह्लीकद्वारा जोते हुए रथपर बैठकर शत्रुसूदन पाण्डुकुमार युधिष्ठिरने अपने भाइयोंके साथ हस्तिनापुरकी यात्रा प्रारम्भ की ॥ २० ॥

राजश्रिया दीप्यमानो ययौ ब्रह्मपुरःसरः।

वे अपनी राजलक्ष्मीसे देदीप्यमान हो रहे थे। उन्होंने ब्राह्मणको आगे करके प्रस्थान किया ॥ २०½ ॥

(संदिदेश ततः प्रेष्यान् नागाह्वयगतिं प्रति ॥
ततस्ते नरशार्दूलाश्चक्रुर्वै नृपशासनम् ॥

सबसे पहले राजा युधिष्ठिरने अपने सेवकोंको हस्तिनापुरकी ओर चलनेका आदेश दिया। वे नरश्रेष्ठ राजसेवक महाराजकी आज्ञाका पालन करनेमें तत्पर हो गये ॥

ततो राजा महातेजाः सधौम्यः सपरिच्छदः।
ब्राह्मणैः स्वस्ति वाच्यैव निर्ययौ मन्दिराद् बहिः ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर समस्त सामग्रियोंसे सुसज्जित हो ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर पुरोहित धौम्यके साथ राजभवनसे बाहर निकले ॥

ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा गत्यर्थं स यथाविधि।
अन्येभ्यः स तु दत्त्वार्थं गन्तुमेवोपचक्रमे ॥

यात्राकी सफलताके लिये उन्होंने ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक धन देकर और दूसरोंको भी मनोवाञ्छित वस्तुएँ अर्पित करके यात्रा प्रारम्भ की ॥

सर्वलक्षणसम्पन्नं राजार्हं सपरिच्छदम्।
तमारुह्य महाराजो गजेन्द्रं षष्टिहायनम् ॥
निषसाद गजस्कन्धे काञ्चने परमासने।
हारी किरीटी हेमाभः सर्वाभरणभूषितः ॥
रराज राजन् पार्थो वै परया नृपशोभया।
रुक्मवेदिगतः प्राज्यो ज्वलन्निव हुताशनः ॥

राजाके बैठनेके योग्य एक साठ वर्षका गजराज सब आवश्यक सामग्रियोंसे सुसज्जित करके लाया गया। वह समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न था। उसकी पीठपर सोनेका सुन्दर हौदा कसा गया था। महाराज युधिष्ठिर (पूर्वोक्त रथसे उतर कर) उस गजराजपर आरूढ़ हो हौदेमें बैठे। उस समय वे हार, किरीट तथा अन्य सभी आभूषणोंसे विभूषित हो अपनी स्वर्णगौर-कान्ति तथा उत्कृष्ट राजोचित शोभासे सुशोभित हो रहे थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो सोनेकी वेदीपर स्थापित अग्निदेव घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हो रहे हों ॥

ततो जगाम राजा स प्रहृष्टनरवाहनः।
रथघोषेण महता पूरयन् वै नभःस्थलम् ॥
संस्तूयमानः स्तुतिभिः सूतमागधवन्दिभिः।
महासैन्येन संवीतो यथाऽऽदित्यः स्वरश्मिभिः ॥

तदनन्तर हर्षमें भरे हुए मनुष्यों तथा वाहनोंके साथ राजा युधिष्ठिर वहाँसे चल पड़े। वे (राजपरिवारके लोगोंसे भरे हुए पूर्वोक्त) रथके महान् घोषसे समस्त आकाशमण्डलको गुँजाते जा रहे थे। सूत, मागध और बन्दीजन नाना प्रकारकी स्तुतियोंद्वारा उनके गुण गाते थे। उस समय विशाल सेनासे घिरे हुए राजा युधिष्ठिर अपनी किरणोंसे आवृत हुए सूर्यदेवकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
बभौ युधिष्ठिरो राजा पौर्णमास्यामिवोडुराट् ॥

उनके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिससे राजा युधिष्ठिर पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाते थे ॥

चामरैर्हेमदण्डैश्च धूयमानः समन्ततः।
जयाशिषः प्रहृष्टानां नराणां पथि पाण्डवः ॥
प्रत्यगृह्णाद् यथान्यायं यथावद् भरतर्षभ।

उनके चारों ओर स्वर्णदण्डविभूषित चँवर डुलाये जाते थे। भरतश्रेष्ठ ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको मार्गमें बहुतेरे मनुष्य हर्षोल्लासमें भरकर 'महाराजकी जय हो' कहते हुए शुभाशीर्वाद देते थे और वे यथोचितरूपसे सिर झुकाकर उन सबको स्वीकार करते थे ॥

अपरे कुरुराजानं पथि यान्तं समाहिताः ॥
स्तुवन्ति सततं सौख्यान्मृगपक्षिस्वनैर्नराः।

उस मार्गमें दूसरे बहुत-से मनुष्य एकाग्रचित्त हो मृगों और पक्षियोंकी-सी आवाजमें निरन्तर सुखपूर्वक कुरुराज युधिष्ठिरकी स्तुति करते थे ॥

तथैव सैनिका राजन् राजानमनुयान्ति ये ॥
तेषां हलहलाशब्दो दिवं स्तब्ध्वा प्रतिष्ठितः।

जनमेजय! इसी प्रकार जो सैनिक राजा युधिष्ठिरके पीछे-पीछे जा रहे थे, उनका कोलाहल भी समूचे आकाशमण्डलको स्तब्ध करके गूँज रहा था ॥

नृपस्याग्रे ययौ भीमो गजस्कन्धगतो बली ॥
उभौ पार्श्वगतौ राज्ञः सदश्वौ वै सुकल्पितौ।
अधिरूढौ यमौ चापि जग्मतुर्भरतर्षभ ॥
शोभयन्तौ महासैन्यं तावुभौ रूपशालिनौ।

हाथीकी पीठपर बैठे हुए बलवान् भीमसेन राजाके आगे-आगे जा रहे थे। उनके दोनों ओर सजे-सजाये दो श्रेष्ठ अश्व थे, जिनपर नकुल और सहदेव बैठे थे। भरतश्रेष्ठ! वे दोनों भाई स्वयं तो अपने रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित थे ही, उस विशाल सेनाकी भी शोभा बढ़ा रहे थे ॥

पृष्ठतोऽनुययौ धीमान् पार्थः शस्त्रभृतां वरः ॥
श्वेताश्वो गाण्डिवं गृह्य अग्निदत्तं रथं गतः।

शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ परम बुद्धिमान् श्वेतवाहन अर्जुन अग्निदेवके दिये हुए रथपर बैठकर गाण्डीव धनुष धारण किये महाराजके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥

सैन्यमध्ये ययौ राजन् कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥
द्रौपदीप्रमुखा नार्यः सानुगाः सपरिच्छदाः।
आरुह्य ता विचित्राणि शिबिकानां शतानि च ॥
महत्या सेनया राजन्नग्रे राज्ञो ययुस्तदा।

राजन्! कुरुराज युधिष्ठिर सेनाके बीचमें चल रहे थे। द्रौपदी आदि स्त्रियाँ अपनी सेविकाओं तथा आवश्यक सामग्रियोंके साथ सैकड़ों विचित्र शिबिकाओं (पालकियों) पर आरूढ़ हो बड़ी भारी सेनाके साथ महाराजके आगे-आगे जा रही थीं।

समृद्धनरनागाश्वं सपताकरथध्वजम् ॥
समृद्धरथनिस्त्रिंशं पत्तिभिर्घोषितस्वनम्।

पाण्डवोंकी वह सेना हाथी-घोड़ों तथा पैदल सैनिकोंसे भरी-पूरी थी। उसमें बहुत-से रथ भी थे, जिनकी ध्वजाओंपर पताकाएँ फहरा रही थीं। उन सभी रथोंमें खड्ग आदि अस्त्र-शस्त्र संगृहीत थे। पैदल सैनिकोंका कोलाहल सब ओर फैल रहा था ॥

शङ्खदुन्दुभितालानां वेणुवीणानुनादितम् ॥
शुशुभे पाण्डवं सैन्यं प्रयातं तत् तदा नृप।

राजन्! शङ्ख, दुन्दुभि, ताल, वेणु और वीणा आदि वाद्योंकी तुमुल ध्वनि वहाँ गूँज रही थी। उस समय हस्तिनापुरकी ओर जाती हुई पाण्डवोंकी उस सेनाकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥

स सरांसि नदीश्चैव वनान्युपवनानि च ॥
अत्यक्रामन्महाराज पुरीं चाभ्यवपद्यत।
हस्तीपुरसमीपे तु कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥

जनमेजय! कुरुराज युधिष्ठिर अनेक सरोवर, नदी, वन और उपवनोंको लाँघते हुए हस्तिनापुरके समीप जा पहुँचे ॥

चक्रे निवेशनं तत्र ततः स सहसैनिकः।
शिवे देशे समे चैव न्यवसत् पाण्डवस्तदा ॥

वहाँ उन्होंने एक सुखद एवं समतल प्रदेशमें सैनिकोंसहित पड़ाव डाल दिया। उसी छावनीमें पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर स्वयं भी ठहर गये ॥

ततो राजन् समाहूय शोकविह्वलया गिरा।
एतद् वाक्यं च सर्वस्वं धृतराष्ट्रचिकीर्षितम्।
आचचक्षे यथावृत्तं विदुरोऽथ नृपस्य ह ॥)

राजन्! तदनन्तर विदुरजीने शोकाकुल वाणीमें महाराज युधिष्ठिरको वहाँका सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक बता दिया कि धृतराष्ट्र क्या करना चाहते हैं और इस द्यूतक्रीडाके पीछे क्या रहस्य है? ॥

धृतराष्ट्रेण चाहूतः कालस्य समयेन च ॥ २१ ॥
स हास्तिनपुरं गत्वा धृतराष्ट्रगृहं ययौ।
समियाय च धर्मात्मा धृतराष्ट्रेण पाण्डवः ॥ २२ ॥

तब धृतराष्ट्रके द्वारा बुलाये हुए कालके समयानुसार धर्मात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर हस्तिनापुरमें पहुँचकर धृतराष्ट्रके भवनमें गये और उनसे मिले ॥ २१-२२ ॥

तथा भीष्मेण द्रोणेन कर्णेन च कृपेण च।
समियाय यथान्यायं द्रौणिना च विभुः सह ॥ २३ ॥

इसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य और अश्वत्थामाके साथ भी यथायोग्य मिले ॥ २३ ॥

समेत्य च महाबाहुः सोमदत्तेन चैव ह।
दुर्योधनेन शल्येन सौबलेन च वीर्यवान् ॥ २४ ॥
ये चान्ये तत्र राजानः पूर्वमेव समागताः।
दुःशासनेन वीरेण सर्वैर्भ्रातृभिरेव च ॥ २५ ॥
जयद्रथेन च तथा कुरुभिश्चापि सर्वशः।
ततः सर्वैर्महाबाहुर्भ्रातृभिः परिवारितः ॥ २६ ॥
प्रविवेश गृहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः।
ददर्श तत्र गान्धारीं देवीं पतिमनुव्रताम् ॥ २७ ॥
स्नुषाभिः संवृतां शश्वत् ताराभिरिव रोहिणीम्।
अभिवाद्य स गान्धारीं तया च प्रतिनन्दितः ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् पराक्रमी महाबाहु युधिष्ठिर सोमदत्तसे मिलकर दुर्योधन, शल्य, शकुनि तथा जो राजा वहाँ पहलेसे ही आये हुए थे, उन सबसे मिले। फिर वीर दुःशासन, उसके समस्त भाई, राजा जयद्रथ तथा सम्पूर्ण कौरवोंसे मिल करके भाइयोंसहित महाबाहु युधिष्ठिरने बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रके भवनमें प्रवेश किया और वहाँ सदा ताराओंसे घिरी रहनेवाली रोहिणीदेवीके समान पुत्रवधुओंके साथ बैठी हुई पतिव्रता गान्धारीदेवीको देखा। युधिष्ठिरने गान्धारीको

प्रणाम किया और गान्धारीने भी उन्हें आशीर्वाद देकर प्रसन्न किया ॥ २४–२८ ॥

ददर्श पितरं वृद्धं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने अपने बूढ़े चाचा प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रका पुनः दर्शन किया ॥ २९ ॥

राज्ञा मूर्धन्युपाघ्रातास्ते च कौरवनन्दनाः ।
चत्वारः पाण्डवा राजन् भीमसेनपुरोगमाः ॥ ३० ॥

राजा धृतराष्ट्रने कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर तथा भीमसेन आदि अन्य चारों पाण्डवोंका मस्तक सूँघा॥ ३०॥

ततो हर्षः समभवत् कौरवाणां विशाम्पते ।
तान् दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान् पाण्डवान् प्रियदर्शनान् ॥ ३१ ॥

जनमेजय ! उन पुरुषश्रेष्ठ प्रियदर्शन पाण्डवोंको आये देख कौरवोंको बड़ा हर्ष हुआ ॥ ३१ ॥

विविशुस्तेऽभ्यनुज्ञाता रत्नवन्ति गृहाणि च ।
ददृशुश्चोपयातांस्तान् दुःशलाप्रमुखाः स्त्रियः ॥ ३२ ॥
याज्ञसेन्याः परामृद्धिं दृष्ट्वा प्रज्वलितामिव ।
स्नुषास्ता धृतराष्ट्रस्य नातिप्रमनसोऽभवन् ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् धृतराष्ट्रकी आज्ञा ले पाण्डवोंने रत्नमय गृहोंमें प्रवेश किया। दुःशला आदि स्त्रियोंने वहाँ आये हुए उन सबको देखा। द्रुपदकुमारीकी प्रज्वलित अग्निके समान उत्तम समृद्धि देखकर धृतराष्ट्रकी पुत्रवधुएँ अधिक प्रसन्न नहीं हुईं ॥ ३२-३३ ॥

ततस्ते पुरुषव्याघ्रा गत्वा स्त्रीभिस्तु संविदम् ।
कृत्वा व्यायामपूर्वाणि कृत्यानि प्रतिकर्म च ॥ ३४ ॥
ततः कृताह्निकाः सर्वे दिव्यचन्दनभूषिताः ।
कल्याणमनसश्चैव ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च ॥ ३५ ॥
मनोज्ञमशनं भुक्त्वा विविशुः शरणान्यथ ।

तदनन्तर वे नरश्रेष्ठ पाण्डव द्रौपदी आदि अपनी स्त्रियोंसे बातचीत करके पहले व्यायाम एवं केश-प्रसाधन आदि कार्य किया। तदनन्तर नित्यकर्म करके सबने अपनेको दिव्य चन्दन आदिसे विभूषित किया। तत्पश्चात् मनमें कल्याणकी भावना रखनेवाले पाण्डव ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर मनोनुकूल भोजन करनेके पश्चात् शयनगृहमें गये ॥ ३४-३५½ ॥

उपगीयमाना नारीभिरस्वपन् कुरुपुङ्गवाः ॥ ३६ ॥

वहाँ स्त्रियोंद्वारा अपने सुयशका गान सुनते हुए वे कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष सो गये ॥ ३६ ॥

जगाम तेषां सा रात्रिः पुण्या रतिविहारिणाम् ।
स्तूयमानाश्च विश्रान्ताः काले निद्रामथात्यजन् ॥ ३७ ॥

उनकी वह पुण्यमयी रात्रि रति-विलासपूर्वक समाप्त हुई। प्रातःकाल बन्दीजनोंके द्वारा स्तुति सुनते हुए पूर्ण विश्रामके पश्चात् उन्होंने निद्राका त्याग किया ॥ ३७ ॥

सुखोषितास्ते रजनीं प्रातः सर्वे कृताह्निकाः ।
सभां रम्यां प्रविविशुः कितवैरभिनन्दिताः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार सुखपूर्वक रात बिताकर वे प्रातःकाल उठे और संध्योपासनादि नित्यकर्म करनेके अनन्तर उस रमणीय सभामें गये। वहाँ जुआरियोंने उनका अभिनन्दन किया ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरसभागमनेऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिरसभागमनविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २३½ श्लोक मिलाकर कुल ६१½ श्लोक हैं)

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

जूएके अनौचित्यके सम्बन्धमें युधिष्ठिर और शकुनिका संवाद

वैशम्पायन उवाच

प्रविश्य तां सभां पार्था युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
समेत्य पार्थिवान् सर्वान् पूजार्हानभिपूज्य च ॥ १ ॥
यथावयः समेयाना उपविष्टा यथार्हतः ।
आसनेषु विचित्रेषु स्पर्ध्यास्तरणवत्सु च ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिर आदि कुन्तीकुमार उस सभामें पहुँचकर सब राजाओंसे मिले। अवस्थाक्रमके अनुसार समस्त पूजनीय राजाओंका बारी-बारीसे सम्मान करके सबसे मिलने-जुलनेके पश्चात् वे यथायोग्य सुन्दर रमणीय गलीचोंसे युक्त विचित्र आसनोंपर बैठे ॥ १-२॥

तेषु तत्रोपविष्टेषु सर्वेष्वथ नृपेषु च ।
शकुनिः सौबलस्तत्र युधिष्ठिरमभाषत ॥ ३ ॥

उनके एवं सब नरेशोंके बैठ जानेपर वहाँ सुबलकुमार शकुनिने युधिष्ठिरसे कहा ॥ ३ ॥

शकुनिरुवाच

उपस्तीर्णा सभा राजन् सर्वे त्वयि कृतक्षणाः ।
अक्षानुप्त्वा देवनस्य समयोऽस्तु युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

शकुनि बोला—महाराज युधिष्ठिर ! सभामें पासे फेंकनेवाला वस्त्र बिछा दिया गया है, सब आपकी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं । अब पासे फेंककर जूआ खेलनेका अवसर मिलना चाहिये ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

निकृतिर्देवनं पापं न क्षात्रोऽत्र पराक्रमः ।
न च नीतिर्ध्रुवा राजन् किं त्वं द्यूतं प्रशंससि ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन् ! जूआ तो एक प्रकारका छल है तथा पापका कारण है ! इसमें न तो क्षत्रियोचित पराक्रम दिखाया जा सकता है और न इसकी कोई निश्चित नीति ही है। फिर तुम द्यूतकी प्रशंसा क्यों करते हो ! ॥ ५ ॥

न हि मानं प्रशंसन्ति निकृतौ कितवस्य हि ।
शकुने मैव नो जैषीरमार्गेण नृशंसवत् ॥ ६ ॥

शकुने ! जुआरियोंका छल-कपटमें ही सम्मान होता है; सज्जन पुरुष वैसे सम्मानकी प्रशंसा नहीं करते । अतः तुम क्रूर मनुष्यकी भाँति अनुचित मार्गसे हमें जीतनेकी चेष्टा न करो ॥ ६ ॥

शकुनिरुवाच

यो वेत्ति संख्यां निकृतौ विधिज्ञ-
श्चेष्टास्वखिन्नः कितवोऽक्षजासु ।
महामतिर्यश्च जानाति द्यूतं
स वै सर्वं सहते प्रक्रियासु ॥ ७ ॥

शकुनि बोला—जिस अङ्कपर पासा पड़ता है, उसे जो पहले ही समझ लेता है, जो शठताका प्रतीकार करना जानता है एवं पासे फेंकने आदि समस्त व्यापारोंमें उत्साहपूर्वक लगा रहता है तथा जो परम बुद्धिमान् पुरुष द्यूतक्रीडाविषयक सब बातोंकी जानकारी रखता है, वही जूएका असली खिलाड़ी है; वह द्यूतक्रीडामें दूसरोंकी सारी शठतापूर्ण चेष्टाओंको सह लेता है ॥ ७ ॥

अक्षग्लहः सोऽभिवेत् परं न-
स्तेनैव दोषो भवतीह पार्थ ।
दीव्यामहे पार्थिव मा विशङ्कां
कुरुष्व पाणं च चिरं च मा कृथाः॥ ८ ॥

कुन्तीनन्दन ! यदि पासा विपरीत पड़ जाय तो हम खिलाड़ियोंमेंसे एक पक्षको पराजित कर सकता है; अतः जय-पराजय दैवाधीन पासोंके ही आश्रित है । उसीसे पराजयरूप दोषकी प्राप्ति होती है । हारनेकी शङ्का तो हमें भी है, फिर भी हम खेलते हैं । अतः भूमिपाल ! आप शङ्का न कीजिये, दाँव लगाइये, अब विलम्ब न कीजिये ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवमाहायमसितो देवलो मुनिसत्तमः ।
इमानि लोकद्वाराणि यो वै भ्राम्यति सर्वदा ॥ ९ ॥
इदं वै देवनं पापं निकृत्या कितवैः सह ।
धर्मेण तु जयो युद्धे तत्परं न तु देवनम् ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने कहा—मुनिश्रेष्ठ असित-देवलने, जो सदा इन लोकद्वारोंमें भ्रमण करते रहते हैं, ऐसा कहा है कि जुआरियोंके साथ शठतापूर्वक जो जूआ खेला जाता है, पाप है । धर्मानुकूल विजय तो युद्धमें ही प्राप्त होती है; अतः क्षत्रियोंके लिये युद्ध ही उत्तम है, जूआ खेलना नहीं ॥ ९-१० ॥

नार्या म्लेच्छन्ति भाषाभिर्मायया न चरन्त्युत ।
अजिह्ममशठं युद्धमेतत् सत्पुरुषव्रतम् ॥ ११ ॥

श्रेष्ठ पुरुष वाणीद्वारा किसीके प्रति अनुचित शब्द नहीं निकालते तथा कपटपूर्ण बर्ताव नहीं करते । कुटिलता और शठतासे रहित युद्ध ही सत्पुरुषोंका व्रत है ॥ ११ ॥

शक्तितो ब्राह्मणान् नूनं रक्षितुं प्रयतामहे ।
तद् वै वित्तं मातिदेवीर्मा जैषीः शकुने परान् ॥ १२ ॥

शकुने ! हमलोग जिस धनसे अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेका ही प्रयत्न करते हैं, उसको तुम जूआ खेलकर हमलोगोंसे हड़पनेकी चेष्टा न करो ॥ १२ ॥

निकृत्या कामये नाहं सुखान्युत धनानि वा ।
कितवस्येह कृतिनो वृत्तमेतन्न पूज्यते ॥ १३ ॥

मैं धूर्ततापूर्ण बर्तावके द्वारा सुख अथवा धन पानेकी इच्छा नहीं करता; क्योंकि जुआरीके कार्यको विद्वान् पुरुष अच्छा नहीं समझते ॥ १३ ॥

शकुनिरुवाच

श्रोत्रियः श्रोत्रियानेति निकृत्यैव युधिष्ठिर ।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥ १४ ॥

शकुनि बोला—युधिष्ठिर ! श्रोत्रिय विद्वान् दूसरे श्रोत्रिय विद्वानोंके पास जब उन्हें जीतनेके लिये जाता है, तब शठतासे ही काम लेता है । विद्वान् अविद्वानोंको शठतासे ही पराजित करता है; परंतु इसे जनसाधारण शठता नहीं कहते ॥ १४ ॥

अक्षैर्हि शिक्षितोऽभ्येति निकृत्यैव युधिष्ठिर ।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥ १५ ॥

धर्मराज ! जो द्यूतविद्यामें पूर्ण शिक्षित है, वह अशिक्षितोंपर शठतासे ही विजय पाता है । विद्वान् पुरुष अविद्वानोंको जो परास्त करता है, वह भी शठता ही है; किंतु लोग उसे शठता नहीं कहते ॥ १५ ॥

अकृतास्त्रं कृतास्त्रश्च दुर्बलं बलवत्तरः ।
एवं कर्मसु सर्वेषु निकृत्यैव युधिष्ठिर ।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥ १६ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर ! अस्त्रविद्यामें निपुण योद्धा अनाड़ी-

को एवं बलिष्ठ पुरुष दुर्बलको शठतासे ही जीतना चाहता है। इस प्रकार सब कार्योंमें विद्वान् पुरुष अविद्वानोंको शठतासे ही जीतते हैं; किंतु लोग उसे शठता नहीं कहते॥ १६॥

एवं त्वं मामिहाभ्येत्य निकृतिं यदि मन्यसे।
देवनाद् विनिवर्तस्व यदि ते विद्यते भयम्॥ १७॥

इसी प्रकार आप यदि मेरे पास आकर यह मानते हैं कि आपके साथ शठता की जायगी एवं यदि आपको भय मालूम होता है तो इस जूएके खेलसे निवृत्त हो जाइये॥ १७॥

युधिष्ठिर उवाच

आहूतो न निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम्।
विधिश्च बलवान् राजन् दिष्टस्यास्मि वशे स्थितः॥ १८॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! मैं बुलानेपर पीछे नहीं हटता, यह मेरा निश्चित व्रत है। दैव बलवान् है। मैं दैवके वशमें हूँ॥ १८॥

अस्मिन् समागमे केन देवनं मे भविष्यति।
प्रतिपाणश्च कोऽन्योऽस्ति ततो द्यूतं प्रवर्तताम्॥ १९॥

अच्छा तो यहाँ जिन लोगोंका जमाव हुआ है, उनमें किसके साथ मुझे जूआ खेलना होगा? मेरे मुकाबलेमें बैठकर दूसरा कौन पुरुष दाँव लगायेगा? इसका निश्चय हो जाय, तो जूएका खेल प्रारम्भ हो॥ १९॥

दुर्योधन उवाच

अहं दातास्मि रत्नानां धनानां च विशाम्पते॥ २०॥
मदर्थे देविता चायं शकुनिर्मातुलो मम।

दुर्योधन बोला—महाराज! दाँवपर लगानेके लिये धन और रत्न तो मैं दूँगा; परंतु मेरी ओरसे खेलेंगे ये मेरे मामा शकुनि॥ २०½॥

युधिष्ठिर उवाच

अन्येनान्यस्य वै द्यूतं विषमं प्रतिभाति मे।
एतद् विद्वन्नुपादत्स्व काममेवं प्रवर्तताम्॥ २१॥

युधिष्ठिरने कहा—दूसरेके लिये दूसरेका जूआ खेलना मुझे तो अनुचित ही प्रतीत होता है। विद्वन्! इस बातको समझ लो, फिर इच्छानुसार जूएका खेल प्रारम्भ हो॥ २१॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरशकुनिसंवादे एकोनषष्टितमोऽध्यायः॥ ५९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिरशकुनिसंवादविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५९॥

षष्टितमोऽध्यायः

द्यूतक्रीडाका आरम्भ

वैशम्पायन उवाच

उपोह्यमाने द्यूते तु राजानः सर्व एव ते।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विविशुस्तां सभां ततः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब जूएका खेल आरम्भ होने लगा, उस समय सब राजालोग धृतराष्ट्रको आगे करके उस सभामें आये॥ १॥

भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव विदुरश्च महामतिः।
नातिप्रीतेन मनसा तेऽन्ववर्तन्त भारत॥ २॥

भारत! भीष्म, द्रोण, कृप और परम बुद्धिमान् विदुर—ये सब लोग असंतुष्ट चित्तसे ही धृतराष्ट्रके पीछे-पीछे वहाँ आये॥ २॥

ते द्वन्द्वशः पृथक् चैव सिंहग्रीवा महौजसः।
सिंहासनानि भूरीणि विचित्राणि न भेजिरे॥ ३॥

सिंहके समान ग्रीवावाले वे महातेजस्वी राजालोग कहीं एक-एक आसनपर दो-दो तथा कहीं पृथक्-पृथक् एक-एक आसनपर एक ही व्यक्ति बैठे। इस प्रकार उन्होंने वहाँ रक्खे हुए बहुसंख्यक विचित्र सिंहासनोंको ग्रहण किया॥

शुशुभे सा सभा राजन् राजभिस्तैः समागतैः।
देवैरिव महाभागैः समवेतैस्त्रिविष्टपम्॥ ४॥

राजन्! जैसे महाभाग देवताओंके एकत्र होनेसे स्वर्गलोक सुशोभित होता है, उसी प्रकार उन आगन्तुक नरेशोंसे उस सभाकी बड़ी शोभा हो रही थी॥ ४॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे भास्वरमूर्तयः।
प्रावर्तत महाराज सुहृद्द्यूतमनन्तरम्॥ ५॥

महाराज! वे सब-के-सब वेदवेत्ता एवं शूरवीर थे तथा उनके शरीर तेजोयुक्त थे। उनके बैठ जानेके अनन्तर वहाँ सुहृदोंकी द्यूतक्रीडा आरम्भ हुई॥ ५॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं बहुधनो राजन् सागरावर्तसम्भवः।
मणिर्हारोत्तरः श्रीमान् कनकोत्तमभूषणः॥ ६॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! यह समुद्रके आवर्तमें उत्पन्न हुआ कान्तिमान् मणिरत्न बहुत बड़े मूल्यका है। मेरे हारोंमें यह सर्वोत्तम है तथा इसपर उत्तम सुवर्ण जड़ा गया है॥ ६॥

एतद् राजन् मम धनं प्रतिपाणोऽस्ति कस्तव।
येन मां त्वं महाराज धनेन प्रतिदीव्यसे॥ ७॥

राजन्! मेरी ओरसे यही धन दाँवपर रक्खा गया है। इसके बदलेमें तुम्हारी ओरसे कौन-सा धन दाँवपर रक्खा जाता है, जिस धनके द्वारा तुम मेरे साथ खेलना चाहते हो॥

दुर्योधन उवाच

सन्ति मे मणयश्चैव धनानि सुबहूनि च।
मत्सरश्च न मेऽर्थेषु जयस्वैनं दुरोदरम्॥ ८॥

दुर्योधन बोला—मेरे पास भी मणियाँ और बहुत-सा धन है, मुझे अपने धनपर अहंकार नहीं है। आप इस जूएको जीतिये॥ ८॥

वैशम्पायन उवाच

ततो जग्राह शकुनिस्तानक्षानक्षतत्त्ववित्।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत॥ ९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पासे फेंकनेकी कलामें अत्यन्त निपुण शकुनिने उन पासोंको हाथमें लिया और उन्हें फेंककर युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह दाँव मैंने जीता'॥ ९॥



इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्यूतारम्भे षष्टितमोऽध्यायः॥ ६०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्यूतारम्भविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६०॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

जूएमें शकुनिके छलसे प्रत्येक दाँवपर युधिष्ठिरकी हार

युधिष्ठिर उवाच

मत्तः कैतवकेनैव यज्जितोऽस्मि दुरोदरे।
शकुने हन्त दीव्यामो ग्लहमानाः परस्परम्॥ १॥

युधिष्ठिरने कहा—शकुने! तुमने छलसे इस दाँवमें मुझे हरा दिया, इसीपर तुम गर्वित हो उठे हो; आओ, हमलोग पुनः परस्पर पासे फेंककर जूआ खेलें॥ १॥

सन्ति निष्कसहस्रस्य भाण्डिन्यो भरिताः शुभाः।
कोशो हिरण्यमक्षय्यं जातरूपमनेकशः।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया॥ २॥

मेरे पास हजारों निष्कोंसे[1] भरी हुई बहुत-सी सुन्दर पेटियाँ रक्खी हैं। इसके सिवा खजाना है, अक्षय धन है और अनेक प्रकारके सुवर्ण हैं। राजन्! मेरा यह सब धन दाँवपर लगा दिया गया। मैं इसीके द्वारा तुम्हारे साथ खेलता हूँ॥

वैशम्पायन उवाच

कौरवाणां कुलकरं ज्येष्ठं पाण्डवमच्युतम्।
इत्युक्तः शकुनिः प्राह जितमित्येव तं नृपम्॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले कौरवोंके वंशधर एवं पाण्डुके ज्येष्ठ पुत्र राजा युधिष्ठिरसे शकुनिने फिर कहा—'लो, यह दाँव भी मैंने ही जीता'॥ ३॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं सहस्रसमितो वैयाघ्रः सुप्रतिष्ठितः।
सुचक्रोपस्करः श्रीमान् किङ्किणीजालमण्डितः॥ ४॥
संह्रादनो राजरथो य इहास्मानुपावहत्।
जैत्रो रथवरः पुण्यो मेघसागरनिःस्वनः॥
अष्टौ यं कुररच्छायाः सदश्वा राष्ट्रसम्मताः। ५॥
वहन्ति नैषां मुच्येत पदाद् भूमिमुपस्पृशन्।
एतद् राजन् धनं मह्यं तेन दीव्याम्यहं त्वया॥ ६॥

युधिष्ठिरने कहा—यह जो परमानन्ददायक राजरथ है, जो हमलोगोंको यहाँतक ले आया है, रथोंमें श्रेष्ठ जैत्र नामक पुण्यमय श्रेष्ठ रथ है। चलते समय इससे मेघ और समुद्रकी गर्जनाके समान गम्भीर ध्वनि होती रहती है। यह अकेला ही एक हजार रथोंके समान है। इसके ऊपर बाघका चमड़ा लगा हुआ है। यह अत्यन्त सुदृढ़ है। इसके पहिये तथा अन्य आवश्यक सामग्री बहुत सुन्दर है। यह परम शोभायमान

[1] १. प्राचीन कालमें प्रचलित एक सिक्का, जो एक कर्ष अथवा सोलह मासे सोनेका बना होता था।

रथ क्षुद्र घण्टिकाओंसे सजाया गया है। कुरर पक्षीकी-सी कान्तिवाले आठ अच्छे घोड़े, जो समूचे राष्ट्रमें सम्मानित हैं, इस रथको वहन करते हैं। भूमिका स्पर्श करनेवाला कोई भी प्राणी इन घोड़ोंके सामने पड़ जानेपर बच नहीं सकता। राजन्! इन घोड़ोंसहित यह रथ मेरा धन है, जिसे दाँवपर रखकर मैं तुम्हारे साथ जूआ खेलता हूँ ॥ ४–६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं श्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर छलका आश्रय लेनेवाले शकुनिने पुनः पासे फेंके और जीतका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह भी जीत लिया' ॥

युधिष्ठिर उवाच

शतं दासीसहस्राणि तरुण्यो हेमभद्रिकाः।
कम्बुकेयूरधारिण्यो निष्ककण्ठ्यः स्वलंकृताः ॥ ८ ॥
महार्हमाल्याभरणाः सुवस्त्राश्चन्दनोक्षिताः।
मणीन् हेम च बिभ्रत्यश्चतुःषष्टिविशारदाः ॥ ९ ॥
अनुसेवां चरन्तीमाः कुशला नृत्यसामसु।
स्नातकानाममात्यानां राज्ञां च मम शासनात्।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने कहा—मेरे पास एक लाख तरुणी दासियाँ हैं, जो सुवर्णमय माङ्गलिक आभूषण धारण करती हैं। जिनके हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ, बाँहोंमें भुजबंद, कण्ठमें निष्कोंका हार तथा अन्य अङ्गोंमें भी सुन्दर आभूषण हैं। बहुमूल्य हार उनकी शोभा बढ़ाते हैं। उनके वस्त्र बहुत ही सुन्दर हैं। वे अपने शरीरमें चन्दनका लेप लगाती हैं, मणि और सुवर्ण धारण करती हैं तथा चौसठ कलाओंमें निपुण हैं। नृत्य और गानमें भी वे कुशल हैं। ये सब-के-सब मेरे आदेशसे स्नातकों, मन्त्रियों तथा राजाओंकी सेवा-परिचर्या करती हैं। राजन्! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ ८–१० ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर कपटी शकुनिने पुनः जीतका निश्चय करके पासे फेंके और युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एतावन्ति च दासानां सहस्राण्युत सन्ति मे।
प्रदक्षिणानुलोमाश्च प्रावारवसनाः सदा ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने कहा—दासियोंकी तरह ही मेरे यहाँ एक लाख दास हैं। वे कार्यकुशल तथा अनुकूल रहनेवाले हैं। उनके शरीरपर सदा सुन्दर उत्तरीय वस्त्र सुशोभित होते हैं ॥ १२ ॥

प्राज्ञा मेधाविनो दान्ता युवानो मृष्टकुण्डलाः।
पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन् भोजयन्त्युत।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १३ ॥

वे चतुर, बुद्धिमान्, संयमी और तरुण अवस्थावाले हैं। उनके कानोंमें कुण्डल झिलमिलाते रहते हैं। वे हाथोंमें भोजनपात्र लिये दिन-रात अतिथियोंको भोजन परोसते रहते हैं। राजन्! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर पुनः शठताका आश्रय लेनेवाले शकुनिने अपनी ही जीतका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह दाँव भी मैंने जीत लिया' ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सहस्रसंख्या नागा मे मत्तास्तिष्ठन्ति सौबल।
हेमकक्षाः कृतापीडाः पद्मिनो हेममालिनः ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—सुबलकुमार! मेरे यहाँ एक हजार मतवाले हाथी हैं, जिनके बाँधनेके रस्से सुवर्णमय हैं। वे सदा आभूषणोंसे विभूषित रहते हैं। उनके कपोल और मस्तक आदि अङ्गोंपर कमलके चिह्न बने हुए हैं। उनके गलेमें सोनेके हार सुशोभित होते हैं ॥ १५ ॥

सुदान्ता राजवहनाः सर्वशब्दक्षमा युधि।
ईषादन्ता महाकायाः सर्वे चाष्टकरेणवः ॥ १६ ॥

वे अच्छी तरह वशमें किये हुए हैं और राजाओंकी सवारीके काममें आते हैं। युद्धमें वे सब प्रकारके शब्द सहन करनेवाले हैं। उनके दाँत हलदण्डके समान लंबे हैं और शरीर विशाल है। उनमेंसे प्रत्येकके आठ-आठ हथिनियाँ हैं ॥ १६ ॥

सर्वे च पुरभेत्तारो नवमेघनिभा गजाः।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १७ ॥

उनकी कान्ति नूतन मेघोंकी घटाके समान है। वे सब-के-सब बड़े-बड़े नगरोंको भी नाश कर देनेकी शक्ति रखते हैं। राजन्! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवंवादिनं पार्थं प्रहसन्निव सौबलः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! ऐसी बातें कहते हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे शकुनिने हँसकर कहा—'इस दाँवको भी मैंने ही जीता' ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

रथास्तावन्त एवेमे हेमदण्डाः पताकिनः।
हयैर्विनीतैः सम्पन्ना रथिभिश्चित्रयोधिभिः ॥ १९ ॥
एकैको ह्यत्र लभते सहस्रपरमां भृतिम्।
युध्यतोऽयुध्यतो वापि वेतनं मासकालिकम्।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २० ॥

युधिष्ठिरने कहा—मेरे पास उतने ही अर्थात् एक हजार रथ हैं, जिनकी ध्वजाओंमें सोनेके डंडे लगे हैं। उन रथोंपर पताकाएँ फहराती रहती हैं। उनमें सधे हुए घोड़े जोते जाते हैं और विचित्र युद्ध करनेवाले रथी उनमें बैठते हैं। उन रथियोंमेंसे प्रत्येकको अधिक-से-अधिक एक सहस्र स्वर्णमुद्राएँ तक वेतनमें मिलती हैं। वे युद्ध कर रहे हों या न कर रहे हों, प्रत्येक मासमें उन्हें यह वेतन प्राप्त होता रहता है। राजन् ! यह मेरा धन है, इसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ १९-२० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्ते वचने कृतवैरो दुरात्मवान्।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उनके ऐसा कहनेपर वैरी दुरात्मा शकुनिने युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह भी जीत लिया ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अश्वांस्तित्तिरिकल्माषान् गन्धर्वान् हेममालिनः।
ददौ चित्ररथस्तुष्टो यांस्तान् गाण्डीवधन्वने ॥ २२ ॥
युद्धे जितः पराभूतः प्रीतिपूर्वमरिंदमः।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—मेरे यहाँ तीतर पक्षीके समान विचित्र वर्णवाले गन्धर्वदेशके घोड़े हैं, जो सोनेके हारसे विभूषित हैं। शत्रुदमन चित्ररथ गन्धर्वने युद्धमें पराजित एवं तिरस्कृत होनेके पश्चात् संतुष्ट हो गाण्डीवधारी अर्जुनको प्रेमपूर्वक वे घोड़े भेंट किये थे। राजन् ! यह मेरा धन है जिसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥२२-२३॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर छलका आश्रय लेनेवाले शकुनिने पुनः अपनी ही जीतका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता है' ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

रथानां शकटानां च श्रेष्ठानां चायुतानि मे।
युक्तान्येव हि तिष्ठन्ति वाहैरुच्चावचैस्तथा ॥ २५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—मेरे पास दस हजार श्रेष्ठ रथ और छकड़े हैं। जिनमें छोटे-बड़े वाहन सदा जुटे ही रहते हैं ॥ २५ ॥

एवं वर्णस्य वर्णस्य समुच्चीय सहस्रशः।
यथा समुदिता वीराः सर्वे वीरपराक्रमाः ॥ २६ ॥

इसी प्रकार प्रत्येक वर्णके हजारों चुने हुए योद्धा मेरे यहाँ एक साथ रहते हैं। वे सब-के-सब वीरोचित पराक्रमसे सम्पन्न एवं शूरवीर हैं ॥ २६ ॥

क्षीरं पिबन्तस्तिष्ठन्ति भुञ्जानाः शालितण्डुलान्।
षष्टिस्तानि सहस्राणि सर्वे विपुलवक्षसः।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २७ ॥

उनकी संख्या साठ हजार है। वे दूध पीते और शालिके चावलका भात खाकर रहते हैं। उन सबकी छाती बहुत चौड़ी है। राजन् ! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर रखकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर शठताके उपासक शकुनिने पुनः युधिष्ठिरसे पूर्ण निश्चयके साथ कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता है' ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ताम्रलोहैः परिवृता निधयो ये चतुःशताः।
पञ्चद्रौणिक एकैकः सुवर्णस्याहतस्य वै ॥ २९ ॥
जातरूपस्य मुख्यस्य अनर्घेयस्य भारत।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरने कहा—मेरे पास ताँबे और लोहेकी चार सौ निधियाँ यानी खजानेसे भरी हुई पेटियाँ हैं। प्रत्येकमें पाँच-पाँच द्रोण विशुद्ध सोना भरा हुआ है, वह सारा सोना तपाकर शुद्ध किया हुआ है, उसकी कीमत आँकी नहीं जा सकती। भारत ! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर रखकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ २९-३० ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा सुनकर छलका आश्रय लेनेवाले शकुनिने पूर्ववत् पूर्ण निश्चयके साथ युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि देवने एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्यूतक्रीडाविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रको विदुरकी चेतावनी

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रवर्तिते द्यूते घोरे सर्वापहारिणि।
सर्वसंशयनिर्मोक्ता विदुरो वाक्यमब्रवीत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार जब सर्वस्वका अपहरण करनेवाली वह भयानक द्यूतक्रीडा चल रही थी, उसी समय समस्त संशयोंका निवारण करनेवाले विदुरजी बोल उठे॥ १॥

विदुर उवाच

महाराज विजानीहि यत् त्वां वक्ष्यामि भारत।
मुमूर्षोरौषधमिव न रोचेतापि ते श्रुतम्॥ २॥

विदुरजीने कहा—भरतकुलतिलक महाराज धृतराष्ट्र! मरणासन्न रोगीको जैसे ओषधि अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार आपलोगोंको मेरी शास्त्रसम्मत बात भी अच्छी नहीं लगेगी। फिर भी मैं आपसे जो कुछ कह रहा हूँ, उसे अच्छी तरह सुनिये और समझिये॥ २॥

यद् वै पुरा जातमात्रो रुराव
गोमायुवद् विस्वरं पापचेताः।
दुर्योधनो भरतानां कुलघ्नः
सोऽयं युक्तो भवतां कालहेतुः॥ ३॥

यह भरतवंशका विनाश करनेवाला पापी दुर्योधन पहले जब गर्भसे बाहर निकला था, गीदड़के समान जोर-जोरसे चिल्लाने लगा था; अतः यह निश्चय ही आप सब लोगोंके विनाशका कारण बनेगा॥ ३॥

गृहे वसन्तं गोमायुं त्वं वै मोहान्न बुध्यसे।
दुर्योधनस्य रूपेण शृणु काव्यां गिरं मम॥ ४॥

राजन्! दुर्योधनके रूपमें आपके घरके भीतर एक गीदड़ निवास कर रहा है; परंतु आप मोहवश इस बातको समझ नहीं पाते। सुनिये, मैं आपको शुक्राचार्यकी कही हुई नीतिकी बात बतलाता हूँ॥ ४॥

मधु वै माध्विको लब्ध्वा प्रपातं नैव बुध्यते।
आरुह्य तं मज्जति वा पतनं चाधिगच्छति॥ ५॥

मधु बेचनेवाला मनुष्य जब कहीं ऊँचे वृक्ष आदिपर मधुका छत्ता देख लेता है, तब वहाँसे गिरनेकी सम्भावनाकी ओर ध्यान नहीं देता। वह ऊँचे स्थानपर चढ़कर या तो मधु पाकर मग्न हो जाता है अथवा उस स्थानसे नीचे गिर जाता है॥ ५॥

सोऽयं मत्तोऽक्षद्यूतेन मधुवन्न परीक्षते।
प्रपातं बुध्यते नैव वैरं कृत्वा महारथैः॥ ६॥

वैसे ही यह दुर्योधन जूएके नशेमें इतना उन्मत्त हो गया है कि मधुमत्त पुरुषकी भाँति अपने ऊपर आनेवाले संकटको नहीं देखता। महारथी पाण्डवोंके साथ वैर करके हमें पतनके गर्तमें गिरकर मरना पड़ेगा, इस बातको समझ नहीं पा रहा है॥ ६॥

विदितं मे महाप्राज्ञ भोजेष्वेवासमञ्जसम्।
पुत्रं संत्यक्तवान् पूर्वं पौराणां हितकाम्यया॥ ७॥

महाप्राज्ञ! मुझे मालूम है कि भोजवंशके एक नरेशने पूर्वकालमें पुरवासियोंके हितकी इच्छासे अपने कुमार्गगामी पुत्रका परित्याग कर दिया था॥ ७॥

अन्धका यादवा भोजाः समेताः कंसमत्यजन्।
नियोगात् तु हते तस्मिन् कृष्णेनामित्रघातिना॥ ८॥

अन्धकों, यादवों और भोजोंने मिलकर कंसको त्याग दिया तथा उन्हींके आदेशसे शत्रुघाती श्रीकृष्णने उसको मार डाला॥ ८॥

एवं ते ज्ञातयः सर्वे मोदमानाः शतं समाः।
त्वन्नियुक्तः सव्यसाची निगृह्णातु सुयोधनम्॥ ९॥

इस प्रकार उसके मारे जानेसे समस्त बन्धु-बान्धव सदाके लिये सुखी हो गये हैं। आप भी आज्ञा दें तो ये सव्यसाची अर्जुन इस दुर्योधनको बंदी बना ले सकते हैं॥ ९॥

निग्रहादस्य पापस्य मोदन्तां कुरवः सुखम्।
काकेनेमांश्चित्रबर्हान् शार्दूलान् क्रोष्टुकेन च।
क्रीणीष्व पाण्डवान् राजन् मा मज्जीः शोकसागरे॥ १०॥

इसी पापीके कैद हो जानेसे समस्त कौरव सुख और आनन्दसे रह सकते हैं। राजन्! दुर्योधन कौवा है और पाण्डव मोर। इस कौवेको देकर आप विचित्र पंखवाले मयूरोंको खरीद लीजिये। इस गीदड़के द्वारा इन पाण्डवरूपी शेरोंको अपनाइये। शोकके समुद्रमें डूबकर प्राण न दीजिये॥ १०॥

त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥ ११॥

समूचे कुलकी भलाईके लिये एक मनुष्यको त्याग दे, गाँवके हितके लिये एक कुलको छोड़ दे, देशकी भलाईके लिये एक गाँवको त्याग दे और आत्माके उद्धारके लिये सारी पृथ्वीका ही परित्याग कर दे॥ ११॥

सर्वज्ञः सर्वभावज्ञः सर्वशत्रुभयंकरः।
इति स्म भाषते काव्यो जम्भत्यागे महासुरान्॥ १२॥

सबके मनोभावोंको जाननेवाले तथा सब शत्रुओंके लिये भयंकर सर्वज्ञ शुक्राचार्यने जम्भ दैत्यको त्याग करनेके समय समस्त बड़े-बड़े असुरोंसे यह कथा सुनायी थी॥ १२॥

हिरण्यष्ठीविनः कांश्चित् पक्षिणो वनगोचरान्।
गृहे किल कृतावासान् लोभाद् राजा न्यपीडयत्।
स चोपभोगलोभान्धो हिरण्यार्थी परंतप ॥१३॥

एक वनमें कुछ पक्षी रहते थे, जो अपने मुखसे सोना उगला करते थे। एक दिन जब वे अपने घोंसलोंमें आरामसे बैठे थे, उस देशके राजाने उन्हें लोभवश मरवा डाला। शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! उस राजाको एक साथ बहुत-सा सुवर्ण पा लेनेकी इच्छा थी। उपभोगके लोभने उसे अंधा बना दिया था ॥ १३ ॥

आयतिं च तदात्वं च उभे सद्यो व्यनाशयत्।
तदर्थकामस्तद्वत् त्वं मा द्रुहः पाण्डवान् नृप ॥१४॥

अतः उसने उस धनके लोभसे उन पक्षियोंका वध करके वर्तमान और भविष्य दोनों लाभोंका तत्काल नाश कर दिया। राजन्! इसी प्रकार आप पाण्डवोंका सारा धन हड़प लेनेके लोभसे उनके साथ द्रोह न करें ॥ १४ ॥

मोहात्मा तप्स्यसे पश्चात् पत्रिहा पुरुषो यथा।
(एतेन तव नाशः स्याद् बडिशाच्छफरो यथा।)
जातं जातं पाण्डवेभ्यः पुष्पमादत्स्व भारत ॥१५॥
मालाकार इवारामे स्नेहं कुर्वन् पुनः पुनः।

अन्यथा उन पक्षियोंकी हिंसा करनेवाले राजाकी भाँति आपको भी मोहवश पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इस द्रोहसे आपका उसी तरह सर्वनाश हो जायगा, जैसे बंसीका काँटा निगल लेनेसे मछलीका नाश हो जाता है। भरतकुलभूषण! जैसे माली उद्यानके वृक्षोंको बार-बार सींचता रहता है और समय-समयपर उनसे खिले पुष्पोंको चुनता भी रहता है, उसी प्रकार आप पाण्डवरूपी वृक्षोंको स्नेहजलसे सींचते हुए उनसे उत्पन्न होनेवाले धनरूपी पुष्पोंको लेते रहिये ॥ १५½ ॥

वृक्षानङ्गारकारीव मैनान् धाक्षीः समूलकान्।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥१६॥

जैसे कोयला बनानेवाला वृक्षोंको जलाकर भस्म कर देता है, उसी प्रकार आप उन्हें जड़मूलसहित जलानेकी चेष्टा न कीजिये। कहीं ऐसा न हो कि पाण्डवोंके साथ विरोध करनेके कारण आपको पुत्र, मन्त्री और सेनाके साथ यमलोकमें जाना पड़े ॥ १६ ॥

समवेतान् हि कः पार्थान् प्रतियुध्येत भारत।
मरुद्भिः सहितो राजन्नपि साक्षान्मरुत्पतिः ॥१७॥

भरतवंशीय राजन्! देवताओंसहित साक्षात् देवराज इन्द्र ही क्यों न हों, जब कुन्तीपुत्र संगठित होकर युद्धके लिये तैयार होंगे, उनका मुकाबला कौन कर सकता है? ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरहितवाक्ये द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें विदुरके हितकारक वचनसम्बन्धी बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १७½ श्लोक हैं)

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

विदुरजीके द्वारा जूएका घोर विरोध

विदुर उवाच

द्यूतं मूलं कलहस्याभ्युपैति
मिथो भेदं महते दारुणाय।
यदास्थितोऽयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
दुर्योधनः सृजते वैरमुग्रम् ॥ १ ॥

विदुरजी बोले—महाराज! जूआ खेलना झगड़ेकी जड़ है। इससे आपसमें फूट पैदा होती है, जो बड़े भयंकर संकटकी सृष्टि करती है। यह धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन उसीका आश्रय लेकर इस समय भयानक वैरकी सृष्टि कर रहा है ॥१॥

प्रातीपेयाः शान्तनवा भैमसेनाः सबाह्लिकाः।
दुर्योधनापराधेन कृच्छ्रं प्राप्स्यन्ति सर्वशः ॥ २ ॥

दुर्योधनके अपराधसे प्रतीप, शन्तनु, भीमसेन[1] तथा बाह्लीकके वंशज सब प्रकारसे घोर संकटमें पड़ जायँगे ॥ २ ॥

दुर्योधनो मदेनैष क्षेमं राष्ट्रादपोहति।
विषाणं गौरिव मदात् स्वयमारुजतेऽऽत्मनः ॥ ३ ॥

जैसे मतवाला बैल मदोन्मत्त होकर स्वयं ही अपने सींगोंको तोड़ लेता है, उसी प्रकार यह दुर्योधन मदान्धताके कारण स्वयं अपने राज्यसे मङ्गलका बहिष्कार कर रहा है ॥ ३ ॥

यश्चित्तमन्वेति परस्य राजन्
वीरः कविः स्वामवमन्य दृष्टिम्।
नावं समुद्रे इव बालनेत्रा-
मारुह्य घोरे व्यसने निमज्जेत् ॥ ४ ॥

राजन्! जो वीर और विद्वान् मनुष्य अपनी दृष्टिकी अवहेलना करके दूसरेके चित्तके अनुसार चलता है, वह समुद्रमें मूर्ख नाविकद्वारा चलायी जाती हुई नावपर बैठे हुए मनुष्यके समान भयंकर विपत्तिमें पड़ जाता है ॥ ४ ॥

दुर्योधनो ग्लहते पाण्डवेन
प्रियायसे त्वं जयतीति तच्च।
अतिनर्मा जायते सम्प्रहारो
यतो विनाशः समुपैति पुंसाम् ॥ ५ ॥

१. कुरुकुलके एक पूर्वपुरुष।

दुर्योधन पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके साथ दाँव लगाकर जूआ खेल रहा है, साथ ही वह जीत भी रहा है; यह सोचकर तुम बहुत प्रसन्न हो रहे हो; किंतु आजका यह अतिशय विनोद शीघ्र ही भयंकर युद्धके रूपमें परिणत होनेवाला है, जिससे (अगणित) मनुष्योंका संहार होगा ॥ ५ ॥

आकर्षस्तेऽवाक्फलः सुप्रणीतो
हृदि प्रौढो मन्त्रपदः समाधिः ।
युधिष्ठिरेण कलहस्तवाय-
मचिन्तितोऽनभिमतः स्वबन्धुना ॥ ६ ॥

जूआ अधःपतन करनेवाला है; परंतु शकुनिने इसे उत्तम मानकर यहाँ उपस्थित किया है। यह जूएका निश्चय आपलोगोंके हृदयमें गुप्त मन्त्रणाके पश्चात् स्थिर हुआ है। परंतु यह जूएका खेल आपके अपने ही बन्धु युधिष्ठिरके साथ आपके विचार और इच्छाके विरुद्ध कलहके रूपमें परिणत हो जायगा ॥

प्रातीपेयाः शान्तनवाः शृणुध्वं
काव्यां वाचं संसदि कौरवाणाम् ।
वैश्वानरं प्रज्वलितं सुघोरं
मा यास्यध्वं मन्दमनुप्रपन्नाः ॥ ७ ॥

प्रतीप और शन्तनुके वंशजो ! कौरवोंकी सभामें मेरी कही हुई बात ध्यानसे सुनो। यह विद्वानोंको भी मान्य है। तुमलोग इस मूर्ख दुर्योधनके पीछे चलकर वैरकी धधकती हुई भयानक आगमें न कूदो ॥ ७ ॥

यदा मन्युं पाण्डवोऽजातशत्रु-
र्न संयच्छेदक्षमदाभिभूतः ।
वृकोदरः सव्यसाची यमौ च
कोऽत्र द्वीपः स्यात् तुमुले वस्तदानीम् ॥ ८ ॥

जूएके मदमें भूले हुए अजातशत्रु युधिष्ठिर जब अपना क्रोध न रोक सकेंगे तथा भीमसेन, अर्जुन एवं नकुल-सहदेव भी जब क्रुद्ध हो उठेंगे, उस समय घमासान युद्ध छिड़ जानेपर विपत्तिके महासागरमें डूबते हुए तुमलोगोंका कौन आश्रयदाता होगा ? ॥ ८ ॥

महाराज प्रभवस्त्वं धनानां
पुरा द्यूतान्मनसा यावदिच्छेः ।
बहुवित्तान् पाण्डवांश्चेज्जयस्त्वं
किं ते तत् स्याद् वसु विन्देह पार्थान् ॥ ९ ॥

महाराज ! आप जूएसे पहले भी मनसे जितना धन चाहते, उतना धन पा सकते थे; यदि अत्यन्त धनवान् पाण्डवोंको आपने जूएके द्वारा जीत ही लिया तो इससे आपका क्या होगा ? कुन्तीके पुत्र स्वयं ही धनस्वरूप हैं। आप इन्हींको अपनाइये ॥ ९ ॥

जानीमहे देवितं सौबलस्य
वेद द्यूते निकृतिं पर्वतीयः ।
यतः प्राप्तः शकुनिस्तत्र यातु
मा यूयुधो भारत पाण्डवेयान् ॥१०॥

मैं सुबलपुत्र शकुनिका जूआ खेलना कैसा है, यह जानता हूँ। यह पर्वतीय नरेश जूएकी सारी कपटविद्याको जानता है। मेरी इच्छा है कि यह शकुनि जहाँसे आया है, वहीं लौट जाय। भारत ! इस तरह कौरवों तथा पाण्डवोंमें युद्धकी आग न भड़काओ ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें विदुरवाक्यविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुष्षष्टितमोऽध्यायः

दुर्योधनका विदुरको फटकारना और विदुरका उसे चेतावनी देना

दुर्योधन उवाच

परेषामेव यशसा श्लाघसे त्वं
सदा क्षत्तः कुत्सयन् धार्तराष्ट्रान् ।
जानीमहे विदुर यत् प्रियस्त्वं
बालानिवास्मानवमन्यसे नित्यमेव ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—विदुर ! तुम सदा हमारे शत्रुओंके ही सुयशकी डींग हाँकते रहते हो और हम सभी धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी निन्दा किया करते हो। तुम किसके प्रेमी हो, यह हम जानते हैं, हमें मूर्ख समझकर तुम सदा हमारा अपमान ही करते रहते हो ॥ १ ॥

स विज्ञेयः पुरुषोऽन्यत्रकामो
निन्दाप्रशंसे हि तथा युनक्ति ।
जिह्वा कथं ते हृदयं व्यनक्ति यो
न ज्यायसः कृथा मनसः प्रातिकूल्यम् ॥ २ ॥

जो दूसरोंको चाहनेवाला है, वह मनुष्य पहचानमें आ जाता है; क्योंकि वह जिसके प्रति द्वेष होता है, उसकी निन्दा और जिसके प्रति राग होता है, उसकी प्रशंसामें संलग्न रहता है। तुम्हारा हृदय हमारे प्रति किस प्रकार द्वेषसे परिपूर्ण है, यह बात तुम्हारी जिह्वा प्रकट कर देती है। तुम अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषोंके प्रति इस प्रकार हृदयका द्वेष न प्रकट करो ॥

उत्सङ्गे च व्याल इवाहितोऽसि
मार्जारवत् पोषकं चोपहंसि।
भर्तृघ्नं त्वां न हि पापीय आहु-
स्तस्मात् क्षत्तः किं न बिभेषि पापात्॥ ३ ॥

हमारे लिये तुम गोदमें बैठे साँपके समान हो और बिलावकी भाँति पालनेवालेका ही गला घोंट रहे हो। तुम स्वामि-द्रोह रखते हो, फिर भी तुम्हें लोग पापी नहीं कहते? विदुर! तुम इस पापसे डरते क्यों नहीं?॥ ३॥

जित्वा शत्रून् फलमाप्तं महद् वै
माऽस्मान् क्षत्तः परुषाणीह वोचः।
द्विषद्भिस्त्वं सम्प्रयोगाभिनन्दी
मुहुर्द्वेषं यासि नः सम्प्रयोगात्॥ ४ ॥

हमने शत्रुओंको जीतकर (धनरूप) महान् फल प्राप्त किया है। विदुर! तुम हमसे यहाँ कटु वचन न बोलो। तुम शत्रुओंके साथ मेल करके प्रसन्न हो रहे हो और हमारे साथ मेल करके भी अब (हमारे शत्रुओंकी प्रशंसा करके) हमलोगोंके बारंबार द्वेषके पात्र बन रहे हो॥ ४॥

अमित्रतां याति नरोऽक्षमं ब्रुवन्
निगूहते गुह्यममित्रसंस्तवे।
तदाश्रितोऽपत्रप किं नु बाधसे
यदिच्छसि त्वं तदिहाभिभाषसे॥ ५ ॥

अक्षम्य कटुवचन बोलनेवाला मनुष्य शत्रु बन जाता है। शत्रुकी प्रशंसा करते समय भी लोग अपने गूढ़ मनोभावको छिपाये रखते हैं। निर्लज्ज विदुर! तुम भी उसी नीतिका आश्रय लेकर चुप क्यों नहीं रहते? हमारे काममें बाधा क्यों डालते हो? तुम जो मनमें आता है, वही बक जाते हो॥ ५॥

मा नोऽवमंस्था विद्म मनस्तवेदं
शिक्षस्व बुद्धिं स्थविराणां सकाशात्।
यशो रक्षस्व विदुर सम्प्रणीतं
मा व्यापृतः परकार्येषु भूस्त्वम्॥ ६ ॥

विदुर! तुम हमलोगोंका अपमान न करो, तुम्हारे इस मनको हम जान चुके हैं। तुम बड़े-बूढ़ोंके निकट बैठकर बुद्धि सीखो। अपने पूर्वार्जित यशकी रक्षा करो। दूसरोंके कामोंमें हस्तक्षेप न करो॥ ६॥

अहं कर्तेति विदुर मा च मंस्था
मा नो नित्यं परुषाणीह वोचः।
न त्वां पृच्छामि विदुर यद्धितं मे
स्वस्ति क्षत्तर्मा तितिक्षून् क्षिणु त्वम्॥ ७ ॥

विदुर! 'मैं ही कर्ता-धर्ता हूँ' ऐसा न समझो और हमें प्रतिदिन कड़वी बातें न कहो। मैं अपने हितके सम्बन्धमें तुमसे कोई सलाह नहीं पूछता हूँ। तुम्हारा भला हो। हम तुम्हारी कठोर बातें सहते चले जाते हैं, इसलिये हम क्षमाशीलोंको तुम अपने वचनरूपी बाणोंसे छेदो मत॥ ७॥

एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता
गर्भे शयानं पुरुषं शास्ति शास्ता।
तेनानुशिष्टः प्रवणादिवाम्भो
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा भवामि॥ ८ ॥

देखो, इस जगत्का शासन करनेवाला एक ही है, दूसरा नहीं। वही शासक माताके गर्भमें सोये हुए शिशुपर भी शासन करता है; उसीके द्वारा मैं भी अनुशासित हूँ। अतः जैसे जल स्वाभाविक ही नीचेकी ओर जाता है, वैसे ही वह जगन्नियन्ता मुझे जिस काममें लगाता है, मैं वैसे ही उसी काममें लगता हूँ॥ ८॥

भिनत्ति शिरसा शैलमहिं भोजयते च यः।
धीरेव कुरुते तस्य कार्याणामनुशासनम्।
यो बलादनुशास्तीह सोऽमित्रं तेन विन्दति॥ ९ ॥

जिनसे प्रेरित होकर मनुष्य अपने सिरसे पर्वतको विदीर्ण करना चाहता है—अर्थात् पत्थरपर सिर पटककर स्वयं ही अपनेको पीड़ा देता है तथा जिनकी प्रेरणासे मनुष्य सर्पको भी दूध पिलाकर पालता है, उसी सर्वनियन्ताकी बुद्धि समस्त जगत्के कार्योंका अनुशासन करती है। जो बलपूर्वक किसीपर अपना उपदेश लादता है, वह अपने उस व्यवहारके द्वारा उसे अपना शत्रु बना लेता है॥ ९॥

मित्रतामनुवृत्तं तु समुपेक्षेत पण्डितः।
प्रदीप्य यः प्रदीप्ताग्निं प्राक् चिरं नाभिधावति।
भस्मापि न स विन्देत शिष्टं क्वचन भारत॥ १०॥

इस प्रकार मित्रताका अनुसरण करनेवाले मनुष्यको विद्वान् पुरुष त्याग दे। भारत! जो पहले कपूरमें आग लगाकर उसके प्रज्वलित हो जानेपर देरतक उसे बुझानेके लिये नहीं दौड़ता, वह कहीं उसकी बची हुई राख भी नहीं पाता॥ १०॥

न वासयेत् पारवर्ग्यं द्विषन्तं
विशेषतः क्षत्तरहितं मनुष्यम्।
स यत्रेच्छसि विदुर तत्र गच्छ
सुसान्त्विता ह्यसती स्त्री जहाति॥ ११॥

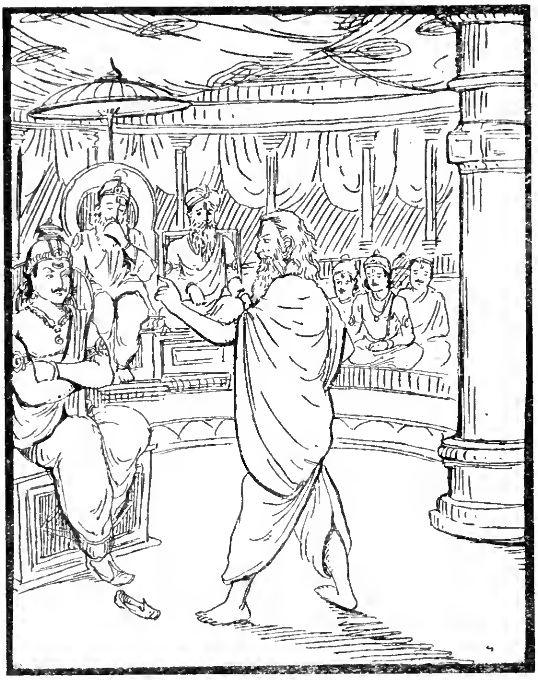
विदुर! जो शत्रुका पक्षपाती हो, अपनेसे द्वेष रखता हो और अहित करनेवाला हो, ऐसे मनुष्यको घरमें नहीं रहने देना चाहिये। अतः तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चले जाओ। कुलटा स्त्रीको मीठी-मीठी बातोंद्वारा कितनी ही सान्त्वना दी जाय, वह पतिको छोड़ ही देती है॥ ११॥

विदुर उवाच

एतावता पुरुषं ये त्यजन्ति
तेषां वृत्तं साक्षिवद् ब्रूहि राजन्।

राज्ञां हि चित्तानि परिप्लुतानि
सान्त्वं दत्त्वा मुसलैर्घातयन्ति ॥ १२ ॥

विदुरने कहा—राजन्! जो इस प्रकार मनके प्रतिकूल किंतु हितभरी शिक्षा देनेमात्रसे अपने हितैषी पुरुषको त्याग देते हैं; उनका वह बर्ताव कैसा है, यह आप साक्षीकी भाँति पक्षपातरहित होकर बताइये; क्योंकि राजाओंके चित्त द्वेषसे भरे होते हैं, इसलिये वे सामने मीठे वचनोंद्वारा सान्त्वना देकर पीठ-पीछे मूसलोंसे आघात करवाते हैं ॥ १२ ॥



अबालत्वं मन्यसे राजपुत्र
बालोऽहमित्येव सुमन्दबुद्धे।
यः सौहृदे पुरुषं स्थापयित्वा
पश्चादेनं दूषयते स बालः ॥ १३ ॥

राजकुमार दुर्योधन! तुम्हारी बुद्धि बड़ी मन्द है। तुम अपनेको विद्वान् और मुझे मूर्ख समझते हो। जो किसी पुरुषको सुहृद्के पदपर स्थापित करके फिर स्वयं ही उसपर दोषारोपण करता है, वही मूर्ख है ॥ १३ ॥

न श्रेयसे नीयते मन्दबुद्धिः
स्त्री श्रोत्रियस्येव गृहे प्रदुष्टा।
ध्रुवं न रोचेद् भरतर्षभस्य
पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः ॥ १४ ॥

जैसे श्रोत्रियके घरमें दुराचारिणी स्त्री कल्याणमय अग्निहोत्र आदि कार्योंमें नहीं लगायी जा सकती, उसी प्रकार मन्दबुद्धि पुरुषको कल्याणके मार्गपर नहीं लगाया जा सकता। जैसे कुमारी कन्याको साठ वर्षका बूढ़ा पति नहीं पसंद आ सकता, उसी प्रकार भरतवंशशिरोमणि दुर्योधनको निश्चय ही मेरा उपदेश रुचिकर नहीं प्रतीत होता ॥ १४ ॥

अतः प्रियं चेदनुकाङ्क्षसे त्वं
सर्वेषु कार्येषु हिताहितेषु।
स्त्रियश्च राजञ्जडपङ्गुकांश्च
पृच्छ त्वं वै तादृशांश्चैव सर्वान् ॥ १५ ॥

राजन्! यदि तुम भले-बुरे सभी कार्योंमें केवल चिकनी-चुपड़ी बातें ही सुनना चाहते हो, तो स्त्रियों मूर्खों, पङ्गुओं तथा उसी तरहके अन्य सब मनुष्योंसे सलाह लिया करो ॥ १५ ॥

लभ्यते खलु पापीयान् नरो नु प्रियवागिह।
अप्रियस्य हि पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १६ ॥

इस संसारमें सदा मनको प्रिय लगनेवाले वचन बोलनेवाला महापापी मनुष्य भी अवश्य मिल सकता है; परंतु हितकर होते हुए भी अप्रिय वचनको कहने और सुननेवाले दोनों दुर्लभ हैं ॥ १६ ॥

यस्तु धर्मपरश्च स्याद्धित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥ १७ ॥

जो धर्ममें तत्पर रहकर स्वामीके प्रिय-अप्रियका विचार छोड़कर अप्रिय होनेपर भी हितकर वचन बोलता है, वही राजाका सच्चा सहायक है ॥ १७ ॥

अव्याधिजं कटुकं तीक्ष्णमुष्णं
यशोमुषं परुषं पूतिगन्धि।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ १८ ॥

महाराज! जो पी लेनेपर मानसिक रोगोंका नाश करनेवाला है, कड़वी बातोंसे जिसकी उत्पत्ति होती है, जो तीखा, तापदायक, कीर्तिनाशक, कठोर और दूषित प्रतीत होता है, जिसे दुष्टलोग नहीं पी सकते तथा जो सत्पुरुषोंके पीनेकी वस्तु है, उस क्रोधको पीकर शान्त हो जाइये ॥ १८ ॥

वैचित्रवीर्यस्य यशो धनं च
वाञ्छाम्यहं सहपुत्रस्य शश्वत्।
यथा तथा तेऽस्तु नमश्च तेऽस्तु
ममापि च स्वस्ति दिशन्तु विप्राः ॥ १९ ॥

मैं तो चाहता हूँ कि विचित्रवीर्यनन्दन धृतराष्ट्र और उनके पुत्रोंको सदा यश और धन दोनों प्राप्त हों, परंतु दुर्योधन! तुम जैसे रहना चाहते हो, वैसे रहो, तुम्हें नमस्कार है। ब्राह्मणलोग मेरे लिये भी कल्याणका आशीर्वाद दें ॥ १९ ॥

आशीविषान् नेत्रविषान् कोपयेन्न च पण्डितः।
एवं तेऽहं वदामीदं प्रयतः कुरुनन्दन ॥ २० ॥

कुरुनन्दन ! मैं एकाग्र हृदयसे तुमसे यह बात बता रहा हूँ, 'विद्वान् पुरुष उन सर्पोंको कुपित न करें, जो दाँतों और नेत्रोंसे भी विष उगलते रहते हैं (अर्थात् ये पाण्डव तुम्हारे लिये सर्पोंसे भी अधिक भयंकर हैं, इन्हें मत छेड़ो)'॥ २०॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरहितवाक्ये चतुष्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें विदुरके हितकारक वचनविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका धन, राज्य, भाइयों तथा द्रौपदीसहित अपनेको भी हारना

शकुनिरुवाच

बहु वित्तं पराजैषीः पाण्डवानां युधिष्ठिर।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम्॥ १ ॥

शकुनि बोला—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! आप अबतक पाण्डवोंका बहुत-सा धन हार चुके। यदि आपके पास बिना हारा हुआ कोई धन शेष हो तो बताइये ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मम वित्तमसंख्येयं यदहं वेद सौबल।
अथ त्वं शकुने कस्मात् वित्तं समनुपृच्छसि ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—सुबलपुत्र ! मेरे पास असंख्य धन है, जिसे मैं जानता हूँ। शकुने ! तुम मेरे धनका परिमाण क्यों पूछते हो ? ॥ २ ॥

अयुतं प्रयुतं चैव शङ्कुं पद्मं तथार्बुदम्।
खर्वं शङ्खं निखर्वं च महापद्मं च कोटयः॥ ३ ॥
मध्यं चैव परार्धं च सपरं चात्र पण्यताम्।
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया॥ ४ ॥

अयुत, प्रयुत, शङ्कु, पद्म, अर्बुद, खर्व, शङ्ख, निखर्व, महापद्म, कोटि, मध्य, परार्ध और पर इतना धन मेरे पास है। राजन् ! खेलो, मैं इसीको दाँवपर रखकर तुम्हारे साथ खेलता हूँ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर शकुनिने छलका आश्रय ले पुनः इसी निश्चयके साथ युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह धन भी मैंने जीत लिया' ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

गवाश्वं बहुधेनूकमसंख्येयमजाविकम्।
यत् किंचिदनुपर्णाशां प्राक् सिन्धोरपि सौबल।
एतन्मम धनं सर्वं तेन दीव्याम्यहं त्वया॥ ६ ॥

युधिष्ठिर बोले—सुबलपुत्र ! मेरे पास सिन्धु नदीके पूर्वी तटसे लेकर पर्णाशा नदीके किनारेतक जो भी बैल, घोड़े, गाय, भेड़ एवं बकरी आदि पशुधन हैं, वह असंख्य हैं। उनमें भी दूध देनेवाली गौओंकी संख्या अधिक है। यह सारा मेरा धन है, जिसे मैं दाँवपर रखकर तुम्हारे साथ खेलता हूँ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर शठताके आश्रित हुए शकुनिने अपनी ही जीत घोषित करते हुए युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पुरं जनपदो भूमिरब्राह्मणधनैः सह।
अब्राह्मणाश्च पुरुषा राजञ्छिष्टं धनं मम।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया॥ ८ ॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! ब्राह्मणोंको जीविकारूपमें जो ग्रामादि दिये गये हैं, उन्हें छोड़कर शेष जो नगर, जनपद तथा भूमि मेरे अधिकारमें है तथा जो ब्राह्मणेतर मनुष्य मेरे यहाँ रहते हैं, वे सब मेरे शेष धन हैं। शकुने ! मैं इसी धनको दाँवपर रखकर तुम्हारे साथ जूआ खेलता हूँ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर कपटका आश्रय ग्रहण करके शकुनिने पुनः अपनी ही जीतका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'इस दाँवपर भी मेरी ही विजय हुई' ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

राजपुत्रा इमे राजञ्छोभन्ते यैर्विभूषिताः।
कुण्डलानि च निष्काश्च सर्वं राजविभूषणम्।
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया॥ १० ॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! ये राजपुत्र जिन आभूषणोंसे विभूषित होकर शोभित हो रहे हैं, वे कुण्डल और गलेके स्वर्णभूषण आदि समस्त राजकीय आभूषण मेरे धन हैं। इन्हें दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर छल-कपटका आश्रय लेनेवाले शकुनिने युधिष्ठिरसे निश्चयपूर्वक कहा—'लो, यह भी मैंने जीता' ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्यामो युवा लोहिताक्षः सिंहस्कन्धो महाभुजः।
नकुलो ग्लह एवैको विद्ध्येतन्मम तद्धनम् ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्यामवर्ण, तरुण, लाल नेत्रों और सिंहके समान कंधोंवाले महाबाहु नकुलको ही इस समय मैं दाँवपर रखता हूँ, इन्हींको मेरे दाँवका धन समझो ॥ १२ ॥

शकुनिरुवाच

प्रियस्ते नकुलो राजन् राजपुत्रो युधिष्ठिर।
अस्माकं वशतां प्राप्तो भूयः केनेह दीव्यसे ॥ १३ ॥

शकुनि बोला—धर्मराज युधिष्ठिर ! आपके परमप्रिय राजकुमार नकुल तो हमारे अधीन हो गये, अब किस धनसे आप यहाँ खेल रहे हैं ? ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु तानक्षाञ्छकुनिः प्रत्यदीव्यत।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर शकुनिने पासे फेंके और युधिष्ठिरसे कहा—'लो, इस दाँवपर भी मेरी ही विजय हुई' ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं धर्मान् सहदेवोऽनुशास्ति
लोके ह्यस्मिन् पण्डिताख्यां गतश्च।
अनर्हता राजपुत्रेण तेन
दीव्याम्यहं चाप्रियवत् प्रियेण ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर बोले—ये सहदेव धर्मोंका उपदेश करते हैं। संसारमें पण्डितके रूपमें इनकी ख्याति है। मेरे प्रिय राजकुमार सहदेव यद्यपि दाँवपर लगानेके योग्य नहीं हैं, तो भी मैं अप्रिय वस्तुकी भाँति इन्हें दाँवपर रखकर खेलता हूँ ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर छली शकुनिने उसी निश्चयके साथ युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ १६ ॥

शकुनिरुवाच

माद्रीपुत्रौ प्रियौ राजंस्तवेमौ विजितौ मया।
गरीयांसौ तु ते मन्ये भीमसेनधनंजयौ ॥ १७ ॥

शकुनि बोला—राजन् ! आपके ये दोनों प्रिय भाई माद्रीके पुत्र नकुल-सहदेव तो मेरेद्वारा जीत लिये गये, अब रहे भीमसेन और अर्जुन। मैं समझता हूँ, ये दोनों आपके लिये अधिक गौरवकी वस्तु हैं (इसीलिये आप इन्हें दाँवपर नहीं लगाते) ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अधर्मं चरसे नूनं यो नावेक्षसि वै नयम्।
यो नः सुमनसां मूढ विभेदं कर्तुमिच्छसि ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर बोले—ओ मूढ़ ! तू निश्चय ही अधर्मका आचरण कर रहा है, जो न्यायकी ओर नहीं देखता। तू शुद्ध हृदयवाले हमारे भाइयोंमें फूट डालना चाहता है ॥ १८ ॥

शकुनिरुवाच

गर्ते मत्तः प्रपतते प्रमत्तः स्थाणुमृच्छति।
ज्येष्ठो राजन् वरिष्ठोऽसि नमस्ते भरतर्षभ ॥ १९ ॥

शकुनि बोला—राजन् ! धनके लोभसे अधर्म करनेवाला मतवाला मनुष्य नरककुण्डमें गिरता है। अधिक उन्मत्त हुआ ठूँठा काठ हो जाता है। आप तो आयुमें बड़े और गुणोंमें श्रेष्ठ हैं। भरतवंशविभूषण ! आपको नमस्कार है ॥ १९ ॥

स्वप्ने तानि न दृश्यन्ते जाग्रतो वा युधिष्ठिर।
कितवा यानि दीव्यन्तः प्रलपन्त्युत्कटा इव ॥ २० ॥

धर्मराज युधिष्ठिर ! जुआरी जूआ खेलते समय पागल होकर जो अनाप-शनाप बातें बक जाया करते हैं, वे न कभी स्वप्नमें दिखायी देती हैं और न जाग्रत्कालमें ही ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच

यो नः संख्ये नौरिव पारनेता
जेता रिपूणां राजपुत्रस्तरस्वी।
अनर्हता लोकवीरेण तेन
दीव्याम्यहं शकुने फाल्गुनेन ॥ २१ ॥

युधिष्ठिरने कहा—शकुने ! जो युद्धरूपी समुद्रमें हमलोगोंको नौकाकी भाँति पार लगानेवाले हैं तथा शत्रुओंपर विजय पाते हैं, वे लोकविख्यात वेगशाली वीर राजकुमार अर्जुन यद्यपि दाँवपर लगानेयोग्य नहीं हैं, तो भी उनको दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर कपटी शकुनिने पूर्ववत् विजयका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'यह भी मैंने ही जीता' ॥ २२ ॥

शकुनिरुवाच

अयं मया पाण्डवानां धनुर्धरः
पराजितः पाण्डवः सव्यसाची ।
भीमेन राजन् दयितेन दीव्य
यत् कैतवं पाण्डव तेऽवशिष्टम्॥ २३ ॥

शकुनि फिर बोला—राजन्! ये पाण्डवोंमें धनुर्धर वीर सव्यसाची अर्जुन मेरे द्वारा जीत लिये गये। पाण्डुनन्दन! अब आपके पास भीमसेन ही जुआरियोंको प्राप्त होनेवाले धनके रूपमें शेष हैं, अतः उन्हींको दाँवपर रखकर खेलिये ॥ २३॥

युधिष्ठिर उवाच

यो नो नेता युधि नः प्रणेता
यथा वज्री दानवशत्रुरेकः ।
तिर्यक्प्रेक्षी संनतभ्रूर्महात्मा
सिंहस्कन्धो यश्च सदात्यमर्षी ॥ २४ ॥
बलेन तुल्यो यस्य पुमान् न विद्यते
गदाभृतामग्र्य इहारिमर्दनः ।
अनर्हता राजपुत्रेण तेन
दीव्याम्यहं भीमसेनेन राजन् ॥ २५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! जो युद्धमें हमारे सेनापति और दानवशत्रु वज्रधारी इन्द्रके समान अकेले ही आगे बढ़नेवाले हैं; जो तिरछी दृष्टिसे देखते हैं, जिनकी भौंहें धनुषकी भाँति झुकी हुई हैं, जिनका हृदय विशाल और कंधे सिंहके समान हैं, जो सदा अत्यन्त अमर्षमें भरे रहते हैं, बलमें जिनकी समानता करनेवाला कोई पुरुष नहीं है, जो गदाधारियोंमें अग्रगण्य तथा अपने शत्रुओंको कुचल डालनेवाले हैं, उन्हीं राजकुमार भीमसेनको दाँवपर लगाकर मैं जुआ खेलता हूँ। यद्यपि वे इसके योग्य नहीं हैं ॥ २४-२५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर शठताका आश्रय लेकर शकुनिने उसी निश्चयके साथ युधिष्ठिरसे कहा, यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ २६ ॥

शकुनिरुवाच

बहु वित्तं पराजैषीर्भ्रातृंश्च सहयद्विपान् ।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम्॥ २७ ॥

शकुनि बोला—कुन्तीनन्दन! आप अपने भाइयों और हाथी-घोड़ोंसहित बहुत धन हार चुके, अब आपके पास बिना हारा हुआ धन कोई अवशिष्ट हो, तो बतलाइये ॥२७॥

युधिष्ठिर उवाच

अहं विशिष्टः सर्वेषां भ्रातॄणां दयितस्तथा ।
कुर्यामहं जितः कर्म स्वयमात्मन्युपप्लुते ॥ २८ ॥

युधिष्ठिरने कहा—मैं अपने सब भाइयोंमें बड़ा और सबका प्रिय हूँ; अतः अपनेको ही दाँवपर लगाता हूँ। यदि मैं हार गया तो पराजित दासकी भाँति सब कार्य करूँगा ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर कपटी शकुनिने निश्चयपूर्वक अपनी जीत घोषित करते हुए युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ २९ ॥

शकुनिरुवाच

एतत् पापिष्ठमकरोर्यदात्मानमहारयः ।
शिष्टे सति धने राजन् पाप आत्मपराजयः ॥ ३० ॥

शकुनि फिर बोला—राजन्! आप अपनेको दाँवपर लगाकर जो हार गये, यह आपके द्वारा बड़ा अधर्म-कार्य हुआ। धनके शेष रहते हुए अपने आपको हार जाना महान् पाप है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा मताक्षस्तान् ग्लहे सर्वानवस्थितान् ।
पराजयं लोकवीरानुक्त्वा राज्ञां पृथक् पृथक्॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पासा फेंकनेकी विद्यामें निपुण शकुनिने राजा युधिष्ठिरसे दाँव लगानेके विषयमें उक्त बातें कहकर सभामें बैठे हुए लोकप्रसिद्ध वीर राजाओंको पृथक्-पृथक् पाण्डवोंकी पराजय सूचित की ॥ ३१ ॥

शकुनिरुवाच

अस्ति ते वै प्रिया राजन् ग्लह एकोऽपराजितः ।
पणस्व कृष्णां पाञ्चालीं तयाऽऽत्मानं पुनर्जय ॥ ३२ ॥

तत्पश्चात् शकुनिने फिर कहा—राजन्! आपकी प्रियतमा द्रौपदी एक ऐसा दाँव है, जिसे आप अबतक नहीं हारे हैं; अतः पाञ्चालराजकुमारी कृष्णाको आप दाँवपर रखिये और उसके द्वारा फिर अपनेको जीत लीजिये ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

नैव ह्रस्वा न महती न कृष्णा नातिरोहिणी ।
नीलकुञ्चितकेशी च तया दीव्याम्यहं त्वया ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—जो न नाटी है न लंबी, न कृष्णवर्णा है न अधिक रक्तवर्णा तथा जिसके केश नीले और घुँघराले हैं, उस द्रौपदीको दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ जूआ खेलता हूँ ॥ ३३ ॥

शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगन्धया ।
शारदोत्पलसेविन्या रूपेण श्रीसमानया ॥ ३४ ॥

उसके नेत्र शरद्‌ऋतुके प्रफुल्ल कमलदलके समान सुन्दर एवं विशाल हैं। उसके शरीरसे शारदीय कमलके समान सुगन्ध

फैलती रहती है। वह शरद्‌ऋतुके कमलोंका सेवन करती है तथा रूपमें साक्षात् लक्ष्मीके समान है ॥ ३४ ॥

तथैव स्यादानृशंस्यात् तथा स्याद् रूपसम्पदा।
तथा स्याच्छीलसम्पत्त्या यामिच्छेत् पुरुषः स्त्रियम्॥३५॥

पुरुष जैसी स्त्री प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखता है, उसमें वैसा ही दयाभाव है, वैसी ही रूपसम्पत्ति है तथा वैसे ही शील-स्वभाव हैं ॥ ३५ ॥

सर्वैर्गुणैर्हि सम्पन्नामनुकूलां प्रियंवदाम्।
यादृशीं धर्मकामार्थसिद्धिमिच्छेन्नरः स्त्रियम्॥ ३६ ॥

वह समस्त सद्‌गुणोंसे सम्पन्न तथा मनके अनुकूल और प्रिय वचन बोलनेवाली है। मनुष्य धर्म, काम और अर्थकी सिद्धिके लिये जैसी पत्नीकी इच्छा रखता है, द्रौपदी वैसी ही है ॥३६॥

चरमं संविशति या प्रथमं प्रतिबुध्यते।
आगोपालाविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम्॥ ३७ ॥

वह ग्वालों और भेड़ोंके चरवाहोंसे भी पीछे सोती और सबसे पहले जागती है। कौन-सा कार्य हुआ और कौन-सा नहीं हुआ, इन सबकी वह जानकारी रखती है ॥ ३७ ॥

आभाति पद्मवद् वक्त्रं सस्वेदं मल्लिकेव च।
वेदिमध्या दीर्घकेशी ताम्रास्या नातिलोमशा॥ ३८ ॥

उसका स्वेदबिन्दुओंसे विभूषित मुख कमलके समान सुन्दर और मल्लिकाके समान सुगन्धित है। उसका मध्यभाग वेदीके समान कृश दिखायी देता है। उसके सिरके केश बड़े-बड़े हैं, मुख और ओष्ठ अरुणवर्णके हैं तथा उसके अङ्गोंमें अधिक रोमावलियाँ नहीं हैं ॥ ३८ ॥

तथैवंविधया राजन् पाञ्चाल्याहं सुमध्यया।
ग्लहं दीव्यामि चार्वङ्‌ग्या द्रौपद्या हन्त सौबल॥ ३९ ॥

सुबलपुत्र! ऐसी सर्वाङ्गसुन्दरी सुमध्यमा पाञ्चाल-राजकुमारी द्रौपदीको दाँवपर रखकर मैं तुम्हारे साथ जूआ खेलता हूँ; यद्यपि ऐसा करते हुए मुझे महान् कष्ट हो रहा है ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु वचने धर्मराजेन धीमता।
धिग्धिगित्येव वृद्धानां सभ्यानां निःसृता गिरः॥ ४० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! बुद्धिमान् धर्मराजके ऐसा कहते ही उस सभामें बैठे हुए बड़े-बूढ़े लोगोंके मुखसे 'धिक्कार है, धिक्कार है' की आवाज आने लगी ॥

चुक्षुभे सा सभा राजन् राज्ञां संजज्ञिरे शुचः।
भीष्मद्रोणकृपादीनां स्वेदश्च समजायत॥ ४१ ॥

राजन्! उस समय सारी सभामें हलचल मच गयी। राजाओंको बड़ा शोक हुआ। भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदिके शरीरसे पसीना छूटने लगा ॥ ४१ ॥

शिरो गृहीत्वा विदुरो गतसत्त्व इवाभवत्।
आस्ते ध्यायन्नधोवक्त्रो निःश्वसन्निव पन्नगः॥ ४२ ॥

विदुरजी तो दोनों हाथोंसे अपना सिर थामकर बेहोश-से हो गये। वे फुफकारते हुए सर्पकी भाँति उच्छ्‌वास लेकर मुँह नीचे किये हुए गम्भीर चिन्तामें निमग्न हो बैठे रह गये ॥ ४२ ॥

(बाह्लीकः सोमदत्तश्च प्रातीपेयः ससंजयः।
द्रौणिभूरिश्रवाश्चैव युयुत्सुर्धृतराष्ट्रजः॥
हस्तौ पिंषन्नधोवक्त्रा निःश्वसन्त इवोरगाः॥)

बाह्लीक, प्रतीपके पौत्र सोमदत्त, भीष्म, सञ्जय, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा तथा धृतराष्ट्रपुत्र युयुत्सु—ये सब मुँह नीचे किये सर्पोंके समान लंबी साँसें खींचते हुए अपने दोनों हाथ मलने लगे ॥

धृतराष्ट्रस्तु तं हृष्टः पर्यपृच्छत् पुनः पुनः।
किं जितं किं जितमिति ह्याकारं नाभ्यरक्षत॥ ४३ ॥

धृतराष्ट्र मन-ही-मन प्रसन्न हो उनसे बार-बार पूछ रहे थे, 'क्या हमारे पक्षकी जीत हो रही है।' वे अपनी प्रसन्नताकी आकृतिको न छिपा सके ॥ ४३ ॥

जहर्ष कर्णोऽतिभृशं सह दुःशासनादिभिः।
इतरेषां तु सभ्यानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम्॥ ४४ ॥

दुःशासन आदिके साथ कर्णको तो बड़ा हर्ष हुआ; परंतु अन्य सभासदोंकी आँखोंसे आँसू गिरने लगे ॥ ४४ ॥

सौबलस्त्वभिधायैवं जितकाशी मदोत्कटः।
जितमित्येव तानक्षान् पुनरेवान्वपद्यत॥ ४५ ॥

सुबलपुत्र शकुनिने मैंने यह भी जीत लिया, ऐसा कह-कर पासोंको पुनः उठा लिया। उस समय वह विजयोल्लाससे सुशोभित और मदोन्मत्त हो रहा था ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीपराजये पञ्चषष्टितमोऽध्यायः॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्रौपदीपराजयविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके $1\frac{1}{2}$ मिलाकर कुल $46\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

षट्‌षष्टितमोऽध्यायः

विदुरका दुर्योधनको फटकारना

दुर्योधन उवाच

एहि क्षत्तर्द्रौपदीमानयस्व
प्रियां भार्यां सम्मतां पाण्डवानाम्।
सम्मार्जतां वेश्म परैतु शीघ्रं
तत्रास्तु दासीभिरपुण्यशीला॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—विदुर! यहाँ आओ। तुम जाकर

द्यूत-क्रीडामें युधिष्ठिरकी पराजय





दुःशासनका द्रौपदीके केश पकड़कर खींचना

पाण्डवोंकी प्यारी और मनोऽनुकूल पत्नी द्रौपदीको यहाँ ले आओ। वह पापाचारिणी शीघ्र यहाँ आये और मेरे महलमें झाड़ू लगाये। उसे वहीं दासियोंके साथ रहना होगा ॥ १ ॥

विदुर उवाच

दुर्विभाषं भाषितं त्वादृशेन
न मन्द सम्बुध्यसि पाशबद्धः।
प्रपाते त्वं लम्बमानो न वेत्सि
व्याघ्रान् मृगः कोपयसेऽतिवेलम् ॥ २ ॥

विदुर बोले—ओ मूर्ख! तेरे-जैसे नीचके मुखसे ही ऐसा दुर्वचन निकल सकता है। अरे! तू कालपाशसे बँधा हुआ है, इसीलिये कुछ समझ नहीं पाता। तू ऐसे ऊँचे स्थानमें लटक रहा है, जहाँसे गिरकर प्राण जानेमें अधिक विलम्ब नहीं; किंतु तुझे इस बातका पता नहीं है। तू एक साधारण मृग होकर व्याघ्रोंको अत्यन्त क्रुद्ध कर रहा है ॥ २ ॥

आशीविषास्ते शिरसि पूर्णकोपा महाविषाः।
मा कोपिष्ठाः सुमन्दात्मन् मा गमस्त्वं यमक्षयम् ॥ ३ ॥

मन्दात्मन्! तेरे सिरपर कोपमें भरे हुए महान् विषधर सर्प चढ़ आये हैं। तू उनका क्रोध न बढ़ा, यमलोकमें जानेको उद्यत न हो ॥ ३ ॥

न हि दासीत्वमापन्ना कृष्णा भवितुमर्हति।
अनीशेन हि राज्ञैषा पणे न्यस्तेति मे मतिः ॥ ४ ॥

द्रौपदी कभी दासी नहीं हो सकती, क्योंकि राजा युधिष्ठिर जब पहले अपनेको हारकर द्रौपदीको दाँवपर लगानेका अधिकार खो चुके थे, उस दशामें उन्होंने इसे दाँवपर रखा है (अतः मेरा विश्वास है कि द्रौपदी हारी नहीं गयी) ॥ ४ ॥

अयं धत्ते वेणुरिवात्मघाती
फलं राज्ञा धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
द्यूतं हि वैराय महाभयाय
मत्तो न बुध्यत्ययमन्तकालम् ॥ ५ ॥

जैसे बाँस अपने नाशके लिये ही फल धारण करता है, उसी प्रकार धृतराष्ट्रके पुत्र इस राजा दुर्योधनने महान् भयदायक वैरकी सृष्टिके लिये इस जूएके खेलको अपनाया है। यह ऐसा मतवाला हो गया है कि मौत सिरपर नाच रही है; किंतु इसे उसका पता ही नहीं है ॥ ५ ॥

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेदुषतीं पापलोक्याम् ॥ ६ ॥

किसीको मर्मभेदी बात न कहे, किसीसे कठोर वचन न बोले। नीच कर्मके द्वारा शत्रुको वशमें करनेकी चेष्टा न करे। जिस बातसे दूसरेको उद्वेग हो, जो जलन पैदा करनेवाली और नरककी प्राप्ति करानेवाली हो, वैसी बात मुँहसे कभी न निकाले ॥ ६ ॥

समुच्चरन्त्यतिवादाश्च वक्त्राद्
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य नाममर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥ ७ ॥

मुँहसे जो कटु वचनरूपी बाण निकलते हैं, उनसे आहत हुआ मनुष्य रात-दिन शोक और चिन्तामें डूबा रहता है। वे दूसरेके मर्मपर ही आघात करते हैं; अतः विद्वान् पुरुषको दूसरोंके प्रति निष्ठुर वचनोंका प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥ ७ ॥

अजो हि शस्त्रमगिलत् किलैकः
शस्त्रे विपन्ने शिरसास्य भूमौ।
निकृन्तनं स्वस्य कण्ठस्य घोरं
तद्वद् वैरं मा कृथाः पाण्डुपुत्रैः ॥ ८ ॥

कहते हैं, एक बकरा कोई शस्त्र निगलने लगा; किंतु जब वह निगला न जा सका, तब उसने पृथ्वीपर अपना सिर पटक-पटककर उस शस्त्रको निगल जानेका प्रयत्न किया। जिसका परिणाम यह हुआ कि वह भयानक शस्त्र उस बकरेका ही गला काटनेवाला हो गया। इसी प्रकार तुम पाण्डवोंसे वैर न ठानो ॥ ८ ॥

न किंचिदित्थं प्रवदन्ति पार्था
वनेचरं वा गृहमेधिनं वा।
तपस्विनं वा परिपूर्णविद्यं
भषन्ति हैवं श्वनराः सदैव ॥ ९ ॥

कुन्तीके पुत्र किसी वनवासी, गृहस्थ, तपस्वी अथवा विद्वान्से ऐसी कड़ी बात कभी नहीं बोलते। तुम्हारे-जैसे कुत्तेके-से स्वभाववाले मनुष्य ही सदा इस तरह दूसरोंको भूँका करते हैं ॥ ९ ॥

द्वारं सुघोरं नरकस्य जिह्मं
न बुध्यते धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
तमन्वेतारो बहवः कुरूणां
द्यूतोदये सह दुःशासनेन ॥ १० ॥

धृतराष्ट्रका पुत्र नरकके अत्यन्त भयंकर एवं कुटिल द्वारको नहीं देख रहा है। दुःशासनके साथ कौरवोंमेंसे बहुत-से लोग दुर्योधनकी इस द्यूतक्रीडामें उसके साथी बन गये ॥ १० ॥

मज्जन्त्यलाबूनि शिलाः प्लवन्ते
मुह्यन्ति नावोऽम्भसि शश्वदेव।
मूढो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
न मे वाचः पथ्यरूपाः शृणोति ॥ ११ ॥

चाहे तूँबी जलमें डूब जाय, पत्थर तैरने लग जाय तथा नौकाएँ भी सदा ही जलमें डूब जाया करें; परंतु धृतराष्ट्रका यह मूर्ख पुत्र राजा दुर्योधन मेरी हितकर बातें नहीं सुन सकता ॥ ११ ॥

अन्तो नूनं भवितायं कुरूणां
सुदारुणः सर्वहरो विनाशः।
वाचः काव्याः सुहृदां पथ्यरूपा
न श्रूयन्ते वर्धते लोभ एव ॥१२॥

यह दुर्योधन निश्चय ही कुरुकुलका नाश करनेवाला होगा। इसके द्वारा अत्यन्त भयंकर सर्वनाशका अवसर उपस्थित होगा। यह अपने सुहृदोंका पाण्डित्यपूर्ण हितकर वचन भी नहीं सुनता; इसका लोभ बढ़ता ही जा रहा है ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरवाक्ये षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें विदुरवाक्यविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

प्रातिकामीके बुलानेसे न आनेपर दुःशासनका सभामें द्रौपदीको केश पकड़कर घसीटकर लाना एवं सभासदोंसे द्रौपदीका प्रश्न

वैशम्पायन उवाच

धिगस्तु क्षत्तारमिति ब्रुवाणो
दर्पेण मत्तो धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
अवैक्षत प्रातिकामीं सभाया-
मुवाच चैनं परमार्यमध्ये ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन गर्वसे उन्मत्त हो रहा था। उसने 'विदुरको धिक्कार है' ऐसा कहकर प्रातिकामीकी ओर देखा और सभामें बैठे हुए श्रेष्ठ पुरुषोंके बीच उससे कहा ॥ १ ॥

दुर्योधन उवाच

प्रातिकामिन् द्रौपदीमानयस्व
न ते भयं विद्यते पाण्डवेभ्यः।
क्षत्ता ह्ययं विवदत्येव भीतो
न चास्माकं वृद्धिकामः सदैव ॥ २ ॥

दुर्योधन बोला—प्रातिकामिन् ! तुम द्रौपदीको यहाँ ले आओ। तुम्हें पाण्डवोंसे कोई भय नहीं है। ये विदुर तो डरपोक हैं, अतः सदा ऐसी ही बातें कहा करते हैं। ये कभी हमलोगोंकी वृद्धि नहीं चाहते ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रातिकामी स सूतः
प्रायाच्छीघ्रं राजवचो निशम्य।
प्रविश्य च श्वेव हि सिंहगोष्ठं
समासदन्महिषीं पाण्डवानाम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर राजाकी आज्ञा शिरोधार्य करके वह सूत प्रातिकामी शीघ्र चला गया एवं जैसे कुत्ता सिंहकी माँदमें घुसे, उसी प्रकार उस राजभवनमें प्रवेश करके वह पाण्डवोंकी महारानीके पास गया ॥

प्रातिकाम्युवाच

युधिष्ठिरो द्यूतमदेन मत्तो
दुर्योधनो द्रौपदि त्वामजैषीत्।
सा त्वं प्रपद्यस्व धृतराष्ट्रस्य वेश्म
नयामि त्वां कर्मणे याज्ञसेनि ॥ ४ ॥

प्रातिकामी बोला—द्रुपदकुमारी ! धर्मराज युधिष्ठिर जूएके मदसे उन्मत्त हो गये थे। उन्होंने सर्वस्व हारकर आपको दाँवपर लगा दिया। तब दुर्योधनने आपको जीत लिया। याज्ञसेनी ! अब आप धृतराष्ट्रके महलमें पधारें। मैं आपको वहाँ दासीका काम करवानेके लिये ले चलता हूँ ॥ ४ ॥

द्रौपद्युवाच

कथं त्वेवं वदसि प्रातिकामिन्
को हि दीव्येद् भार्यया राजपुत्रः।
मूढो राजा द्यूतमदेन मत्तो
ह्यभून्नान्यत् कैतवमस्य किंचित् ॥ ५ ॥

द्रौपदीने कहा—प्रातिकामिन् ! तू ऐसी बात कैसे कहता है ? कौन राजकुमार अपनी पत्नीको दाँवपर रखकर जूआ खेलेगा ? क्या राजा युधिष्ठिर जूएके नशेमें इतने पागल हो गये कि उनके पास जुआरियोंको देनेके लिये दूसरा कोई धन नहीं रह गया ? ॥ ५ ॥

प्रातिकाम्युवाच

यदा नाभूत् कैतवमन्यदस्य
तदादेवीत् पाण्डवोऽजातशत्रुः।
न्यस्ताः पूर्वं भ्रातरस्तेन राज्ञा
स्वयं चात्मा त्वमथो राजपुत्रि ॥ ६ ॥

प्रातिकामी बोला—राजकुमारी ! जब जुआरियोंको देनेके लिये दूसरा कोई धन नहीं रह गया, तब अजातशत्रु पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर इस प्रकार जूआ खेलने लगे। पहले तो

उन्होंने अपने भाइयोंको दाँवपर लगाया, उसके बाद अपनेको और अन्तमें आपको भी दाँवपर रख दिया ॥ ६ ॥

द्रौपद्युवाच

गच्छ त्वं कितवं गत्वा सभायां पृच्छ सूतज ।
किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवा नु माम् ॥ ७ ॥

द्रौपदीने कहा—सूतपुत्र ! तुम सभामें उन जुआरी महाराजके पास जाओ और जाकर यह पूछो कि 'आप पहले अपनेको हारे थे या मुझे ?' ॥ ७ ॥

एतज्ज्ञात्वा समागच्छ ततो मां नय सूतज ।
ज्ञात्वा चिकीर्षितमहं राज्ञो यास्यामि दुःखिता ॥ ८ ॥

सूतनन्दन ! यह जानकर आओ । तब मुझे ले चलो । राजा क्या करना चाहते हैं ? यह जानकर ही मैं दुःखिनी अबला उस सभामें चलूँगी ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

सभां गत्वा स चोवाच द्रौपद्यास्तद् वचस्तदा ।
युधिष्ठिरं नरेन्द्राणां मध्ये स्थितमिदं वचः ॥ ९ ॥
कस्येशो नः पराजैषीरिति त्वामाह द्रौपदी ।
किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवापि माम् ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! प्रातिकामीने सभामें जाकर राजाओंके बीचमें बैठे हुए युधिष्ठिरसे द्रौपदीकी वह बात कह सुनायी । उसने कहा—'द्रौपदी आपसे पूछना चाहती है कि किस-किस वस्तुके स्वामी रहते हुए आप मुझे हारे हैं ? आप पहले अपनेको हारे हैं या मुझे ?' ॥ ९-१० ॥

युधिष्ठिरस्तु निश्चेता गतसत्त्व इवाभवत् ।
न तं सूतं प्रत्युवाच वचनं साध्वसाधु वा ॥ ११ ॥

राजन् ! उस समय युधिष्ठिर अचेत और निष्प्राण-से हो रहे थे, अतः उन्होंने प्रातिकामीको भला-बुरा कुछ भी उत्तर नहीं दिया ॥ ११ ॥

दुर्योधन उवाच

इहैवागत्य पाञ्चाली प्रश्नमेनं प्रभाषताम् ।
इहैव सर्वे शृण्वन्तु तस्याश्चैतस्य यद् वचः ॥ १२ ॥

तब दुर्योधन बोला—सूतपुत्र ! जाकर कह दो, द्रौपदी यहीं आकर अपने इस प्रश्नको पूछे । यहीं सब सभासद् उसके प्रश्न और युधिष्ठिरके उत्तरको सुनें ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

स गत्वा राजभवनं दुर्योधनवशानुगः ।
उवाच द्रौपदीं सूतः प्रातिकामी व्यथान्वितः ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! प्रातिकामी दुर्योधनके वशमें था, इसलिये वह राजभवनमें जाकर द्रौपदीसे व्यथित होकर बोला ॥ १३ ॥

प्रातिकाम्युवाच

सभ्यास्त्वमी राजपुत्र्याह्वयन्ति
मन्ये प्राप्तः संक्षयः कौरवाणाम् ।
न वै समृद्धिं पालयते लघीयान्
यस्त्वां सभां नेष्यति राजपुत्रि ॥ १४ ॥

प्रातिकामीने कहा—राजकुमारी ! वे (दुर्योधन आदि) सभासद् तुम्हें सभामें ही बुला रहे हैं । मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, अब कौरवोंके विनाशका समय आ गया है जो (दुर्योधन) इतना गिर गया है कि तुम्हें सभामें बुलानेका साहस करता है, वह कभी अपने धन-वैभवकी रक्षा नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

द्रौपद्युवाच

एवं नूनं व्यदधात् संविधाता
स्पर्शावुभौ स्पृशतो वृद्धबालौ ।
धर्मं त्वेकं परमं प्राह लोके
स नः शमं धास्यति गोप्यमानः ॥ १५ ॥

द्रौपदीने कहा—सूतपुत्र ! निश्चय ही विधाताका ऐसा ही विधान है । बालक और वृद्ध सबको सुख-दुःख प्राप्त होते हैं । जगत्में एकमात्र धर्मको ही श्रेष्ठ बतलाया जाता है । यदि हम उसका पालन करें तो वह हमारा कल्याण करेगा ॥ १५ ॥

सोऽयं धर्मो मात्यगात् कौरवान् वै
सभ्यान् गत्वा पृच्छ धर्म्यं वचो मे ।
ते मां ब्रूयुर्निश्चितं तत् करिष्ये
धर्मात्मानो नीतिमन्तो वरिष्ठाः ॥ १६ ॥

मेरे इस धर्मका उल्लंघन न हो, इसलिये तुम सभामें बैठे हुए कुरुवंशियोंके पास जाकर मेरी यह धर्मानुकूल बात पूछो—'इस समय मुझे क्या करना चाहिये?' वे धर्मात्मा, नीतिज्ञ और श्रेष्ठ महापुरुष मुझे जैसी आज्ञा देंगे, मैं निश्चय ही वैसा करूँगी ॥

श्रुत्वा सूतस्तद्वचो याज्ञसेन्याः
सभां गत्वा प्राह वाक्यं तदानीम् ।
अधोमुखास्ते न च किंचिदूचु-
र्निर्बन्धं तं धार्तराष्ट्रस्य बुद्ध्वा ॥ १७ ॥

द्रौपदीका यह कथन सुनकर सूत प्रातिकामीने पुनः सभामें जाकर द्रौपदीके प्रश्नको दुहराया; किंतु उस समय दुर्योधनके उस दुराग्रहको जानकर सभी नीचे मुँह किये बैठे रहे, कोई कुछ भी नहीं बोला ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तु तच्छ्रुत्वा दुर्योधनचिकीर्षितम् ।
द्रौपद्याः सम्मतं दूतं प्राहिणोद् भरतर्षभ ॥ १८ ॥
एकवस्त्रा त्वधोनीवी रोदमाना रजस्वला ।
सभामागम्य पाञ्चालि श्वशुरस्याग्रतो भव ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुर्योधन क्या करना चाहता है, यह सुनकर युधिष्ठिरने द्रौपदीके पास एक ऐसा दूत भेजा, जिसे वह पहचानती थी और उसीके द्वारा यह संदेश कहलाया, 'पाञ्चालराजकुमारी ! यद्यपि तुम रजस्वला और नीवीको नीचे रखकर एक ही वस्त्र धारण कर रही हो, तो भी उसी दशामें रोती हुई सभामें आकर अपने श्वशुरके सामने खड़ी हो जाओ ॥ १८-१९ ॥

अथ त्वामागतां दृष्ट्वा राजपुत्रीं सभां तदा ।
सभ्याः सर्वे निनिन्देरन् मनोभिर्धृतराष्ट्रजम् ॥ २० ॥

'तुम-जैसी राजकुमारीको सभामें आयी देख सभी सभासद् मन-ही-मन इस दुर्योधनकी निन्दा करेंगे' ॥ २० ॥

स गत्वा त्वरितं दूतः कृष्णाया भवनं नृप ।
न्यवेदयन्मतं धीमान् धर्मराजस्य निश्चितम् ॥ २१ ॥

राजन् ! वह बुद्धिमान् दूत तुरंत द्रौपदीके भवनमें गया। वहाँ उसने धर्मराजका निश्चित मत उसे बता दिया ॥ २१ ॥

पाण्डवाश्च महात्मानो दीना दुःखसमन्विताः ।
सत्येनातिपरीताङ्गा नोदीक्षन्ते स्म किंचन ॥ २२ ॥

इधर महात्मा पाण्डव सत्यके बन्धनसे बँधकर अत्यन्त दीन और दुःखमग्न हो गये । उन्हें कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥ २२ ॥

ततस्त्वेषां मुखमालोक्य राजा
दुर्योधनः सूतमुवाच हृष्टः ।
इहैवैतामानय प्रातिकामिन्
प्रत्यक्षमस्याः कुरवो ब्रुवन्तु ॥ २३ ॥

उनके दीन मुँहकी ओर देखकर राजा दुर्योधन अत्यन्त प्रसन्न हो सूतसे बोला—'प्रातिकामिन् ! तुम द्रौपदीको यहीं ले आओ। उसके सामने ही धर्मात्मा कौरव उसके प्रश्नोंका उत्तर देंगे' ॥

ततः सूतस्तस्य वशानुगामी
भीतश्च कोपाद् द्रुपदात्मजायाः ।
विहाय मानं पुनरेव सभ्या-
नुवाच कृष्णां किमहं ब्रवीमि ॥ २४ ॥

तदनन्तर दुर्योधनके वशमें रहनेवाले प्रातिकामीने द्रौपदीके क्रोधसे डरते हुए अपने मान-सम्मानकी परवा न करके पुनः सभासदोंसे पूछा—'मैं द्रौपदीको क्या उत्तर दूँ ?' ॥ २४ ॥

दुर्योधन उवाच

दुःशासनैष मम सूतपुत्रो
वृकोदरादुद्विजतेऽल्पचेताः ।
स्वयं प्रगृह्यानय याज्ञसेनीं
किं ते करिष्यन्त्यवशाः सपत्नाः॥२५॥

दुर्योधन बोला—दुःशासन ! यह मेरा सेवक सूतपुत्र प्रातिकामी बड़ा मूर्ख है। इसे भीमसेनका डर लगा हुआ है। तुम स्वयं द्रौपदीको यहाँ पकड़ लाओ । हमारे शत्रु पाण्डव इस समय हमलोगोंके वशमें हैं । वे तुम्हारा क्या कर लेंगे ॥ २५ ॥

ततः समुत्थाय स राजपुत्रः
श्रुत्वा भ्रातुः शासनं रक्तदृष्टिः ।
प्रविश्य तद् वेश्म महारथाना-
मित्यब्रवीद् द्रौपदीं राजपुत्रीम् ॥ २६ ॥

भाईका यह आदेश सुनकर राजकुमार दुःशासन उठ खड़ा हुआ और लाल आँख किये वहाँसे चल दिया । महारथी पाण्डवोंके महलमें प्रवेश करके उसने राजकुमारी द्रौपदीसे इस प्रकार कहा—॥ २६ ॥

एह्येहि पाञ्चालि जितासि कृष्णे
दुर्योधनं पश्य विमुक्तलज्जा ।
कुरून् भजस्वायतपत्रनेत्रे
धर्मेण लब्धासि सभां परैहि ॥ २७ ॥

'पाञ्चालि ! आओ, आओ, तुम जूएमें जीती जा चुकी हो । कृष्णे ! अब लज्जा छोड़कर दुर्योधनकी ओर देखो । कमलके समान विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदी ! हमने धर्मके अनुसार तुम्हें प्राप्त किया है, अतः तुम कौरवोंकी सेवा करो । अभी राजसभामें चली चलो' ॥ २७ ॥

ततः समुत्थाय सुदुर्मनाः सा
विवर्णमामृज्य मुखं करेण ।
आर्ता प्रदुद्राव यतः स्त्रियस्ता
वृद्धस्य राज्ञः कुरुपुङ्गवस्य ॥ २८ ॥

यह सुनकर द्रौपदीका हृदय अत्यन्त दुःखित होने लगा । उसने अपने मलिन मुखको हाथसे पोंछा । फिर उठकर वह आर्त अबला उसी ओर भागी, जहाँ बूढ़े महाराज धृतराष्ट्रकी स्त्रियाँ बैठी हुई थीं ॥ २८ ॥

ततो जवेनाभिससार रोषाद्
दुःशासनस्तामभिगर्जमानः ।
दीर्घेषु नीलेष्वथ चोर्मिमत्सु
जग्राह केशेषु नरेन्द्रपत्नीम् ॥ २९ ॥

तब दुःशासन भी रोषसे गर्जता हुआ बड़े वेगसे उसके पीछे दौड़ा। उसने महाराज युधिष्ठिरकी पत्नी द्रौपदीके लम्बे, नीले और लहराते हुए केशोंको पकड़ लिया ॥ २९ ॥

ये राजसूयावभृथे जलेन
महाक्रतौ मन्त्रपूतेन सिक्ताः ।
ते पाण्डवानां परिभूय वीर्यं
बलात् प्रमृष्टा धृतराष्ट्रजेन ॥ ३० ॥

जो केश राजसूय महायज्ञके अवभृथस्नानमें मन्त्रपूत जलसे सींचे गये थे, उन्हींको दुःशासनने पाण्डवोंके पराक्रमकी अवहेलना करके बलात्कारपूर्वक पकड़ लिया ॥ ३० ॥

स तां पराकृष्य सभासमीप-
मानीय कृष्णामतिदीर्घकेशीम् ।
दुःशासनो नाथवतीमनाथव-
च्चकर्ष वायुः कदलीमिवार्ताम् ॥ ३१ ॥

लम्बे-लम्बे केशोंवाली वह द्रौपदी यद्यपि सनाथा थी, तो भी दुःशासन उस बेचारी आर्त अबलाको अनाथकी भाँति घसीटता हुआ सभाके समीप ले आया और जैसे वायु केलेके वृक्षको झकझोरकर झुका देता है, उसी प्रकार वह द्रौपदीको बलपूर्वक खींचने लगा ॥ ३१ ॥

सा कृष्यमाणा नमिताङ्गयष्टिः
शनैरुवाचाथ रजस्वलास्मि ।
एकं च वासो मम मन्दबुद्धे
सभां नेतुं नार्हसि मामनार्य ॥ ३२ ॥

दुःशासनके खींचनेसे द्रौपदीका शरीर झुक गया। उसने धीरेसे कहा—'ओ मन्दबुद्धि दुष्टात्मा दुःशासन ! मैं रजस्वला हूँ तथा मेरे शरीरपर एक ही वस्त्र है। इस दशामें मुझे सभामें ले जाना अनुचित है' ॥ ३२ ॥

ततोऽब्रवीत् तां प्रसभं निगृह्य
केशेषु कृष्णेषु तदा स कृष्णाम् ।
कृष्णं च जिष्णुं च हरिं नरं च
त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी ॥ ३३ ॥

यह सुनकर दुःशासन उसके काले-काले केशोंको और जोरसे पकड़कर कुछ बकने लगा; इधर यज्ञसेनकुमारी कृष्णाने अपनी रक्षाके लिये सर्वपापहारी, सर्वविजयी, नरस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको पुकारने लगी ॥ ३३ ॥

दुःशासन उवाच

रजस्वला वा भव याज्ञसेनि
एकाम्बरा वाप्यथवा विवस्त्रा ।
द्यूते जिता चासि कृतासि दासी
दासीषु वासश्च यथोपजोषम् ॥ ३४ ॥

दुःशासन बोला—द्रौपदी ! तू रजस्वला, एकवस्त्रा अथवा नंगी ही क्यों न हो, हमने तुझे जूएमें जीता है; अतः तू हमारी दासी हो चुकी है, इसलिये अब तुझे हमारी इच्छाके अनुसार दासियोंमें रहना पड़ेगा ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रकीर्णकेशी पतितार्धवस्त्रा
दुःशासनेन व्यवधूयमाना ।
ह्रीमत्यमर्षेण च दह्यमाना
शनैरिदं वाक्यमुवाच कृष्णा ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय द्रौपदीके केश बिखर गये थे। दुःशासनके झकझोरनेसे उसका आधा वस्त्र भी खिसककर गिर गया था। वह लाजसे गड़ी जाती थी और भीतर-ही-भीतर क्रोधसे दग्ध हो रही थी। उसी दशामें वह धीरेसे इस प्रकार बोली ॥ ३५ ॥

द्रौपद्युवाच

इमे सभायामुपनीतशास्त्राः
क्रियावन्तः सर्व एवेन्द्रकल्पाः ।
गुरुस्थाना गुरवश्चैव सर्वे
तेषामग्रे नोत्सहे स्थातुमेवम् ॥ ३६ ॥

द्रौपदीने कहा—अरे दुष्ट ! ये सभामें शास्त्रोंके विद्वान्, कर्मठ और इन्द्रके समान तेजस्वी मेरे पिताके समान सभी गुरुजन बैठे हुए हैं। मैं उनके सामने इस रूपमें खड़ी होना नहीं चाहती ॥ ३६ ॥

नृशंसकर्मंस्त्वमनार्यवृत्त
मा मा विवस्त्रां कुरु मा विकर्षीः ।
न मर्षयेयुस्तव राजपुत्राः
सेन्द्राश्च देवा यदि ते सहायाः ॥ ३७ ॥

क्रूरकर्मा दुराचारी दुःशासन ! तू इस प्रकार मुझे न खींच, न खींच, मुझे वस्त्रहीन मत कर। इन्द्र आदि देवता भी तेरी सहायताके लिये आ जायँ, तो भी मेरे पति राजकुमार पाण्डव तेरे इस अत्याचारको सहन नहीं कर सकेंगे ॥ ३७ ॥

धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा
धर्मश्च सूक्ष्मो निपुणोपलक्ष्यः ।
वाचापि भर्तुः परमाणुमात्र-
मिच्छामि दोषं न गुणान् विसृज्य ॥ ३८ ॥

धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिर धर्ममें ही स्थित हैं। धर्मका स्वरूप बड़ा सूक्ष्म है। सूक्ष्म बुद्धिवाले धर्मपालनमें निपुण महापुरुष ही उसे समझ सकते हैं। मैं अपने पतिके गुणोंको छोड़कर वाणीद्वारा उनके परमाणुतुल्य छोटे-से-छोटे दोषको भी कहना नहीं चाहती ॥ ३८ ॥

इदं त्वकार्यं कुरुवीरमध्ये
रजस्वलां यत् परिकर्षसे माम् ।
न चापि कश्चित् कुरुतेऽत्र कुत्सां
ध्रुवं तवेदं मतमभ्युपेताः ॥ ३९ ॥

अरे ! तू इन कौरववीरोंके बीचमें जो मुझ रजस्वला स्त्रीको खींचकर लिये जा रहा है, यह अत्यन्त पापपूर्ण कृत्य है। मैं देखती हूँ यहाँ कोई भी मनुष्य तेरे इस कुकर्मकी निन्दा नहीं कर रहा है। निश्चय ही ये सब लोग तेरे मतमें हो गये ॥ ३९ ॥

धिगस्तु नष्टः खलु भारतानां
धर्मस्तथा क्षत्रविदां च वृत्तम् ।
यत्र ह्यतीतां कुरुधर्मवेलां
प्रेक्षन्ति सर्वे कुरवः सभायाम् ॥ ४० ॥

अहो! धिक्कार है! भरतवंशके नरेशोंका धर्म निश्चय ही नष्ट हो गया तथा क्षत्रियधर्मके जाननेवाले इन महापुरुषोंका सदाचार भी लुप्त हो गया; क्योंकि यहाँ कौरवोंकी धर्ममर्यादाका उल्लंघन हो रहा है, तो भी सभामें बैठे हुए सभी कुरुवंशी चुपचाप देख रहे हैं ॥ ४० ॥

द्रोणस्य भीष्मस्य च नास्ति सत्त्वं
क्षत्तुस्तथैवास्य महात्मनोऽपि ।
राज्ञस्तथा हीममधर्ममुग्रं
न लक्षयन्ते कुरुवृद्धमुख्याः ॥ ४१ ॥

जान पड़ता है द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म, महात्मा विदुर तथा राजा धृतराष्ट्रमें अब कोई शक्ति नहीं रह गयी है; तभी तो ये कुरुवंशके बड़े-बूढ़े महापुरुष राजा दुर्योधनके इस भयानक पापाचारकी ओर दृष्टिपात नहीं कर रहे हैं॥४१॥

(इमं प्रश्नमिमे ब्रूत सर्वं एव सभासदः ।
जितां वाप्यजितां वा मां मन्यध्वे सर्वभूमिपाः ॥)

मेरे इस प्रश्नका सभी सभासद् उत्तर दें। राजाओ! आपलोग क्या समझते हैं? धर्मके अनुसार मैं जीती गयी हूँ या नहीं? ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा ब्रुवन्ती करुणं सुमध्यमा
भर्तॄन् कटाक्षैः कुपितानपश्यत् ।
सा पाण्डवान् कोपपरीतदेहान्
संदीपयामास कटाक्षपातैः ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार करुण स्वरमें विलाप करती सुमध्यमा द्रौपदीने क्रोधमें भरे हुए अपने पतियोंकी ओर तिरछी दृष्टिसे देखा। पाण्डवोंके अङ्ग-अङ्गमें क्रोधकी अग्नि व्याप्त हो गयी थी। द्रौपदीने अपने कटाक्षद्वारा देखकर उनकी क्रोधाग्निको और भी उद्दीप्त कर दिया ॥ ४२ ॥

हृतेन राज्येन तथा धनेन
रत्नैश्च मुख्यैर्न तथा बभूव ।
यथा त्रपाकोपसमीरितेन
कृष्णाकटाक्षेण बभूव दुःखम् ॥ ४३ ॥

राज्य, धन तथा मुख्य-मुख्य रत्नोंको हार जानेपर भी पाण्डवोंको उतना दुःख नहीं हुआ था, जितना कि द्रौपदीके लज्जा एवं क्रोधयुक्त कटाक्षपातसे हुआ था ॥ ४३ ॥

दुःशासनश्चापि समीक्ष्य कृष्णा-
मवेक्षमाणां कृपणान् पतींस्तान् ।
आधूय वेगेन विसंज्ञकल्पा-
मुवाच दासीति हसन् सशब्दम् ॥४४॥

द्रौपदीको अपने दीन पतियोंकी ओर देखती देख दुःशासन उसे बड़े वेगसे झकझोरकर जोर-जोरसे हँसते हुए 'दासी' कहकर पुकारने लगा। उस समय द्रौपदी मूर्छित-सी हो रही थी ॥ ४४ ॥

कर्णस्तु तद्वाक्यमतीव हृष्टः
सम्पूजयामास हसन् सशब्दम् ।
गान्धारराजः सुबलस्य पुत्र-
स्तथैव दुःशासनमभ्यनन्दत् ॥ ४५ ॥

कर्णको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने खिलखिलाकर हँसते हुए दुःशासनके उस कथनकी बड़ी सराहना की। सुबलपुत्र गान्धारराज शकुनिने भी दुःशासनका अभिनन्दन किया॥४५॥

सभ्यास्तु ये तत्र बभूवुरन्ये
ताभ्यामृते धार्तराष्ट्रेण चैव ।
तेषामभूद् दुःखमतीव कृष्णां
दृष्ट्वा सभायां परिकृष्यमाणाम् ॥ ४६ ॥

उस समय वहाँ जितने सभासद् उपस्थित थे, उनमेंसे कर्ण, शकुनि और दुर्योधनको छोड़कर अन्य सब लोगोंको सभामें इस प्रकार घसीटी जाती हुई द्रौपदीकी दुर्दशा देखकर बड़ा दुःख हुआ ॥ ४६ ॥

भीष्म उवाच

न धर्मसौक्ष्म्यात् सुभगे विवेक्तुं
शक्नोमि ते प्रश्नमिमं यथावत् ।
अस्वाम्यशक्तः पणितुं परस्वं
स्त्रियाश्च भर्तुर्वशतां समीक्ष्य ॥ ४७ ॥

उस समय भीष्मने कहा—सौभाग्यशालिनी बहू! धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण मैं तुम्हारे इस प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन नहीं कर सकता। जो स्वामी नहीं है वह पराये धनको दाँवपर नहीं लगा सकता, परंतु स्त्रीको सदा अपने स्वामीके अधीन देखा जाता है, अतः इन सब बातोंपर विचार करनेसे मुझसे कुछ कहते नहीं बनता ॥ ४७ ॥

त्यजेत सर्वां पृथिवीं समृद्धां
युधिष्ठिरो धर्ममथो न जह्यात् ।
उक्तं जितोऽस्मीति च पाण्डवेन
तस्मान्न शक्नोमि विवेक्तुमेतत् ॥ ४८ ॥

मेरा विश्वास है कि धर्मराज युधिष्ठिर धन-समृद्धिसे भरी हुई इस सारी पृथ्वीको त्याग सकते हैं, किंतु धर्मको नहीं छोड़ सकते। इन पाण्डुनन्दनने स्वयं कहा है कि मैं अपनेको हार गया; अतः मैं इस प्रश्नका विवेचन नहीं कर सकता ॥ ४८ ॥

द्यूतेऽद्वितीयः शकुनिर्नरेषु
कुन्तीसुतस्तेन निसृष्टकामः ।
न मन्यते तां निकृतिं युधिष्ठिर-
स्तस्मान्न ते प्रश्नमिमं ब्रवीमि ॥ ४९ ॥

यह शकुनि मनुष्योंमें द्यूतविद्याका अद्वितीय जानकार है। इसीने कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको प्रेरित करके उनके मनमें तुम्हें दाँवपर रखनेकी इच्छा उत्पन्न की है, परंतु युधिष्ठिर इसे शकुनिका छल नहीं मानते; इसीलिये मैं तुम्हारे इस प्रश्नका विवेचन नहीं कर पाता हूँ ॥ ४९ ॥

द्रौपद्युवाच

आहूय राजा कुशलैरनार्यै-
र्दुष्टात्मभिर्नैकृतिकैः सभायाम्।
द्यूतप्रियैर्नातिकृतप्रयत्नः
कस्मादयं नाम निसृष्टकामः ॥ ५० ॥

द्रौपदीने कहा—जूआ खेलनेमें निपुण, अनार्य, दुष्टात्मा, कपटी तथा द्यूतप्रेमी धूर्तोंने राजा युधिष्ठिरको सभामें बुलाकर जूएका खेल आरम्भ कर दिया। इन्हें जूआ खेलनेका अधिक अभ्यास नहीं है। फिर इनके मनमें जूएकी इच्छा क्यों उत्पन्न की गयी! ॥ ५० ॥

अशुद्धभावैर्निकृतिप्रवृत्तै-
रबुध्यमानः कुरुपाण्डवाग्र्यः।
सम्भूय सर्वैश्च जितोऽपि यस्मात्
पश्चादयं कैतवमभ्युपेतः ॥ ५१ ॥

जिनके हृदयकी भावना शुद्ध नहीं है, जो सदा छल और कपटमें लगे रहते हैं, उन समस्त दुरात्माओंने मिलकर इन भोले-भाले कुरु-पाण्डव-शिरोमणि महाराज युधिष्ठिरको पहले जूएमें जीत लिया है, तत्पश्चात् ये मुझे दाँवपर लगानेके लिये विवश किये गये हैं ॥ ५१ ॥

तिष्ठन्ति चेमे कुरवः सभाया-
मीशाः सुतानां च तथा स्नुषाणाम्।
समीक्ष्य सर्वे मम चापि वाक्यं
विब्रूत मे प्रश्नमिमं यथावत् ॥ ५२ ॥

ये कुरुवंशी महापुरुष जो सभामें बैठे हुए हैं, सभी पुत्रों और पुत्रवधुओंके स्वामी हैं (सभीके घरमें पुत्र और पुत्र-वधुएँ हैं), अतः ये सब लोग मेरे कथनपर अच्छी तरह विचार करके इस प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन करें ॥ ५२ ॥

(न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत् सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्॥)

वह सभा नहीं है जहाँ वृद्ध पुरुष न हों, वे वृद्ध नहीं हैं जो धर्मकी बात न बतावें, वह धर्म नहीं है जिसमें सत्य न हो और वह सत्य नहीं है जो छलसे युक्त हो ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा ब्रुवन्तीं करुणं रुदन्ती-
मवेक्षमाणां कृपणान् पतींस्तान्।
दुःशासनः परुषाण्यप्रियाणि
वाक्यान्युवाचामधुराणि चैव ॥ ५३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार द्रौपदी करुणस्वरमें बोलकर रोती हुई अपने दीन पतियोंकी ओर देखने लगी। उस समय दुःशासनने उसके प्रति कितने ही अप्रिय कठोर एवं कटुवचन कहे ॥ ५३ ॥

तां कृष्यमाणां च रजस्वलां च
स्रस्तोत्तरीयामतदर्हमाणाम्।
वृकोदरः प्रेक्ष्य युधिष्ठिरं च
चकार कोपं परमार्तरूपः ॥ ५४ ॥

कृष्णा रजस्वलावस्थामें घसीटी जा रही थी, उसके सिरका कपड़ा सरक गया था, वह इस तिरस्कारके योग्य कदापि नहीं थी। उसकी यह दुरवस्था देखकर भीमसेनको बड़ी पीड़ा हुई। ये युधिष्ठिरकी ओर देखकर अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीप्रश्ने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्रौपदीप्रश्नविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर ५६ श्लोक हैं)

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

भीमसेनका क्रोध एवं अर्जुनका उन्हें शान्त करना, विकर्णकी धर्मसङ्गत बातका कर्णके द्वारा विरोध, द्रौपदीका चीरहरण एवं भगवान्‌द्वारा उसकी लज्जारक्षा तथा विदुरके द्वारा प्रह्लादका उदाहरण देकर सभासदोंको विरोधके लिये प्रेरित करना

भीम उवाच

भवन्ति गेहे बन्धक्यः कितवानां युधिष्ठिर।
न ताभिरुत दीव्यन्ति दया चैवास्ति तास्वपि ॥ १ ॥

भीमसेन बोले—भैया युधिष्ठिर! जुआरियोंके घरमें प्रायः कुलटा स्त्रियाँ रहती हैं, किंतु वे भी उन्हें दाँवपर लगाकर जूआ नहीं खेलते। उन कुलटाओंके प्रति भी उनके हृदयमें दया रहती है ॥ १ ॥

काश्यो यद् धनमाहार्षीद् द्रव्यं यच्चान्यदुत्तमम्।
तथान्ये पृथिवीपाला यानि रत्नान्युपाहरन् ॥ २ ॥
वाहनानि धनं चैव कवचान्यायुधानि च।
राज्यमात्मा वयं चैव कैतवेन हृतं परैः ॥ ३ ॥

काशिराजने जो धन उपहारमें दिया था एवं और भी जो उत्तम द्रव्य वे हमारे लिये लाये थे तथा अन्य राजाओंने भी जो रत्न हमें भेंट किये थे, उन सबको और हमारे वाहनों, वैभवों, कवचों, आयुधों, राज्य, आपके शरीर तथा हम सब भाइयोंको भी शत्रुओंने जूएके दाँवपर रखवाकर अपने अधिकारमें कर लिया ॥ २-३ ॥

न च मे तत्र कोपोऽभूत् सर्वस्येशो हि नो भवान्।
इमं त्वतिक्रमं मन्ये द्रौपदी यत्र पण्यते ॥ ४ ॥

किंतु इसके लिये मेरे मनमें क्रोध नहीं हुआ; क्योंकि आप हमारे सर्वस्वके स्वामी हैं। पर द्रौपदीको जो दाँवपर लगाया गया, इसे मैं बहुत ही अनुचित मानता हूँ ॥ ४ ॥

एषा ह्यनर्हति बाला पाण्डवान् प्राप्य कौरवैः।
त्वत्कृते क्लिश्यते क्षुद्रैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ॥ ५ ॥

यह भोली-भाली अबला पाण्डवोंको पतिरूपमें पाकर इस प्रकार अपमानित होनेके योग्य नहीं थी, परंतु आपके कारण ये नीच, नृशंस और अजितेन्द्रिय कौरव इसे नाना प्रकारके कष्ट दे रहे हैं ॥ ५ ॥

अस्याः कृते मन्युरयं त्वयि राजन् निपात्यते।
बाहू ते सम्प्रधक्ष्यामि सहदेवाग्निमानय ॥ ६ ॥

राजन्! द्रौपदीकी इस दुर्दशाके लिये मैं आपपर ही अपना क्रोध छोड़ता हूँ। आपकी दोनों बाहें जला डालूँगा। सहदेव! आग ले आओ ॥ ६ ॥

अर्जुन उवाच

न पुरा भीमसेन त्वमीदृशीर्वदिता गिरः।
परैस्ते नाशितं नूनं नृशंसैर्धर्मगौरवम् ॥ ७ ॥

अर्जुन बोले—भैया भीमसेन! तुमने पहले कभी ऐसी बातें नहीं कही थीं। निश्चय ही क्रूरकर्मा शत्रुओंने तुम्हारी धर्मविषयक गौरव बुद्धिको नष्ट कर दिया है ॥ ७ ॥

न सकामाः परे कार्या धर्ममेवाचरोत्तमम्।
भ्रातरं धार्मिकं ज्येष्ठं कोऽनिवर्तितुमर्हति ॥ ८ ॥

भैया! शत्रुओंकी कामना सफल न करो; उत्तम धर्मका ही आचरण करो। भला, अपने धर्मात्मा ज्येष्ठ भ्राताका अपमान कौन कर सकता है? ॥ ८ ॥

आहूतो हि परै राजा क्षात्रं व्रतमनुस्मरन्।
दीव्यते परकामेन तन्नः कीर्तिकरं महत् ॥ ९ ॥

महाराज युधिष्ठिरको शत्रुओंने द्यूतके लिये बुलाया है; अतः ये क्षत्रियव्रतको ध्यानमें रखकर दूसरोंकी इच्छासे जूआ खेलते हैं। यह हमारे महान् यशका विस्तार करनेवाला है ॥ ९ ॥

भीमसेन उवाच

एवमस्मिन् कृतं विद्यां यदि नाहं धनंजय।
दीप्तेऽग्नौ सहितौ बाहू निर्दहेयं बलादिव ॥ १० ॥

भीमसेनने कहा—अर्जुन! यदि मैं इस विषयमें यह न जानता कि इनका यह कार्य क्षत्रियधर्मके अनुकूल ही है, तो बलपूर्वक प्रज्वलित अग्निमें इनकी दोनों बाँहोंको एक साथ ही जलाकर राख कर डालता ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा तान् दुःखितान् दृष्ट्वा पाण्डवान् धृतराष्ट्रजः।
कृष्यमाणां च पाञ्चालीं विकर्ण इदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डवोंको दुखी और पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको घसीटी जाती हुई देख धृतराष्ट्रनन्दन विकर्णने यह कहा—॥ ११ ॥

याज्ञसेन्या यदुक्तं तद् वाक्यं विब्रूत पार्थिवाः।
अविवेकेन वाक्यस्य नरकः सद्य एव नः ॥ १२ ॥

'भूमिपालो! द्रौपदीने जो प्रश्न उपस्थित किया है, उसका आपलोग उत्तर दें। यदि इसके प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन नहीं किया गया, तो हमें शीघ्र ही नरक भोगना पड़ेगा ॥ १२ ॥

भीष्मश्च धृतराष्ट्रश्च कुरुवृद्धतमावुभौ।
समेत्य नाहतुः किंचिद् विदुरश्च महामतिः ॥ १३ ॥

'पितामह भीष्म और पिता धृतराष्ट्र—ये दोनों कुरुवंशके सबसे वृद्ध पुरुष हैं। ये तथा परम बुद्धिमान् विदुरजी मिलकर कुछ उत्तर क्यों नहीं देते? ॥ १३ ॥

भारद्वाजश्च सर्वेषामाचार्यः कृप एव च।
कुत एतावपि प्रश्नं नाहतुर्द्विजसत्तमौ ॥ १४ ॥

'हम सबके आचार्य भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य और कृपाचार्य ये दोनों ब्राह्मणकुलके श्रेष्ठ पुरुष हैं। ये दोनों भी इस प्रश्नपर अपने विचार क्यों नहीं प्रकट करते? ॥ १४ ॥

ये त्वन्ये पृथिवीपालाः समेताः सर्वतो दिशः।
कामक्रोधौ समुत्सृज्य ते ब्रुवन्तु यथामति ॥ १५ ॥

'जो दूसरे राजालोग चारों दिशाओंसे यहाँ पधारे हैं, वे सभी काम और क्रोधको त्यागकर अपनी बुद्धिके अनुसार इस प्रश्नका उत्तर दें ॥ १५ ॥

यदिदं द्रौपदी वाक्यमुक्तवत्यसकृच्छुभा।
विमृश्य कस्य कः पक्षः पार्थिवा वदतोत्तरम् ॥ १६ ॥

'राजाओ! कल्याणी द्रौपदीने बार-बार जिस प्रश्नको दुहराया है, उसपर विचार करके आपलोग उत्तर दें, जिससे मालूम हो जाय कि इस विषयमें किसका क्या पक्ष (विचार) है' ॥ १६ ॥

एवं स बहुशः सर्वानुक्तवांस्तान् सभासदः।
न च ते पृथिवीपालास्तमूचुः साध्वसाधु वा ॥ १७ ॥

इस प्रकार विकर्णने उन सब सभासदोंसे बार-बार अनुरोध किया; परंतु उन नरेशोंने उस विषयमें उससे भला-बुरा कुछ नहीं कहा ॥ १७ ॥

उक्त्वा सकृत् तथा सर्वान् विकर्णः पृथिवीपतीन्।
पाणौ पाणिं विनिष्पिष्य निःश्वसन्निदमब्रवीत्॥ १८॥

उन सब राजाओंसे बार-बार आग्रह करनेपर भी जब कुछ उत्तर नहीं मिला, तब विकर्णने हाथपर हाथ मलते हुए लंबी साँस खींचकर कहा—॥ १८॥

विब्रूत पृथिवीपाला वाक्यं मा वा कथंचन।
मन्ये न्याय्यं यदत्राहं तद्धि वक्ष्यामि कौरवाः॥ १९॥

'कौरवो तथा अन्य भूमिपालो! आपलोग द्रौपदीके प्रश्न-पर किसी प्रकारका विचार प्रकट करें या न करें, मैं इस विषयमें जो न्यायसंगत समझता हूँ, वह कहता हूँ॥ १९॥

चत्वार्याहुर्नरश्रेष्ठा व्यसनानि महीक्षिताम्।
मृगयां पानमक्षांश्च ग्राम्ये चैवातिरक्तताम्॥ २०॥

'नरश्रेष्ठ भूपालो! राजाओंके चार दुर्व्यसन बताये गये हैं—शिकार, मदिरापान, जूआ तथा विषयभोगमें अत्यन्त आसक्ति॥ २०॥

एतेषु हि नरः सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्तते।
यथायुक्तेन च कृतां क्रियां लोको न मन्यते॥ २१॥

'इन दुर्व्यसनोंमें आसक्त मनुष्य धर्मकी अवहेलना करके मनमाना बर्ताव करने लगता है। इस प्रकार व्यसनासक्त पुरुषके द्वारा किये हुए किसी भी कार्यको लोग सम्मान नहीं देते हैं॥ २१॥

तदयं पाण्डुपुत्रेण व्यसने वर्तता भृशम्।
समाहूतेन कितवैरास्थितो द्रौपदीपणः॥ २२॥

'ये पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर द्यूतरूपी दुर्व्यसनमें अत्यन्त आसक्त हैं। इन्होंने धूर्त जुआरियोंसे प्रेरित होकर द्रौपदीको दाँवपर लगा दिया है॥ २२॥

साधारणी च सर्वेषां पाण्डवानामनिन्दिता।
जितेन पूर्वं चानेन पाण्डवेन कृतः पणः॥ २३॥

'सती-साध्वी द्रौपदी समस्त पाण्डवोंकी समानरूपसे पत्नी है, केवल युधिष्ठिरकी ही नहीं है। इसके सिवा, पाण्डुकुमार युधिष्ठिर पहले अपने आपको हार चुके थे, उसके बाद उन्होंने द्रौपदीको दाँवपर रक्खा है॥ २३॥

इयं च कीर्तिता कृष्णा सौबलेन पणार्थिना।
एतत् सर्वं विचार्याहं मन्ये न विजितामिमाम्॥ २४॥

'सब दाँवोंको जीतनेकी इच्छावाले सुबलपुत्र शकुनिने ही द्रौपदीको दाँवपर लगानेकी बात उठायी है। इन सब बातोंपर विचार करके मैं द्रुपदकुमारी कृष्णाको जीती हुई नहीं मानता'॥ २४॥

एतच्छ्रुत्वा महान् नादः सभ्यानामुदतिष्ठत।
विकर्णं शंसमानानां सौबलं चापि निन्दताम्॥ २५॥

यह सुनकर सभी सभासद् विकर्णकी प्रशंसा और सुबलपुत्र शकुनिकी निन्दा करने लगे। उस समय वहाँ बड़ा कोलाहल मच गया॥ २५॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे राधेयः क्रोधमूर्च्छितः।
प्रगृह्य रुचिरं बाहुमिदं वचनमब्रवीत्॥ २६॥

उस कोलाहलके शान्त होनेपर राधानन्दन कर्ण क्रोधसे मूर्च्छित हो उसकी सुन्दर बाँह पकड़कर इस प्रकार बोला—॥ २६॥

कर्ण उवाच

दृश्यन्ते वै विकर्णेह वैकृतानि बहून्यपि।
तज्जातस्तद्विनाशाय यथाग्निररणिप्रजः॥ २७॥

कर्णने कहा—विकर्ण! इस जगत्में बहुत-सी वस्तुएँ विपरीत परिणाम उत्पन्न करनेवाली देखी जाती हैं। जैसे अरणिसे उत्पन्न हुई अग्नि उसीको जला देती है, उसी प्रकार कोई-कोई मनुष्य जिस कुलमें उत्पन्न होता है, उसीका विनाश करनेवाला बन जाता है॥ २७॥

(व्याधिर्बलं नाशयते शरीरस्थोऽपि सम्भृतः।
तृणानि पशवो घ्नन्ति स्वपक्षं चैव कौरवः॥
द्रोणो भीष्मः कृपो द्रौणिर्विदुरश्च महामतिः।
धृतराष्ट्रश्च गान्धारी भवतः प्राज्ञवत्तराः॥)

रोग यद्यपि शरीरमें ही पलता है, तथापि वह शरीरके ही बलका नाश करता है। पशु घासको ही चरते हैं, फिर भी उसे पैरोंसे कुचल डालते हैं। उसी प्रकार कुरु-कुलमें उत्पन्न होकर भी तुम अपने ही पक्षको हानि पहुँचाना चाहते हो। विकर्ण! द्रोण, भीष्म, कृप, अश्वत्थामा, महाबुद्धिमान् विदुर, धृतराष्ट्र तथा गान्धारी—ये तुमसे अधिक बुद्धिमान् हैं॥

एते न किंचिदप्याहुश्चोदिता ह्यपि कृष्णया।
धर्मेण विजितामेतां मन्यन्ते द्रुपदात्मजाम्॥ २८॥

द्रौपदीने बार-बार प्रेरित किया है, तो भी ये सभासद् कुछ भी नहीं बोलते हैं; क्योंकि ये सब लोग द्रुपदकुमारीको धर्मके अनुसार जीती हुई समझते हैं॥ २८॥

त्वं तु केवलबाल्येन धार्तराष्ट्र विदीर्यसे।
यद् ब्रवीषि सभामध्ये बालः स्थविरभाषितम्॥ २९॥

धृतराष्ट्रकुमार! तुम केवल अपनी मूर्खताके कारण आप ही अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मार रहे हो; क्योंकि तुम बालक होकर भी भरी सभामें वृद्धोंकी-सी बातें करते हो॥

न च धर्मं यथावत् त्वं वेत्सि दुर्योधनावर।
यद् ब्रवीषि जितां कृष्णां न जितेति सुमन्दधीः॥ ३०॥

दुर्योधनके छोटे भाई! तुम्हें धर्मके विषयमें यथार्थ ज्ञान नहीं है। तुम जो जीती हुई द्रौपदीको नहीं जीती हुई

बता रहे हो, इससे तुम्हारे मन्दबुद्धि होनेका परिचय मिलता है ॥ ३० ॥

कथं ह्यविजितां कृष्णां मन्यसे धृतराष्ट्रज।
यदा सभायां सर्वस्वं न्यस्तवान् पाण्डवाग्रजः ॥ ३१ ॥

धृतराष्ट्रकुमार! तुम कृष्णाको नहीं जीती हुई कैसे मानते हो? जब कि पाण्डवोंके बड़े भाई युधिष्ठिरने द्यूतसभाके बीच अपना सर्वस्व दाँवपर लगा दिया है ॥ ३१ ॥

अभ्यन्तरा च सर्वस्वे द्रौपदी भरतर्षभ।
एवं धर्मजितां कृष्णां मन्यसे न जितां कथम् ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ! द्रौपदी भी तो सर्वस्वके भीतर ही है। इस प्रकार जब कृष्णाको धर्मपूर्वक जीत लिया गया है, तब तुम उसे नहीं जीती हुई क्यों समझते हो? ॥ ३२ ॥

कीर्तिता द्रौपदी वाचा अनुज्ञाता च पाण्डवैः।
भवत्यविजिता केन हेतुनैषा मता तव ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरने अपनी वाणीद्वारा कहकर द्रौपदीको दाँवपर रखा और शेष पाण्डवोंने मौन रहकर उसका अनुमोदन किया। फिर किस कारणसे तुम उसे नहीं जीती हुई मानते हो? ॥ ३३ ॥

मन्यसे वा सभामेतामानीतामेकवाससम्।
अधर्मेणेति तत्रापि शृणु मे वाक्यमुत्तमम् ॥ ३४ ॥

अथवा यदि तुम्हारी यह राय हो कि एकवस्त्रा द्रौपदीको इस सभामें अधर्मपूर्वक लाया गया है, तो इसके उत्तरमें भी मेरी उत्तम बात सुनो ॥ ३४ ॥

एको भर्ता स्त्रिया देवैर्विहितः कुरुनन्दन।
इयं त्वनेकवशगा बन्धकीति विनिश्चिता ॥ ३५ ॥
अस्याः सभामानयनं न चित्रमिति मे मतिः।
एकाम्बरधरत्वं वाप्यथ वापि विवस्त्रता ॥ ३६ ॥

कुरुनन्दन! देवताओंने स्त्रीके लिये एक ही पतिका विधान किया है; परंतु यह द्रौपदी अनेक पतियोंके अधीन है, अतः यह निश्चय ही वेश्या है। इसका सभामें लाया जाना कोई अनोखी बात नहीं है। यह एकवस्त्रा अथवा नंगी हो तो भी यहाँ लायी जा सकती है, यह मेरा स्पष्ट मत है ॥ ३५-३६ ॥

यच्चैषां द्रविणं किंचिद् या चैषा ये च पाण्डवाः।
सौबलेनेह तत् सर्वं धर्मेण विजितं वसु ॥ ३७ ॥

इन पाण्डवोंके पास जो कुछ धन है, जो यह द्रौपदी है तथा जो ये पाण्डव हैं, इन सबको सुबलपुत्र शकुनिने यहाँ जूएके धनके रूपमें धर्मपूर्वक जीता है ॥ ३७ ॥

दुःशासन सुबालोऽयं विकर्णः प्राज्ञवादिकः।
पाण्डवानां च वासांसि द्रौपद्याश्चाप्युपाहर ॥ ३८ ॥

दुःशासन! यह विकर्ण अत्यन्त मूढ़ है, तथापि विद्वानोंकी-सी बातें बनाता है। तुम पाण्डवोंके और द्रौपदीके भी वस्त्र उतार लो ॥ ३८ ॥

तच्छ्रुत्वा पाण्डवाः सर्वे स्वानि वासांसि भारत।
अवकीर्योत्तरीयाणि सभायां समुपाविशन् ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कर्णकी बात सुनकर समस्त पाण्डव अपने-अपने उत्तरीय वस्त्र उतारकर सभामें बैठ गये ॥ ३९ ॥

ततो दुःशासनो राजन् द्रौपद्या वसनं बलात्।
सभामध्ये समाक्षिप्य व्यपाक्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ ४० ॥

राजन्! तब दुःशासनने उस भरी सभामें द्रौपदीका वस्त्र बलपूर्वक पकड़कर खींचना प्रारम्भ किया ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच

आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्याश्चिन्तितो हरिः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब वस्त्र खींचा जाने लगा, तब द्रौपदीने भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण किया। ४० $\frac{1}{2}$ ।

(*द्रौपद्युवाच*

ज्ञातं मया वसिष्ठेन पुरा गीतं महात्मना।
महत्यापदि सम्प्राप्ते स्मर्तव्यो भगवान् हरिः ॥

द्रौपदीने मन-ही-मन कहा—मैंने पूर्वकालमें महात्मा वसिष्ठजीकी बतायी हुई इस बातको अच्छी तरह समझा है कि भारी विपत्ति पड़नेपर भगवान् श्रीहरिका स्मरण करना चाहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

गोविन्देति समाभाष्य कृष्णेति च पुनः पुनः।
मनसा चिन्तयामास देवं नारायणं प्रभुम् ॥
आपत्स्वभयदं कृष्णं लोकानां प्रपितामहम्।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा विचारकर द्रौपदीने बारम्बार 'गोविन्द' और 'कृष्ण'का नाम लेकर पुकारा और आपत्तिकालमें अभय देनेवाले लोकप्रपितामह नारायण-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका मन-ही-मन चिन्तन किया ॥

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्णगोपीजनप्रिय ॥ ४१ ॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन ॥ ४२ ॥

'हे गोविन्द! हे द्वारकावासी श्रीकृष्ण! हे गोपाङ्गनाओंके प्राणवल्लभ केशव! कौरव मेरा अपमान कर रहे हैं, क्या आप नहीं जानते? हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे संकटनाशन जनार्दन! मैं कौरवरूप समुद्रमें डूबी जा रही हूँ, मेरा उद्धार कीजिये ॥ ४१-४२ ॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम् ॥ ४३ ॥



द्रौपदी-चीर-हरण

'सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ! महायोगिन् ! विश्वात्मन् ! विश्वभावन ! गोविन्द ! कौरवोंके बीचमें कष्ट पाती हुई मुझ शरणागत अबलाकी रक्षा कीजिये' ॥ ४३ ॥

इत्यनुस्मृत्य कृष्णं सा हरिं त्रिभुवनेश्वरम् ।
प्रारुदद् दुःखिता राजन् मुखमाच्छाद्य भामिनी ॥४४॥

राजन् ! इस प्रकार तीनों लोकोंके स्वामी श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका बार-बार चिन्तन करके मानिनी द्रौपदी दुखी हो अंचलसे मुँह ढककर जोर-जोरसे रोने लगी ॥ ४४ ॥

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा कृष्णो गह्वरितोऽभवत् ।
त्यक्त्वा शय्याऽऽसनं पद्भ्यां कृपालुः कृपयाभ्यगात्॥
कृष्णं च विष्णुं च हरिं नरं च
त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी ।
ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा
समावृणोद् वै विविधैः सुवस्त्रैः ॥४६॥

द्रुपदनन्दिनीकी वह करुण पुकार सुनकर कृपालु श्रीकृष्ण गद्गद हो गये तथा शय्या और आसन छोड़कर दयासे द्रवित हो पैदल ही दौड़ पड़े । यज्ञसेनकुमारी कृष्णा अपनी रक्षाके लिये श्रीकृष्ण, विष्णु, हरि और नर आदि भगवन्नामोंको जोर-जोरसे पुकार रही थी । इसी समय धर्मस्वरूप महात्मा श्रीकृष्णने अव्यक्तरूपसे उसके वस्त्रमें प्रवेश करके भाँति-भाँतिके सुन्दर वस्त्रोंद्वारा द्रौपदीको आच्छादित कर लिया ॥ ४५-४६ ॥

आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्यास्तु विशाम्पते ।
तद्रूपमपरं वस्त्रं प्रादुरासीदनेकशः ॥४७॥

जनमेजय ! द्रौपदीके वस्त्र खींचे जाते समय उसी तरहके दूसरे-दूसरे अनेक वस्त्र प्रकट होने लगे ॥ ४७ ॥

नानारागविरागाणि वसनान्यथ वै प्रभो ।
प्रादुर्भवन्ति शतशो धर्मस्य परिपालनात् ॥४८॥

राजन् ! धर्मपालनके प्रभावसे वहाँ भाँति-भाँतिके सैकड़ों रंग-बिरंगे वस्त्र प्रकट होते रहे ॥ ४८ ॥

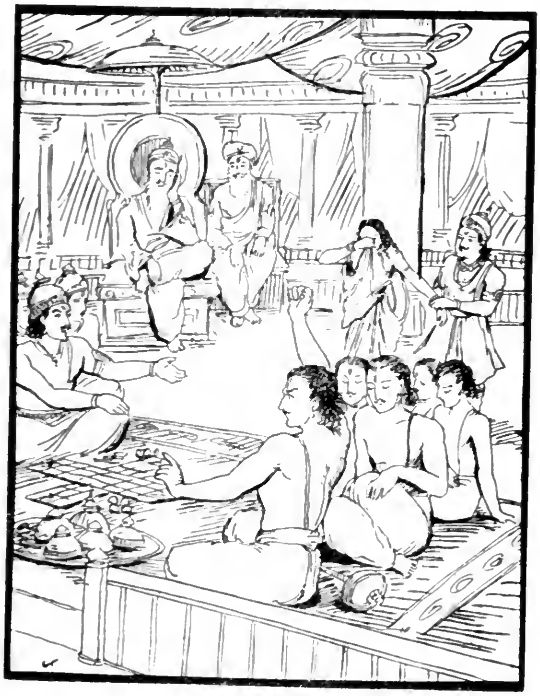
ततो हलहलाशब्दस्तत्रासीद् घोरदर्शनः ।
तदद्भुततमं लोको वीक्ष्य सर्वे महीभृतः ।
शशंसुर्द्रौपदीं तत्र कुत्सन्तो धृतराष्ट्रजम् ॥४९॥
शशाप तत्र भीमस्तु राजमध्ये बृहत्स्वनः ।
क्रोधाद् विस्फुरमाणौष्ठो विनिष्पिष्य करे करम् ॥५०॥

उस समय वहाँ बड़ा भयंकर कोलाहल मच गया । जगत्में यह अद्भुत दृश्य देखकर सब राजा द्रौपदीकी प्रशंसा और दुःशासनकी निन्दा करने लगे । उस समय वहाँ समस्त राजाओंके बीच हाथपर हाथ मलते हुए भीमसेनने क्रोधसे फड़कते हुए ओठोंद्वारा भयंकर गर्जनाके साथ यह शाप दिया (प्रतिज्ञा की) ॥ ४९-५० ॥

भीम उवाच

इदं मे वाक्यमादध्वं क्षत्रिया लोकवासिनः ।
नोक्तपूर्वं नरैरन्यैर्न चान्यो यद् वदिष्यति ॥५१॥

भीमसेनने कहा—देश-देशान्तरके निवासी क्षत्रियो ! आपलोग मेरी इस बातपर ध्यान दें । ऐसी बात आजसे पहले न तो किसीने कही होगी और न दूसरा कोई कहेगा ही ॥ ५१ ॥



यद्येतदेवमुक्त्वाहं न कुर्यां पृथिवीश्वराः ।
पितामहानां पूर्वेषां नाहं गतिमवाप्नुयाम् ॥५२॥
अस्य पापस्य दुर्बुद्धेर्भारतापसदस्य च ।
न पिबेयं बलाद् वक्षो भित्त्वा चेद् रुधिरं युधि ॥५३॥

भूमिपालो ! यह खोटी बुद्धिवाला दुःशासन भरतवंशके लिये कलंक है । मैं युद्धमें बलपूर्वक इस पापीकी छाती फाड़कर इसका रक्त पीऊँगा । यदि न पीऊँ—अर्थात् अपनी कही हुई उस बातको पूरा न करूँ, तो मुझे अपने पूर्वज बाप-दादोंकी श्रेष्ठ गति न मिले ॥ ५२-५३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य ते तद् वचः श्रुत्वा रौद्रं लोमप्रहर्षणम् ।
प्रचक्रुर्बहुलां पूजां कुत्सन्तो धृतराष्ट्रजम् ॥५४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीमसेनकी यह रोंगटे खड़े कर देनेवाली भयंकर बात सुनकर वहाँ बैठे हुए राजाओंने धृतराष्ट्रपुत्र दुःशासनकी निन्दा करते हुए भीमसेनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ५४ ॥

यदा तु वाससां राशिः सभामध्ये समाचितः ।
ततो दुःशासनः श्रान्तो व्रीडितः समुपाविशत् ॥५५॥

जब सभामें वस्त्रोंका ढेर लग गया, तब दुःशासन थककर लज्जित हो चुपचाप बैठ गया ॥ ५५ ॥

धिक्शब्दस्तु ततस्तत्र समभूल्लोमहर्षणः।
सभ्यानां नरदेवानां दृष्ट्वा कुन्तीसुतांस्तथा ॥५६॥

उस समय कुन्तीपुत्रोंकी ओर देखकर सभामें उपस्थित नरेशोंकी ओरसे दुःशासनपर रोमाञ्चकारी शब्दोंमें धिक्कारकी बौछार होने लगी ॥ ५६ ॥

न विब्रुवन्ति कौरव्याः प्रश्नमेतमिति स्म ह।
स जनः क्रोशति स्मात्र धृतराष्ट्रं विगर्हयन् ॥५७॥

कौरव द्रौपदीके पूर्वोक्त प्रश्नपर स्पष्ट विवेचन नहीं कर रहे थे, अतः वहाँ बैठे हुए लोग राजा धृतराष्ट्रकी निन्दा करते हुए उन्हें कोसने लगे ॥ ५७ ॥

ततो बाहू समुच्छ्रित्य निवार्य च सभासदः।
विदुरः सर्वधर्मज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ॥५८॥

तब सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता विदुरजीने अपनी दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर सभासदोंको चुप कराया और इस प्रकार कहा ॥ ५८ ॥

विदुर उवाच

द्रौपदी प्रश्नमुक्त्वैवं रोरवीति ह्यनाथवत्।
न च विब्रूत तं प्रश्नं सभ्या धर्मोऽत्र पीड्यते ॥५९॥

विदुरजी बोले—इस सभामें पधारे हुए भूपालगण! द्रुपदकुमारी कृष्णा यहाँ अपना प्रश्न उपस्थित करके इस तरह अनाथकी भाँति रो रही है; परंतु आपलोग उसका विवेचन नहीं करते, अतः यहाँ धर्मकी हानि हो रही है॥५९॥

सभां प्रपद्यते ह्यार्तः प्रज्वलन्निव हव्यवाट्।
तं वै सत्येन धर्मेण सभ्याः प्रशमयन्त्युत ॥६०॥

संकटमें पड़ा हुआ मनुष्य अग्निकी भाँति चिन्तासे प्रज्वलित हुआ सभाकी शरण लेता है, उस समय सभासद्गण धर्म और सत्यका आश्रय लेकर अपने वचनोंद्वारा उसे शान्त करते हैं ॥ ६० ॥

धर्मप्रश्नमतो ब्रूयादार्यः सत्येन मानवः।
विब्रूयुस्तत्र तं प्रश्नं कामक्रोधबलातिगाः ॥६१॥

अतः श्रेष्ठ मनुष्यको उचित है कि वह धर्मानुकूल प्रश्नको सचाईके साथ उपस्थित करे और सभासदोंको चाहिये कि वे काम-क्रोधके वेगसे ऊपर उठकर उस प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन करें ॥ ६१ ॥

विकर्णेन यथाप्रज्ञमुक्तः प्रश्नो नराधिपाः।
भवन्तोऽपि हि तं प्रश्नं विब्रुवन्तु यथामति ॥६२॥

राजाओ! विकर्णने अपनी बुद्धिके अनुसार इस प्रश्नका उत्तर दिया है, अब आपलोग भी अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार उस प्रश्नका निर्णय करें ॥ ६२ ॥

यो हि प्रश्नं न विब्रूयाद् धर्मदर्शी सभां गतः।
अनृते या फलावाप्तिस्तस्याः सोऽर्धं समश्नुते ॥६३॥

जो धर्मज्ञ पुरुष सभामें जाकर वहाँ उपस्थित हुए प्रश्नका उत्तर नहीं देता, वह झूठ बोलनेके आधे फलका भागी होता है ॥ ६३ ॥

यः पुनर्वितथं ब्रूयाद् धर्मदर्शी सभां गतः।
अनृतस्य फलं कृत्स्नं सम्प्राप्नोतीति निश्चयः ॥६४॥

इसी प्रकार जो धर्मज्ञ मानव सभामें जाकर किसी प्रश्नपर झूठा निर्णय देता है, वह निश्चय ही असत्यभाषणका पूरा फल (दण्ड) पाता है ॥ ६४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराङ्गिरसस्य च ॥६५॥

इस विषयमें विज्ञपुरुष प्रह्लाद और अङ्गिराकुमार मुनि सुधन्वाके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ६५ ॥

प्रह्लादो नाम दैत्येन्द्रस्तस्य पुत्रो विरोचनः।
कन्याहेतोराङ्गिरसं सुधन्वानमुपाद्रवत् ॥६६॥

दैत्यराज प्रह्लादके एक पुत्र था विरोचन। उसका केशिनी नामवाली एक कन्याकी प्राप्तिके लिये अङ्गिराके पुत्र सुधन्वाके साथ विवाद हो गया ॥ ६६ ॥

अहं ज्यायानहं ज्यायानिति कन्येप्सया तदा।
तयोर्देवनमत्रासीत् प्राणयोरिति नः श्रुतम् ॥६७॥

दोनों ही उस कन्याको पानेकी इच्छासे 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' ऐसा कहने लगे। मेरे सुननेमें आया है कि उन दोनोंने अपनी बात सत्य करनेके लिये प्राणोंकी बाजी लगा दी ॥६७॥

तयोः प्रश्नविवादोऽभूत् प्रह्लादं तावपृच्छताम्।
ज्यायान् क आवयोरेकः प्रश्नं प्रब्रूहि मा मृषा ॥६८॥

श्रेष्ठताके प्रश्नको लेकर जब उनका विवाद बहुत बढ़ गया, तब उन्होंने दैत्यराज प्रह्लादसे जाकर पूछा—'हम दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है? आप इस प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर दीजिये, झूठ न बोलियेगा' ॥ ६८ ॥

स वै विवदनाद् भीतः सुधन्वानं विलोकयन्।
तं सुधन्वाब्रवीत् क्रुद्धो ब्रह्मदण्ड इव ज्वलन् ॥६९॥

प्रह्लाद उस विवादसे भयभीत हो सुधन्वाकी ओर देखने लगे; तब सुधन्वाने प्रज्वलित ब्रह्मदण्डके समान कुपित होकर कहा—॥ ६९ ॥

यदि वै वक्ष्यसि मृषा प्रह्लादाथ न वक्ष्यसि।
शतधा ते शिरो वज्री वज्रेण प्रहरिष्यति ॥७०॥

'प्रह्लाद! यदि तुम इस प्रश्नके उत्तरमें झूठ बोलोगे अथवा मौन रह जाओगे, तो वज्रधारी इन्द्र अपने वज्रद्वारा तुम्हारे सिरके सैकड़ों टुकड़े कर देगा' ॥ ७० ॥

सुधन्वना तथोक्तः सन् व्यथितोऽश्वत्थपर्णवत्।
जगाम कश्यपं दैत्यः परिप्रष्टुं महौजसम् ॥७१॥

सुधन्वाके ऐसा कहनेपर प्रह्लाद व्यथित हो पीपलके पत्तेकी तरह काँपने लगे और इसके विषयमें कुछ पूछनेके लिये वे महातेजस्वी कश्यपजीके पास गये ॥ ७१ ॥

प्रह्लाद उवाच

त्वं वै धर्मस्य विज्ञाता दैवस्येहासुरस्य च।
ब्राह्मणस्य महाभाग धर्मकृच्छ्रमिदं शृणु ॥७२॥

प्रह्लाद बोले—महाभाग ! आप देवताओं, असुरों तथा ब्राह्मणके भी धर्मको जानते हैं। मुझपर एक धर्मसंकट उपस्थित हुआ है, उसे सुनिये ॥ ७२ ॥

यो वै प्रश्नं न विब्रूयाद् वितथं चैव निर्दिशेत्।
के वै तस्य परे लोकास्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥७३॥

मैं पूछता हूँ कि जो प्रश्नका उत्तर ही न दे अथवा असत्य उत्तर दे दे, उसे परलोकमें कौन-से लोक प्राप्त होते हैं ? यह मुझे बताइये ॥ ७३ ॥

कश्यप उवाच

जानन्नविब्रुवन् प्रश्नान् कामात् क्रोधाद् भयात् तथा।
सहस्रं वारुणान् पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥७४॥

कश्यपजीने कहा—जो जानते हुए भी काम, क्रोध तथा भयसे प्रश्नोंका उत्तर नहीं देता, वह अपने ऊपर वरुणदेवताके सहस्रों पाश डाल लेता है ॥ ७४ ॥

साक्षी वा विब्रुवन् साक्ष्यं गोकर्णशिथिलश्चरन्।
सहस्रं वारुणान् पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥७५॥

जो गवाह गाय-बैलके ढीले-ढाले कानोंकी तरह शिथिल हो दोनों पक्षोंसे सम्बन्ध बनाये रखकर गवाही नहीं देता, वह भी अपनेको वरुणदेवताके सहस्रों पाशोंसे बाँध लेता है ॥७५॥

तस्य संवत्सरे पूर्णे पाश एकः प्रमुच्यते।
तस्मात् सत्यं तु वक्तव्यं जानता सत्यमञ्जसा ॥७६॥

एक वर्ष पूरा होनेपर उसका एक पाश खुलता है, अतः सच्ची बात जाननेवाले पुरुषको यथार्थरूपसे सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ७६ ॥

विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते।
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥७७॥

जहाँ धर्म अधर्मसे विद्ध होकर सभामें उपस्थित होता है, उसके काँटेको उससे बिंधे हुए सभासद्लोग नहीं काट पाते (अर्थात् उनको पापका फल भोगना ही पड़ता है)॥७७॥

अर्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु।
पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम् ॥७८॥

सभामें जो अधर्म होता है, उसका आधा भाग स्वयं सभापति ले लेता है, एक चौथाई भाग करनेवालोंको मिलता है और एक चतुर्थांश उन सभासदोंको प्राप्त होता है जो निन्दनीय पुरुषकी निन्दा नहीं करते ॥ ७८ ॥

अनेना भवति श्रेष्ठो मुच्यन्ते च सभासदः।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥७९॥

जिस सभामें निन्दाके योग्य मनुष्यकी निन्दा की जाती है, वहाँ सभापति निष्पाप हो जाता है, सभासद् भी पापसे मुक्त हो जाते हैं और सारा पाप करनेवालेको ही लगता है ॥ ७९ ॥

वितथं तु वदेयुर्ये धर्मं प्रह्लाद पृच्छते।
इष्टापूर्तं च ते घ्नन्ति सप्त सप्त परावरान् ॥८०॥

प्रह्लाद ! जो लोग धर्मविषयक प्रश्न पूछनेवालेको झूठा उत्तर देते हैं, वे अपने इष्टापूर्त धर्मका नाश तो करते ही हैं आगे-पीछेकी सात-सात पीढ़ियोंके भी पुण्योंका वे हवन करते हैं ॥

हृतस्वस्य हि यद् दुःखं हतपुत्रस्य चैव यत्।
ऋणिनः प्रति यच्चैव स्वार्थाद् भ्रष्टस्य चैव यत् ॥८१॥
स्त्रियाः पत्या विहीनाया राज्ञा ग्रस्तस्य चैव यत्।
अपुत्रायाश्च यद् दुःखं व्याघ्राघ्रातस्य चैव यत् ॥८२॥
अध्यूढायाश्च यद् दुःखं साक्षिभिर्विहतस्य च।
एतानि वै समान्याहुर्दुःखानि त्रिदिवेश्वराः ॥८३॥

जिसका सर्वस्व छीन लिया गया हो, उसे जो दुःख होता है, जिसका पुत्र मर गया हो, उसे जो शोक होता है, ऋणग्रस्त और स्वार्थसे वञ्चित मनुष्यको जो क्लेश होता है, पतिसे विहीन होनेपर स्त्रीको तथा राजाके कोपभाजन मनुष्यको जो कष्ट उठाना पड़ता है, पुत्रहीना नारीको जो संताप होता है, शेरके चंगुलमें फँसे हुए प्राणीको जो व्याकुलता होती है, सौतवाली स्त्रीको जो दुःख होता है, साक्षियोंने जिसे धोखा दिया हो, उस मनुष्यको जो महान् क्लेश होता है—इन सभी प्रकारके दुःखोंको देवताओंने समान बतलाया है ॥ ८१—८३ ॥

तानि सर्वाणि दुःखानि प्राप्नोति वितथं ब्रुवन्।
समक्षदर्शनात् साक्षी श्रवणाच्चेति धारणात् ॥८४॥
तस्मात् सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते।

झूठ बोलनेवाला मनुष्य उन सभी दुःखोंका भागी होता है । समक्ष दर्शन, श्रवण और धारणसे साक्षी संज्ञा होती है, अतः सत्य बोलनेवाला साक्षी कभी धर्म और अर्थसे वञ्चित नहीं होता ॥ ८४½ ॥

कश्यपस्य वचः श्रुत्वा प्रह्लादः पुत्रमब्रवीत् ॥८५॥

कश्यपजीकी यह बात सुनकर प्रह्लादने अपने पुत्रसे कहा—॥ ८५ ॥

श्रेयान् सुधन्वा त्वत्तो वै मत्तः श्रेयांस्तथाङ्गिराः।
माता सुधन्वनश्चापि मातृतः श्रेयसी तव।
विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव ॥८६॥

'विरोचन ! सुधन्वा तुमसे श्रेष्ठ है, उसके पिता अङ्गिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं और सुधन्वाकी माता तुम्हारी मातासे श्रेष्ठ है। अब यह सुधन्वा ही तुम्हारे प्राणोंका स्वामी है' ॥ ८६॥

सुधन्वोवाच

पुत्रस्नेहं परित्यज्य यस्त्वं धर्मे व्यवस्थितः।
अनुजानामि ते पुत्रं जीवत्वेष शतं समाः ॥ ८७ ॥

सुधन्वाने कहा—दैत्यराज ! तुम पुत्रस्नेहकी परवा न करके जो धर्मपर डटे रह गये, इससे प्रसन्न होकर मैं तुम्हारे पुत्रको यह आज्ञा देता हूँ कि यह सौ वर्षोंतक जीवित रहे ॥ ८७ ॥

विदुर उवाच

एवं वै परमं धर्मं श्रुत्वा सर्वे सभासदः।
यथाप्रश्नं तु कृष्णाया मन्यध्वं तत्र किं परम् ॥ ८८ ॥

विदुरजी कहते हैं—सभासदो ! इस प्रकार इस उत्तम धर्ममय प्रसङ्गको सुनकर आप सब लोग द्रौपदीके प्रश्नके अनुसार यह बतावें कि उसके सम्बन्धमें आपकी क्या मान्यता है ? ॥ ८८ ॥

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य वचः श्रुत्वा नोचुः किंचन पार्थिवाः।
कर्णो दुःशासनं त्वाह कृष्णां दासीं गृहान् नय ॥ ८९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरकी यह बात सुनकर भी सब राजालोग कुछ न बोले। उस समय कर्णने दुःशासनसे कहा—'इस दासी द्रौपदीको अपने घर ले जाओ' ॥ ८९ ॥

तां वेपमानां सव्रीडां प्रलपन्तीं स्म पाण्डवान्।
दुःशासनः सभामध्ये विचकर्ष तपस्विनीम् ॥ ९० ॥

द्रौपदी लज्जामें डूबी हुई थरथर काँपती और पाण्डवोंको पुकारती थी। उस दशामें दुःशासनने उस भरी सभाके बीच उस बेचारी दुखिया तपस्विनीको घसीटना आरम्भ किया ॥ ९० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपद्याकर्षणेऽष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें 'द्रौपदीको भरी सभामें खींचना' इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ९४½ श्लोक हैं)

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

द्रौपदीका चेतावनीयुक्त विलाप एवं भीष्मका वचन

द्रौपद्युवाच

पुरस्तात् करणीयं मे न कृतं कार्यमुत्तरम्।
विह्वलास्मि कृतानेन कर्षता बलिना बलात् ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली—हाय ! मेरा जो कार्य सबसे पहले करनेका था, वह अभीतक नहीं हुआ। मुझे अब वह कार्य कर लेना चाहिये। इस बलवान् दुरात्मा दुःशासनने मुझे बलपूर्वक घसीटकर व्याकुल कर दिया है ॥ १ ॥

अभिवादं करोम्येषां कुरूणां कुरुसंसदि।
न मे स्यादपराधोऽयं यदिदं न कृतं मया ॥ २ ॥

कौरवोंकी सभामें मैं समस्त कुरुवंशी महात्माओंको प्रणाम करती हूँ। मैंने घबराहटके कारण पहले प्रणाम नहीं किया; अतः यह मेरा अपराध न माना जाय ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा तेन च समाधूता दुःखेन च तपस्विनी।
पतिता विललापेदं सभायामतथोचिता ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुःशासनके बार-बार खींचनेसे तपस्विनी द्रौपदी पृथ्वीपर गिर पड़ी और उस सभामें अत्यन्त दुःखित हो विलाप करने लगी। वह जिस दुरवस्थामें पड़ी थी, उसके योग्य कदापि न थी ॥ ३ ॥

द्रौपद्युवाच

स्वयंवरे यास्मि नृपैर्दृष्टा रङ्गे समागतैः।
न दृष्टपूर्वा चान्यत्र साहमद्य सभां गता ॥ ४ ॥

द्रौपदीने कहा—हा ! मैं स्वयंवरके समय सभामें आयी थी और उस समय रंगभूमिमें पधारे हुए राजाओंने मुझे देखा था। उसके सिवा, अन्य अवसरोंपर कहीं भी आजसे पहले किसीने मुझे नहीं देखा। वही मैं आज सभामें बलपूर्वक लायी गयी हूँ ॥ ४ ॥

यां न वायुर्न चादित्यो दृष्टवन्तौ पुरा गृहे।
साहमद्य सभामध्ये दृश्यास्मि जनसंसदि ॥ ५ ॥

पहले राजभवनमें रहते हुए जिसे वायु तथा सूर्य भी नहीं देख पाते थे, वही मैं आज इस सभाके भीतर महान् जनसमुदायमें आकर सबके नेत्रोंकी लक्ष्य बन गयी हूँ ॥ ५ ॥

यां न मृष्यन्ति वातेन स्पृश्यमानां गृहे पुरा।
स्पृश्यमानां सहन्तेऽद्य पाण्डवास्तां दुरात्मना ॥ ६ ॥

पहले अपने महलमें रहते समय जिसका वायुद्वारा स्पर्श भी पाण्डवोंको सहन नहीं होता था, उसी मुझ द्रौपदीका यह दुरात्मा दुःशासन भरी सभामें स्पर्श कर रहा है, तो भी आज ये पाण्डुकुमार सह रहे हैं ॥ ६ ॥

मृष्यन्ति कुरवश्चेमे मन्ये कालस्य पर्ययम्।
स्नुषां दुहितरं चैव क्लिश्यमानामनर्हतीम्॥ ७॥

मैं कुरुकुलकी पुत्रवधू एवं पुत्रीतुल्य हूँ। सताये जानेके योग्य नहीं हूँ, फिर भी मुझे यह दारुण क्लेश दिया जा रहा है और ये समस्त कुरुवंशी इसे सहन करते हैं। मैं समझती हूँ, बड़ा विपरीत समय आ गया है॥ ७॥

किं त्वतः कृपणं भूयो यदहं स्त्री सती शुभा।
सभामध्यं विगाहेऽद्य क्व नु धर्मो महीक्षिताम्॥ ८॥

इससे बढ़कर दयनीय दशा और क्या हो सकती है कि मुझ-जैसी शुभकर्मपरायणा सती-साध्वी स्त्री भरी सभामें विवश करके लायी गयी है। आज राजाओंका धर्म कहाँ चला गया?॥

धर्म्यां स्त्रियं सभां पूर्वं न नयन्तीति नः श्रुतम्।
स नष्टः कौरवेयेषु पूर्वो धर्मः सनातनः॥ ९॥

मैंने सुना है, पहले लोग धर्मपरायणा स्त्रीको कभी सभामें नहीं लाते थे, किंतु इन कौरवोंके समाजमें वह प्राचीन सनातन धर्म नष्ट हो गया है॥ ९॥

कथं हि भार्या पाण्डूनां पार्षतस्य स्वसा सती।
वासुदेवस्य च सखी पार्थिवानां सभामियाम्॥ १०॥

अन्यथा मैं पाण्डवोंकी पत्नी, धृष्टद्युम्नकी सुशीला बहन और भगवान् श्रीकृष्णकी सखी होकर राजाओंकी इस सभामें कैसे लायी जा सकती थी?॥ १०॥

तामिमां धर्मराजस्य भार्यां सदृशवर्णजाम्।
ब्रूत दासीमदासीं वा तत् करिष्यामि कौरवाः॥ ११॥

कौरवो! मैं धर्मराज युधिष्ठिरकी धर्मपत्नी तथा उनके समान वर्णकी कन्या हूँ। आपलोग बतावें, मैं दासी हूँ या अदासी? आप जैसा कहेंगे मैं वैसा ही करूँगी॥ ११॥

अयं मां सुदृढं क्षुद्रः कौरवाणां यशोहरः।
क्लिश्नाति नाहं तत् सोढुं चिरं शक्ष्यामि कौरवाः॥

कुरुवंशी क्षत्रियो! यह कुरुकुलकी कीर्तिमें कलङ्क लगानेवाला नीच दुःशासन मुझे बहुत कष्ट दे रहा है। मैं इस क्लेशको देरतक नहीं सह सकूँगी॥ १२॥

जितां वाप्यजितां वापि मन्यध्वं मां यथा नृपाः।
तथा प्रत्युक्तमिच्छामि तत् करिष्यामि कौरवाः॥ १३॥

कुरुवंशियो! आप क्या मानते हैं? मैं जीती गयी हूँ या नहीं। मैं आपके मुँहसे इसका ठीक-ठीक उत्तर सुनना चाहती हूँ। फिर उसीके अनुसार कार्य करूँगी॥ १३॥

भीष्म उवाच

उक्तवानस्मि कल्याणि धर्मस्य परमा गतिः।
लोके न शक्यते ज्ञातुमपि विप्रैर्महात्मभिः॥ १४॥

भीष्मजीने कहा—कल्याणि! मैं पहले ही कह चुका हूँ कि धर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म है। लोकमें विज्ञ महात्मा भी उसे ठीक-ठीक नहीं जान सकते॥ १४॥

बलवांश्च यथा धर्मं लोके पश्यति पूरुषः।
स धर्मो धर्मवेलायां भवत्यभिहतः परः॥ १५॥

संसारमें बलवान् मनुष्य जिसको धर्म समझता है, धर्मविचारके समय लोग उसीको धर्म मान लेते हैं और बलहीन पुरुष जो धर्म बतलाता है, वह बलवान् पुरुषके बताये धर्मसे दब जाता है (अतः इस समय कर्ण और दुर्योधनका बताया हुआ धर्म ही सर्वोपरि हो रहा है।)॥ १५॥

न विवेक्तुं च ते प्रश्नमिमं शक्नोमि निश्चयात्।
सूक्ष्मत्वाद् गहनत्वाच्च कार्यस्यास्य च गौरवात्॥ १६॥

मैं तो धर्मका स्वरूप सूक्ष्म और गहन होनेके कारण तथा इस धर्मनिर्णयके कार्यके अत्यन्त गुरुतर होनेसे तुम्हारे इस प्रश्नका निश्चितरूपसे यथार्थ विवेचन नहीं कर सकता॥ १६॥

नूनमन्तः कुलस्यायं भविता नचिरादिव।
तथा हि कुरवः सर्वे लोभमोहपरायणाः॥ १७॥

अवश्य ही बहुत शीघ्र इस कुलका नाश होनेवाला है, क्योंकि समस्त कौरव लोभ और मोहके वशीभूत हो गये हैं॥ १७॥

कुलेषु जाताः कल्याणि व्यसनैराहता भृशम्।
धर्म्यान्मार्गान्न च्यवन्ते येषां नस्त्वं वधूः स्थिता॥ १८॥

कल्याणि! तुम जिनकी पत्नी हो, वे पाण्डव हमारे उत्तम कुलमें उत्पन्न हैं और भारी-से-भारी संकटमें पड़कर भी धर्मके मार्गसे विचलित नहीं होते हैं॥ १८॥

उपपन्नं च पाञ्चालि तवेदं वृत्तमीदृशम्।
यत् कृच्छ्रमपि सम्प्राप्ता धर्ममेवान्ववेक्षसे॥ १९॥

पाञ्चालराजकुमारी! तुम्हारा यह आचार-व्यवहार तुम्हारे योग्य ही है; क्योंकि भारी संकटमें पड़कर भी तुम धर्मकी ओर ही देख रही हो॥ १९॥

एते द्रोणादयश्चैव वृद्धा धर्मविदो जनाः।
शून्यैः शरीरैस्तिष्ठन्ति गतासव इवानताः॥ २०॥
युधिष्ठिरस्तु प्रश्नेऽस्मिन् प्रमाणमिति मे मतिः।
अजितां वा जितां वेति स्वयं व्याहर्तुमर्हति॥ २१॥

ये द्रोणाचार्य आदि वृद्ध एवं धर्मज्ञ पुरुष भी सिर लटकाये शून्य शरीरसे इस प्रकार बैठे हैं, मानो निष्प्राण हो गये हों। मेरी राय यह है कि इस प्रश्नका निर्णय करनेके लिये धर्मराज युधिष्ठिर ही सबसे प्रामाणिक व्यक्ति हैं। तुम जीती गयी हो या नहीं? यह बात स्वयं इन्हें बतलानी चाहिये। २०-२१।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीष्मवाक्ये एकोनसप्ततितमोऽध्यायः॥ ६९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें भीष्मवाक्यविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६९॥

सप्ततितमोऽध्यायः

दुर्योधनके छल-कपटयुक्त वचन और भीमसेनका रोषपूर्ण उद्गार

वैशम्पायन उवाच

तथा तु दृष्ट्वा बहु तत्र देवीं
रोरूयमाणां कुररीमिवार्ताम्।
नोचुर्वचः साध्वथ वाप्यसाधु
महीक्षितो धार्तराष्ट्रस्य भीताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महारानी द्रौपदीको वहाँ आर्त होकर कुररीकी भाँति बहुत विलाप करती देखकर भी सभामें बैठे हुए राजालोग दुर्योधनके भयसे भला या बुरा कुछ भी नहीं कह सके ॥ १ ॥

दृष्ट्वा तथा पार्थिवपुत्रपौत्रां-
स्तूष्णींभूतान् धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
स्मयन्निदं वचनं बभाषे
पाञ्चालराजस्य सुतां तदानीम् ॥ २ ॥

राजाओंके बेटों और पोतोंको मौन देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने उस समय मुसकराते हुए पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी-से यह बात कही ॥ २ ॥

दुर्योधन उवाच

तिष्ठत्वयं प्रश्न उदारसत्त्वे
भीमेऽर्जुने सहदेवे तथैव।
पत्यौ च ते नकुले याज्ञसेनि
वदन्त्वेते वचनं त्वत्प्रसूतम् ॥ ३ ॥

दुर्योधन बोला—द्रौपदी ! तुम्हारा यह प्रश्न तुम्हारे ही पति महाबली भीम, अर्जुन, सहदेव और नकुलपर छोड़ दिया जाता है। ये ही तुम्हारी पूछी हुई बातका उत्तर दें ॥ ३ ॥

अनीश्वरं विब्रुवन्त्वार्यमध्ये
युधिष्ठिरं तव पाञ्चालि हेतोः।
कुर्वन्तु सर्वे चानृतं धर्मराजं
पाञ्चालि त्वं मोक्ष्यसे दासभावात् ॥ ४ ॥

पाञ्चालि ! इन श्रेष्ठ राजाओंके बीच ये लोग यह स्पष्ट कह दें कि युधिष्ठिरको तुम्हें दाँवपर रखनेका कोई अधिकार नहीं था। सभी पाण्डव मिलकर धर्मराज युधिष्ठिरको झूठा ठहरा दें। फिर तुम दास्यभावसे मुक्त कर दी जाओगी ॥ ४ ॥

धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा
स्वयं चेदं कथयत्विन्द्रकल्पः।
ईशो वा ते ह्यनीशोऽथ वैष
वाक्यादस्य क्षिप्रमेकं भजस्व ॥ ५ ॥

ये धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिर इन्द्रके समान तेजस्वी तथा सदा धर्ममें स्थित रहनेवाले हैं। तुमको दाँवपर रखनेका इन्हें अधिकार था या नहीं ? ये स्वयं ही कह दें; फिर इन्हींके कथनानुसार तुम शीघ्र दासीपन या अदासीपन किसी एकका आश्रय लो ॥ ५ ॥

सर्वे हीमे कौरवेयाः सभायां
दुःखान्तरे वर्तमानास्तवैव।
न विब्रुवन्त्यार्यसत्त्वा यथावत्
पतींश्च ते समवेक्ष्याल्पभाग्यान् ॥ ६ ॥

द्रौपदी ! ये सभी उत्तम स्वभाववाले कुरुवंशी इस सभामें तुम्हारे लिये ही दुखी हैं और तुम्हारे मन्दभाग्य पतियोंको देखकर तुम्हारे प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे पाते हैं ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सभ्याः कुरुराजस्य तस्य
वाक्यं सर्वे प्रशशंसुस्तथोच्चैः।
चेलावेधांश्चापि चक्रुर्नदन्तो
हाहेत्यासीदपि चैवार्तनादः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर एक ओर सभी सभासदोंने कुरुराज दुर्योधनके उस कथनकी उच्च स्वरसे भूरि-भूरि प्रशंसा की और गर्जना करते हुए वे वस्त्र हिलाने लगे तथा वहीं दूसरी ओर हाहाकार और आर्तनाद होने लगा ॥ ७ ॥

श्रुत्वा तु वाक्यं सुमनोहरं त-
द्धर्षश्चासीत् कौरवाणां सभायाम्।
सर्वे चासन् पार्थिवाः प्रीतिमन्तः
कुरुश्रेष्ठं धार्मिकं पूजयन्तः ॥ ८ ॥

दुर्योधनका वह मनोहर वचन सुनकर उस समय सभामें कौरवोंको बड़ा हर्ष हुआ। अन्य सब राजा भी बड़े प्रसन्न हुए तथा दुर्योधनको कौरवोंमें श्रेष्ठ और धार्मिक कहते हुए उसका आदर करने लगे ॥ ८ ॥

युधिष्ठिरं च ते सर्वे समुदैक्षन्त पार्थिवाः।
किं नु वक्ष्यति धर्मज्ञ इति साचीकृताननाः ॥ ९ ॥

फिर वे सब नरेश मुँह घुमाकर राजा युधिष्ठिरकी ओर इस आशासे देखने लगे कि देखें, ये धर्मज्ञ पाण्डुकुमार क्या कहते हैं ? ॥ ९ ॥

किं नु वक्ष्यति बीभत्सुरजितो युधि पाण्डवः।
भीमसेनो यमौ चोभौ भृशं कौतूहलान्विताः ॥ १० ॥

युद्धमें कभी पराजित न होनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुन

किस प्रकार अपना मत व्यक्त करते हैं। भीमसेन, नकुल तथा सहदेव भी क्या कहते हैं। इसके लिये उन राजाओंके मनमें बड़ी उत्कण्ठा थी ॥ १० ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे भीमसेनोऽब्रवीदिदम्।
प्रगृह्य रुचिरं दिव्यं भुजं चन्दनचर्चितम् ॥ ११ ॥

वह कोलाहल शान्त होनेपर भीमसेन अपनी चन्दन-चर्चित सुन्दर दिव्य भुजा उठाकर इस प्रकार बोले ॥ ११ ॥

भीमसेन उवाच

यद्येष गुरुरस्माकं धर्मराजो महामनाः।
न प्रभुः स्यात् कुलस्यास्य न वयं मर्षयेमहि ॥ १२ ॥

भीमसेनने कहा—यदि ये महामना धर्मराज युधिष्ठिर हमारे पितृतुल्य तथा इस पाण्डुकुलके स्वामी न होते तो हम कौरवोंका यह अत्याचार कदापि सहन नहीं करते ॥ १२ ॥

ईशो नः पुण्यतपसां प्राणानामपि चेश्वरः।
मन्यतेऽजितमात्मानं यद्येष विजिता वयम् ॥ १३ ॥
न हि मुच्येत मे जीवन् पदा भूमिमुपस्पृशन्।
मर्त्यधर्मा परामृश्य पाञ्चाल्या मूर्धजानिमान् ॥ १४ ॥
पश्यध्वं ह्यायतौ वृत्तौ भुजौ मे परिघाविव।
नैतयोरन्तरं प्राप्य मुच्येतापि शतक्रतुः ॥ १५ ॥

ये हमारे पुण्य, तप और प्राणोंके भी प्रभु हैं। यदि ये द्रौपदीको दाँवपर लगानेसे पूर्व अपनेको हारा हुआ नहीं मानते हैं तो हम सब लोग इनके द्वारा दाँवपर रखे जानेके कारण हारे जा चुके हैं। यदि मैं हारा गया न होता तो अपने पैरोंसे पृथ्वीका स्पर्श करनेवाला कोई भी मरणधर्मा मनुष्य द्रौपदी-के इन केशोंको छू लेनेपर मेरे हाथसे जीवित नहीं बच सकता था। राजाओ! परिघके समान मोटी और गोलाकार मेरी इन विशाल भुजाओंकी ओर तो देखो। इनके बीचमें आकर इन्द्र भी जीवित नहीं बच सकता ॥ १३—१५ ॥

धर्मपाशसितस्त्वेवं नाधिगच्छामि संकटम्।
गौरवेण विरुद्धश्च निग्रहादर्जुनस्य च ॥ १६ ॥

मैं धर्मके बन्धनमें बँधा हूँ, बड़े भाईके गौरवने मुझे रोक रक्खा है और अर्जुन भी मना कर रहा है, इसीलिये मैं इस संकटसे पार नहीं हो पाता ॥ १६ ॥

धर्मराजनिसृष्टस्तु सिंहः क्षुद्रमृगानिव।
धार्तराष्ट्रानिमान् पापान् निष्पिषेयं तलासिभिः ॥ १७ ॥

यदि धर्मराज मुझे आज्ञा दे दें तो जैसे सिंह छोटे मृगोंको दबोच लेता है, उसी प्रकार मैं धृतराष्ट्रके इन पापी पुत्रोंको तलवारकी जगह हाथोंके तलवोंसे ही मसल डालूँ ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमुवाच तदा भीष्मो द्रोणो विदुर एव च।
क्षम्यतामिदमित्येवं सर्वं सम्भाव्यते त्वयि ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तब भीष्म, द्रोण और विदुरने भीमसेनको शान्त करते हुए कहा—'भीम! क्षमा करो, तुम सब कुछ कर सकते हो' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीमवाक्ये सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें भीमवाक्यविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

कर्ण और दुर्योधनके वचन, भीमसेनकी प्रतिज्ञा, विदुरकी चेतावनी और द्रौपदीको धृतराष्ट्रसे वरप्राप्ति

कर्ण उवाच

त्रयः किलेमे ह्यधना भवन्ति
दासः पुत्रश्चास्वतन्त्रा च नारी।
दासस्य पत्नी त्वधनस्य भद्रे
हीनेश्वरा दासधनं च सर्वम् ॥ १ ॥

कर्ण बोला—भद्रे द्रौपदी! दास, पुत्र और सदा पराधीन रहनेवाली स्त्री—ये तीनों धनके स्वामी नहीं होते। जिसका पति अपने ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो गया है, ऐसी निर्धन दासकी पत्नी और दासका सारा धन—इन सबपर उस दासके स्वामीका ही अधिकार होता है ॥ १ ॥

प्रविश्य राज्ञः परिवारं भजस्व
तत् ते कार्यं शिष्टमादिश्यतेऽत्र।
ईशास्तु सर्वे तव राजपुत्रि
भवन्ति वै धार्तराष्ट्रा न पार्थाः ॥ २ ॥

राजकुमारी! अतः अब तुम राजा दुर्योधनके परिवारमें जाकर सबकी सेवा करो। यही कार्य तुम्हारे लिये शेष बचा है, जिसके लिये तुम्हें यहाँ आदेश दिया जा रहा है। आजसे धृतराष्ट्रके समस्त पुत्र ही तुम्हारे स्वामी हैं, कुन्तीके पुत्र नहीं ॥

अन्यं वृणीष्व पतिमाशु भाविनि
यस्माद् दास्यं न लभसि देवनेन।
अवाच्या वै पतिषु कामवृत्ति-
र्नित्यं दास्ये विदितं तत् तवास्तु ॥ ३ ॥

सुन्दरी! अब तुम शीघ्र ही दूसरा पति चुन लो, जिससे द्यूतक्रीडाके द्वारा तुम्हें फिर किसीकी दासी न बनना

पड़े। पतियोंके प्रति इच्छानुसार बर्ताव तुम-जैसी स्त्रीके लिये निन्दनीय नहीं है। दासीपनमें तो स्त्रीकी स्वेच्छाचारिता प्रसिद्ध है ही, अतः यह दास्यभाव ही तुम्हें प्राप्त हो ॥३॥

पराजितो नकुलो भीमसेनो
युधिष्ठिरः सहदेवार्जुनौ च।
दासीभूता त्वं हि वै याज्ञसेनि
पराजितास्ते पतयो नैव सन्ति ॥ ४ ॥

यज्ञसेनकुमारी! नकुल हार गये, भीमसेन, युधिष्ठिर, सहदेव तथा अर्जुन भी पराजित होकर दास बन गये। अब तुम दासी हो चुकी हो। वे हारे हुए पाण्डव अब तुम्हारे पति नहीं हैं ॥ ४ ॥

प्रयोजनं जन्मनि किं न मन्यते
पराक्रमं पौरुषं चैव पार्थः।
पाञ्चाल्यस्य द्रुपदस्यात्मजामिमां
सभामध्ये यो व्यदेवीद् ग्लहेषु ॥ ५ ॥

क्या कुन्तीकुमार युधिष्ठिर इस जीवनमें पराक्रम और पुरुषार्थकी आवश्यकता नहीं समझते, जिन्होंने सभामें इस द्रुपदराजकुमारी कृष्णाको दाँवपर लगाकर जूएका खेल किया? ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी
भृशं निशश्वास तदाऽऽर्तरूपः।
राजानुगो धर्मपाशानुबद्धो
दहन्निवैनं क्रोधसंरक्तदृष्टिः ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कर्णकी वह बात सुनकर अत्यन्त अमर्षमें भरे हुए भीमसेन बड़ी वेदनाका अनुभव करते हुए उस समय जोर-जोरसे उच्छ्वास लेने लगे। वे राजा युधिष्ठिरके अनुगामी होकर धर्मके पाशमें बँधे हुए थे। क्रोधसे उनके नेत्र रक्तवर्ण हो रहे थे। वे युधिष्ठिरको दग्ध करते हुए-से बोले ॥ ६ ॥

भीम उवाच

नाहं कुप्ये सूतपुत्रस्य राज-
न्नेष सत्यं दासधर्मः प्रदिष्टः।
किं विद्विषो वै मामेवं व्याहरेयु-
र्नादेवीस्त्वं यद्यनया नरेन्द्र ॥ ७ ॥

भीमसेनने कहा—राजन्! मुझे सूतपुत्र कर्णपर क्रोध नहीं आता। सचमुच ही दासधर्म वही है, जो उसने बताया है। महाराज! यदि आप इस द्रौपदीको दाँवपर लगाकर जूआ न खेलते तो क्या ये शत्रु हमलोगोंसे ऐसी बातें कह सकते थे? ॥

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनवचः श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्तदा।
युधिष्ठिरमुवाचेदं तूष्णीम्भूतमचेतनम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भीमसेनका यह कथन सुनकर उस समय राजा दुर्योधनने मौन एवं अचेतकी-सी दशामें बैठे हुए युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा— ॥ ८ ॥

भीमार्जुनौ यमौ चैव स्थितौ ते नृप शासने।
प्रश्नं ब्रूहि च कृष्णां त्वमजितां यदि मन्यसे ॥ ९ ॥

'नरेश! भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव आपकी आज्ञाके अधीन हैं। आप ही द्रौपदीके प्रश्नपर कुछ बोलिये। क्या आप कृष्णाको हारी हुई नहीं मानते हैं?' ॥ ९ ॥

एवमुक्त्वा तु कौन्तेयमपोह्य वसनं स्वकम्।
स्मयन्नवेक्ष्य पाञ्चालीमैश्वर्यमदमोहितः ॥ १० ॥
कदलीस्तम्भसदृशं सर्वलक्षणसंयुतम्।
गजहस्तप्रतीकाशं वज्रप्रतिमगौरवम् ॥ ११ ॥
अभ्युत्स्मयित्वा राधेयं भीममाधर्षयन्निव।
द्रौपद्याः प्रेक्षमाणायाः सव्यमूरुमदर्शयत् ॥ १२ ॥

कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर ऐश्वर्यमदसे मोहित हुए दुर्योधनने इशारेसे राधानन्दन कर्णको बढ़ावा देते और भीमसेनका तिरस्कार-सा करते हुए अपनी जाँघका वस्त्र हटाकर द्रौपदीकी ओर मुसकराते हुए देखा। उसने केलेके खंभेके समान मोटी, समस्त लक्षणोंसे सुशोभित, हाथीकी सूँड़के सदृश चढ़ाव-उतारवाली और वज्रके समान कठोर अपनी बायीं जाँघ द्रौपदीकी दृष्टिके सामने करके दिखायी ॥ १०—१२ ॥

भीमसेनस्तमालोक्य नेत्रे उत्फाल्य लोहिते।
प्रोवाच राजमध्ये तं सभां विश्रावयन्निव ॥ १३ ॥

उसे देखकर भीमसेनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। वे आँखें फाड़-फाड़कर देखते और सारी सभाको सुनाते हुए-से राजाओंके बीचमें बोले— ॥ १३ ॥

पितृभिः सह सालोक्यं मा स्म गच्छेद् वृकोदरः।
यद्येतमूरुं गदया न भिन्द्यां ते महाहवे ॥ १४ ॥

'दुर्योधन! यदि महासमरमें तेरी इस जाँघको मैं अपनी गदासे न तोड़ डालूँ तो मुझ भीमसेनको अपने पूर्वजोंके साथ उन्हींके समान पुण्यलोकोंकी प्राप्ति न हो' ॥ १४ ॥

क्रुद्धस्य तस्य सर्वेभ्यः स्रोतोभ्यः पावकार्चिषः।
वृक्षस्येव विनिश्चेरुः कोटरेभ्यः प्रदह्यतः ॥ १५ ॥

उस समय क्रोधमें भरे हुए भीमसेनके रोम-रोमसे आगकी चिनगारियाँ निकल रही थीं; ठीक उसी तरह, जैसे जलते हुए वृक्षके कोटरोंसे आगकी लपटें निकलती दिखायी देती हैं ॥

विदुर उवाच

परं भयं पश्यत भीमसेनात्
तद् बुध्यध्वं धृतराष्ट्रस्य पुत्राः।
दैवेरितो नूनमयं पुरस्तात्
परोऽनयो भरतेषूदपादि ॥ १६ ॥

विदुरजीने कहा—धृतराष्ट्रके पुत्रो! देखो, भीमसेनसे यह बड़ा भारी भय उपस्थित हो गया है। इसपर ध्यान दो। निश्चय ही प्रारब्धकी प्रेरणासे ही भरतवंशियोंके समक्ष यह महान् अन्याय उत्पन्न हुआ है ॥ १६ ॥

अतिद्यूतं कृतमिदं धार्तराष्ट्रा
यस्मात् स्त्रियं विवदध्वं सभायाम्।
योगक्षेमौ नश्यतो वः समग्रौ
पापान् मन्त्रान् कुरवो मन्त्रयन्ति ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्रो! तुमलोगोंने मर्यादाका उल्लङ्घन करके यह जूएका खेल किया है। तभी तो तुम भरी सभामें स्त्रीको लाकर उसके लिये विवाद कर रहे हो। तुम्हारे योग और क्षेम दोनों पूर्णतया नष्ट हो रहे हैं। आज सब लोगोंको मालूम हो गया कि कौरव पापपूर्ण मन्त्रणा ही करते हैं ॥ १७ ॥

इमं धर्मं कुरवो जानताशु
ध्वस्ते धर्मे परिषत् सम्प्रदुष्येत्।
इमां चेत् पूर्वं कितवोऽग्लहिष्य-
दीशोऽभविष्यदपराजितात्मा ॥ १८ ॥

कौरवो! तुम धर्मकी इस महत्ताको शीघ्र ही समझ लो; क्योंकि धर्मका नाश होनेपर सारी सभाको दोष लगता है। यदि जूआ खेलनेवाले राजा युधिष्ठिर अपने शरीरको हारे बिना पहले ही इस द्रौपदीको दाँवपर लगाते तो वे ऐसा करनेके अधिकारी हो सकते थे ॥ १८ ॥

स्वप्ने यथैतद् विजितं धनं स्या-
देवं मन्ये यस्य दीव्यत्यनीशः।
गान्धारराजस्य वचो निशम्य
धर्मादस्मात् कुरवो मापयात ॥ १९ ॥

(परंतु जब वे पहले अपनेको हारकर उसे दाँवपर लगानेका अधिकार ही खो बैठे थे, तब उसका मूल्य ही क्या रहा?) अनधिकारी पुरुष जिस धनको दाँवपर लगाता है, उसकी हार-जीत मैं वैसी ही मानता हूँ जैसे कोई स्वप्नमें किसी धनको हारता या जीतता है। कौरवो! तुमलोग गान्धारराज शकुनिकी बात सुनकर अपने धर्मसे भ्रष्ट न होओ ॥ १९ ॥

दुर्योधन उवाच

भीमस्य वाक्ये तद्वदेवार्जुनस्य
स्थितोऽहं वै यमयोश्चैवमेव।
युधिष्ठिरं ते प्रवदन्त्वनीश-
मथो दास्यान्मोक्ष्यसे याज्ञसेनि ॥ २० ॥

दुर्योधन बोला—द्रौपदी! मैं भीम, अर्जुन एवं नकुल-सहदेवकी बात माननेके लिये तैयार हूँ। ये सब लोग कह दें कि युधिष्ठिरको तुम्हें हारनेका कोई अधिकार नहीं था, फिर तुम दासीपनसे मुक्त कर दी जाओगी ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

ईशो राजा पूर्वमासीद् ग्लहे नः
कुन्तीसुतो धर्मराजो महात्मा।
ईशस्त्वयं कस्य पराजितात्मा
तज्जानीध्वं कुरवः सर्व एव ॥ २१ ॥

अर्जुनने कहा—कुन्तीनन्दन महात्मा धर्मराज राजा युधिष्ठिर पहले तो हमें दाँवपर लगानेके अधिकारी थे ही, किंतु जब वे अपने शरीरको ही हार गये, तब किसके स्वामी रहे! इस बातपर सब कौरव विचार करें ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो राज्ञो धृतराष्ट्रस्य गेहे
गोमायुरुच्चैर्व्याहरदग्निहोत्रे।
तं रासभाः प्रत्यभाषन्त राजन्
समन्ततः पक्षिणश्चैव रौद्राः ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तत्पश्चात् राजा धृतराष्ट्रकी अग्निशालाके भीतर एक गीदड़ आकर जोर-जोरसे



हुँआ-हुँआ करने लगा। उस शब्दको लक्ष्य करके सब ओर गदहे रेंकने लगे तथा गृध्र आदि भयंकर पक्षी भी चारों ओर अशुभसूचक कोलाहल करने लगे ॥ २२ ॥

तं वै शब्दं विदुरस्तत्त्ववेदी
शुश्राव घोरं सुबलात्मजा च।
भीष्मो द्रोणो गौतमश्चापि विद्वान्
स्वस्ति स्वस्तीत्यपि चैवाहुरुच्चैः ॥ २३ ॥

तत्त्वज्ञानी विदुर तथा सुबलपुत्री गान्धारीने भी उस भयानक शब्दको सुना। भीष्म, द्रोण और गौतमवंशीय विद्वान् कृपाचार्यके

कानोंमें भी वह अमङ्गलकारी शब्द सुन पड़ा। फिर तो वे सभी लोग उच्च स्वरसे 'स्वस्ति' 'स्वस्ति' ऐसा कहने लगे ॥ २३ ॥

ततो गान्धारी विदुरश्चापि विद्वां-
स्तमुत्पातं घोरमालक्ष्य राज्ञे।
निवेदयामासतुरार्तवत् तदा
ततो राजा वाक्यमिदं बभाषे ॥ २४ ॥

तदनन्तर गान्धारी और विद्वान् विदुरने उस उत्पातसूचक भयंकर शब्दको लक्ष्य करके अत्यन्त दुखी हो राजा धृतराष्ट्रसे उसके विषयमें निवेदन किया, तब राजाने इस प्रकार कहा॥ २४॥

धृतराष्ट्र उवाच

हतोऽसि दुर्योधन मन्दबुद्धे
यस्त्वं सभायां कुरुपुङ्गवानाम्।
स्त्रियं समाभाषसि दुर्विनीत
विशेषतो द्रौपदीं धर्मपत्नीम् ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्र बोले—रे मन्दबुद्धि दुर्योधन! तू तो जीता ही मारा गया। दुर्विनीत! तू श्रेष्ठ कुरुवंशियोंकी सभामें अपने ही कुलकी महिला एवं विशेषतः पाण्डवोंकी धर्मपत्नीको ले आकर उससे पापपूर्ण बातें कर रहा है ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी
हितान्वेषी बान्धवानामपायात्।
कृष्णां पाञ्चालीमब्रवीत् सान्त्वपूर्वं
विमृश्यैतत् प्रज्ञया तत्त्वबुद्धिः ॥ २६ ॥

ऐसा कहकर बन्धु-बान्धवोंको विनाशसे बचाकर उनके हितकी इच्छा रखनेवाले तत्त्वदर्शी एवं मेधावी राजा धृतराष्ट्रने अपनी बुद्धिसे इस दुःखद प्रसंगपर विचार करके पाञ्चालराजकुमारी कृष्णाको सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा—॥ २६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

वरं वृणीष्व पाञ्चालि मत्तो यदभिवाञ्छसि।
वधूनां हि विशिष्टा मे त्वं धर्मपरमा सती ॥ २७ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—बहू द्रौपदी! तुम मेरी पुत्रवधुओंमें सबसे श्रेष्ठ एवं धर्मपरायणा सती हो। तुम्हारी जो इच्छा हो, उसके अनुसार मुझसे वर माँग लो ॥ २७ ॥

द्रौपद्युवाच

ददासि चेद् वरं मह्यं वृणोमि भरतर्षभ।
सर्वधर्मानुगः श्रीमानदासोऽस्तु युधिष्ठिरः ॥ २८ ॥
मनस्विनमजानन्तो मैवं ब्रूयुः कुमारकाः।
एष वै दासपुत्रो हि प्रतिविन्ध्यं ममात्मजम् ॥ २९ ॥

द्रौपदी बोली—भरतवंशशिरोमणे! यदि आप मुझे वर देते हैं तो मैं यही माँगती हूँ कि सम्पूर्ण धर्मका आचरण करनेवाले राजा युधिष्ठिर दासभावसे मुक्त हो जायँ। जिससे मेरे मनस्वी पुत्र प्रतिविन्ध्यको अज्ञानवश दूसरे राजकुमार ऐसा न कह सकें कि यह 'दासपुत्र' है ॥ २८-२९ ॥

राजपुत्रः पुरा भूत्वा यथा नान्यः पुमान् क्वचित्।
राजभिर्लालितस्यास्य न युक्ता दासपुत्रता ॥ ३० ॥

जैसे पहले राजकुमार होकर फिर कोई मनुष्य कभी दासपुत्र नहीं हुआ है, उसी प्रकार राजाओंके द्वारा जिसका लालन-पालन हुआ है, उस मेरे पुत्र प्रतिविन्ध्यका दासपुत्र होना कदापि उचित नहीं है ॥ ३० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

एवं भवतु कल्याणि यथा त्वमभिभाषसे।
द्वितीयं ते वरं भद्रे ददानि वरयस्व ह।
मनो हि मे वितरति नैकं त्वं वरमर्हसि ॥ ३१ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—कल्याणि! तुम जैसा कहती हो, वैसे ही हो। भद्रे! अब मैं तुम्हें दूसरा वर देता हूँ, वह भी माँग लो। मेरा मन मुझे वर देनेके लिये प्रेरित कर रहा है कि तुम एक ही वर पानेके योग्य नहीं हो ॥ ३१ ॥

द्रौपद्युवाच

सरथौ सधनुष्कौ च भीमसेनधनंजयौ।
यमौ च वरये राजन्नदासान् स्ववशानहम् ॥ ३२ ॥

द्रौपदी बोली—राजन्! मैं दूसरा वर यह माँगती हूँ कि भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव अपने रथ और धनुष-बाणसहित दासभावसे रहित एवं स्वतन्त्र हो जायँ ॥ ३२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तथास्तु ते महाभागे यथा त्वं नन्दिनीच्छसि।
तृतीयं वरयास्मत्तो नासि द्वाभ्यां सुसत्कृता।
त्वं हि सर्वस्नुषाणां मे श्रेयसी धर्मचारिणी ॥ ३३ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महाभागे! तुम अपने कुलको आनन्द प्रदान करनेवाली हो। तुम जैसा चाहती हो, वैसा ही हो। अब तुम तीसरा वर और माँगो। तुम मेरी सब पुत्रवधुओंमें श्रेष्ठ एवं धर्मका पालन करनेवाली हो। मैं समझता हूँ, केवल दो वरोंसे तुम्हारा पूरा सत्कार नहीं हुआ ॥ ३३ ॥

द्रौपद्युवाच

लोभो धर्मस्य नाशाय भगवन् नाहमुत्सहे।
अनर्हा वरमादातुं तृतीयं राजसत्तम ॥ ३४ ॥

द्रौपदी बोली—भगवन्! लोभ धर्मका नाशक होता है, अतः अब मेरे मनमें वर माँगनेका उत्साह नहीं है। राजशिरोमणे! तीसरा वर लेनेका मुझे अधिकार भी नहीं है॥ ३४॥

एकमाहुर्वैश्यवरं द्वौ तु क्षत्रस्त्रिया वरौ।
त्रयस्तु राज्ञो राजेन्द्र ब्राह्मणस्य शतं वराः ॥ ३५ ॥

राजेन्द्र! वैश्यको एक वर माँगनेका अधिकार बताया गया है, क्षत्रियकी स्त्री दो वर माँग सकती है, क्षत्रियको तीन

वर तथा ब्राह्मणको सौ वर लेनेका अधिकार है ॥ ३५ ॥

पापीयांस इमे भूत्वा संतीर्णाः पतयो मम।
वेत्स्यन्ति चैव भद्राणि राजन् पुण्येन कर्मणा ॥ ३६ ॥

राजन्! ये मेरे पति दासभावको प्राप्त होकर भारी विपत्तिमें फँस गये थे। अब उससे पार हो गये। इसके बाद पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानद्वारा ये लोग स्वयं कल्याण प्राप्त कर लेंगे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीवरलाभे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्रौपदीवरलाभविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

शत्रुओंको मारनेके लिये उद्यत हुए भीमको युधिष्ठिरका शान्त करना

कर्ण उवाच

या नः श्रुता मनुष्येषु स्त्रियो रूपेण सम्मताः।
तासामेतादृशं कर्म न कस्याश्चन शुश्रुम ॥ १ ॥

कर्ण बोला—मैंने मनुष्योंमें जिन सुन्दरी स्त्रियोंके नाम सुने हैं, उनमेंसे किसीने भी ऐसा अद्भुत कार्य किया हो, यह मेरे सुननेमें नहीं आया ॥ १ ॥

क्रोधाविष्टेषु पार्थेषु धार्तराष्ट्रेषु चाप्यति।
द्रौपदी पाण्डुपुत्राणां कृष्णा शान्तिरिहाभवत् ॥ २ ॥

कुन्तीके पुत्र तथा धृतराष्ट्रके पुत्र सभी एक-दूसरेके प्रति अत्यन्त क्रोधसे भरे हुए थे, ऐसे समयमें यह द्रुपदकुमारी कृष्णा इन पाण्डवोंको परम शान्ति देनेवाली बन गयी ॥ २ ॥

अप्लवेऽम्भसि मग्नानामप्रतिष्ठे निमज्जताम्।
पाञ्चाली पाण्डुपुत्राणां नौरेषा पारगाभवत् ॥ ३ ॥

पाण्डवलोग नौका और आधारसे रहित जलमें गोते खा रहे थे अर्थात् संकटके अथाह सागरमें डूब रहे थे, किंतु यह पाञ्चालराजकुमारी इनके लिये पार लगानेवाली नौका बन गयी ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् वै श्रुत्वा भीमसेनः कुरुमध्येऽत्यमर्षणः।
स्त्रीगतिः पाण्डुपुत्राणामित्युवाच सुदुर्मनाः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कौरवोंके बीचमें कर्णकी वह बात सुनकर अत्यन्त असहनशील भीमसेन मन-ही-मन बहुत दुखी होकर बोले—'हाय! पाण्डवोंको उबारनेवाली एक स्त्री हुई' ॥ ४ ॥

भीम उवाच

त्रीणि ज्योतींषि पुरुष इति वै देवलोऽब्रवीत्।
अपत्यं कर्म विद्या च यतः सृष्टाः प्रजास्ततः ॥ ५ ॥

भीमसेनने कहा—महर्षि देवलका कथन है कि पुरुषमें तीन प्रकारकी ज्योतियाँ हैं—संतान, कर्म और ज्ञान; क्योंकि इन्हींसे सारी प्रजाकी सृष्टि हुई ॥ ५ ॥

अमेध्ये वै गतप्राणे शून्ये ज्ञातिभिरुज्झिते।
देहे त्रितयमेवैतत् पुरुषस्योपयुज्यते ॥ ६ ॥

जब यह शरीर प्राणरहित होकर शून्य एवं अपवित्र हो जाता है तथा समस्त बन्धु-बान्धव उसे त्याग देते हैं तब ये ही ज्ञान आदि तीनों ज्योतियाँ (परलोकगत) पुरुषके उपयोगमें आती हैं ॥ ६ ॥

तन्नो ज्योतिरभिहतं दाराणामभिमर्शनात्।
धनंजय कथंस्वित् स्यादपत्यमभिमृष्टजम् ॥ ७ ॥

धनंजय! हमारी धर्मपत्नी द्रौपदीके शरीरका बलपूर्वक स्पर्श करके दुःशासनने उसे अपवित्र कर दिया है, इससे हमारी संतानरूप ज्योति नष्ट हो गयी। जो पराये पुरुषसे छू गयी, उस स्त्रीसे उत्पन्न संतान किस कामकी होगी? ॥७॥

अर्जुन उवाच

न चैवोक्ता न चानुक्ता हीनतः परुषा गिरः।
भारत प्रतिजल्पन्ति सदा तूत्तमपूरुषाः ॥ ८ ॥

अर्जुन बोले—भारत! (द्रौपदी सती है। उसके विषयमें आप ऐसी बात न कहें। दुःशासनने अवश्य नीचता की है, किंतु) श्रेष्ठ पुरुष नीच पुरुषोंद्वारा कही या न कही गयी कड़वी बातोंका कभी उत्तर नहीं देते ॥ ८ ॥

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि।
सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्धसम्भावनाः स्वयम् ॥ ९ ॥

प्रतिशोधका उपाय जानते हुए भी सत्पुरुष दूसरोंके उपकारोंको ही याद रखते हैं, उनके द्वारा किये हुए वैरको नहीं। उन साधु पुरुषोंको स्वयं सबसे सम्मान प्राप्त होता रहता है ॥ ९ ॥

भीम उवाच

इहैवैतांस्त्वहं सर्वान् हन्मि शत्रून् समागतान्।
अथ निष्क्रम्य राजेन्द्र समूलान् हन्मि भारत॥ १० ॥

भीमसेनने (राजा युधिष्ठिरसे) कहा—भरतवंशी राजराजेश्वर! (यदि आपकी आज्ञा हो, तो) यहाँ आये हुए इन सब शत्रुओंको मैं यहीं समाप्त कर दूँ। और यहाँसे

बाहर निकलकर इनके मूलका भी नाश कर डालूँ ॥ १० ॥

किं नो विवदितेनेह किमुक्तेन च भारत।
अद्यैवैतान् निहन्मीह प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ॥ ११ ॥

भारत ! अब यहाँ विवाद या उत्तर-प्रत्युत्तर करनेकी हमें क्या आवश्यकता है ? मैं आज ही इन सबको यमलोक भेज देता हूँ, आप इस सारी पृथ्वीका शासन कीजिये ॥ ११ ॥

इत्युक्त्वा भीमसेनस्तु कनिष्ठैर्भ्रातृभिः सह।
मृगमध्ये यथा सिंहो मुहुर्मुहुरुदैक्षत ॥ १२ ॥

अपने छोटे भाइयोंके साथ खड़े हुए भीमसेन उपर्युक्त बात कहकर शत्रुओंकी ओर बार-बार देखने लगे; मानो सिंह मृगोंके समूहमें खड़ा हो उन्हींकी ओर देख रहा हो ॥१२॥

सान्त्व्यमानो वीक्षमाणः पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा।
खिद्यत्येव महाबाहुरन्तर्दाहेन वीर्यवान् ॥ १३ ॥

अनायास ही महान् पराक्रम कर दिखानेवाले अर्जुन शत्रुओंकी ओर देखनेवाले भीमसेनको बार-बार शान्त कर रहे थे, परंतु पराक्रमी महाबाहु भीमसेन अपने भीतर धधकती हुई क्रोधाग्निसे जल रहे थे ॥ १३ ॥

क्रुद्धस्य तस्य स्रोतोभ्यः कर्णादिभ्यो नराधिप।
सधूमः सस्फुलिङ्गार्चिः पावकः समजायत ॥ १४ ॥

राजन् ! उस समय क्रोधमें भरे हुए भीमसेनकी श्रवणादि इन्द्रियोंके छिद्रों तथा रोमकूपोंसे धूम और चिनगारियों-सहित आगकी लपटें निकल रही थीं ॥ १४ ॥

भ्रुकुटीकृतदुष्प्रेक्ष्यमभवत् तस्य तन्मुखम्।
युगान्तकाले सम्प्राप्ते कृतान्तस्येव रूपिणः ॥ १५ ॥

भौंहें तनी होनेके कारण प्रलयकालमें मूर्तिमान् यमराजकी भाँति उनके भयानक मुखकी ओर देखना भी कठिन हो रहा था ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरस्तमावार्य बाहुना बाहुशालिनम्।
मैवमित्यब्रवीच्चैनं जोषमास्स्वेति भारत ॥ १६ ॥

भारत ! तब विशाल भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले भीमसेनको अपने एक हाथसे रोकते हुए युधिष्ठिरने कहा—'ऐसा न करो, शान्तिपूर्वक बैठ जाओ' ॥ १६ ॥

निवार्य च महाबाहुं कोपसंरक्तलोचनम्।
पितरं समुपातिष्ठद् धृतराष्ट्रं कृताञ्जलिः ॥ १७ ॥

उस समय महाबाहु भीमके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे। उन्हें रोककर राजा युधिष्ठिर हाथ जोड़े हुए अपने ताऊ महाराज धृतराष्ट्रके पास गये ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीमक्रोधे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें भीमसेनका क्रोधविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका युधिष्ठिरको सारा धन लौटाकर एवं समझा-बुझाकर इन्द्रप्रस्थ जानेका आदेश देना

युधिष्ठिर उवाच

राजन् किं करवामस्ते प्रशाध्यस्मांस्त्वमीश्वरः।
नित्यं हि स्थातुमिच्छामस्तव भारत शासने ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! आप हमारे स्वामी हैं। आज्ञा दीजिये, हम क्या करें। भारत ! हमलोग सदा आपकी आज्ञाके अधीन रहना चाहते हैं ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अजातशत्रो भद्रं ते अरिष्टं स्वस्ति गच्छत।
अनुज्ञाताः सहधनाः स्वराज्यमनुशासत ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—अजातशत्रो ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मेरी आज्ञासे हारे हुए धनके साथ बिना किसी विघ्न-बाधाके कुशलपूर्वक अपनी राजधानीको जाओ और अपने राज्यका शासन करो ॥ २ ॥

इदं चैवावबोद्धव्यं वृद्धस्य मम शासनम्।
मया निगदितं सर्वं पथ्यं निःश्रेयसं परम् ॥ ३ ॥

मुझ वृद्धकी यही आज्ञा है। एक बात और है, उसपर भी ध्यान देना। मेरी कही हुई सारी बातें तुम्हारे हित और परम मङ्गलके लिये होंगी ॥ ३ ॥

वेत्थ त्वं तात धर्माणां गतिं सूक्ष्मां युधिष्ठिर।
विनीतोऽसि महाप्राज्ञ वृद्धानां पर्युपासिता ॥ ४ ॥

तात युधिष्ठिर ! तुम धर्मकी सूक्ष्म गतिको जानते हो। महामते ! तुममें विनय है। तुमने बड़े-बूढ़ोंकी उपासना की है ॥ ४ ॥

यतो बुद्धिस्ततः शान्तिः प्रशमं गच्छ भारत।
नादारुणि पतेच्छस्त्रं दारुण्येतन्निपात्यते ॥ ५ ॥

जहाँ बुद्धि है, वहीं शान्ति है। भारत ! तुम शान्त हो जाओ। (जो कुछ हुआ है, उसे भूल जाओ।) पत्थर या लोहेपर कुल्हाड़ी नहीं पड़ती। लोग उसे लकड़ीपर ही चलाते हैं ॥ ५ ॥

न वैराण्यभिजानन्ति गुणान् पश्यन्ति नागुणान्।
विरोधं नाधिगच्छन्ति ये त उत्तमपूरुषाः ॥ ६ ॥

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि ।
सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ते प्रतिक्रियाम् ॥ ७ ॥

जो पुरुष वैरको याद नहीं रखते, गुणोंको ही देखते हैं, अवगुणोंको नहीं तथा किसीसे विरोध नहीं रखते, वे ही उत्तम पुरुष कहे गये हैं। साधु पुरुष दूसरोंके सत्कर्मों (उपकारादि) को ही याद रखते हैं, उनके किये हुए वैरको नहीं। वे दूसरोंकी भलाई तो करते हैं; परंतु उनसे बदला लेनेकी भावना नहीं रखते ॥ ६-७ ॥

संवादे परुषाण्याहुर्युधिष्ठिर नराधमाः ।
प्रत्याहुर्मध्यमास्त्वेतेऽनुक्ताः परुषमुत्तरम् ॥ ८ ॥
न चोक्ता नैव चानुक्तास्त्वहिताः परुषा गिरः ।
प्रतिजल्पन्ति वै धीराः सदा तूत्तमपूरुषाः ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर ! नीच मनुष्य साधारण बातचीतमें भी कटुवचन बोलने लगते हैं। जो स्वयं पहले कटु वचन न कहकर प्रत्युत्तरमें कठोर बातें कहते हैं, वे मध्यम श्रेणीके पुरुष हैं। परंतु जो धीर एवं श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे किसीके कटुवचन बोलने या न बोलनेपर भी अपने मुखसे कभी कठोर एवं अहितकर बात नहीं निकालते ॥ ८-९ ॥

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि ।
सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्ध्वा प्रत्ययमात्मनः ॥ १० ॥

महात्मा पुरुष अपने अनुभवको सामने रखकर दूसरोंके सुख-दुःखको भी अपने समान जानते हुए उनके अच्छे बर्तावोंको ही याद रखते हैं, उनके द्वारा किये हुए वैर-विरोधको नहीं ॥ १० ॥

असम्भिन्नार्यमर्यादाः साधवः प्रियदर्शनाः ।
तथा चरितमार्येण त्वयास्मिन् सत्समागमे ॥ ११ ॥

सत्पुरुष आर्यमर्यादाको कभी भङ्ग नहीं करते। उनके दर्शनसे सभी लोग प्रसन्न हो जाते हैं। युधिष्ठिर ! कौरव-पाण्डवोंके समागममें तुमने श्रेष्ठ पुरुषोंके समान ही आचरण किया है ॥ ११ ॥

दुर्योधनस्य पारुष्यं तत् तात हृदि मा कृथाः ।
मातरं चैव गान्धारीं मां च त्वं गुणकाङ्क्षया ॥ १२ ॥
उपस्थितं वृद्धमन्धं पितरं पश्य भारत ।

तात ! दुर्योधनने जो कठोर बर्ताव किया है, उसे तुम अपने हृदयमें मत लाना। भारत ! तुम तो उत्तम गुण ग्रहण करनेकी इच्छासे अपनी माता गान्धारी तथा यहाँ बैठे हुए मुझ अंधे बूढ़े ताऊकी ओर देखो ॥ १२½ ॥

प्रेक्षापूर्वं मया द्यूतमिदमासीदुपेक्षितम् ॥ १३ ॥
मित्राणि द्रष्टुकामेन पुत्राणां च बलाबलम् ।
अशोच्याः कुरवो राजन् येषां त्वमनुशासिता ॥ १४ ॥
मन्त्री च विदुरो धीमान् सर्वशास्त्रविशारदः ।

मैंने सोच-समझकर भी इस जूएकी इसलिये उपेक्षा कर दी—उसे रोकनेकी चेष्टा नहीं की कि मैं मित्रों और सुहृदोंसे मिलना चाहता था और अपने पुत्रोंके बलाबलको देखना चाहता था। राजन् ! जिनके तुम शासक हो और सब शास्त्रोंमें निपुण परम बुद्धिमान् विदुर जिनके मन्त्री हैं, वे कुरुवंशी कदापि शोकके योग्य नहीं हैं ॥ १३-१४½ ॥

त्वयि धर्मोऽर्जुने धैर्यं भीमसेने पराक्रमः ॥ १५ ॥
श्रद्धा च गुरुशुश्रूषा यमयोः पुरुषाग्र्ययोः ।
अजातशत्रो भद्रं ते खाण्डवप्रस्थमाविश ।
भ्रातृभिस्तेऽस्तु सौभ्रात्रं धर्मे ते धीयतां मनः॥ १६ ॥

तुममें धर्म है, अर्जुनमें धैर्य है, भीमसेनमें पराक्रम है और नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेवमें श्रद्धा एवं विशुद्ध गुरुसेवाका भाव है। अजातशत्रो ! तुम्हारा भला हो। अब तुम खाण्डवप्रस्थको जाओ। दुर्योधन आदि बन्धुओंके प्रति तुम्हें अच्छे भाईका-सा स्नेहभाव रहे और तुम्हारा मन सदा धर्ममें लगा रहे ॥ १५-१६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तो भरतश्रेष्ठ धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
कृत्वाऽऽर्यसमयं सर्वं प्रतस्थे भ्रातृभिः सह ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिर पूज्यवर धृतराष्ट्रके आदेशको स्वीकार करके भाइयोंके सहित वहाँसे विदा हो गये। १७।

ते रथान् मेघसंकाशानास्थाय सह कृष्णया ।
प्रययुर्हृष्टमनस इन्द्रप्रस्थं पुरोत्तमम् ॥ १८ ॥

वे मेघके समान शब्द करनेवाले रथोंपर द्रौपदीके साथ बैठकर प्रसन्न मनसे नगरोंमें उत्तम इन्द्रप्रस्थको चल दिये॥ १८॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि धृतराष्ट्रवरप्रदानपूर्वकमिन्द्रप्रस्थं प्रति युधिष्ठिरगमने त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें धृतराष्ट्रवरदानपूर्वक युधिष्ठिरका इन्द्रप्रस्थगमनविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

(अनुद्यूतपर्व)

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्रसे अर्जुनकी वीरता बतलाकर पुनः द्यूतक्रीडाके लिये पाण्डवोंको बुलानेका अनुरोध और उनकी स्वीकृति

जनमेजय उवाच

अनुज्ञातांस्तान् विदित्वा सरत्नधनसंचयान्।
पाण्डवान् धार्तराष्ट्राणां कथमासीन्मनस्तदा ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! जब कौरवोंको यह मालूम हुआ कि पाण्डवोंको रथ और धनके संग्रहसहित खाण्डवप्रस्थ जानेकी आज्ञा मिल गयी, तब उनके मनकी अवस्था कैसी हुई? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

अनुज्ञातांस्तान् विदित्वा धृतराष्ट्रेण धीमता।
राजन् दुःशासनः क्षिप्रं जगाम भ्रातरं प्रति ॥ २ ॥
दुर्योधनं समासाद्य सामात्यं भरतर्षभ।
दुःखार्तो भरतश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भरतकुलभूषण जनमेजय! परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको जानेकी आज्ञा दे दी, यह जानकर दुःशासन शीघ्र ही अपने भाई भरतश्रेष्ठ दुर्योधनके पास, जो अपने मन्त्रियों (कर्ण एवं शकुनि) के साथ बैठा था, गया और दुःखसे पीडित होकर इस प्रकार बोला ॥ २-३ ॥

दुःशासन उवाच

दुःखेनैतत् समानीतं स्थविरो नाशयत्यसौ।
शत्रुसाद् गमयद् द्रव्यं तद् बुध्यध्वं महारथाः ॥ ४ ॥

दुःशासनने कहा—महारथियो! आपलोगोंको यह मालूम होना चाहिये कि हमने बड़े दुःखसे जिस धनराशिको प्राप्त किया था, उसे हमारा बूढ़ा बाप नष्ट कर रहा है। उसने सारा धन शत्रुओंके अधीन कर दिया ॥ ४ ॥

अथ दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः।
मिथः संगम्य सहिताः पाण्डवान् प्रति मानिनः ॥ ५ ॥
वैचित्रवीर्यं राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम्।
अभिगम्य त्वरायुक्ताः श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन् ॥ ६ ॥

यह सुनकर दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि, जो बड़े ही अभिमानी थे, पाण्डवोंसे बदला लेनेके लिये परस्पर मिलकर सलाह करने लगे। फिर उन सबने बड़ी उतावलीके साथ विचित्रवीर्यनन्दन मनीषी राजा धृतराष्ट्रके पास जाकर मधुरवाणीमें कहा ॥ ५-६ ॥

(दुर्योधन उवाच

अर्जुनेन समो वीर्ये नास्ति लोके धनुर्धरः।
योऽर्जुनेनार्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी! संसारमें अर्जुनके समान पराक्रमी धनुर्धर दूसरा कोई नहीं है। ये दो बाहुवाले अर्जुन सहस्र भुजाओंवाले कार्तवीर्य अर्जुनके समान शक्तिशाली हैं ॥

शृणु राजन् पुराचिन्त्यानर्जुनस्य च साहसान्।
अर्जुनो धन्विनां श्रेष्ठो दुष्कृतं कृतवान् पुरा ॥
द्रुपदस्य पुरे राजन् द्रौपद्याश्च स्वयंवरे।

महाराज! अर्जुनने पहले जो-जो अचिन्त्य साहसपूर्ण कार्य किये हैं, उनका वर्णन करता हूँ, सुनिये। राजन्! पहले राजा द्रुपदके नगरमें द्रौपदीके स्वयंवरके समय धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने वह पराक्रम कर दिखाया था, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त कठिन है ॥

स दृष्ट्वा पार्थिवान् सर्वान् क्रुद्धान् पार्थो महाबलः॥
वारयित्वा शरैस्तीक्ष्णैरजयत् तत्र स स्वयम्।
जित्वा तु तान् महीपालान् सर्वान् कर्णपुरोगमान्॥
लेभे कृष्णां शुभां पार्थो युद्ध्वा वीर्यबलात् तदा।
सर्वक्षत्रसमूहेषु अम्बां भीष्मो यथा पुरा ॥

उस समय महाबली अर्जुनने सब राजाओंको कुपित देख तीखे बाणोंके प्रहारसे उन्हें जहाँके तहाँ रोक दिया और स्वयं ही सबपर विजय पायी। कर्ण आदि सभी राजाओंको अपने बल और पराक्रमसे युद्धमें जीतकर कुन्ती-कुमार अर्जुनने उस समय शुभलक्षणा द्रौपदीको प्राप्त किया; ठीक वैसे ही, जैसे पूर्वकालमें भीष्मजीने सम्पूर्ण क्षत्रिय-समुदायमें अपने बल-पराक्रमसे काशिराजकी कन्या अम्बा आदिको प्राप्त किया था ॥

ततः कदाचिद् बीभत्सुस्तीर्थयात्रां ययौ स्वयम्।
अथोलूपीं शुभां जातां नागराजसुतां तदा ॥
नागेष्ववाप चाग्र्येषु प्रार्थितोऽथ यथातथम्।
ततो गोदावरीं वेण्णां कावेरीं चावगाहत।

तदनन्तर अर्जुन किसी समय स्वयं तीर्थयात्राके लिये गये। उस यात्रामें ही उन्होंने नागलोकमें पहुँचकर परम सुन्दरी नागराजकन्या उलूपीको उसके प्रार्थना करनेपर विधिपूर्वक पत्नीरूपमें ग्रहण किया। फिर क्रमशः अन्य तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए दक्षिण दिशामें जाकर गोदावरी, वेण्णा तथा कावेरी आदि नदियोंमें स्नान किया ॥

स दक्षिणं समुद्रान्तं गत्वा चाप्सरसां च वै ।
कुमारीतीर्थमासाद्य मोक्षयामास चार्जुनः ॥
ग्राहरूपान्विताः पञ्च अतिशौर्येण वै बलात् ॥

दक्षिणसमुद्रके तटपर कुमारीतीर्थमें पहुँचकर अर्जुनने अत्यन्त शौर्यका परिचय देते हुए ग्राहरूपधारिणी पाँच अप्सराओंका बलपूर्वक उद्धार किया ॥

कन्यातीर्थं समभ्येत्य ततो द्वारवतीं ययौ ॥
तत्र कृष्णनिदेशात् स सुभद्रां प्राप्य फाल्गुनः ।
तामारोप्य रथोपस्थे प्रययौ स्वपुरीं प्रति ॥

तत्पश्चात् कन्याकुमारीतीर्थकी यात्रा करके वे दक्षिणसे लौट आये और अनेक तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए द्वारकापुरी जा पहुँचे। वहाँ भगवान् श्रीकृष्णके आदेशसे अर्जुनने सुभद्राको लेकर रथपर बिठा लिया और अपनी नगरी इन्द्रप्रस्थकी ओर प्रस्थान किया ॥

भूयः शृणु महाराज फाल्गुनस्य तु साहसम् ।
ददौ च वह्नेर्बीभत्सुः प्रार्थितं खाण्डवं वनम् ॥
लब्धमात्रे तु तेनाथ भगवान् हव्यवाहनः ।
भक्षितुं खाण्डवं राजंस्ततः समुपचक्रमे ॥

महाराज ! अर्जुनके साहसका और भी वर्णन सुनिये; उन्होंने अग्निदेवको उनके माँगनेपर खाण्डववन समर्पित किया था । राजन् ! उनके द्वारा उपलब्ध होते ही भगवान् अग्निदेवने उस वनको अपना आहार बनाना आरम्भ किया ॥

ततस्तं भक्षयन्तं वै सव्यसाची विभावसुम् ।
रथी धन्वी शरान् गृह्य स कलापयुतः प्रभुः ॥
पालयामास राजेन्द्र स्ववीर्येण महाबलः ॥

राजेन्द्र ! जब अग्निदेव खाण्डववनको जलाने लगे, उस समय (अग्निदेवसे) रथ, धनुष, बाण और कवच आदि लेकर महान् बल तथा प्रभावसे युक्त सव्यसाची अर्जुन अपने पराक्रमसे उसकी रक्षा करने लगे ॥

ततः श्रुत्वा महेन्द्रस्तं मेघांस्तान् संदिदेश ह ।
तेनोक्ता मेघसङ्घास्ते ववर्षुरतिवृष्टिभिः ॥

खाण्डववनके दाहका समाचार सुनकर देवराज इन्द्रने मेघोंको आग बुझानेकी आज्ञा दी । उनकी प्रेरणासे मेघोंने बड़ी भारी वर्षा प्रारम्भ की ॥

ततो मेघगणान् पार्थः शरव्रातैः समन्ततः ।
खगमैर्वारयामास तदाश्चर्यमिवाभवत् ॥

यह देखकर अर्जुनने आकाशगामी बाणसमूहोंद्वारा सब



ओरसे बादलोंको रोक दिया । यह एक अद्भुत-सी घटना हुई ॥

वारितान् मेघसङ्घांश्च श्रुत्वा क्रुद्धः पुरंदरः ।
पाण्डरं गजमास्थाय सर्वदेवगणैर्वृतः ॥
ययौ पार्थेन संयोद्धुं रक्षार्थं खाण्डवस्य च ॥

मेघोंको रोका गया सुनकर इन्द्रदेव कुपित हो उठे । श्वेत वर्णवाले ऐरावत हाथीपर आरूढ हो वे समस्त देवताओंके साथ खाण्डववनकी रक्षाके निमित्त अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये गये ॥

रुद्राश्च मरुतश्चैव वसवश्चाश्विनौ तदा ।
आदित्याश्चैव साध्याश्च विश्वेदेवाश्च भारत ॥
गन्धर्वाश्चैव सहिता अन्ये सुरगणाश्च ये ।
ते सर्वे शस्त्रसम्पन्ना दीप्यमानाः स्वतेजसा ।
धनंजयं जिघांसन्तः प्रपेतुर्विबुधाधिपाः ॥

भारत ! उस समय रुद्र, मरुद्गण, वसु, अश्विनीकुमार, आदित्य, साध्यगण, विश्वेदेव, गन्धर्व तथा अन्य देवगण अपने-अपने तेजसे देदीप्यमान एवं अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो युद्धके लिये गये । वे सभी देवेश्वर अर्जुनको मार डालनेकी इच्छासे उनपर टूट पड़े ॥

ततो देवगणाः सर्वे युद्ध्वा पार्थेन वै मुहुः ।
रणे जेतुमशक्यं तं ज्ञात्वा ते भरतर्षभ ॥
शान्तास्ते विबुधाः सर्वे पार्थबाणाभिपीडिताः ।

भरतश्रेष्ठ ! कुन्तीकुमार अर्जुनके साथ बारंबार युद्ध करके जब देवताओंने यह समझ लिया कि इन्हें समराङ्गणमें पराजित करना असम्भव है, तब वे अर्जुनके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण युद्धसे विरत हो गये (भाग खड़े हुए)

युगान्ते यानि दृश्यन्ते निमित्तानि महान्त्यपि ।
सर्वाणि तत्र दृश्यन्ते सुघोराणि महीपते ॥

महाराज ! प्रलयकालमें जो विनाशसूचक अत्यन्त भयंकर अपशकुन दिखायी देते हैं, वे सभी उस समय प्रत्यक्ष दीखने लगे ॥

ततो देवगणाः सर्वे पार्थं समभिदुद्रुवुः।
असम्भ्रान्तस्तु तान् दृष्ट्वा स तां देवमयीं चमूम्।
त्वरितः फाल्गुनो गृह्य तीक्ष्णांस्तानाशुगांस्तदा॥
शक्रं देवांश्च सम्प्रेक्ष्य तस्थौ काल इवात्यये॥

तदनन्तर सब देवताओंने एक साथ अर्जुनपर धावा किया; परंतु उस देवसेनाको देखकर अर्जुनके मनमें घबराहट नहीं हुई। वे तुरंत ही तीखे बाण हाथमें लेकर इन्द्र और देवताओंकी ओर देखते हुए प्रलयकालमें सर्वसंहारक कालकी भाँति अविचलभावसे खड़े हो गये ॥

ततो देवगणाः सर्वे बीभत्सुं सपुरंदराः।
अवाकिरञ्छरव्रातैर्मानुषं तं महीपते॥

राजन् ! अर्जुनको मानव समझकर इन्द्रसहित सब देवता उनपर बाणसमूहोंकी बौछार करने लगे ॥

ततः पार्थो महातेजा गाण्डीवं गृह्य सत्वरः॥
वारयामास देवानां शरव्रातैः शरांस्तदा।

परंतु महातेजस्वी पार्थने शीघ्रतापूर्वक गाण्डीव धनुष लेकर अपने बाणसमूहोंकी वर्षासे देवताओंके बाणोंको रोक दिया ॥

पुनः क्रुद्धाः सुराः सर्वे मर्त्यं संख्ये महाबलाः॥
नानाशस्त्रैर्ववर्षुस्तं सव्यसाचिं महीपते॥

पिताजी ! यह देख समस्त महाबली देवता पुनः कुपित हो गये और उस युद्धमें मरणधर्मा अर्जुनपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी बौछार करने लगे ॥

तान् पार्थः शस्त्रवर्षान् वै विसृष्टान् विबुधैस्तदा।
द्विधा त्रिधा च चिच्छेद ख एव निशितैः शरैः॥

अर्जुनने अपने तीखे बाणोंद्वारा देवताओंके छोड़े हुए उन अस्त्र-शस्त्रोंके आकाशमें ही दो-दो, तीन-तीन टुकड़े कर दिये ॥

पुनश्च पार्थः संक्रुद्धो मण्डलीकृतकार्मुकः।
देवसङ्घाञ्छरैस्तीक्ष्णैरार्पयद् वै समन्ततः॥

फिर अधिक क्रोधमें भरकर अर्जुनने अपने धनुषको इस प्रकार खींचा कि वह मण्डलाकार दिखायी देने लगा और उसके द्वारा सब ओर तीखे सायकोंकी वृष्टि करके सब देवताओंको घायल कर दिया ॥

विद्रुतान् देवसङ्घांस्तान् रणे दृष्ट्वा पुरंदरः।
ततः क्रुद्धो महातेजाः पार्थं बाणैरवाकिरत्॥

देवताओंको युद्धसे भागा हुआ देख महातेजस्वी इन्द्रने अत्यन्त कुपित हो पार्थपर बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥

पार्थोऽपि शक्रं विव्याध मानुषो विबुधाधिपम्॥
ततः सोऽश्ममयं वर्षं व्यसृजद् विबुधाधिपः।
तच्छरैरर्जुनो वर्षं प्रतिजघ्नेऽत्यमर्षणः॥
अथ संवर्धयामास तद् वर्षं देवराडपि।
भूय एव तदा वीर्यं जिज्ञासुः सव्यसाचिनः॥

पार्थने मनुष्य होकर भी देवताओंके स्वामी इन्द्रको अपने सायकोंसे बींध डाला। तब देवेश्वरने अर्जुनपर पत्थरोंकी वर्षा आरम्भ की। यह देख अर्जुन अत्यन्त अमर्षमें भर गये और अपने बाणोंद्वारा उन्होंने इन्द्रकी उस पाषाण-वर्षाका निवारण कर दिया। तदनन्तर देवराज इन्द्रने सव्यसाची अर्जुनके पराक्रमकी परीक्षा लेनेके लिये पुनः उस पाषाणवर्षाको पहलेसे भी अधिक बढ़ा दिया ॥

सोऽश्मवर्षं महावेगमिषुभिः पाण्डवोऽपि च।
विलयं गमयामास हर्षयन् पाकशासनम्॥

यह देख पाण्डुनन्दन अर्जुनने इन्द्रका हर्ष बढ़ाते हुए उस अत्यन्त वेगशालिनी पाषाणवर्षाको अपने बाणोंसे विलीन कर दिया ॥

उपादाय तु पाणिभ्यामङ्गदं नाम पर्वतम्।
सद्रुमं व्यसृजच्छक्रो जिघांसुः श्वेतवाहनम्॥
ततोऽर्जुनो वेगवद्भिर्ज्वलमानैरजिह्मगैः।
बाणैर्विध्वंसयामास गिरिराजं सहस्रशः॥
शक्रं च वारयामास शरैः पार्थो बलाद् युधि।

तब इन्द्रने श्वेतवाहन अर्जुनको कुचल डालनेकी इच्छासे वृक्षोंसहित अंगद नामक पर्वत (जो मन्दराचलका एक शिखर है) को दोनों हाथोंसे उठाकर उनके ऊपर छोड़ दिया। यह देख अर्जुनने अग्निके समान प्रज्वलित और सीधे लक्ष्य-तक पहुँचनेवाले सहस्रों वेगशाली बाणोंद्वारा उस पर्वतराजको खण्ड-खण्ड कर दिया। साथ ही पार्थने उस युद्धमें बलपूर्वक बाण मारकर इन्द्रको स्तब्ध कर दिया ॥

ततः शक्रो महाराज रणे वीरं धनंजयम्॥
ज्ञात्वा जेतुमशक्यं तं तेजोबलसमन्वितम्॥
परां प्रीतिं ययौ तत्र पुत्रशौर्येण वासवः।

महाराज ! तदनन्तर तेज और बलसे सम्पन्न वीर धनंजयको युद्धमें जीतना असम्भव जानकर इन्द्रको अपने पुत्रके पराक्रमसे वहाँ बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई ॥

तदा तत्र न तस्यासीद् दिवि कश्चिन्महायशाः॥
समर्थो निर्जये राजन्नपि साक्षात् प्रजापतिः॥

राजन् ! उस समय वहाँ स्वर्गका कोई भी महायशस्वी वीर, चाहे साक्षात् प्रजापति ही क्यों न हों, ऐसा नहीं था, जो अर्जुनको जीतनेमें समर्थ हो सके।

ततः पार्थः शरैर्हत्वा यक्षराक्षसपन्नगान् ।
दीप्ते चाग्नौ महातेजाः पातयामास संततम् ॥
प्रतिप्रेक्षयितुं पार्थं न शेकुस्तत्र केचन ।
दृष्ट्वा निवारितं शक्रं दिवि देवगणैः सह ॥

तदनन्तर महातेजस्वी अर्जुन अपने बाणोंसे यक्ष, राक्षस और नागोंको मारकर उन्हें लगातार प्रज्वलित अग्निमें गिराने लगे। स्वर्गवासी देवताओंसहित इन्द्रको अर्जुनने युद्धसे विरत कर दिया, यह देख उस समय कोई भी उनकी ओर दृष्टिपात नहीं कर पाते थे ॥

यथा सुपर्णः सोमार्थं विबुधानजयत् पुरा ।
तथा जित्वा सुरान् पार्थस्तर्पयामास पावकम्॥
ततोऽर्जुनः स्ववीर्येण तर्पयित्वा विभावसुम् ।
रथं ध्वजं हयांश्चैव दिव्यास्त्राणि सभां च वै ॥
गाण्डीवं च धनुःश्रेष्ठं तूणी चाक्षयसायकौ ।
एतान्यवाप बीभत्सुर्लेभे कीर्तिं च भारत ॥

भारत ! जैसे पूर्वकालमें गरुड़ने अमृतके लिये देवताओंको जीत लिया था, उसी प्रकार कुन्तीपुत्र अर्जुनने भी देवताओंको जीतकर खाण्डववनके द्वारा अग्निदेवको तृप्त किया। इस प्रकार पार्थने अपने पराक्रमसे अग्निदेवको तृप्त करके उनसे रथ, ध्वजा, अश्व, दिव्यास्त्र, उत्तम धनुष गाण्डीव तथा अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तूणीर प्राप्त किये। इनके सिवा अनुपम यश और मयासुरसे एक सभाभवन भी उन्हें प्राप्त हुआ ॥

भूयोऽपि शृणु राजेन्द्र पार्थो गत्वोत्तरां दिशम्।
विजित्य नववर्षांश्च सपुरांश्च सपर्वतान् ॥
जम्बूद्वीपं वशे कृत्वा सर्वं तद् भरतर्षभ ।
बलाज्जित्वा नृपान् सर्वान् करे च विनिवेश्य च॥
रत्नान्यादाय सर्वाणि गत्वा चैव पुनः पुरीम् ।
ततो ज्येष्ठं महात्मानं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं कारयामास भारत ॥

राजेन्द्र ! अर्जुनके पराक्रमकी कथा अभी और सुनिये। उन्होंने उत्तर दिशामें जाकर नगरों और पर्वतोंसहित जम्बूद्वीपके नौ वर्षोंपर विजय पायी। भरतश्रेष्ठ ! उन्होंने समस्त जम्बूद्वीपको वशमें करके सब राजाओंको बलपूर्वक जीत लिया और सबपर कर लगाकर उनसे सब प्रकारके रत्नोंकी भेंट ले वे पुनः अपनी पुरीको लौट आये। भारत ! तदनन्तर अर्जुनने अपने बड़े भाई महात्मा धर्मराज युधिष्ठिरसे क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका अनुष्ठान करवाया ॥

स तान्यन्यानि कर्माणि कृतवानर्जुनः पुरा ।
अर्जुनेन समो वीर्ये नास्ति लोके पुमान् क्वचित्॥

पिताजी ! इस प्रकार अर्जुनने पूर्वकालमें ये तथा और भी बहुत-से पराक्रम कर दिखाये हैं। संसारमें कहीं कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो बल और पराक्रममें अर्जुनकी समानता कर सके ॥

देवदानवयक्षाश्च पिशाचोरगराक्षसाः ।
भीष्मद्रोणादयः सर्वे कुरवश्च महारथाः ॥
लोके सर्वनृपाश्चैव वीराश्चान्ये धनुर्धराः ।
एते चान्ये च बहवः परिवार्य महीपते ॥
एकं पार्थं रणे यत्ताः प्रतियोद्धुं न शक्नुयुः ॥

देवता, दानव, यक्ष, पिशाच, नाग, राक्षस एवं भीष्म, द्रोण आदि समस्त कौरव महारथी, भूमण्डलके सम्पूर्ण नरेश तथा अन्य धनुर्धर वीर—ये तथा अन्य बहुत-से शूरवीर युद्धभूमिमें अकेले अर्जुनको चारों ओरसे घेरकर पूरी सावधानीके साथ खड़े हो जायँ, तो भी उनका सामना नहीं कर सकते ॥

अहं हि नित्यं कौरव्य फाल्गुनं प्रति सत्तमम् ।
अनिशं चिन्तयित्वा तं समुद्विग्नोऽस्मि तद्भयात्॥

कुरुश्रेष्ठ ! मैं साधुशिरोमणि अर्जुनके विषयमें नित्य-निरन्तर चिन्तन करते हुए उनके भयसे अत्यन्त उद्विग्न हो जाता हूँ ॥

गृहे गृहे च पश्यामि तात पार्थमहं सदा ।
शरगाण्डीवसंयुक्तं पाशहस्तमिवान्तकम् ॥
अपि पार्थसहस्राणि भीतः पश्यामि भारत ।
पार्थभूतमिदं सर्वं नगरं प्रतिभाति मे ॥

पिताजी ! मुझे प्रत्येक घरमें सदा हाथमें पाश लिये यमराजकी भाँति गाण्डीव धनुषपर बाण चढ़ाये अर्जुन दिखायी देते हैं। भारत ! मैं इतना डर गया हूँ कि मुझे सहस्रों अर्जुन दृष्टिगोचर होते हैं। यह सारा नगर मुझे अर्जुनरूप ही प्रतीत होता है ॥

पार्थमेव हि पश्यामि रहिते तात भारत ।
दृष्ट्वा स्वप्नगतं पार्थमुद्भ्रमामि ह्यचेतनः ॥

भारत ! मैं एकान्तमें अर्जुनको ही देखता हूँ। स्वप्नमें भी अर्जुनको देखकर मैं अचेत और उद्भ्रान्त हो उठता हूँ ॥

अकारादीनि नामानि अर्जुनत्रस्तचेतसः ।
अश्वाश्चार्थाश्चाजाश्चैव त्रासं संजनयन्ति मे ॥

मेरा हृदय अर्जुनसे इतना भयभीत हो गया है कि अश्व, अर्थ और अज आदि अकारादि नाम मेरे मनमें त्रास उत्पन्न कर देते हैं ॥

नास्ति पार्थादृते तात परवीराद् भयं मम ।
प्रह्लादं वा बलिं वापि हन्याद्धि विजयो रणे ॥
तस्मात् तेन महाराज युद्धमसज्जनक्षयम् ।
अहं तस्य प्रभावज्ञो नित्यं दुःखं वहामि च ॥

तात ! अर्जुनके सिवा शत्रुपक्षके दूसरे किसी वीरसे मुझे डर

नहीं लगता है। महाराज ! मेरा विश्वास है कि अर्जुन युद्धमें प्रह्लाद अथवा बलिको भी मार सकते हैं; अतः उनके साथ किया हुआ युद्ध हमारे सैनिकोंके ही संहारका कारण होगा। मैं अर्जुनके प्रभावको जानता हूँ। इसीलिये सदा दुःखके भारसे दबा रहता हूँ॥

पुरा हि दण्डकारण्ये मारीचस्य यथा भयम्।
भवेद् रामे महावीर्ये तथा पार्थे भयं मम॥

जैसे पूर्वकालमें दण्डकारण्यवासी महापराक्रमी श्रीरामचन्द्रजीसे मारीचको भय हो गया था, उसी प्रकार अर्जुनसे मुझे भय हो रहा है॥

धृतराष्ट्र उवाच

जानाम्येव महद् वीर्यं जिष्णोरेतद् दुरासदम्।
तात वीरस्य पार्थस्य मा कार्षीस्त्वं तु विप्रियम्॥
द्यूतं वा शस्त्रयुद्धं वा दुर्वाक्यं वा कदाचन।
एतेष्वेवं कृते तस्य विग्रहश्चैव वो भवेत्॥
तस्मात् त्वं पुत्र पार्थेन नित्यं स्नेहेन वर्तय॥
यश्च पार्थेन सम्बन्धाद् वर्तते च नरो भुवि।
तस्य नास्ति भयं किंचित् त्रिषु लोकेषु भारत॥
तस्मात् त्वं जिष्णुना वत्स नित्यं स्नेहेन वर्तय॥

धृतराष्ट्र बोले—बेटा ! अर्जुनके महान् पराक्रमको तो मैं जानता ही हूँ। उनके इस पराक्रमका सामना करना अत्यन्त कठिन है। अतः तुम वीर अर्जुनका कोई अपराध न करो। उनके साथ द्यूतक्रीड़ा, शस्त्रयुद्ध अथवा कटु वचनका प्रयोग कभी न करो; क्योंकि इन्हींके कारण उनका तुमलोगोंके साथ विवाद हो सकता है। अतः बेटा ! तुम अर्जुनके साथ सदा स्नेहपूर्ण बर्ताव करो। भारत ! जो मनुष्य इस पृथ्वीपर अर्जुनके साथ प्रेमपूर्ण सम्बन्ध रखते हुए उनसे सद्व्यवहार करता है, उसे तीनों लोकोंमें तनिक भी भय नहीं है; अतः वत्स ! तुम अर्जुनके साथ सदा स्नेहपूर्ण बर्ताव करो॥

दुर्योधन उवाच

द्यूते पार्थस्य कौरव्य मायया निकृतिः कृता।
तस्माद्धि तं जहि सदा त्वन्योपायेन नो भवेत्॥

दुर्योधन बोला—कुरुश्रेष्ठ ! जूएमें हमलोगोंने अर्जुनके प्रति छल कपटका बर्ताव किया था, अतः आप किसी दूसरे उपायसे उन्हें मार डालें। इसीसे हमलोगोंका सदा भला होगा॥

धृतराष्ट्र उवाच

उपायश्च न कर्तव्यः पाण्डवान् प्रति भारत।
पार्थान् प्रति पुरा वत्स बहूपायाः कृतास्त्वया॥
तानुपायान् हि कौन्तेया बहुशो व्यतिचक्रमुः॥
तस्माद्धितं जीविताय नः कुलस्य जनस्य च।
त्वं चिकीर्षसि चेद् वत्स समित्रः सहबान्धवः।
सभ्रातृकस्त्वं पार्थेन नित्यं स्नेहेन वर्तय॥

धृतराष्ट्रने कहा—भारत ! पाण्डवोंके प्रति किसी अनुचित उपायका प्रयोग नहीं करना चाहिये। बेटा ! तुमने उन सबको मारनेके लिये पहले बहुत-से उपाय किये हैं। कुन्तीके पुत्र तुम्हारे उन सभी प्रयत्नोंका उल्लंघन करके बहुत बार आगे बढ़ गये हैं; अतः वत्स ! यदि तुम अपने कुल और आत्मीयजनोंकी जीवनरक्षाके लिये किसी हितकर उपायका अवलम्बन करना चाहते हो तो मित्र, बन्धु-बान्धव तथा भाइयोंसहित तुम अर्जुनके साथ सदा स्नेहपूर्ण बर्ताव करो॥

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रवचः श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्तदा।
चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु विधिना चोदितोऽब्रवीत्॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—धृतराष्ट्रकी यह बात सुनकर राजा दुर्योधन दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार करके विधातासे प्रेरित हो इस प्रकार बोला॥

दुर्योधन उवाच

न त्वयेदं श्रुतं राजन् यज्जगाद बृहस्पतिः।
शक्रस्य नीतिं प्रवदन् विद्वान् देवपुरोहितः॥ ७॥

दुर्योधन बोला—राजन् ! देवगुरु विद्वान् बृहस्पतिजीने इन्द्रको नीतिका उपदेश करते हुए जो बात कही है, उसे शायद आपने नहीं सुना है॥ ७॥

सर्वोपायैर्निहन्तव्याः शत्रवः शत्रुसूदन।
पुरा युद्धाद् बलाद् वापि प्रकुर्वन्ति तवाहितम्॥ ८॥

शत्रुसूदन ! जो आपका अहित करते हैं, उन शत्रुओंको बिना युद्धके अथवा युद्ध करके—सभी उपायोंसे मार डालना चाहिये॥ ८॥

ते वयं पाण्डवधनैः सर्वान् सम्पूज्य पार्थिवान्।
यदि तान् योधयिष्यामः किं वै नः परिहास्यति॥ ९॥

महाराज ! यदि हम पाण्डवोंके धनसे सब राजाओंका सत्कार करके उन्हें साथ ले पाण्डवोंसे युद्ध करें, तो हमारा क्या बिगड़ जायगा ?॥ ९॥

अहीनाशीविषान् क्रुद्धान् नाशाय समुपस्थितान्।
कृत्वा कण्ठे च पृष्ठे च कः समुत्स्रष्टुमर्हति॥ १०॥

क्रोधमें भरकर काटनेके लिये उद्यत हुए विषधर सर्पोंको अपने गलेमें लटकाकर अथवा पीठपर चढ़ाकर कौन मनुष्य उन्हें उसी अवस्थामें छोड़ सकता है ?॥ १०॥

आत्तशस्त्रा रथगताः कुपितास्तात पाण्डवाः।
निःशेषं वः करिष्यन्ति क्रुद्धा ह्याशीविषा इव॥ ११॥

तात ! अस्त्र-शस्त्रोंको लेकर रथमें बैठे हुए पाण्डव कुपित होकर क्रुद्ध विषधर सर्पोंकी भाँति आपके कुलका संहार कर डालेंगे॥ ११॥

संनद्धो ह्यर्जुनो याति विधृत्य परमेषुधी।
गाण्डीवं मुहुरादत्ते निःश्वसंश्च निरीक्षते ॥१२॥
गदां गुर्वीं समुद्यम्य त्वरितश्च वृकोदरः।
स्वरथं योजयित्वाऽऽशु निर्यात इति नः श्रुतम् ॥१३॥

हमने सुना है, अर्जुन कवच धारण करके दो उत्तम तूणीर पीठपर लटकाये हुए जाते हैं। वे बार-बार गाण्डीव धनुष हाथमें लेते हैं और लम्बी साँसें खींचकर इधर-उधर देखते हैं। इसी प्रकार भीमसेन शीघ्र ही अपना रथ जोतकर भारी गदा उठाये बड़ी उतावलीके साथ यहाँसे निकलकर गये हैं ॥ १२-१३ ॥

नकुलः खड्गमादाय चर्म चाप्यर्धचन्द्रवत्।
सहदेवश्च राजा च चक्रुराकारमिङ्गितैः ॥१४॥

नकुल अर्धचन्द्रविभूषित ढाल एवं तलवार लेकर जा रहे हैं। सहदेव तथा राजा युधिष्ठिरने भी विभिन्न चेष्टाओं-द्वारा यह व्यक्त कर दिया है कि वे लोग क्या करना चाहते हैं ?॥

ते त्वास्थाय रथान् सर्वे बहुशस्त्रपरिच्छदान्।
अभिघ्नन्तो रथव्रातान् सेनायोगाय निर्ययुः ॥१५॥

वे सब लोग अनेक शस्त्र आदि सामग्रियोंसे सम्पन्न रथोंपर बैठकर शत्रुपक्षके रथियोंका संहार करनेके उद्देश्यसे सेना एकत्र करनेके लिये गये हैं ॥ १५ ॥

न क्षंस्यन्ते तथास्माभिर्जातु विप्रकृता हि ते।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं कस्तेषां क्षन्तुमर्हति ॥१६॥

हमने उनका तिरस्कार किया है, अतः वे इसके लिये हमें कभी क्षमा न करेंगे। द्रौपदीको जो कष्ट दिया गया है, उसे उनमेंसे कौन चुपचाप सह लेगा ! ॥ १६ ॥

पुनर्दीव्याम भद्रं ते वनवासाय पाण्डवैः।
एवमेतान् वशे कर्तुं शक्ष्यामः पुरुषर्षभ ॥१७॥

पुरुषश्रेष्ठ ! आपका भला हो, हम चाहते हैं कि वनवासकी शर्त रखकर पाण्डवोंके साथ फिर एक बार जूआ खेलें। इस प्रकार इन्हें हम अपने वशमें कर सकेंगे ॥ १७ ॥

ते वा द्वादश वर्षाणि वयं वा द्यूतनिर्जिताः।
प्रविशेम महारण्यमजिनैः प्रतिवासिताः ॥१८॥

जूएमें हार जानेपर वे या हम मृगचर्म धारण करके महान् वनमें प्रवेश करें और बारह वर्षतक वनमें ही निवास करें ॥ १८ ॥

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम्।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥१९॥
निवसेम वयं ते वा तथा द्यूतं प्रवर्तताम्।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥२०॥

तेरहवें वर्षमें लोगोंकी जानकारीसे दूर किसी नगरमें रहें। यदि तेरहवें वर्ष किसीकी जानकारीमें आ जायँ तो फिर दुबारा बारह वर्षतक वनवास करें। हम हारें तो हम ऐसा करें और उनकी हार हो तो वे। इसी शर्तपर फिर जूएका खेल आरम्भ हो। पाण्डव पासे फेंककर जूआ खेलें ॥१९-२०॥

एतत् कृत्यतमं राजन्नस्माकं भरतर्षभ।
अयं हि शकुनिर्वेद सविद्यामक्षसम्पदम् ॥२१॥

भरतकुलभूषण महाराज ! यही हमारा सबसे महान् कार्य है। ये शकुनि मामा विद्यासहित पासे फेंकनेकी कलाको अच्छी तरह जानते हैं ॥ २१ ॥

दृढमूला वयं राज्ये मित्राणि परिगृह्य च।
सारवद् विपुलं सैन्यं सत्कृत्य च दुरासदम् ॥२२॥

(हमारी विजय होनेपर) हमलोग बहुत-से मित्रोंका संग्रह करके बलशाली, दुर्धर्ष एवं विशाल सेनाका पुरस्कार आदिके द्वारा सत्कार करते हुए इस राज्यपर अपनी जड़ जमा लेंगे ॥ २२ ॥

ते च त्रयोदशं वर्षं पारयिष्यन्ति चेद् व्रतम्।
जेष्यामस्तान् वयं राजन् रोचतां ते परंतप ॥२३॥

यदि वे तेरहवें वर्षके अज्ञातवासकी प्रतिज्ञा पूर्ण कर लेंगे तो हम उन्हें युद्धमें परास्त कर देंगे। शत्रुओंको संताप देने-वाले नरेश ! आप हमारे इस प्रस्तावको पसंद करें ॥ २३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तूर्णं प्रत्यानयस्वैतान् कामं व्यध्वगतानपि।
आगच्छन्तु पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥२४॥

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा ! पाण्डवलोग दूर चले गये हों तो भी तुम्हारी इच्छा हो, तो उन्हें तुरंत बुला लो। समस्त पाण्डव यहाँ आयें और इस नये दाँवपर फिर जूआ खेलें ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रोणः सोमदत्तो बाह्लीकश्चैव गौतमः।
विदुरो द्रोणपुत्रश्च वैश्यापुत्रश्च वीर्यवान् ॥२५॥
भूरिश्रवाः शान्तनवो विकर्णश्च महारथः।
मा द्यूतमित्यभाषन्त शमोऽस्त्विति च सर्वशः ॥२६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब द्रोणाचार्य, सोमदत्त, बाह्लीक, कृपाचार्य, विदुर, अश्वत्थामा, पराक्रमी युयुत्सु, भूरिश्रवा, पितामह भीष्म तथा महारथी विकर्ण सबने एक स्वरसे इस निर्णयका विरोध करते हुए कहा—'अब जूआ नहीं होना चाहिये, तभी सर्वत्र शान्ति बनी रह सकती है'॥२५-२६॥

अकामानां च सर्वेषां सुहृदामर्थदर्शिनाम्।
अकरोत् पाण्डवाह्वानं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ॥२७॥

भावी अर्थको देखने और समझनेवाले सुहृद् अपनी अनिच्छा प्रकट करते ही रह गये; किंतु दुर्योधनादि पुत्रोंके प्रेममें आकर धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको बुलानेका आदेश दे ही दिया ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि युधिष्ठिरप्रत्यानयने चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें युधिष्ठिरप्रत्यानयनविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६७½ श्लोक मिलाकर कुल ९४½ श्लोक हैं)

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

गान्धारीकी धृतराष्ट्रको चेतावनी और धृतराष्ट्रका अस्वीकार करना

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीन्महाराज धृतराष्ट्रं जनेश्वरम्।
पुत्रहार्दाद् धर्मयुक्ता गान्धारी शोककर्षिता ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय भावी अनिष्टकी आशङ्कासे धर्मपरायणा गान्धारी पुत्रस्नेहवश शोकसे कातर हो उठी और राजा धृतराष्ट्रसे इस प्रकार बोली—॥

जाते दुर्योधने क्षत्ता महामतिरभाषत।
नीयतां परलोकाय साध्वयं कुलपांसनः ॥ २ ॥

'आर्यपुत्र ! दुर्योधनके जन्म लेनेपर परम बुद्धिमान् विदुरजीने कहा था—यह बालक अपने कुलका नाश करनेवाला होगा; अतः इसे त्याग देना चाहिये ॥ २ ॥

व्यनदज्जातमात्रो हि गोमायुरिव भारत।
अन्तो नूनं कुलस्यास्य कुरवस्तन्निबोधत ॥ ३ ॥

'भारत ! इसने जन्म लेते ही गीदड़की भाँति 'हुँआ-हुँआ' का शब्द किया था; अतः यह अवश्य ही इस कुलका अन्त करनेवाला होगा। कौरवो ! आपलोग भी इस बातको अच्छी तरह समझ लें ॥ ३ ॥

मा निमज्जीः स्वदोषेण महाप्सु त्वं हि भारत।
मा बालानामशिष्टानामभिमंस्था मतिं प्रभो ॥ ४ ॥

'भरतकुलतिलक ! आप अपने ही दोषसे इस कुलको विपत्तिके महासागरमें न डुबाइये। प्रभो! इन उद्दण्ड बालकोंकी हाँमें हाँ न मिलाइये ॥ ४ ॥

मा कुलस्य क्षये घोरे कारणं त्वं भविष्यसि।
बद्धं सेतुं को नु भिन्द्याद् धमेच्छान्तं च पावकम् ॥ ५ ॥
शमे स्थितान् को नु पार्थान् कोपयेद् भरतर्षभ।
स्मरन्तं त्वामाजमीढ स्मारयिष्याम्यहं पुनः ॥ ६ ॥

'इस कुलके भयंकर विनाशमें स्वयं ही कारण न बनिये। भरतश्रेष्ठ ! बँधे हुए पुलको कौन तोड़ेगा ? बुझी हुई वैरकी आगको फिर कौन भड़कायेगा ? कुन्तीके शान्तिपरायण पुत्रोंको फिर कुपित करनेका साहस कौन करेगा ? अजमीढ-कुलके रत्न ! आप सब कुछ जानते और याद रखते हैं, तो भी मैं पुनः आपको स्मरण दिलाती रहूँगी ॥ ५-६ ॥

शास्त्रं न शास्ति दुर्बुद्धिं श्रेयसे चेतराय च।
न वै वृद्धो बालमतिर्भवेद् राजन् कथंचन ॥ ७ ॥

राजन् ! जिसकी बुद्धि खोटी है, उसे शास्त्र भी भला-बुरा कुछ नहीं सिखा सकता। मन्दबुदि बालक वृद्धों-जैसा विवेकशील किसी प्रकार नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

त्वन्नेत्राः सन्तु ते पुत्रा मा त्वां दीर्णाः प्रहासिषुः।
तस्मादयं मद्वचनात् त्यज्यतां कुलपांसनः ॥ ८ ॥

'आपके पुत्र आपके ही नियन्त्रणमें रहें, ऐसी चेष्टा कीजिये। ऐसा न हो कि वे सभी मर्यादाका त्याग करके प्राणोंसे हाथ धो बैठें और आपको इस बुढ़ापेमें छोड़कर चल बसें। इसलिये आप मेरी बात मानकर इस कुलाङ्गार दुर्योधनको त्याग दें ॥ ८ ॥

तथा ते न कृतं राजन् पुत्रस्नेहान्नराधिप।
तस्य प्राप्तं फलं विद्धि कुलान्तकरणाय यत् ॥ ९ ॥

'महाराज ! आपको जो करना चाहिये था, वह आपने पुत्रस्नेहवश नहीं किया। अतः समझ लीजिये, उसीका यह फल प्राप्त हुआ है, जो समूचे कुलके विनाशका कारण होने जा रहा है ॥ ९ ॥

शमेन धर्मेण नयेन युक्ता
या ते बुद्धिः सास्तु ते मा प्रमादीः।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्री-
र्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥ १० ॥

'शान्ति, धर्म तथा उत्तम नीतिसे युक्त जो आपकी बुद्धि थी, वह बनी रहे। आप प्रमाद मत कीजिये। क्रूरतापूर्ण कर्मोंसे प्राप्त की हुई लक्ष्मी विनाशशील होती है और कोमलतापूर्ण बर्तावसे बढ़ी हुई धन-सम्पत्ति पुत्र-पौत्रोंतक चली जाती है' ॥ १० ॥

अथाब्रवीन्महाराजो गान्धारीं धर्मदर्शिनीम्।
अन्तः कामं कुलस्यास्तु न शक्नोमि निवारितुम् ॥ ११ ॥

तब महाराज धृतराष्ट्रने धर्मपर दृष्टि रखनेवाली गान्धारीसे कहा—'देवि ! इस कुलका अन्त भले ही हो जाय, परंतु मैं दुर्योधनको रोक नहीं सकता ॥ ११ ॥



गान्धारीका धृतराष्ट्रको समझाना

यथेच्छन्ति तथैवास्तु प्रत्यागच्छन्तु पाण्डवाः।
पुनर्द्यूतं च कुर्वन्तु मामकाः पाण्डवैः सह ॥ १२ ॥

'ये सब जैसा चाहते हैं, वैसा ही हो। पाण्डव लौट आयें और मेरे पुत्र उनके साथ फिर जूआ खेलें' ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि गान्धारीवाक्ये पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें गान्धारीवाक्यविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

सबके मना करनेपर भी धृतराष्ट्रकी आज्ञासे युधिष्ठिरका पुनः जूआ खेलना और हारना

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यध्वगतं पार्थं प्रातिकामी युधिष्ठिरम्।
उवाच वचनाद् राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--राजन्! धर्मराज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थके मार्गमें बहुत दूरतक चले गये थे। उस समय



बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे प्रातिकामी उनके पास गया और इस प्रकार बोला-॥ १ ॥

उपास्तीर्णा सभा राजन्नक्षानुप्त्वा युधिष्ठिर।
एहि पाण्डव दीव्येति पिता त्वाऽऽहेति भारत॥ २ ॥

'भरतकुलभूषण पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर! आपके पिता राजा धृतराष्ट्रने यह आदेश दिया है कि तुम लौट आओ! हमारी सभा फिर सदस्योंसे भर गयी है और तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। तुम पासे फेंककर जूआ खेलो' ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धातुर्नियोगाद् भूतानि प्राप्नुवन्ति शुभाशुभम्।
न निवृत्तिस्तयोरस्ति देवितव्यं पुनर्यदि ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—समस्त प्राणी विधाताकी प्रेरणासे शुभ और अशुभ फल प्राप्त करते हैं। उन्हें कोई टाल नहीं सकता। जान पड़ता है, मुझे फिर जूआ खेलना पड़ेगा॥ ३॥

अक्षद्यूते समाह्वानं नियोगात् स्थविरस्य च।
जानन्नपि क्षयकरं नातिक्रमितुमुत्सहे ॥ ४ ॥

वृद्ध राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे जूएके लिये यह बुलावा हमारे कुलके विनाशका कारण है, यह जानते हुए भी मैं उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

असम्भवे हेममयस्य जन्तो-
स्तथापि रामो लुलुभे मृगाय।
प्रायः समासन्नपराभवाणां
धियो विपर्यस्ततरा भवन्ति ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! किसी जानवरका शरीर सुवर्णका हो, यह सम्भव नहीं; तथापि श्रीराम स्वर्णमय प्रतीत होनेवाले मृगके लिये लुभा गये। जिनका पतन या पराभव निकट होता है, उनकी बुद्धि प्रायः अत्यन्त विपरीत हो जाती है ॥ ५ ॥

इति ब्रुवन् निववृते भ्रातृभिः सह पाण्डवः।
जानंश्च शकुनेर्मायां पार्थो द्यूतमियात् पुनः ॥ ६ ॥

ऐसा कहते हुए पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर भाइयोंके साथ पुनः लौट पड़े। वे शकुनिकी मायाको जानते थे, तो भी जूआ खेलनेके लिये चले आये ॥ ६ ॥

विविशुस्ते सभां तां तु पुनरेव महारथाः।
व्यथयन्ति स्म चेतांसि सुहृदां भरतर्षभाः ॥ ७ ॥
यथोपजोषमासीनाः पुनर्द्यूतप्रवृत्तये।
सर्वलोकविनाशाय दैवेनोपनिपीडिताः ॥ ८ ॥

महारथी भरतश्रेष्ठ पाण्डव पुनः उस सभामें प्रविष्ट हुए। उन्हें देखकर सुहृदोंके मनमें बड़ी पीड़ा होने लगी। प्रारब्धके वशीभूत हुए कुन्तीकुमार सम्पूर्ण लोकोंके विनाशके लिये पुनः द्यूतक्रीडा आरम्भ करनेके उद्देश्यसे चुपचाप वहाँ जाकर बैठ गये ॥ ७-८ ॥

शकुनिरुवाच

अमुञ्चत् स्थविरो यद् वो धनं पूजितमेव तत्।
महाधनं ग्लहं त्वेकं शृणु भो भरतर्षभ ॥ ९ ॥

शकुनिने कहा—राजन् ! भरतश्रेष्ठ हमारे बूढ़े महाराजने आपको जो सारा धन लौटा दिया है, वह बहुत अच्छा किया है। अब जूएके लिये एक ही दाँव रखा जायगा उसे सुनिये—॥ ९ ॥

वयं वा द्वादशाब्दानि युष्माभिर्द्यूतनिर्जिताः।
प्रविशेम महारण्यं रौरवाजिनवाससः ॥ १० ॥

'यदि आपने हमलोगोंको जूएमें हरा दिया तो हम मृगचर्म धारण करके महान् वनमें प्रवेश करेंगे ॥ १० ॥

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम्।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥ ११ ॥

'और बारह वर्ष वहाँ रहेंगे एवं तेरहवाँ वर्ष हम जनसमूहमें लोगोंसे अज्ञात रहकर पूरा करेंगे और यदि हम तेरहवें वर्षमें लोगोंकी जानकारीमें आ जायँ तो फिर दुबारा बारह वर्ष वनमें रहेंगे ॥ ११ ॥

अस्माभिर्निर्जिता यूयं वने द्वादश वत्सरान्।
वसध्वं कृष्णया सार्धमजिनैः प्रतिवासिताः ॥ १२ ॥

'यदि हम जीत गये तो आपलोग द्रौपदीके साथ बारह वर्षोंतक मृगचर्म धारण करते हुए वनमें रहें ॥ १२ ॥

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम्।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥ १३ ॥

'आपको भी तेरहवाँ वर्ष जनसमूहमें लोगोंसे अज्ञात रहकर व्यतीत करना पड़ेगा और यदि ज्ञात हो गये तो फिर दुबारा बारह वर्ष वनमें रहना होगा ॥ १३ ॥

त्रयोदशे च निर्वृत्ते पुनरेव यथोचितम्।
स्वराज्यं प्रतिपत्तव्यमितरैरथवेतरैः ॥ १४ ॥

'तेरहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर हम या आप फिर वनसे आकर यथोचित रीतिसे अपना-अपना राज्य प्राप्त कर सकते हैं' ॥ १४ ॥

अनेन व्यवसायेन सहास्माभिर्युधिष्ठिर।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमेहि दीव्यस्व भारत ॥ १५ ॥

भरतवंशी युधिष्ठिर ! इसी निश्चयके साथ आप आइये और पुनः पासा फेंककर हमलोगोंके साथ जूआ खेलिये ॥ १५ ॥

अथ सभ्याः सभामध्ये समुच्छ्रितकरास्तदा।
ऊचुरुद्विग्नमनसः संवेगात् सर्व एव हि ॥ १६ ॥

यह सुनकर सब सभासदोंने सभामें अपने हाथ ऊपर उठाकर अत्यन्त उद्विग्नचित्त हो बड़ी घबराहटके साथ कहा ॥ १६ ॥

सभ्या ऊचुः

अहो धिग् बान्धवा नैनं बोधयन्ति महद् भयम्।
बुद्ध्या बुध्येन्न वा बुध्येदयं वै भरतर्षभः ॥ १७ ॥

सभासद् बोले—अहो धिक्कार है ! ये भाई-बन्धु भी युधिष्ठिरको उनके ऊपर आनेवाले महान् भयकी बात नहीं समझाते। पता नहीं, ये भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर अपनी बुद्धिके द्वारा इस भयको समझें या न समझें ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

जनप्रवादान् सुबहूञ्छृण्वन्नपि नराधिपः।
ह्रिया च धर्मसंयोगात् पार्थो द्यूतमियात् पुनः॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! लोगोंकी तरह-तरहकी बातें सुनते हुए भी राजा युधिष्ठिर लज्जाके कारण तथा धृतराष्ट्रके आज्ञापालनरूप धर्मकी दृष्टिसे पुनः जूआ खेलनेके लिये उद्यत हो गये ॥ १८ ॥

जानन्नपि महाबुद्धिः पुनर्द्यूतमवर्तयत्।
अप्यासन्नो विनाशः स्यात् कुरूणामिति चिन्तयन्॥ १९॥

परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर जूएका परिणाम जानते थे, तो भी यह सोचकर कि सम्भवतः कुरुकुलका विनाश बहुत निकट है, वे द्यूतक्रीडामें प्रवृत्त हो गये ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं वै मद्विधो राजा स्वधर्ममनुपालयन्।
आहूतो विनिवर्तेत दीव्यामि शकुने त्वया ॥ २० ॥

युधिष्ठिर बोले—शकुने ! स्वधर्मपालनमें संलग्न रहनेवाला मेरे-जैसा राजा जूएके लिये बुलाये जानेपर कैसे पीछे हट सकता था, अतः मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ २० ॥

(*वैशम्पायन उवाच*

एवं दैवबलाविष्टो धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भीष्मद्रोणैर्वार्यमाणो विदुरेण च धीमता ॥
युयुत्सुना कृपेणाथ संजयेन च भारत।
गान्धार्या पृथया चैव भीमार्जुनयमैस्तथा ॥
विकर्णेन च वीरेण द्रौपद्या द्रौणिना तथा।
सोमदत्तेन च तथा बाह्लीकेन च धीमता ॥
वार्यमाणोऽपि सततं न च राजा नियच्छति।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय धर्मराज युधिष्ठिर प्रारब्धके वशीभूत हो गये थे। महाराज ! उन्हें भीष्म, द्रोण और बुद्धिमान् विदुरजी दुबारा जूआ खेलनेसे रोक रहे थे। युयुत्सु, कृपाचार्य तथा संजय भी मना कर रहे थे। गान्धारी, कुन्ती, भीम, अर्जुन, नकुल सहदेव, वीर विकर्ण, द्रौपदी, अश्वत्थामा, सोमदत्त तथा बुद्धिमान् बाह्लीक भी बारंबार रोक रहे थे तो भी राजा युधिष्ठिर भावीके वश होनेके कारण जूएसे नहीं हटे ॥

शकुनिरुवाच

गवाश्वं बहुधेनूकमपर्यन्तमजाविकम्।
गजाः कोशो हिरण्यं च दासीदासाश्च सर्वशः॥ २१ ॥

शकुनिने कहा—राजन्! हमलोगोंके पास बैल, घोड़े और बहुत-सी दुधारू गौएँ हैं। भेड़ और बकरियोंकी तो गिनती ही नहीं है। हाथी, खजाना, दास-दासी तथा सुवर्ण सब कुछ हैं॥

एष नो ग्लह एवैको वनवासाय पाण्डवाः।
यूयं वयं वा विजिता वसेम वनमाश्रिताः॥ २२॥

फिर भी (इन्हें छोड़कर) एकमात्र वनवासका निश्चय ही हमारा दाँव है। पाण्डवो! आपलोग या हम, जो भी हारेंगे, उन्हें वनमें जाकर रहना होगा॥ २२॥

त्रयोदशं च वै वर्षमज्ञाताः सजने तथा।
अनेन व्यवसायेन दीव्याम पुरुषर्षभाः॥ २३॥

केवल तेरहवें वर्ष हमें किसी जनसमूहमें अज्ञातभावसे रहना होगा। नरश्रेष्ठगण! हम इसी निश्चयके साथ जूआ खेलें॥ २३॥

समुत्क्षेपेण चैकेन वनवासाय भारत।
प्रतिजग्राह तं पार्थो ग्लहं जग्राह सौबलः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत॥ २४॥

भारत! वनवासकी शर्त रखकर केवल एक ही बार पासा फेंकनेसे जूएका खेल पूरा हो जायगा। युधिष्ठिरने उसकी बात स्वीकार कर ली। तत्पश्चात् सुबलपुत्र शकुनिने पासा हाथमें उठाया और उसे फेंककर युधिष्ठिरसे कहा—मेरी जीत हो गयी॥ २४॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि पुनर्युधिष्ठिरपराभवे षट्सप्ततितमोऽध्यायः॥ ७६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें युधिष्ठिरपराभवविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल २७½ श्लोक हैं)

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

दुःशासनद्वारा पाण्डवोंका उपहास एवं भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवकी शत्रुओंको मारनेके लिये भीषण प्रतिज्ञा

वैशम्पायन उवाच

ततः पराजिताः पार्था वनवासाय दीक्षिताः।
अजिनान्युत्तरीयाणि जगृहुश्च यथाक्रमम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर जूएमें हारे हुए कुन्तीके पुत्रोंने वनवासकी दीक्षा ली और क्रमशः सबने मृगचर्मको उत्तरीय वस्त्रके रूपमें धारण किया॥ १॥

अजिनैः संवृतान् दृष्ट्वा हृतराज्यानरिंदमान्।
प्रस्थितान् वनवासाय ततो दुःशासनोऽब्रवीत्॥ २॥

जिनका राज्य छिन गया था, वे शत्रुदमन पाण्डव जब मृगचर्मसे अपने अङ्गोंको ढँककर वनवासके लिये प्रस्थित हुए, उस समय दुःशासनने सभामें उनको लक्ष्य करके कहा—॥

प्रवृत्तं धार्तराष्ट्रस्य चक्रं राज्ञो महात्मनः।
पराजिताः पाण्डवेया विपत्तिं परमां गताः॥ ३॥

'धृतराष्ट्रपुत्र महामना राजा दुर्योधनका समस्त भूमण्डलपर एकछत्र राज्य हो गया। पाण्डव पराजित होकर बड़ी भारी विपत्तिमें पड़ गये॥ ३॥

अद्यैव ते सम्प्रयाताः समैर्वर्त्मभिरस्थलैः।
गुणज्येष्ठास्तथा श्रेष्ठाः श्रेयांसो यद् वयं परैः॥ ४॥

'आज वे पाण्डव समान मार्गोंसे, जिनपर आये हुओंकी भीड़के कारण जगह नहीं रही है, वनको चले जा रहे हैं। हमलोग अपने प्रतिपक्षियोंसे गुण और अवस्था दोनोंमें बड़े हैं। अतः हमारा स्थान उनसे बहुत ऊँचा है॥ ४॥

नरकं पातिताः पार्था दीर्घकालमनन्तकम्।
सुखाच्च हीना राज्याच्च विनष्टाः शाश्वतीः समाः॥ ५॥

धनेन मत्ता ये ते स्म धार्तराष्ट्रान् प्रहासिषुः।
ते निर्जिता हृतधना वनमेष्यन्ति पाण्डवाः॥ ६॥

'कुन्तीके पुत्र दीर्घकालतकके लिये अनन्त दुःखरूप नरकमें गिरा दिये गये। ये सदाके लिये सुखसे वञ्चित तथा राज्यसे हीन हो गये हैं। जो लोग पहले अपने धनसे उन्मत्त हो धृतराष्ट्र-पुत्रोंकी हँसी उड़ाया करते थे, वे ही पाण्डव आज पराजित हो अपने धन-वैभवसे हाथ धोकर वनमें जा रहे हैं॥ ५-६॥

चित्रान् सन्नाहानवमुच्य पार्था
वासांसि दिव्यानि च भानुमन्ति।
विवास्यन्तां रुरुचर्माणि सर्वे
यथा ग्लहं सौबलस्याभ्युपेताः॥ ७॥

'सभी पाण्डव अपने शरीरपर जो विचित्र कवच और चमकीले दिव्य वस्त्र हैं, उन सबको उतारकर मृगचर्म धारण कर लें; जैसा कि सुबलपुत्र शकुनिके भावको स्वीकार करके ये लोग जूआ खेले हैं॥ ७॥

न सन्ति लोकेषु पुमांस ईदृशा
इत्येव ये भावितबुद्धयः सदा।
ज्ञास्यन्ति तेऽऽत्मानमिमेऽद्य पाण्डवा
विपर्यये षण्ढतिला इवाफलाः॥ ८॥

'जो अपनी बुद्धिमें सदा यही अभिमान लिये बैठे थे कि हमारे-जैसे पुरुष तीनों लोकोंमें नहीं हैं, वे ही पाण्डव आज विपरीत अवस्थामें पहुँचकर थोथे तिलोंकी भाँति निःसत्त्व हो गये हैं। अब इन्हें अपनी स्थितिका ज्ञान होगा॥ ८॥

इदं हि वासो यदि वेदशानां
मनस्विनां रौरवमाहवेषु ।
अदीक्षितानामजिनानि यद्वद्
बलीयसां पश्यत पाण्डवानाम् ॥ ९ ॥

'इन मनस्वी और बलवान् पाण्डवोंका यह मृगचर्ममय वस्त्र तो देखो जिसे यज्ञमें महात्मालोग धारण करते हैं। मुझे तो इनके शरीरपर ये मृगचर्म यज्ञकी दीक्षाके अधिकारसे रहित जंगली कोलभीलोंके चर्ममय वस्त्रके समान ही प्रतीत होते हैं ॥ ९ ॥

महाप्राज्ञः सौमकिर्यज्ञसेनः
कन्यां पाञ्चालीं पाण्डवेभ्यः प्रदाय ।
अकार्षीद् वै सुकृतं नेह किंचित्
क्लीबाः पार्थाः पतयो याज्ञसेन्याः ॥ १० ॥

'महाबुद्धिमान् सोमकवंशी राजा द्रुपदने अपनी कन्या पाञ्चालीको पाण्डवोंके लिये देकर कोई अच्छा काम नहीं किया। द्रौपदीके पति ये कुन्तीपुत्र निरे नपुंसक ही हैं ॥ १० ॥

सूक्ष्मप्रावारानजिनोत्तरीयान्
दृष्ट्वारण्ये निर्धनानप्रतिष्ठान् ।
कां त्वं प्रीतिं लप्स्यसे याज्ञसेनि
पतिं वृणीष्वेह यमन्यमिच्छसि ॥ ११ ॥

'द्रौपदी! जो सुन्दर महीन कपड़े पहना करते थे, उन्हीं पाण्डवोंको वनमें निर्धन, अप्रतिष्ठित और मृगचर्मकी चादर ओढ़े देख तुम्हें क्या प्रसन्नता होगी? अब तुम किसी अन्य पुरुषको, जिसे चाहो, अपना पति बना लो ॥ ११ ॥

एते हि सर्वे कुरवः समेताः
क्षान्ता दान्ताः सुद्रविणोपपन्नाः ।
एषां वृणीष्वैकतमं पतित्वे
न त्वां तपेत् कालविपर्ययोऽयम् ॥ १२ ॥

'ये समस्त कौरव क्षमाशील, जितेन्द्रिय तथा उत्तम धन-वैभवसे सम्पन्न हैं। इन्हींमेंसे किसीको अपना पति चुन लो, जिससे यह विपरीत काल (निर्धनावस्था) तुम्हें संतप्त न करे ॥ १२ ॥

यथाफलाः षण्ढतिला यथा चर्ममया मृगाः ।
तथैव पाण्डवाः सर्वे यथा काकयवा अपि ॥ १३ ॥

'जैसे थोथे तिल बोनेपर फल नहीं देते हैं, जैसे केवल चर्ममय मृग व्यर्थ हैं तथा जैसे काकयव (तंदुलरहित तृणधान्य) निष्प्रयोजन होते हैं, उसी प्रकार समस्त पाण्डवोंका जीवन निरर्थक हो गया है ॥ १३ ॥

किं पाण्डवांस्ते पतितानुपास्य
मोघः श्रमः षण्ढतिलानुपास्य ।
एवं नृशंसः परुषाणि पार्था-
नश्रावयद् धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ॥ १४ ॥

'थोथे तिलोंकी भाँति इन पतित और नपुंसक पाण्डवोंकी सेवा करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा, व्यर्थका परिश्रम ही तो उठाना पड़ेगा।'

इस प्रकार धृतराष्ट्रके नृशंस पुत्र दुःशासनने पाण्डवोंको बहुत-से कठोर वचन सुनाये ॥ १४ ॥

तद् वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी
निर्भर्त्स्योच्चैः संनिगृह्यैव रोषात् ।
उवाच चैनं सहसैवोपगम्य
सिंहो यथा हैमवतः शृगालम् ॥ १५ ॥

यह सब सुनकर भीमसेनको बड़ा क्रोध हुआ। जैसे हिमालयकी गुफामें रहनेवाला सिंह गीदड़के पास जाय, उसी प्रकार वे सहसा दुःशासनके पास जा पहुँचे और रोषपूर्वक उसे रोककर जोर-जोरसे फटकारते हुए बोले ॥ १५ ॥

भीमसेन उवाच

क्रूर पापजनैर्जुष्टमकृतार्थं प्रभाषसे ।
गान्धारविद्यया हि त्वं राजमध्ये विकत्थसे ॥ १६ ॥

भीमसेनने कहा—क्रूर एवं नीच दुःशासन! तू पापी मनुष्योंद्वारा प्रयुक्त होनेवाली ओछी बातें बक रहा है। अरे! तू अपने बाहुबलसे नहीं, शकुनिकी छलविद्याके प्रभावसे आज राजाओंकी मण्डलीमें अपने मुँहसे अपनी बड़ाई कर रहा है ॥

यथा तुदसि मर्माणि वाक्शरैरिह नो भृशम् ।
तथा स्मारयिता तेऽहं कृन्तन् मर्माणि संयुगे ॥ १७ ॥

जैसे यहाँ तू अपने वचनरूपी बाणोंसे हमारे मर्मस्थानोंमें अत्यन्त पीड़ा पहुँचा रहा है, उसी प्रकार जब युद्धमें मैं तेरा हृदय विदीर्ण करने लगूँगा, उस समय तेरी कही हुई इन बातोंकी याद दिलाऊँगा ॥ १७ ॥

ये च त्वामनुवर्तन्ते क्रोधलोभवशानुगाः ।
गोप्तारः सानुबन्धांस्तान् नेतास्मि यमसादनम् ॥ १८ ॥

जो लोग क्रोध और लोभके वशीभूत हो तुम्हारे रक्षक बनकर पीछे-पीछे चलते हैं, उन्हें उनके सम्बन्धियोंसहित यमलोक भेज दूँगा ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणमजिनैर्विवासितं
दुःशासनस्तं परिनृत्यति स्म ।
मध्ये कुरूणां धर्मनिबद्धमार्गं
गौगौरिति स्माह्वयन् मुक्तलज्जः ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मृगचर्म धारण किये भीमसेनको ऐसी बातें करते देख निर्लज्ज दुःशासन कौरवोंके बीचमें उनकी हँसी उड़ाते हुए नाचने लगा और 'ओ बैल! ओ बैल' कहकर उन्हें पुकारने लगा। उस समय भीमका मार्ग धर्मराज युधिष्ठिरने रोक रक्खा था (अन्यथा वे दुःशासनको जीता न छोड़ते) ॥ १९ ॥

भीमसेन उवाच

नृशंस परुषं वक्तुं शक्यं दुःशासन त्वया।
निकृत्या हि धनं लब्ध्वा को विकत्थितुमर्हति ॥ २० ॥

भीमसेन बोले—ओ नृशंस दुःशासन ! तेरे ही मुखसे ऐसी कठोर बातें निकल सकती हैं, तेरे सिवा दूसरा कौन है, जो छल-कपटसे धन पाकर इस तरह आप ही अपनी प्रशंसा करेगा ॥ २० ॥

मैव स्म सुकृताँल्लोकान् गच्छेत् पार्थो वृकोदरः।
यदि वक्षो हि ते भित्त्वा न पिबेच्छोणितं रणे ॥ २१ ॥

मेरी बात सुन ले। यह कुन्तीपुत्र भीमसेन यदि युद्धमें तेरी छाती फाड़कर तेरा रक्त न पीये तो इसे पुण्यलोकोंकी प्राप्ति न हो ॥ २१ ॥

धार्तराष्ट्रान् रणे हत्वा मिषतां सर्वधन्विनाम्।
शमं गन्तास्मि नचिरात् सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥ २२ ॥

मैं तुमसे सच्ची बात कह रहा हूँ, शीघ्र ही वह समय आनेवाला है, जब कि समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते मैं युद्धमें धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंका वध करके शान्ति प्राप्त करूँगा ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य राजा सिंहगतेः सखेलं
दुर्योधनो भीमसेनस्य हर्षात्।
गतिं स्वगत्यानुचकार मन्दो
निर्गच्छतां पाण्डवानां सभायाः ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब पाण्डवलोग सभा-भवनसे निकले, उस समय मन्दबुद्धि राजा दुर्योधन हर्षमें भरकर सिंहके समान मस्तानी चालसे चलनेवाले भीमसेनकी खिल्ली उड़ाते हुए उनकी चालकी नकल करने लगा ॥ २३ ॥

नैतावता कृतमित्यब्रवीत् तं
वृकोदरः संनिवृत्तार्धकायः।
शीघ्रं हि त्वां निहतं सानुबन्धं
संस्मार्याहं प्रतिवक्ष्यामि मूढ ॥ २४ ॥

यह देख भीमसेनने अपने आधे शरीरको पीछेकी ओर मोड़कर कहा—'ओ मूढ़ ! केवल दुःशासनके रक्तपानद्वारा ही मेरा कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता है। तुझे भी सम्बन्धियोंसहित शीघ्र ही यमलोक भेजकर तेरे इस परिहासकी याद दिलाते हुए इसका समुचित उत्तर दूँगा' ॥ २४ ॥

एवं समीक्ष्यात्मनि चावमानं
नियम्य मन्युं बलवान् स मानी।
राजानुगः संसदि कौरवाणां
विनिष्क्रामन् वाक्यमुवाच भीमः ॥ २५ ॥

इस प्रकार अपना अपमान होता देख बलवान् एवं मानी भीमसेन क्रोधको किसी प्रकार रोककर राजा युधिष्ठिरके पीछे कौरवसभासे निकलते हुए इस प्रकार बोले ॥ २५ ॥

भीमसेन उवाच

अहं दुर्योधनं हन्ता कर्णं हन्ता धनंजयः।
शकुनिं चाक्षकितवं सहदेवो हनिष्यति ॥ २६ ॥

भीमसेनने कहा—मैं दुर्योधनका वध करूँगा, अर्जुन कर्णका संहार करेंगे और इस जुआरी शकुनिको सहदेव मार डालेंगे ॥ २६ ॥

इदं च भूयो वक्ष्यामि सभामध्ये बृहद् वचः।
सत्यं देवाः करिष्यन्ति यन्नो युद्धं भविष्यति ॥ २७ ॥
सुयोधनमिमं पापं हन्तास्मि गदया युधि।
शिरः पादेन चास्याहमधिष्ठास्यामि भूतले ॥ २८ ॥

साथ ही इस भरी सभामें मैं पुनः एक बहुत बड़ी बात कह रहा हूँ। मेरा यह विश्वास है कि देवतालोग मेरी यह बात सत्य कर दिखायेंगे। जब हम कौरव और पाण्डवोंमें युद्ध होगा, उस समय इस पापी दुर्योधनको मैं गदासे मार गिराऊँगा तथा रणभूमिमें पड़े हुए इस पापीके मस्तकको पैरसे ठुकराऊँगा ॥ २७-२८ ॥

वाक्यशूरस्य चैवास्य परुषस्य दुरात्मनः।
दुःशासनस्य रुधिरं पातास्मि मृगराडिव ॥ २९ ॥

और यह जो केवल बात बनानेमें बहादुर क्रूरस्वभाववाला दुरात्मा दुःशासन है, इसकी छातीका खून उसी प्रकार पी लूँगा, जैसे सिंह किसी मृगका रक्त पान करता है ॥ २९ ॥

अर्जुन उवाच

नैवं वाचा व्यवसितं भीम विज्ञायते सताम्।
इतश्चतुर्दशे वर्षे द्रष्टारो यद् भविष्यति ॥ ३० ॥

अर्जुनने कहा—आर्य भीमसेन ! साधु पुरुष जो कुछ करना चाहते हैं, उसे इस प्रकार वाणीद्वारा सूचित नहीं करते। आजसे चौदहवें वर्षमें जो घटना घटित होगी, उसे स्वयं ही लोग देखेंगे ॥ ३० ॥

भीमसेन उवाच

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ ३१ ॥

भीमसेन बोले—यह भूमि दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनि तथा चौथे दुःशासनके रक्तका निश्चय ही पान करेगी ॥ ३१ ॥

अर्जुन उवाच

असूयितारं द्रष्टारं प्रवक्तारं विकत्थनम्।
भीमसेन नियोगात् ते हन्ताहं कर्णमाहवे ॥ ३२ ॥

अर्जुनने कहा—भैया भीमसेन ! जो हमलोगोंके दोष ही ढूँढ़ा करता है, हमारे दुःख देखकर प्रसन्न होता है,

कौरवोंको बुरी सलाहें देता है और व्यर्थ बढ़-बढ़कर बातें बनाता है, उस कर्णको मैं आपकी आज्ञासे अवश्य युद्धमें मार डालूँगा ॥ ३२ ॥

अर्जुनः प्रतिजानीते भीमस्य प्रियकाम्यया ।
कर्णं कर्णानुगांश्चैव रणे हन्तास्मि पत्रिभिः ॥ ३३ ॥

अपने भाई भीमसेनका प्रिय करनेकी इच्छासे अर्जुन यह प्रतिज्ञा करता है कि 'मैं युद्धमें कर्ण और उसके अनुगामियोंको भी बाणोंद्वारा मार डालूँगा' ॥ ३३ ॥

ये चान्ये प्रतियोत्स्यन्ति बुद्धिमोहेन मां नृपाः ।
तांश्च सर्वानहं बाणैर्नेतास्मि यमसादनम् ॥ ३४ ॥

दूसरे भी जो नरेश बुद्धिके व्यामोहवश हमारे विपक्षमें होकर युद्ध करेंगे, उन सबको अपने तीक्ष्ण सायकोंद्वारा मैं यमलोक पहुँचा दूँगा ॥ ३४ ॥

चलेद्धि हिमवान् स्थानान्निष्प्रभः स्याद् दिवाकरः ।
शैत्यं सोमात् प्रणश्येत मत्सत्यं विचलेद् यदि ॥ ३५ ॥

यदि मेरा सत्य विचलित हो जाय तो हिमालय पर्वत अपने स्थानसे हट जाय, सूर्यकी प्रभा नष्ट हो जाय और चन्द्रमासे उसकी शीतलता दूर हो जाय (अर्थात् जैसे हिमालय अपने स्थानसे नहीं हट सकता, सूर्यकी प्रभा नष्ट नहीं हो सकती, चन्द्रमासे उसकी शीतलता दूर नहीं हो सकती, वैसे ही मेरे वचन मिथ्या नहीं हो सकते) ॥ ३५ ॥

न प्रदास्यति चेद् राज्यमितो वर्षे चतुर्दशे ।
दुर्योधनोऽभिसत्कृत्य सत्यमेतद् भविष्यति ॥ ३६ ॥

यदि आजसे चौदहवें वर्षमें दुर्योधन सत्कारपूर्वक हमारा राज्य हमें वापस न दे देगा तो ये सब बातें सत्य होकर रहेंगी ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तवति पार्थे तु श्रीमान् माद्रवतीसुतः ।
प्रगृह्य विपुलं बाहुं सहदेवः प्रतापवान् ॥ ३७ ॥
सौबलस्य वधं प्रेप्सुरिदं वचनमब्रवीत् ।
क्रोधसंरक्तनयनो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनके ऐसा कहनेपर परम सुन्दर प्रतापी वीर माद्रीनन्दन सहदेवने अपनी विशाल भुजा ऊपर उठाकर शकुनिके वधकी इच्छासे इस प्रकार कहा; उस समय उनके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे और वे फुफकारते हुए सर्पकी भाँति उच्छ्वास ले रहे थे ॥ ३७-३८ ॥

सहदेव उवाच

अक्षान् यान् मन्यसे मूढ गान्धाराणां यशोहर ।
नैतेऽक्षा निशिता बाणास्त्वयैते समरे वृताः ॥ ३९ ॥

सहदेवने कहा—ओ गान्धारनिवासी क्षत्रियकुलके कलंक मूर्ख शकुने ! जिन्हें तू पासे समझ रहा है, वे पासे नहीं हैं, उनके रूपमें तूने युद्धमें तीखे बाणोंका वरण किया है ॥ ३९ ॥

यथा चैवोक्तवान् भीमस्त्वामुद्दिश्य सबान्धवम् ।
कर्ताहं कर्मणस्तस्य कुरु कार्याणि सर्वशः ॥ ४० ॥

आर्य भीमसेनने बन्धु-बान्धवोंसहित तेरे विषयमें जो बात कही है, मैं उसे अवश्य पूर्ण करूँगा । तुझे अपने बचावके लिये जो कुछ करना हो, वह सब कर डाल ॥ ४० ॥

हन्तास्मि तरसा युद्धे त्वामेवेह सबान्धवम् ।
यदि स्थास्यसि संग्रामे क्षत्रधर्मेण सौबल ॥ ४१ ॥

सुबलकुमार ! यदि तू क्षत्रियधर्मके अनुसार संग्राममें डटा रह जायगा, तो मैं वेगपूर्वक तुझे तेरे बन्धु-बान्धवोंसहित अवश्य मार डालूँगा ॥ ४१ ॥

सहदेववचः श्रुत्वा नकुलोऽपि विशाम्पते ।
दर्शनीयतमो नृणामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

राजन् ! सहदेवकी बात सुनकर मनुष्योंमें परम दर्शनीय रूपवाले नकुलने भी यह बात कही ॥ ४२ ॥

नकुल उवाच

सुतेयं यज्ञसेनस्य द्यूतेऽस्मिन् धृतराष्ट्रजैः ।
यैर्वाचः श्राविता रूक्षाः स्थितैर्दुर्योधनप्रिये ॥ ४३ ॥
तान् धार्तराष्ट्रान् दुर्वृत्तान् मुमूर्षून् कालचोदितान् ।
गमयिष्यामि भूयिष्ठानहं वैवस्वतक्षयम् ॥ ४४ ॥

नकुल बोले—दुर्योधनके प्रियसाधनमें लगे हुए जिन धृतराष्ट्रपुत्रोंने इस द्यूतसभामें द्रुपदकुमारी कृष्णाको कठोर बातें सुनायी हैं, कालसे प्रेरित हो मौतके मुँहमें जानेकी इच्छा रखनेवाले उन दुराचारी बहुसंख्यक धृतराष्ट्रकुमारोंको मैं यमलोकका अतिथि बना दूँगा ॥ ४३-४४ ॥

निदेशाद् धर्मराजस्य द्रौपद्याः पदवीं चरन् ।
निर्धार्तराष्ट्रां पृथिवीं कर्तास्मि नचिरादिव ॥ ४५ ॥

धर्मराजकी आज्ञासे द्रौपदीका प्रिय करते हुए मैं सारी पृथ्वीको धृतराष्ट्र-पुत्रोंसे सूनी कर दूँगा; इसमें अधिक देर नहीं है ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ते पुरुषव्याघ्राः सर्वे व्यायतबाहवः ।
प्रतिज्ञा बहुलाः कृत्वा धृतराष्ट्रमुपागमन् ॥ ४६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार वे सभी पुरुषसिंह महाबाहु पाण्डव बहुत-सी प्रतिज्ञाएँ करके राजा धृतराष्ट्रके पास गये ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि पाण्डवप्रतिज्ञाकरणे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें पाण्डवोंकी प्रतिज्ञासे सम्बन्ध रखनेवाला सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका धृतराष्ट्र आदिसे विदा लेना, विदुरका कुन्तीको अपने यहाँ रखनेका प्रस्ताव और पाण्डवोंको धर्मपूर्वक रहनेका उपदेश देना

युधिष्ठिर उवाच

आमन्त्रयामि भरतांस्तथा वृद्धं पितामहम्।
राजानं सोमदत्तं च महाराजं च बाह्लिकम्॥ १॥
द्रोणं कृपं नृपांश्चान्यानश्वत्थामानमेव च।
विदुरं धृतराष्ट्रं च धार्तराष्ट्रांश्च सर्वशः॥ २॥
युयुत्सुं संजयं चैव तथैवान्यान् सभासदः।
सर्वानामन्त्र्य गच्छामि द्रष्टास्मि पुनरेत्य वः॥ ३॥

युधिष्ठिर बोले—मैं भरतवंशके समस्त गुरुजनोंसे वनमें जानेकी आज्ञा चाहता हूँ। बड़े-बूढ़े पितामह भीष्म, राजा सोमदत्त, महाराज बाह्लिक, गुरुवर द्रोण और कृपाचार्य, अश्वत्थामा, अन्यान्य नृपतिगण, विदुर, राजा धृतराष्ट्र, उनके सभी पुत्र, युयुत्सु, संजय तथा दूसरे सब सदस्योंसे पूछकर सबकी आज्ञा लेकर वनमें जाता हूँ, फिर लौटकर आप लोगोंका दर्शन करूँगा॥ १—३॥

वैशम्पायन उवाच

न च किंचिदथोचुस्तं ह्रिया सन्ना युधिष्ठिरम्।
मनोभिरेव कल्याणं दध्युस्ते तस्य धीमतः॥ ४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर सब कौरव लाजके मारे सन्न रह गये, कुछ भी उत्तर न दे सके। उन्होंने मन-ही-मन उन बुद्धिमान् युधिष्ठिरके कल्याणका चिन्तन किया॥ ४॥

विदुर उवाच

आर्या पृथा राजपुत्री नारण्यं गन्तुमर्हति।
सुकुमारी च वृद्धा च नित्यं चैव सुखोचिता॥ ५॥
इह वत्स्यति कल्याणी सत्कृता मम वेश्मनि।
इति पार्था विजानीध्वमगदं वोऽस्तु सर्वशः॥ ६॥

विदुर बोले—कुन्तीकुमारो! राजपुत्री आर्या कुन्ती वनमें जाने लायक नहीं हैं। वे कोमल अङ्गोंवाली और वृद्धा हैं, सदा सुख और आरामके ही योग्य हैं; अतः वे मेरे ही घरमें सत्कारपूर्वक रहेंगी। यह बात तुम सब लोग जान लो। मेरी शुभ-कामना है कि तुम वहाँ सर्वथा नीरोग एवं सुखसे रहो॥ ५-६॥

पाण्डवा ऊचुः

तथेत्युक्त्वाब्रुवन् सर्वे यथा नो वदसेऽनघ।
त्वं पितृव्यः पितृसमो वयं च त्वत्परायणाः॥ ७॥

पाण्डवोंने कहा—बहुत अच्छा, ऐसा ही हो। इतना कहकर वे सब फिर बोले—'अनघ! आप हमें जैसा कहें—जैसी आज्ञा दें, वही शिरोधार्य है। आप हमारे पितृव्य (पिताके भाई) हैं, अतः पिताके ही तुल्य हैं। हम सब भाई आपकी शरणमें हैं॥ ७॥

यथाऽऽज्ञापयसे विद्वंस्त्वं हि नः परमो गुरुः।
यच्चान्यदपि कर्तव्यं तद् विधत्स्व महामते॥ ८॥

'विद्वन्! आप जैसी आज्ञा दें, वही हमें मान्य है; क्योंकि आप हमारे परम गुरु हैं। महामते! इसके सिवा और भी जो कुछ हमारा कर्तव्य हो, वह हमें बताइये'॥ ८॥

विदुर उवाच

युधिष्ठिर विजानीहि ममेदं भरतर्षभ।
नाधर्मेण जितः कश्चिद् व्यथते वै पराजये॥ ९॥

विदुर बोले—भरतकुलभूषण युधिष्ठिर! तुम मुझसे यह जान लो कि अधर्मसे पराजित होनेवाला कोई भी पुरुष अपनी उस पराजयके लिये दुखी नहीं होता॥ ९॥

त्वं वै धर्मं विजानीषे युद्धे जेता धनंजयः।
हन्तारीणां भीमसेनो नकुलस्त्वर्थसंग्रही॥ १०॥

तुम धर्मके ज्ञाता हो। अर्जुन युद्धमें विजय पानेवाले हैं। भीमसेन शत्रुओंका नाश करनेमें समर्थ हैं। नकुल आवश्यक वस्तुओंको जुटानेमें कुशल हैं॥ १०॥

संयन्ता सहदेवस्तु धौम्यो ब्रह्मविदुत्तमः।
धर्मार्थकुशला चैव द्रौपदी धर्मचारिणी॥ ११॥

सहदेव संयमी हैं तथा ब्रह्मर्षि धौम्यजी ब्रह्मवेत्ताओंके शिरोमणि हैं। एवं धर्मपरायणा द्रौपदी भी धर्म और अर्थके सम्पादनमें कुशल है॥ ११॥

अन्योन्यस्य प्रियाः सर्वे तथैव प्रियदर्शनाः।
परैरभेद्याः संतुष्टाः को वो न स्पृहयेदिह॥ १२॥

तुम सब लोग आपसमें एक दूसरेके प्रिय हो, तुम्हें देखकर सबको प्रसन्नता होती है। शत्रु तुममें भेद या फूट नहीं डाल सकते, इस जगत्में कौन है जो तुमलोगोंको न चाहता हो॥

एष वै सर्वकल्याणः समाधिस्तव भारत।
नैनं शत्रुर्विषहते शक्रेणापि समोऽच्युत॥ १३॥

भारत! तुम्हारा यह क्षमाशीलताका नियम सब प्रकारसे कल्याणकारी है। इन्द्रके समान पराक्रमी शत्रु भी इसका सामना नहीं कर सकता॥ १३॥

हिमवत्यनुशिष्टोऽसि मेरुसावर्णिना पुरा।
द्वैपायनेन कृष्णेन नगरे वारणावते ॥ १४ ॥
भृगुतुङ्गे च रामेण दृषद्वत्यां च शम्भुना।
अश्रौषीरसितस्यापि महर्षेरञ्जनं प्रति ॥ १५ ॥

पूर्वकालमें मेरुसावर्णिने हिमालयपर तुम्हें धर्म और ज्ञानका उपदेश दिया है, वारणावत नगरमें श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीने, भृगुतुङ्ग पर्वतपर परशुरामजीने तथा दृषद्वतीके तटपर साक्षात् भगवान् शङ्करने तुम्हें अपने सदुपदेशसे कृतार्थ किया है। अञ्जन पर्वतपर तुमने महर्षि असितका भी उपदेश सुना है ॥ १४-१५ ॥

कल्माषीतीरसंस्थस्य गतस्त्वं शिष्यतां भृगोः।
द्रष्टा सदा नारदस्ते धौम्यस्तेऽयं पुरोहितः ॥ १६ ॥

कल्माषी नदीके किनारे निवास करनेवाले महर्षि भृगुने भी तुम्हें उपदेश देकर अनुगृहीत किया है। देवर्षि नारदजी सदा तुम्हारी देख-भाल करते हैं और तुम्हारे ये पुरोहित धौम्यजी तो सदा साथ ही रहते हैं ॥ १६ ॥

मा हासीः साम्पराये त्वं बुद्धिं तामृषिपूजिताम्।
पुरूरवसमैलं त्वं बुद्ध्या जयसि पाण्डव ॥ १७ ॥

ऋषियोंद्वारा सम्मानित उस परलोकविषयक विज्ञानका तुम कभी त्याग न करना। पाण्डुनन्दन! तुम अपनी बुद्धिसे इलानन्दन पुरूरवाको भी पराजित करते हो ॥ १७ ॥

शक्त्या जयसि राज्ञोऽन्यानृषीन् धर्मोपसेवया।
ऐन्द्रे जये धृतमना याम्ये कोपविधारणे ॥ १८ ॥

शक्तिसे समस्त राजाओंको तथा धर्मसेवनद्वारा ऋषियोंको भी जीत लेते हो। तुम इन्द्रसे मनमें विजयका उत्साह प्राप्त करो। क्रोधको काबूमें रखनेका पाठ यमराजसे सीखो ॥ १८ ॥

तथा विसर्गे कौबेरे वारुणे चैव संयमे।
आत्मप्रदानं सौम्यत्वमद्भ्यश्चैवोपजीवनम् ॥ १९ ॥

उदारता एवं दानमें कुबेरका और संयममें वरुणका आदर्श ग्रहण करो। दूसरोंके हितके लिये अपने आपको निछावर करना, सौम्यभाव (शीतलता) तथा दूसरोंको जीवन-दान देना—इन सब बातोंकी शिक्षा तुम्हें जलसे लेनी चाहिये ॥ १९ ॥

भूमेः क्षमा च तेजश्च समग्रं सूर्यमण्डलात्।
वायोर्बलं प्राप्नुहि त्वं भूतेभ्यश्चात्मसम्पदम् ॥ २० ॥

तुम भूमिसे क्षमा, सूर्यमण्डलसे तेज, वायुसे बल तथा सम्पूर्ण भूतोंसे अपनी सम्पत्ति प्राप्त करो ॥ २० ॥

अगदं वोऽस्तु भद्रं वो द्रक्ष्यामि पुनरागतान्।
आपद्धर्मार्थकृच्छ्रेषु सर्वकार्येषु वा पुनः ॥ २१ ॥
यथावत् प्रतिपद्येथाः काले काले युधिष्ठिर।
आपृष्टोऽसीह कौन्तेय स्वस्ति प्राप्नुहि भारत ॥ २२ ॥

तुम्हें कभी कोई रोग न हो, सदा मङ्गल-ही-मङ्गल दिखायी दे। कुशलपूर्वक वनसे लौटनेपर मैं फिर तुम्हें देखूँगा। युधिष्ठिर! आपत्तिकालमें, धर्म तथा अर्थका संकट उपस्थित होनेपर अथवा सभी कार्योंमें समय-समयपर अपने उचित कर्तव्यका पालन करना। कुन्तीनन्दन! भारत! तुमसे आवश्यक बातें कर लीं। तुम्हें कल्याण प्राप्त हो ॥ २१-२२ ॥

कृतार्थं स्वस्तिमन्तं त्वां द्रक्ष्यामः पुनरागतम्।
न हि वो वृजिनं किंचिद् वेद कश्चित् पुरा कृतम् ॥ २३ ॥

जब वनसे कुशलपूर्वक कृतार्थ होकर लौटोगे, तब यहाँ आनेपर फिर तुमसे मिलूँगा। तुम्हारे पहलेके किसी दोषको दूसरा कोई न जाने, इसकी चेष्टा रखना ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा पाण्डवः सत्यविक्रमः।
भीष्मद्रोणौ नमस्कृत्य प्रातिष्ठत युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! विदुरके ऐसा कहनेपर सत्यपराक्रमी पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर भीष्म और द्रोणको नमस्कार करके वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि युधिष्ठिरवनप्रस्थानेऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें युधिष्ठिरका वनको प्रस्थानविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

द्रौपदीका कुन्तीसे विदा लेना तथा कुन्तीका विलाप एवं नगरके नर-नारियोंका शोकातुर होना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् सम्प्रस्थिते कृष्णा पृथां प्राप्य यशस्विनीम्।
अपृच्छद् भृशदुःखार्ता याश्चान्यास्तत्र योषितः ॥ १ ॥
यथार्हं वन्दनाश्लेषान् कृत्वा गन्तुमियेष सा।
ततो निनादः सुमहान् पाण्डवान्तःपुरेऽभवत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—युधिष्ठिरके प्रस्थान करनेपर कृष्णाने यशस्विनी कुन्तीके पास जाकर अत्यन्त दुःखसे आतुर हो वनमें जानेकी आज्ञा माँगी। वहाँ जो दूसरी स्त्रियाँ बैठी थीं, उन सबकी यथायोग्य वन्दना करके सबसे गले मिलकर उसने वनमें जानेकी इच्छा प्रकट की। फिर तो पाण्डवों-

के अन्तःपुरमें महान् आर्तनाद होने लगा ॥ १-२ ॥

कुन्ती च भृशसंतप्ता द्रौपदीं प्रेक्ष्य गच्छतीम्।
शोकविह्वलया वाचा कृच्छ्राद् वचनमब्रवीत्॥ ३ ॥

द्रौपदीको जाती देख कुन्ती अत्यन्त संतप्त हो उठीं और शोकाकुल वाणीद्वारा बड़ी कठिनाईसे इस प्रकार बोलीं—॥



वत्से शोको न ते कार्यः प्राप्येदं व्यसनं महत्।
स्त्रीधर्माणामभिज्ञासि शीलाचारवती तथा॥ ४ ॥

'बेटी ! इस महान् संकटको पाकर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। तुम स्त्रीके धर्मोंको जानती हो, शील और सदाचारका पालन करनेवाली हो ॥ ४ ॥

न त्वां संदेष्टुमर्हामि भर्तॄन् प्रति शुचिस्मिते।
साध्वीगुणसमापन्ना भूषितं ते कुलद्वयम्॥ ५ ॥

'पवित्र मुसकानवाली बहू ! इसीलिये पतियोंके प्रति तुम्हारा क्या कर्तव्य है, यह तुम्हें बतानेकी आवश्यकता मैं नहीं समझती। तुम सती स्त्रियोंके सद्गुणोंसे सम्पन्न हो; तुमने पति और पिता—दोनोंके कुलोंकी शोभा बढ़ायी है ॥ ५ ॥

सभाग्याः कुरवश्चेमे ये न दग्धास्त्वयानघे।
अरिष्टं व्रज पन्थानं मदनुध्यानबृंहिता॥ ६ ॥

'निष्पाप द्रौपदी ! ये कौरव बड़े भाग्यशाली हैं, जिन्हें तुमने अपनी क्रोधाग्निसे जलाकर भस्म नहीं कर दिया। जाओ, तुम्हारा मार्ग विघ्नबाधाओंसे रहित हो; मेरे किये हुए शुभ चिन्तनसे तुम्हारा अभ्युदय हो ॥ ६ ॥

भाविन्यर्थे हि सत्स्त्रीणां वैक्लव्यं नोपजायते।
गुरुधर्माभिगुप्ता च श्रेयः क्षिप्रमवाप्स्यसि॥ ७ ॥

'जो बात अवश्य होनेवाली है उसके होनेपर साध्वी स्त्रियोंके मनमें व्याकुलता नहीं होती। तुम अपने श्रेष्ठ धर्मसे सुरक्षित रहकर शीघ्र ही कल्याण प्राप्त करोगी ॥ ७ ॥

सहदेवश्च मे पुत्रः सदावेक्ष्यो वने वसन्।
यथेदं व्यसनं प्राप्य नायं सीदेन्महामतिः॥ ८ ॥

'बेटी ! वनमें रहते हुए मेरे पुत्र सहदेवकी तुम सदा देख-भाल रखना, जिससे यह परम बुद्धिमान् सहदेव इस भारी संकटमें पड़कर दुखी न होने पावे' ॥ ८ ॥

तथेत्युक्त्वा तु सा देवी स्रवन्नेत्रजलाविला।
शोणिताक्तैकवसना मुक्तकेशी विनिर्ययौ॥ ९ ॥

कुन्तीके ऐसा कहनेपर नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई द्रौपदीने 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। उस समय उसके शरीरपर एक ही वस्त्र था, उसका भी कुछ भाग रजसे सना हुआ था और उसके सिरके बाल बिखरे हुए थे। उसी दशामें वह अन्तःपुरसे बाहर निकली ॥ ९ ॥

तां क्रोशन्तीं पृथा दुःखादनुवव्राज गच्छतीम्।
अथापश्यत् सुतान् सर्वान् हृताभरणवाससः॥ १० ॥

रोती-बिलखती, वनको जाती हुई द्रौपदीके पीछे-पीछे कुन्ती भी दुःखसे व्याकुल हो कुछ दूरतक गयीं, इतनेहीमें उन्होंने अपने सभी पुत्रोंको देखा, जिनके वस्त्र और आभूषण उतार लिये गये थे ॥ १० ॥

रुरुचर्मावृततनून् ह्रिया किंचिदवाङ्मुखान्।
परैः परीतान् संहृष्टैः सुहृद्भिश्चानुशोचितान्॥ ११ ॥

उनके सभी अङ्ग मृगचर्मसे ढँके हुए थे और वे लज्जावश नीचे मुख किये चले जा रहे थे। हर्षमें भरे हुए शत्रुओंने उन्हें सब ओरसे घेर रखा था और हितैषी सुहृद् उनके लिये शोक कर रहे थे ॥ ११ ॥

तदवस्थान् सुतान् सर्वानुपसृत्यातिवत्सला।
स्वजमानावदच्छोकात् तत्तद् विलपती बहु॥ १२ ॥

उस अवस्थामें उन सभी पुत्रोंके निकट पहुँचकर कुन्तीके हृदयमें अत्यन्त वात्सल्य उमड़ आया। वे उन्हें हृदयसे लगाकर शोकवश बहुत विलाप करती हुई बोलीं ॥

कुन्त्युवाच

कथं सद्धर्मचारित्रान् वृत्तस्थितिविभूषितान्।
अक्षुद्रान् दृढभक्तांश्च दैवतेज्यापरान् सदा॥ १३ ॥
व्यसनं वः समभ्यागात् कोऽयं विधिविपर्ययः।
कस्यापध्यानजं चेदं धिया पश्यामि नैव तत्॥ १४ ॥

कुन्तीने कहा—पुत्रो ! तुम उत्तम धर्मका पालन करनेवाले तथा सदाचारकी मर्यादासे विभूषित हो। तुममें क्षुद्रताका अभाव है। तुम भगवान्‌के सुदृढ़ भक्त और देवाराधनमें सदा तत्पर रहनेवाले हो। तो भी तुम्हारे ऊपर यह विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ा है। विधाताका यह कैसा विपरीत विधान है। किसके

अनिष्टचिन्तनसे तुम्हारे ऊपर यह महान् दुःख आया है, यह बुद्धिसे बार-बार विचार करनेपर भी मुझे कुछ सूझ नहीं पड़ता ॥ १३-१४ ॥

स्यात् तु मद्भाग्यदोषोऽयं याहं युष्मानजीजनम् ।
दुःखायासभुजोऽत्यर्थं युक्तानप्युत्तमैर्गुणैः ॥१५॥

यह मेरे ही भाग्यका दोष हो सकता है। तुम तो उत्तम गुणोंसे युक्त हो तो भी अत्यन्त दुःख और कष्ट भोगनेके लिये ही मैंने तुम्हें जन्म दिया है ॥ १५ ॥

कथं वत्स्यथ दुर्गेषु वने ऋद्धिविनाकृताः ।
वीर्यसत्त्वबलोत्साहतेजोभिरकृशाः कृशाः ॥१६॥

इस प्रकार सम्पत्तिसे वञ्चित होकर तुम वनके दुर्गम स्थानोंमें कैसे रह सकोगे ? वीर्य, धैर्य, बल, उत्साह और तेजसे परिपुष्ट होते हुए भी तुम दुर्बल हो ॥ १६ ॥

यद्येतदेवमज्ञास्यं वने वासो हि वो ध्रुवम् ।
शतशृङ्गान्मृते पाण्डौ नागमिष्यं गजाह्वयम् ॥१७॥

यदि मैं यह जानती कि नगरमें आनेपर तुम्हें निश्चय ही वनवासका कष्ट भोगना पड़ेगा तो महाराज पाण्डुके परलोकवासी हो जानेपर शतशृङ्गपुरसे हस्तिनापुर नहीं आती ॥

धन्यं वः पितरं मन्ये तपोमेधान्वितं तथा ।
यः पुत्राधिमसम्प्राप्य स्वर्गेच्छामकरोत् प्रियाम् ॥१८॥

मैं तो तुम्हारे तपस्वी एवं मेधावी पिताको ही धन्य मानती हूँ, जिन्होंने पुत्रोंके दुःखसे दुखी होनेका अवसर न पाकर स्वर्गलोककी अभिलाषाको ही प्रिय समझा ॥ १८ ॥

धन्यां चातीन्द्रियज्ञानामिमां प्राप्तां परां गतिम् ।
मन्ये तु माद्रीं धर्मज्ञां कल्याणीं सर्वथैव तु ॥१९॥
रत्या मत्या च गत्या च ययाहमभिसन्धिता ।
जीवितप्रियतां मह्यं धिङ्मां संक्लेशभागिनीम् ॥२०॥

इसी प्रकार अतीन्द्रिय ज्ञानसे सम्पन्न एवं परमगतिको प्राप्त हुई कल्याणमयी इस धर्मज्ञा माद्रीको भी सर्वथा धन्य मानती हूँ। जिसने अपने अनुराग, उत्तम बुद्धि और सद्व्यवहारद्वारा मुझे भुलाकर जीवित रहनेके लिये विवश कर दिया। मुझको और जीवनके प्रति मेरी इस आसक्तिको धिक्कार है ! जिसके कारण मुझे यह महान् क्लेश भोगना पड़ता है ॥ १९-२० ॥

पुत्रका न विहास्ये वः कृच्छ्रलब्धान् प्रियान् सतः ।
साहं यास्यामि हि वनं हा कृष्णे किं जहासि माम् ॥२१॥

पुत्रो ! तुम सदाचारी और मेरे लिये प्राणोंसे भी अधिक प्यारे हो। मैंने बड़े कष्टसे तुम्हें पाया है; अतः तुम्हें छोड़कर अलग नहीं रहूँगी। मैं भी तुम्हारे साथ वनमें चलूँगी। हाय कृष्णे ! तुम क्यों मुझे छोड़े जाती हो? ॥ २१ ॥

अन्तवत्यसुधर्मेऽस्मिन् धात्रा किं नु प्रमादतः ।
ममान्तो नैव विहितस्तेनायुर्न जहाति माम् ॥२२॥

यह प्राणधारणरूपी धर्म अनित्य है, एक-न-एक दिन इसका अन्त होना निश्चित है, फिर भी विधाताने न जाने क्यों प्रमादवश मेरे जीवनका भी शीघ्र ही अन्त नहीं नियत कर दिया। तभी तो आयु मुझे छोड़ नहीं रही है ॥ २२ ॥

हा कृष्ण द्वारकावासिन् क्वासि संकर्षणानुज ।
कस्मान्न त्रायसे दुःखान्मां चेमांश्च नरोत्तमान् ॥२३॥

हा ! द्वारकावासी श्रीकृष्ण ! तुम कहाँ हो ! बलरामजीके छोटे भैया ! मुझको तथा इन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंको इस दुःखसे क्यों नहीं बचाते ? ॥ २३ ॥

अनादिनिधनं ये त्वामनुध्यायन्ति वै नराः ।
तांस्त्वं पासीत्ययं वादः स गतो व्यर्थतां कथम् ॥२४॥

'प्रभो ! तुम आदि-अन्तसे रहित हो, जो मनुष्य तुम्हारा निरन्तर स्मरण करते हैं, उन्हें तुम अवश्य संकटसे बचाते हो।' तुम्हारी यह विरद व्यर्थ कैसे हो रही है ? ॥ २४ ॥

इमे सद्धर्ममाहात्म्ययशोवीर्यानुवर्तिनः ।
नार्हन्ति व्यसनं भोक्तुं नन्वेषां क्रियतां दया ॥२५॥

ये मेरे पुत्र उत्तम धर्म, महात्मा पुरुषोंके शील-स्वभाव, यश और पराक्रमका अनुसरण करनेवाले हैं, अतः कष्ट भोगनेके योग्य नहीं हैं; भगवन् ! इनपर तो दया करो ॥ २५ ॥

सेयं नीत्यर्थविज्ञेषु भीष्मद्रोणकृपादिषु ।
स्थितेषु कुलनाथेषु कथमापदुपागता ॥२६॥

नीतिके अर्थको जाननेवाले परम विद्वान् भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदिके, जो इस कुलके रक्षक हैं, रहते हुए यह विपत्ति हमपर क्यों आयी ? ॥ २६ ॥

हा पाण्डो हा महाराज क्वासि किं समुपेक्षसे ।
पुत्रान् विवास्यतः साधूनरिभिर्द्यूतनिर्जितान् ॥२७॥

हा महाराज पाण्डु ! कहाँ हो। आज तुम्हारे श्रेष्ठ पुत्रोंको शत्रुओंने जूएमें जीतकर वनवास दे दिया है, तुम क्यों इनकी दुरवस्थाकी उपेक्षा कर रहे हो ? ॥ २७ ॥

सहदेव निवर्तस्व ननु त्वमसि मे प्रियः ।
शरीरादपि माद्रेय मा मा त्याक्षीः कुपुत्रवत् ॥२८॥

माद्रीनन्दन सहदेव ! तुम मुझे अपने शरीरसे भी अधिक प्रिय हो। बेटा ! लौट आओ। कुपुत्रकी भाँति मेरा त्याग न करो ॥ २८ ॥

व्रजन्तु भ्रातरस्तेऽमी यदि सत्याभिसंधिनः ।
मत्परित्राणजं धर्ममिहैव त्वमवाप्नुहि ॥२९॥

तुम्हारे ये भाई यदि सत्य-धर्मके पालनका आग्रह रखकर वनमें जा रहे हैं तो जायँ; तुम यहीं रहकर मेरी रक्षाजनित धर्मका लाभ लो ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विलपतीं कुन्तीमभिवाद्य प्रणम्य च ।
पाण्डवा विगतानन्दा वनायैव प्रवव्रजुः ॥ ३० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार विलाप करती हुई माता कुन्तीको अभिवादन एवं प्रणाम करके पाण्डवलोग दुखी हो वनको चले गये ॥ ३० ॥

विदुरश्चापि तामार्तां कुन्तीमाश्वास्य हेतुभिः ।
प्रावेशयद् गृहं क्षत्ता स्वयमार्ततरः शनैः ॥ ३१ ॥

विदुरजी शोकाकुला कुन्तीको अनेक प्रकारकी युक्तियों-



द्वारा धीरज बँधाकर उन्हें धीरे-धीरे अपने घर ले गये । उस समय वे स्वयं भी बहुत दुखी थे ॥ ३१ ॥

(ततः सम्प्रस्थिते तत्र धर्मराजे तदा नृपे ।
जनाः समस्तास्तं द्रष्टुं समारुरुहुरातुराः ॥
ततः प्रासादवर्याणि विमानशिखराणि च ।
गोपुराणि च सर्वाणि वृक्षानन्यांश्च सर्वशः ॥
अधिरुह्य जनः श्रीमानुदासीनो व्यलोकयत् ।

तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिर जब वनकी ओर प्रस्थित हुए, तब उस नगरके समस्त निवासी दुःखसे आतुर हो उन्हें देखनेके लिये महलों, मकानकी छतों, समस्त गोपुरों और वृक्षोंपर चढ़ गये । वहाँसे सब लोग उदास होकर उन्हें देखने लगे ॥

न हि रथ्यास्ततः शक्या गन्तुं बहुजनाकुलाः ॥
आरुह्य ते स्म तान्यत्र दीनाः पश्यन्ति पाण्डवम् ।

उस समय सड़कें मनुष्योंकी भारी भीड़से इतनी भर गयी थीं कि उनपर चलना असम्भव हो गया था।इसीलिये लोग ऊँचे चढ़कर अत्यन्त दीनभावसे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको देख रहे थे ॥

पदातिं वर्जितच्छत्रं चेलभूषणवर्जितम् ॥
वल्कलाजिनसंवीतं पार्थं दृष्ट्वा जनास्तदा ।
ऊचुर्बहुविधा वाचो भृशोपहतचेतसः ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर छत्ररहित एवं पैदल ही चल रहे थे । उनके शरीरपर राजोचित वस्त्रों और आभूषणोंका भी अभाव था । वे वल्कल और मृगचर्म पहने हुए थे । उन्हें इस दशामें देखकर लोगोंके हृदयमें गहरी चोट पहुँची और वे सब लोग नाना प्रकारकी बातें करने लगे ॥

जना ऊचुः

यं यान्तमनुयाति स्म चतुरङ्गबलं महत् ।
तमेवं कृष्णया सार्धमनुयान्ति स्म पाण्डवाः ॥
चत्वारो भ्रातरश्चैव पुरोधाश्च विशाम्पतिम् ।

नगरनिवासी मनुष्य बोले—अहो ! यात्रा करते समय जिनके पीछे विशाल चतुरंगिणी सेना चलती थी, आज वे ही राजा युधिष्ठिर इस प्रकार जा रहे हैं और उनके पीछे द्रौपदीके साथ केवल चार भाई पाण्डव तथा पुरोहित चल रहे हैं ॥

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि ॥
तामद्य कृष्णां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः ।

जिसे आजसे पहले आकाशचारी प्राणीतक नहीं देख पाते थे, उसी द्रुपदकुमारी कृष्णाको अब सड़कपर चलनेवाले साधारण लोग भी देख रहे हैं ॥

अङ्गरागोचितां कृष्णां रक्तचन्दनसेविनीम् ॥
वर्षमुष्णं च शीतं च नेष्यत्याशु विवर्णताम् ।

सुकुमारी द्रौपदीके अङ्गोंमें दिव्य अङ्गराग शोभा पाता था । वह लाल चन्दनका सेवन करती थी, परंतु अब वनमें सर्दी, गर्मी और वर्षा लगनेसे उसकी अङ्गकान्ति शीघ्र ही फीकी पड़ जायगी ॥

अद्य नूनं पृथा देवी सत्त्वमाविश्य भाषते ॥
पुत्रान् स्नुषां च देवी तु द्रष्टुमद्याथ नार्हति ॥

निश्चय ही आज कुन्तीदेवी बड़े भारी धैर्यका आश्रय लेकर अपने पुत्रों और पुत्रवधूसे वार्तालाप करती हैं; अन्यथा इस दशामें वे इनकी ओर देख भी नहीं सकतीं ॥

निर्गुणस्यापि पुत्रस्य कथं स्याद् दुःखदर्शनम् ।
किं पुनर्यस्य लोकोऽयं जितो वृत्तेन केवलम् ॥

गुणहीन पुत्रका भी दुःख मातासे कैसे देखा जायगा; फिर जिस पुत्रके सदाचारमात्रसे यह सारा संसार वशीभूत हो जाता है, उसपर कोई दुःख आये, तो उसकी माता वह कैसे देख सकती है ! ॥

आनृशंस्यमनुक्रोशो धृतिः शीलं दमः शमः ।
पाण्डवं शोभयन्त्येते षड् गुणाः पुरुषोत्तमम् ॥

तस्मात् तस्योपघातेन प्रजाः परमपीडिताः ।

पुरुषरत्न पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको कोमलता, दया, धैर्य, शील, इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह—ये छः सद्गुण सुशोभित करते हैं । अतः उनकी हानिसे आज सारी प्रजाको बड़ी पीड़ा हो रही है ॥

औदकानीव सत्त्वानि ग्रीष्मे सलिलसंक्षयात् ॥
पीडया पीडितं सर्वं जगत् तस्य जगत्पतेः ।
मूलस्यैवोपघातेन वृक्षः पुष्पफलोपगः ॥

जैसे गर्मीमें जलाशयका पानी घट जानेसे जलचर जीव-जन्तु व्यथित हो उठते हैं एवं जड़ कट जानेसे फल और फूलोंसे युक्त वृक्ष सूखने लगता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्के पालक महाराज युधिष्ठिरकी पीड़ासे सारा संसार पीड़ित हो गया है ॥

मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मराजो महाद्युतिः ।
पुष्पं फलं च पत्रं च शाखास्तस्येतरे जनाः ॥
ते भ्रातर इव क्षिप्रं सपुत्राः सहबान्धवाः ।
गच्छन्तमनुगच्छामो येन गच्छति पाण्डवः ॥

महातेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिर मनुष्योंके मूल हैं । जगत्के दूसरे लोग उन्हींकी शाखा, पत्र, पुष्प और फल हैं । आज हम अपने पुत्रों और भाई-बन्धुओंको साथ लेकर चारों भाई पाण्डवोंकी भाँति शीघ्र उसी मार्गसे उनके पीछे-पीछे चलें, जिससे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर जा रहे हैं ॥

उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च ।
एकदुःखसुखाः पार्थमनुयाम सुधार्मिकम् ॥

आज हम अपने खेत, बाग-बगीचे और घर-द्वार छोड़कर परम धर्मात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके साथ चल दें और उन्हींके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझें ॥

समुद्धृतनिधानानि परिध्वस्ताजिराणि च ।
उपात्तधनधान्यानि हृतसाराणि सर्वशः ॥
रजसाप्यवकीर्णानि परित्यक्तानि दैवतैः ।
मूषकैः परिधावद्भिरुद्बिलैरावृतानि च ॥
अपेतोदकधूमानि हीनसम्मार्जनानि च ।
प्रणष्टबलिकर्मेज्यामन्त्रहोमजपानि च ॥
दुष्कालेनेव भग्नानि भिन्नभाजनवन्ति च ।
अस्मत्त्यक्तानि वेश्मानि सौबलः प्रतिपद्यताम् ॥

हम अपने घरोंकी गड़ी हुई निधि निकाल लें । आँगनकी फर्श खोद डालें । सारा धन-धान्य साथ ले लें । सारी आवश्यक वस्तुएँ हटा लें । इनमें चारों ओर धूल भर जाय । देवता इन घरोंको छोड़कर भाग जायँ । चूहे बिलसे बाहर निकलकर इनमें चारों ओर दौड़ लगाने लगें । इनमें न कभी आग जले, न पानी रहे और न झाड़ू ही लगे । यहाँ बलिवैश्वदेव, यज्ञ, मन्त्रपाठ, होम और जप बंद हो जाय । मानो बड़ा भारी अकाल पड़ गया हो, इस प्रकार ये सारे घर ढह जायँ । इनमें टूटे बर्तन बिखरे पड़े हों और हम सदाके लिये इन्हें छोड़ दें—ऐसी दशामें इन घरोंपर कपटी सुबलपुत्र शकुनि आकर अधिकार कर ले ॥

वनं नगरमद्यास्तु यत्र गच्छन्ति पाण्डवाः ।
अस्माभिश्च परित्यक्तं पुरं सम्पद्यतां वनम् ॥

अब जहाँ पाण्डव जा रहे हैं, वह वन ही नगर हो जाय और हमारे छोड़ देनेपर यह नगर ही वनके रूपमें परिणत हो जाय ॥

बिलानि दंष्ट्रिणः सर्वे वनानि मृगपक्षिणः ।
त्यजन्त्वस्मद्भयाद् भीता गजाः सिंहा वनान्यपि ॥

वनमें हमलोगोंके भयसे साँप अपने बिल छोड़कर भाग जायँ, मृग और पक्षी जंगलोंको छोड़ दें तथा हाथी और सिंह भी वहाँसे दूर चले जायँ ॥

अनाक्रान्तं प्रपद्यन्तु सेव्यमानं त्यजन्तु च ।
तृणमाषफलादानां देशांस्त्यक्त्वा मृगद्विजाः ॥
वयं पार्थैर्वने सम्यक् सह वत्स्याम निर्वृताः ।

हमलोग तृण (साग-पात), अन्न और फलका उपयोग करनेवाले हैं । जंगलके हिंसक पशु और पक्षी हमारे रहनेके स्थानोंको छोड़कर चले जायँ । वे ऐसे स्थानका आश्रय लें, जहाँ हम न जायँ और वे उन स्थानोंको छोड़ दें, जिनका हम सेवन करें । हमलोग वनमें कुन्तीपुत्रोंके साथ बड़े सुखसे रहेंगे ।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवं विविधा वाचो नानाजनसमीरिताः ।
शुश्राव पार्थः श्रुत्वा च न विचक्रेऽस्य मानसम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार भिन्न-भिन्न मनुष्योंकी कही हुई भाँति-भाँतिकी बातें युधिष्ठिरने सुनीं । सुनकर भी उनके मनमें कोई विकार नहीं आया ॥

ततः प्रासादसंस्थास्तु समन्ताद् वै गृहे गृहे ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां चैव योषितः ॥
ततः प्रासादजालानामुत्पाट्यावरणानि च ।
ददृशुः पाण्डवान् दीनान् रौरवाजिनवाससः ॥
कृष्णां त्वदृष्टपूर्वां तां व्रजन्तीं पद्भिरेव च ।
एकवस्त्रां रुदन्तीं तां मुक्तकेशीं रजस्वलाम् ॥
दृष्ट्वा तदा स्त्रियः सर्वा विवर्णवदना भृशम् ।

विलप्य बहुधा मोहाद् दुःखशोकेन पीडिताः ॥
हा हा धिग् धिग् धिगित्युक्त्वा नेत्रैरश्रूण्यवर्तयन्।)

तदनन्तर चारों ओर महलोंमें रहनेवाली ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंकी स्त्रियाँ अपने-अपने भवनोंकी खिड़कियोंके पर्दे हटाकर दीन पाण्डवोंको देखने लगीं। सब पाण्डवोंने मृगचर्ममय वस्त्र धारण कर रक्खा था। उनके साथ द्रौपदी भी पैदल ही चली जा रही थी। उसे उन स्त्रियोंने पहले कभी नहीं देखा था। उसके शरीरपर एक ही वस्त्र था, केश खुले हुए थे, वह रजस्वला थी और रोती चली जा रही थी। उसे देखकर उस समय सब स्त्रियोंका मुख उदास हो गया। वे क्षोभ एवं मोहके कारण नाना प्रकारसे विलाप करती हुई दुःखशोकसे पीड़ित हो गयीं और 'हाय हाय! इन धृतराष्ट्रपुत्रोंको बार-बार धिक्कार है, धिक्कार है' ऐसा कहकर नेत्रोंसे आँसू बहाने लगीं ॥

धार्तराष्ट्रस्त्रियस्ताश्च निखिलेनोपलभ्य तत्।
गमनं परिकर्षं च कृष्णाया द्यूतमण्डले ॥ ३२ ॥
रुरुदुः सुस्वनं सर्वा विनिन्दन्त्यः कुरून् भृशम्।
दध्युश्च सुचिरं कालं करासक्तमुखाम्बुजाः ॥ ३३ ॥

धृतराष्ट्रपुत्रोंकी स्त्रियाँ द्रौपदीके द्यूतसभामें जाने और उसके वस्त्र खींचे जाने (एवं वनमें जाने) आदिका सारा वृत्तान्त सुनकर कौरवोंकी अत्यन्त निन्दा करती हुई फूट-फूटकर रोने लगीं और अपने मुखारविन्दको हथेलीपर रखकर बहुत देरतक गहरी चिन्तामें डूबी रहीं ॥ ३२-३३ ॥

राजा च धृतराष्ट्रस्तु पुत्राणामनयं तदा।
ध्यायन्नुद्विग्नहृदयो न शान्तिमधिजग्मिवान् ॥ ३४ ॥

उस समय अपने पुत्रोंके अन्यायका चिन्तन करके राजा धृतराष्ट्रका भी हृदय उद्विग्न हो उठा। उन्हें तनिक भी शान्ति नहीं मिली ॥ ३४ ॥

स चिन्तयन्ननेकाग्रः शोकव्याकुलचेतनः।
क्षत्तुः सम्प्रेषयामास शीघ्रमागम्यतामिति ॥ ३५ ॥

चिन्तामें पड़े-पड़े उनकी एकाग्रता नष्ट हो गयी। उनका चित्त शोकसे व्याकुल हो रहा था। उन्होंने विदुरके पास संदेश भेजा कि तुम शीघ्र मेरे पास चले आओ ॥ ३५ ॥

ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम्।
तं पर्यपृच्छत् संविग्नो धृतराष्ट्रो जनाधिपः ॥ ३६ ॥

तब विदुर राजा धृतराष्ट्रके महलमें गये। उस समय महाराज धृतराष्ट्रने अत्यन्त उद्विग्न होकर उनसे पूछा ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि द्रौपदीकुन्तीसंवादे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें द्रौपदीकुन्तीसंवादविषयक उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २९ श्लोक मिलाकर कुल ६५ श्लोक हैं)

अशीतितमोऽध्यायः

वनगमनके समय पाण्डवोंकी चेष्टा और प्रजाजनोंकी शोकातुरताके विषयमें धृतराष्ट्र तथा विदुरका संवाद और शरणागत कौरवोंको द्रोणाचार्यका आश्वासन

वैशम्पायन उवाच

तमागतमथो राजा विदुरं दीर्घदर्शिनम्।
साशङ्क इव पप्रच्छ धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय! दूरदर्शी विदुरजीके आनेपर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने शङ्कित-सा होकर पूछा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

कथं गच्छति कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
भीमसेनः सव्यसाची माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर! कुन्तीनन्दन धर्मपुत्र युधिष्ठिर किस प्रकार जा रहे हैं? भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव-ये चारों पाण्डव भी किस प्रकार यात्रा करते हैं? ॥ २ ॥

धौम्यश्चैव कथं क्षत्तर्द्रौपदी च यशस्विनी।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं तेषां शंस विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

पुरोहित धौम्य तथा यशस्विनी द्रौपदी भी कैसे जा रही है। मैं उन सबकी पृथक्-पृथक् चेष्टाओंको सुनना चाहता हूँ, तुम मुझसे कहो ॥ ३ ॥

विदुर उवाच

वस्त्रेण संवृत्य मुखं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
बाहू विशालौ सम्पश्यन् भीमो गच्छति पाण्डवः ॥ ४ ॥

विदुर बोले—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर वस्त्रसे मुँह ढँककर जा रहे हैं। पाण्डुकुमार भीमसेन अपनी विशाल भुजाओंकी ओर देखते हुए जाते हैं ॥ ४ ॥

सिकता वपन् सव्यसाची राजानमनुगच्छति।
माद्रीपुत्रः सहदेवो मुखमालिप्य गच्छति ॥ ५ ॥

सव्यसाची अर्जुन बालू बिखेरते हुए राजा युधिष्ठिरके पीछे-पीछे जा रहे हैं। माद्रीकुमार सहदेव अपने मुँहपर मिट्टी पोतकर जाते हैं ॥ ५ ॥

पांसूपलिप्तसर्वाङ्गो नकुलश्चित्तविह्वलः।
दर्शनीयतमो लोके राजानमनुगच्छति ॥ ६ ॥

लोकमें अत्यन्त दर्शनीय मनोहर रूपवाले नकुल अपने सब अङ्गोंमें धूल लपेटकर व्याकुलचित्त हो राजा युधिष्ठिरका अनुसरण कर रहे हैं ॥ ६ ॥

कृष्णा तु केशैः प्रच्छाद्य मुखमायतलोचना।
दर्शनीया प्ररुदती राजानमनुगच्छति ॥ ७ ॥

परम सुन्दरी विशाललोचना कृष्णा अपने केशोंसे ही मुँह ढँककर रोती हुई राजाके पीछे-पीछे जा रही है ॥ ७ ॥

धौम्यो रौद्राणि सामानि याम्यानि च विशाम्पते।
गायन् गच्छति मार्गेषु कुशानादाय पाणिना ॥ ८ ॥

महाराज! पुरोहित धौम्यजी हाथमें कुश लेकर रुद्र तथा यमदेवतासम्बन्धी साम-मन्त्रोंका गान करते हुए आगे-आगे मार्गपर चल रहे हैं ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

विविधानीह रूपाणि कृत्वा गच्छन्ति पाण्डवाः।
तन्ममाचक्ष्व विदुर कस्मादेवं व्रजन्ति ते ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—विदुर! पाण्डवलोग यहाँ जो भिन्न-भिन्न प्रकारकी चेष्टाएँ करते हुए यात्रा कर रहे हैं, उसका क्या रहस्य है, यह बताओ। वे क्यों इस प्रकार जा रहे हैं? ॥ ९ ॥

विदुर उवाच

निकृतस्यापि ते पुत्रैर्हृते राज्ये धनेषु च।
न धर्माच्चलते बुद्धिर्धर्मराजस्य धीमतः ॥ १० ॥

विदुर बोले—महाराज! यद्यपि आपके पुत्रोंने छलपूर्ण बर्ताव किया है। पाण्डवोंका राज्य और धन सब कुछ चला गया है तो भी परम बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरकी बुद्धि धर्मसे विचलित नहीं हो रही है ॥ १० ॥

योऽसौ राजा घृणी नित्यं धार्तराष्ट्रेषु भारत।
निकृत्या भ्रंशितः क्रोधान्नोन्मीलयति लोचने ॥ ११ ॥

भारत! राजा युधिष्ठिर आपके पुत्रोंपर सदा दयाभाव बनाये रखते थे, किंतु इन्होंने छलपूर्ण जूएका आश्रय लेकर उन्हें राज्यसे वञ्चित किया है, इससे उनके मनमें बड़ा क्रोध है और इसीलिये वे अपनी आँखोंको नहीं खोलते हैं ॥ ११ ॥

नाहं जनं निर्दहेयं दृष्ट्वा घोरेण चक्षुषा।
स पिधाय मुखं राजा तस्माद् गच्छति पाण्डवः ॥ १२ ॥

'मैं भयानक दृष्टिसे देखकर किसी (निरपराधी) मनुष्यको भस्म न कर डालूँ' इसी भयसे पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर अपना मुँह ढँककर जा रहे हैं ॥ १२ ॥

यथा च भीमो व्रजति तन्मे निगदतः शृणु।
बाह्वोर्बले नास्ति समो ममेति भरतर्षभ ॥ १३ ॥

अब भीमसेन जिस प्रकार चल रहे हैं, उसका रहस्य बताता हूँ, सुनिये! भरतश्रेष्ठ! उन्हें इस बातका अभिमान है कि बाहुबलमें मेरे समान दूसरा कोई नहीं है ॥ १३ ॥

बाहू विशालौ कृत्वासौ तेन भीमोऽपि गच्छति।
बाहू विदर्शयन् राजन् बाहुद्रविणदर्पितः ॥ १४ ॥
चिकीर्षन् कर्म शत्रुभ्यो बाहुद्रव्यानुरूपतः।

इसीलिये वे अपनी विशाल भुजाओंकी ओर देखते हुए यात्रा करते हैं। राजन्! अपने बाहुबलरूपी वैभवपर उन्हें गर्व है। अतः वे अपनी दोनों भुजाएँ दिखाते हुए शत्रुओंसे बदला लेनेके लिये अपने बाहुबलके अनुरूप ही पराक्रम करना चाहते हैं ॥ १४½ ॥

प्रदिशञ्छरसम्पातान् कुन्तीपुत्रोऽर्जुनस्तदा ॥ १५ ॥
सिकता वपन् सव्यसाची राजानमनुगच्छति।
असक्ताः सिकतास्तस्य यथा सम्प्रति भारत।
असक्तं शरवर्षाणि तथा मोक्ष्यति शत्रुषु ॥ १६ ॥

कुन्तीपुत्र सव्यसाची अर्जुन उस समय राजाके पीछे-पीछे जो बालू बिखेरते हुए यात्रा कर रहे थे, उसके द्वारा वे शत्रुओंपर बाण बरसानेकी अभिलाषा व्यक्त करते थे। भारत! इस समय उनके गिराये हुए बालूके कण जैसे आपसमें संसक्त न होते हुए लगातार गिरते हैं, उसी प्रकार वे शत्रुओंपर परस्पर संसक्त न होनेवाले असंख्य बाणोंकी वर्षा करेंगे ॥

न मे कश्चिद् विजानीयान्मुखमद्येति भारत।
मुखमालिप्य तेनासौ सहदेवोऽपि गच्छति ॥ १७ ॥

भारत! 'आज इस दुर्दिनमें कोई मेरे मुँहको पहचान न ले, यही सोचकर सहदेव अपने मुँहमें मिट्टी पोतकर जा रहे हैं ॥ १७ ॥

नाहं मनांस्याददेयं मार्गे स्त्रीणामिति प्रभो।
पांसूपलिप्तसर्वाङ्गो नकुलस्तेन गच्छति ॥ १८ ॥

प्रभो! 'मार्गमें मैं स्त्रियोंका चित्त न चुरा लूँ' इस भयसे नकुल अपने सारे अङ्गोंमें धूल लगाकर यात्रा करते हैं ॥ १८ ॥

एकवस्त्रा प्ररुदती मुक्तकेशी रजस्वला।
शोणितेनाक्तवसना द्रौपदी वाक्यमब्रवीत् ॥ १९ ॥

द्रौपदीके शरीरपर एक ही वस्त्र था, उसके बाल खुले हुए थे, वह रजस्वला थी और उसके कपड़ोंमें रक्त (रज) का दाग लगा हुआ था, उसने रोते हुए यह बात कही थी ॥ १९ ॥

यत्कृतेऽहमिदं प्राप्ता तेषां वर्षे चतुर्दशे ।
हतपत्न्यो हतसुता हतबन्धुजनप्रियाः ॥ २० ॥
बहुशोणितदिग्धाङ्ग्यो मुक्तकेश्यो रजस्वलाः।
एवं कृतोदका भार्याः प्रवेक्ष्यन्ति गजाह्वयम् ॥ २१ ॥

'जिनके अन्यायसे आज मैं इस दशाको पहुँची हूँ,आजके चौदहवें वर्षमें उनकी स्त्रियाँ भी अपने पति, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंके मारे जानेसे उनकी लाशोंके पास लोट-लोटकर रोयेंगी और अपने अङ्गोंमें रक्त तथा धूल लपेटे, बाल खोले हुए, अपने सगे-सम्बन्धियोंको तिलाञ्जलि दे इसी प्रकार हस्तिनापुरमें प्रवेश करेंगी' ॥ २०-२१ ॥

कृत्वा तु नैर्ऋतान् दर्भान् धीरो धौम्यःपुरोहितः।
सामानि गायन् याम्यानि पुरतो याति भारत ॥ २२ ॥

भारत ! धीरस्वभाववाले पुरोहित धौम्यजी कुशोंका अग्र-भाग नैर्ऋत्यकोणकी ओर करके यमदेवतासम्बन्धी साममन्त्रोंका गान करते हुए पाण्डवोंके आगे-आगे जा रहे हैं ॥ २२ ॥

हतेषु भारतेष्वाजौ कुरूणां गुरवस्तदा ।
एवं सामानि गास्यन्ती त्युक्त्वा धौम्योऽपि गच्छति ॥

धौम्यजी यह कहकर गये थे कि युद्धमें कौरवोंके मारे जानेपर उनके गुरु भी इसी प्रकार कभी साम-गान करेंगे॥२३॥

हाहा गच्छन्ति नो नाथाः समवेक्षध्वमीदृशम् ।
अहो धिक् कुरुवृद्धानां बालानामिव चेष्टितम् ॥ २४ ॥
राष्ट्रेभ्यः पाण्डुदायादाँल्लोभान्निर्वासयन्ति ये ।
अनाथाः स्म वयं सर्वे वियुक्ताः पाण्डुनन्दनैः॥ २५ ॥
दुर्विनीतेषु लुब्धेषु का प्रीतिः कौरवेषु नः ।
इति पौराः सुदुःखार्ताः क्रोशन्ति स्म पुनः पुनः ॥ २६ ॥

महाराज ! उस समय नगरके लोग अत्यन्त दुःखसे आतुर हो बार-बार चिल्लाकर कह रहे थे कि 'हाय-हाय! हमारे स्वामी पाण्डव चले जा रहे हैं। अहो ! कौरवोंमें जो बड़े-बूढ़े लोग हैं, उनकी यह बालकोंकी-सी चेष्टा तो देखो । धिक्कार है उनके इस बर्तावको ! ये कौरव लोभवश महाराज पाण्डुके पुत्रोंको राज्यसे निकाल रहे हैं। इन पाण्डुपुत्रोंसे वियुक्त होकर हम सब लोग आज अनाथ हो गये। इन लोभी और उद्दण्ड कौरवोंके प्रति हमारा प्रेम कैसे हो सकता है; ॥२४–२६॥

एवमाकारलिङ्गैस्ते व्यवसायं मनोगतम् ।
कथयन्तश्च कौन्तेया वनं जग्मुर्मनस्विनः ॥ २७ ॥

महाराज ! इस प्रकार मनस्वी कुन्तीपुत्र अपनी आकृति एवं चिह्नोंके द्वारा अपने आन्तरिक निश्चयको प्रकट करते हुए वनको गये हैं ॥ २७ ॥

एवं तेषु नराग्र्येषु निर्यत्सु गजसाह्वयात् ।
अनभ्रे विद्युतश्चासन् भूमिश्च समकम्पत ॥ २८ ॥
राहुरग्रसदादित्यमपर्वणि विशाम्पते ।
उल्का चाप्यपसव्येन पुरं कृत्वा व्यशीर्यत ॥ २९ ॥

हस्तिनापुरसे उन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंके निकलते ही बिना बादलके बिजली गिरने लगी, पृथ्वी काँप उठी। राजन्!बिना पर्व (अमावस्या) के ही राहुने सूर्यको ग्रस लिया था और नगरको दायें रखकर उल्का गिरी थी ॥ २८-२९ ॥

प्रत्याहरन्ति क्रव्यादा गृध्रगोमायुवायसाः ।
देवायतनचैत्येषु प्राकाराट्टालकेषु च ॥ ३० ॥

गीध, गीदड़ और कौवे आदि मांसाहारी जन्तु नगरके मन्दिरों, देववृक्षों, चहारदीवारी तथा अट्टालिकाओंपर मांस और हड्डी आदि लाकर गिराने लगे थे ॥ ३० ॥

एवमेते महोत्पाताः प्रादुरासन् दुरासदाः ।
भरतानामभावाय राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ ३१ ॥

राजन् ! इस प्रकार आपकी दुर्मन्त्रणाके कारण ऐसे-ऐसे अपशकुनरूप दुर्दम्य एवं महान् उत्पात प्रकट हुए हैं, जो भरतवंशियोंके विनाशकी सूचना दे रहे हैं ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रवदतोरेव तयोस्तत्र विशाम्पते ।
धृतराष्ट्रस्य राज्ञश्च विदुरस्य च धीमतः ॥ ३२ ॥
नारदश्च सभामध्ये कुरूणामग्रतः स्थितः ।
महर्षिभिः परिवृतो रौद्रं वाक्यमुवाच ह ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्र और बुद्धिमान् विदुर जब दोनों वहाँ बातचीत कर रहे थे, उसी समय सभामें महर्षियोंसे घिरे हुए देवर्षि नारद कौरवोंके सामने आकर खड़े हो गये और यह भयंकर वचन बोले—॥ ३२-३३ ॥

इतश्चतुर्दशे वर्षे विनङ्क्ष्यन्तीह कौरवाः ।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥ ३४ ॥

'आजसे चौदहवें वर्षमें दुर्योधनके अपराधसे भीम और अर्जुनके पराक्रमद्वारा कौरवकुलका नाश हो जायगा' ॥३४॥

इत्युक्त्वा दिवमाक्रम्य क्षिप्रमन्तरधीयत ।
ब्राह्मीं श्रियं सुविपुलां बिभ्रद् देवर्षिसत्तमः ॥ ३५ ॥

ऐसा कहकर विशाल ब्रह्मतेज धारण करनेवाले देवर्षिप्रवर नारद आकाशमें जाकर सहसा अन्तर्धान हो गये ॥ ३५ ॥

(धृतराष्ट्र उवाच

किमब्रुवन् नागरिकाः किं वै जानपदा जनाः ।
मह्यं तत्त्वेन चाचक्ष्व क्षत्तः सर्वमशेषतः ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—विदुर ! जब पाण्डव वनको जाने लगे, उस समय नगर और देशके लोग क्या कह रहे थे, ये सब बातें मुझे पूर्णरूपसे ठीक-ठीक बताओ ॥

विदुर उवाच

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा येऽन्ये वदन्त्यथ ।
तच्छृणुष्व महाराज वक्ष्यते च मया तव ॥

विदुर बोले—महाराज ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्यलोग इस घटनाके सम्बन्धमें जो कुछ कहते हैं, वह सुनिये, मैं आपसे सब बातें बता रहा हूँ ॥

हाहा गच्छन्ति नो नाथाः समवेक्षध्वमीदृशम् ।
इति पौराः सुदुःखार्ताः शोचन्ति स्म समन्ततः॥

पाण्डवोंके जाते समय समस्त पुरवासी दुःखसे आतुर हो सब ओर शोकमें डूबे हुए थे और इस प्रकार कह रहे थे—'हाय ! हाय ! हमारे स्वामी, हमारे रक्षक वनमें चले जा रहे हैं। भाइयो ! देखो, धृतराष्ट्रके पुत्रोंका यह कैसा अन्याय है ?' ॥

तदहृष्टमिवाकूजं गतोत्सवमिवाभवत् ।
नगरं हास्तिनपुरं सस्त्रीवृद्धकुमारकम् ॥

स्त्री, बालक और वृद्धोंसहित सारा हस्तिनापुर नगर हर्षरहित, शब्दशून्य तथा उत्सवहीन-सा हो गया॥

सर्वे चासन् निरुत्साहा व्याधिना बाधिता यथा॥
पार्थान् प्रति नरा नित्यं चिन्ताशोकपरायणाः ।
तत्र तत्र कथां चक्रुः समासाद्य परस्परम् ॥

सब लोग कुन्तीपुत्रोंके लिये निरन्तर चिन्ता एवं शोकमें निमग्न हो उत्साह खो बैठे थे। सबकी दशा रोगियोंके समान हो गयी थी। सब एक दूसरेसे मिलकर जहाँ-तहाँ पाण्डवों-के विषयमें ही वार्तालाप करते थे ॥

वनं गते धर्मराजे दुःखशोकपरायणाः ।
बभूवुः कौरवा वृद्धा भृशं शोकेन पीडिताः ॥

धर्मराजके वनमें चले जानेपर समस्त वृद्ध कौरव भी अत्यन्त शोकसे व्यथित हो दुःख और चिन्तामें निमग्न हो गये ॥

ततः पौरजनः सर्वः शोचन्नास्ते जनाधिपम् ।
कुर्वाणाश्च कथास्तत्र ब्राह्मणाः पार्थिवं प्रति ॥

तदनन्तर समस्त पुरवासी राजा युधिष्ठिरके लिये शोका-कुल हो गये। उस समय वहाँ ब्राह्मणलोग राजा युधिष्ठिरके विषयमें निम्नाङ्कित बातें करने लगे ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

कथं नु राजा धर्मात्मा वने वसति निर्जने ।
तस्यानुजाश्च ते नित्यं कृष्णा च द्रुपदात्मजा ॥
सुखार्हापि च दुःखार्ता कथं वसति सा वने ॥

ब्राह्मणोंने कहा—हाय ! धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर और उनके भाई निर्जन वनमें कैसे रहेंगे ! तथा द्रुपदकुमारी कृष्णा तो सुख भोगनेके ही योग्य है, वह दुःखसे आतुर हो वनमें कैसे रहेगी ॥

विदुर उवाच

एवं पौराश्च विप्राश्च सदाराः सहपुत्रकाः ।
स्मरन्तः पाण्डवान् सर्वे बभूवुर्भृशदुःखिताः ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार पुरवासी ब्राह्मण अपनी स्त्रियों और पुत्रोंके साथ पाण्डवोंका स्मरण करते हुए बहुत दुखी हो गये ॥

आविद्धा इव शस्त्रेण नाभ्यनन्दन् कथंचन ।
सम्भाष्यमाणा अपि ते न कंचित् प्रत्यपूजयन् ॥

शस्त्रोंके आघातसे घायल हुए मनुष्योंकी भाँति वे किसी प्रकार सुखी न हो सके। बात कहनेपर भी वे किसीको आदरपूर्वक उत्तर नहीं देते थे ॥

न भुक्त्वा न शयित्वा ते दिवा वा यदि वा निशि।
शोकोपहतविज्ञाना नष्टसंज्ञा इवाभवन् ॥

उन्होंने दिन अथवा रातमें न तो भोजन किया और न नींद ही ली; शोकके कारण उनका सारा विज्ञान आच्छा-दित हो गया था। वे सब-के-सब अचेत-से हो रहे थे ॥

यदवस्था बभूवार्ता ह्ययोध्या नगरी पुरा।
रामे वनं गते दुःखाद्धृतराज्ये सलक्ष्मणे ॥
तदवस्थं बभूवार्तमद्येदं गजसाह्वयम् ।
गते पार्थे वनं दुःखाद्धृतराज्ये सहानुजैः ॥

जैसे त्रेतायुगमें राज्यका अपहरण हो जानेपर लक्ष्मण-सहित श्रीरामचन्द्रजीके वनमें चले जानेके बाद अयोध्या नगरी दुःखसे अत्यन्त आतुर हो बड़ी दुरवस्थाको पहुँच गयी थी, वही दशा राज्यके अपहरण हो जानेपर भाइयोंसहित युधिष्ठिरके वनमें चले जानेसे आज हमारे इस हस्तिनापुरकी हो गयी है ॥

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य वचः श्रुत्वा नागरस्य गिरं च वै ।
भूयो मुमोह शोकाच्च धृतराष्ट्रः सबान्धवः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरका कथन और पुरवासियोंकी कही हुई बातें सुनकर बन्धु-बान्धवोंसहित राजा धृतराष्ट्र पुनः शोकसे मूर्छित हो गये ॥

ततो दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
द्रोणं द्वीपममन्यन्त राज्यं चास्मै न्यवेदयन् ॥ ३६ ॥

तब दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनिने द्रोणको अपना द्वीप (आश्रय) माना और सम्पूर्ण राज्य उनके चरणोंमें समर्पित कर दिया ॥ ३६ ॥

अथाब्रवीत् ततो द्रोणो दुर्योधनममर्षणम् ।
दुःशासनं च कर्णं च सर्वानेव च भारतान् ॥ ३७ ॥

उस समय द्रोणाचार्यने अमर्षशील दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण तथा अन्य सब भरतवंशियोंसे कहा—॥ ३७ ॥

अवध्यान् पाण्डवान् प्राहुर्देवपुत्रान् द्विजातयः ।
अहं वै शरणं प्राप्तान् वर्तमानो यथाबलम् ॥३८॥
गन्ता सर्वात्मना भक्त्या धार्तराष्ट्रान् सराजकान्।
नोत्सहेयं परित्यक्तुं दैवं हि बलवत्तरम् ॥३९॥

'पाण्डव देवताओंके पुत्र हैं, अतः ब्राह्मणलोग उन्हें अवध्य बतलाते हैं। मैं यथाशक्ति सम्पूर्ण हृदयसे तुम्हारे अनुकूल प्रयत्न करता हुआ तुम्हारा साथ दूँगा। भक्तिपूर्वक अपनी शरणमें आये हुए इन राजाओंसहित धृतराष्ट्रपुत्रोंका परित्याग करनेका साहस नहीं कर सकता। दैव ही सबसे प्रबल है॥ ३८-३९ ॥

धर्मतः पाण्डुपुत्रा वै वनं गच्छन्ति निर्जिताः ।
ते च द्वादश वर्षाणि वने वत्स्यन्ति पाण्डवाः ॥४०॥

'पाण्डव जूएमें पराजित होकर धर्मके अनुसार वनमें गये हैं। वे वहाँ बारह वर्षोंतक रहेंगे॥ ४० ॥

चरितब्रह्मचर्याश्च क्रोधामर्षवशानुगाः ।
वैरं निर्यातयिष्यन्ति महद् दुःखाय पाण्डवाः ॥ ४१ ॥

'वनमें पूर्णरूपसे ब्रह्मचर्यका पालन करके जब वे क्रोध और अमर्षके वशीभूत हो यहाँ लौटेंगे, उस समय वैरका बदला अवश्य लेंगे। उनका वह प्रतीकार हमारे लिये महान् दुःखका कारण होगा॥ ४१ ॥

मया च भ्रंशितो राजन् द्रुपदः सखिविग्रहे ।
पुत्रार्थमयजद् राजा वधाय मम भारत ॥ ४२ ॥

'राजन्! मैंने मैत्रीके विषयको लेकर कलह प्रारम्भ होनेपर राजा द्रुपदको उनके राज्यसे भ्रष्ट किया था; भारत! इससे दुखी होकर उन्होंने मेरे वधके लिये पुत्र प्राप्त करनेकी इच्छासे एक यज्ञका आयोजन किया॥ ४२ ॥

याजोपयाजतपसा पुत्रं लेभे स पावकात् ।
धृष्टद्युम्नं द्रौपदीं च वेदीमध्यात् सुमध्यमाम् ॥ ४३ ॥

'याज और उपयाजकी तपस्यासे उन्होंने अग्निसे धृष्टद्युम्न और वेदीके मध्यभागसे सुन्दरी द्रौपदीको प्राप्त किया॥४३॥

धृष्टद्युम्नस्तु पार्थानां श्यालः सम्बन्धतो मतः ।
पाण्डवानां प्रियरतस्तस्मान्मां भयमाविशत् ॥ ४४ ॥

'धृष्टद्युम्न तो सम्बन्धकी दृष्टिसे कुन्तीपुत्रोंका साला ही है, अतः सदा उनका प्रिय करनेमें लगा रहता है, उसीसे मुझे भय है॥ ४४ ॥

ज्वालावर्णो देवदत्तो धनुष्मान् कवची शरी ।
मर्त्यधर्मतया तस्मादद्य मे साध्वसो महान् ॥ ४५ ॥

'उसके शरीरकी कान्ति अग्निकी ज्वालाके समान उद्भासित होती है। वह देवताका दिया हुआ पुत्र है और धनुष, बाण तथा कवचके साथ प्रकट हुआ है। मरणधर्मा मनुष्य होनेके कारण मुझे अब उससे महान् भय लगता है॥ ४५॥

गतो हि पक्षतां तेषां पार्षतः परवीरहा ।
रथातिरथसंख्यायां योऽग्रणीरर्जुनो युवा ॥ ४६ ॥
सृष्टप्राणो भृशतरं तेन चेत् संगमो मम ।
किमन्यद् दुःखमधिकं परमं भुवि कौरवाः ॥ ४७ ॥

'शत्रुवीरोंका संहार करनेवाला द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न पाण्डवोंके पक्षका पोषक हो गया है। रथियों और अतिरथियोंकी गणनामें जिसका नाम सबसे पहले लिया जाता है, वह तरुण वीर अर्जुन धृष्टद्युम्नके लिये, यदि मेरे साथ उसका युद्ध हुआ तो, लड़कर प्राणतक देनेके लिये उद्यत हो जायगा। कौरवो! (अर्जुनके साथ मुझे लड़ना पड़े) इस पृथ्वीपर इससे बढ़कर महान् दुःख मेरे लिये और क्या हो सकता है?॥ ४६-४७ ॥

धृष्टद्युम्नो द्रोणमृत्युरिति विप्रथितं वचः ।
मद्वधाय श्रुतोऽप्येष लोके चाप्यतिविश्रुतः ॥ ४८ ॥

'धृष्टद्युम्न द्रोणकी मौत है, यह बात सर्वत्र फैल चुकी है। मेरे वधके लिये ही उसका जन्म हुआ है! यह भी सब लोगोंने सुन रक्खा है। धृष्टद्युम्न स्वयं भी संसारमें अपनी वीरताके लिये विख्यात है॥ ४८ ॥

सोऽयं नूनमनुप्राप्तस्त्वत्कृते काल उत्तमः ।
त्वरितं कुरुत श्रेयो नैतदेतावता कृतम् ॥ ४९ ॥

'तुम्हारे लिये यह निश्चय ही बहुत उत्तम अवसर प्राप्त हुआ है। शीघ्र ही अपने कल्याण-साधनमें लग जाओ। पाण्डवोंको वनवास दे देनेमात्रसे तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता॥ ४९ ॥

मुहूर्तं सुखमेवैतत् तालच्छायेव हैमनी ।
यजध्वं च महायज्ञैर्भोगानश्नीत दत्त च ॥ ५० ॥
इतश्चतुर्दशे वर्षे महत् प्राप्स्यथ वैशसम् ।

'यह राज्य तुमलोगोंके लिये शीतकालमें होनेवाली ताड़के पेड़की छायाके समान दो ही घड़ीतक सुख देनेवाला है। अब तुम बड़े-बड़े यज्ञ करो, मनमाने भोग भोगो और इच्छानुसार दान कर लो। आजसे चौदहवें वर्षमें तुम्हें बहुत बड़ी मार-काटका सामना करना पड़ेगा'॥ ५०½ ॥

द्रोणस्य वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ ५१ ॥

द्रोणाचार्यकी यह बात सुनकर धृतराष्ट्रने कहा—॥५१॥

सम्यगाह गुरुः क्षत्तरुपावर्तय पाण्डवान् ।
यदि ते न निवर्तन्ते सत्कृता यान्तु पाण्डवाः ।

सशस्त्ररथपादाता भोगवन्तश्च पुत्रकाः ॥ ५२ ॥

'विदुर! गुरु द्रोणाचार्यने ठीक कहा है। तुम पाण्डवोंको लौटा लाओ। यदि वे न लौटें तो वे अस्त्र-शस्त्रोंसे युक्त रथियों और पैदल सेनाओंसे सुरक्षित और भोगसामग्रीसे सम्पन्न हो सत्कारपूर्वक वनमें भ्रमणके लिये जायँ; क्योंकि वे भी मेरे पुत्र ही हैं' ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि विदुरधृतराष्ट्रद्रोणवाक्ये अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें विदुर, धृतराष्ट्र और द्रोणके वचनविषयक असीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५ श्लोक मिलाकर कुल ६७ श्लोक हैं)

एकाशीतितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रकी चिन्ता और उनका संजयके साथ वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

वनं गतेषु पार्थेषु निर्जितेषु दुरोदरे।
धृतराष्ट्रं महाराज तदा चिन्ता समाविशत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब पाण्डव जूएमें हारकर वनमें चले गये, तब राजा धृतराष्ट्रको बड़ी चिन्ता हुई ॥ १ ॥

तं चिन्तयानमासीनं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम्।
निःश्वसन्तमनेकाग्रमिति होवाच संजयः ॥ २ ॥

महाराज धृतराष्ट्रको लंबी साँस खींचते और उद्विग्नचित्त होकर चिन्तामें डूबे हुए देख संजयने इस प्रकार कहा ॥ २ ॥

संजय उवाच

अवाप्य वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिप।
प्रव्राज्य पाण्डवान् राज्याद् राजन् किमनुशोचसि ॥ ३ ॥

संजय बोले—पृथ्वीनाथ! यह धन-रत्नोंसे सम्पन्न वसुधाका राज्य पाकर और पाण्डवोंको अपने देशसे निकालकर अब आप क्यों शोकमग्न हो रहे हैं? ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अशोच्यत्वं कुतस्तेषां येषां वैरं भविष्यति।
पाण्डवैर्युद्धशौण्डैर्हि बलवद्भिर्महारथैः ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—जिन लोगोंका युद्धकुशल बलवान् महारथी पाण्डवोंसे वैर होगा, वे शोकमग्न हुए बिना कैसे रह सकते हैं? ॥ ४ ॥

संजय उवाच

तवेदं स्वकृतं राजन् महद् वैरमुपस्थितम्।
विनाशो येन लोकस्य सानुबन्धो भविष्यति ॥ ५ ॥

संजय बोले—राजन्! यह आपकी अपनी ही की हुई करतूत है, जिससे यह महान् वैर उपस्थित हुआ है और इसीके कारण सम्पूर्ण जगत्का सगे-सम्बन्धियोंसहित विनाश हो जायगा ॥ ५ ॥

वार्यमाणो हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च।
पाण्डवानां प्रियां भार्यां द्रौपदीं धर्मचारिणीम् ॥ ६ ॥
प्राहिणोदानयेहेति पुत्रो दुर्योधनस्तव।
सूतपुत्रं सुमन्दात्मा निर्लज्जः प्रातिकामिनम् ॥ ७ ॥

भीष्म, द्रोण और विदुरने बार-बार मना किया तो भी आपके मूढ़ और निर्लज्ज पुत्र दुर्योधनने सूतपुत्र प्रातिकामीको यह आदेश देकर भेजा कि तुम पाण्डवोंकी प्यारी पत्नी धर्मचारिणी द्रौपदीको सभामें ले आओ ॥ ६-७ ॥

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥ ८ ॥
बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे समुपस्थिते।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ९ ॥

देवतालोग जिस पुरुषको पराजय देना चाहते हैं, उसकी बुद्धि ही पहले हर लेते हैं, इससे वह सब कुछ उल्टा ही देखने लगता है। विनाशकाल उपस्थित होनेपर जब बुद्धि मलिन हो जाती है, उस समय अन्याय ही न्यायके समान जान पड़ता है और वह हृदयसे किसी प्रकार नहीं निकलता ॥ ८-९ ॥

अनर्थाश्चार्थरूपेण अर्थाश्चानर्थरूपिणः।
उत्तिष्ठन्ति विनाशाय नूनं तच्चास्य रोचते ॥ १० ॥

उस समय उस पुरुषके विनाशके लिये अनर्थ ही अर्थरूपसे और अर्थ भी अनर्थरूपसे उसके सामने उपस्थित होते हैं और निश्चय ही अर्थरूपमें आया हुआ अनर्थ ही उसे अच्छा लगता है ॥ १० ॥

न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित्।
कालस्य बलमेतावद् विपरीतार्थदर्शनम् ॥ ११ ॥

काल डंडा या तलवार लेकर किसीका सिर नहीं काटता। कालका बल इतना ही है कि वह प्रत्येक वस्तुके विषयमें मनुष्यकी विपरीत बुद्धि कर देता है ॥ ११ ॥

आसादितमिदं घोरं तुमुलं लोमहर्षणम्।
पाञ्चालीमपकर्षद्भिः सभामध्ये तपस्विनीम् ॥ १२ ॥

अयोनिजां रूपवतीं कुले जातां विभावसोः ।
को नु तां सर्वधर्मज्ञां परिभूय यशस्विनीम् ॥ १३ ॥
पर्यानयेत् सभामध्ये विना दुर्द्यूतदेविनम् ।
स्त्रीधर्मिणी वरारोहा शोणितेन परिप्लुता ॥ १४ ॥
एकवस्त्राथ पाञ्चाली पाण्डवानभ्यवैक्षत ।
हृतस्वान् हृतराज्यांश्च हृतवस्त्रान् हृतश्रियः ॥ १५ ॥
विहीनान् सर्वकामेभ्यो दासभावमुपागतान् ।
धर्मपाशपरिक्षिप्तानशक्तानिव विक्रमे ॥ १६ ॥

पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी तपस्विनी है। उसका जन्म किसी मानवी स्त्रीके गर्भसे नहीं हुआ है, वह अग्निके कुलमें उत्पन्न हुई और अनुपम सुन्दरी है। वह सब धर्मोंको जाननेवाली तथा यशस्विनी है। उसे भरी सभामें खींचकर लानेवाले दुष्टोंने भयंकर तथा रोंगटे खड़े कर देनेवाले घमासान युद्धकी सम्भावना उत्पन्न कर दी है। अधर्मपूर्वक जूआ खेलनेवाले दुर्योधनके सिवा कौन है, जो द्रौपदीको सभामें बुला सके। सुन्दर शरीरवाली पाञ्चालराजकुमारी स्त्रीधर्मसे युक्त (रजस्वला) थी। उसका वस्त्र रक्तसे सना हुआ था। वह एक ही साड़ी पहने हुए थी। उसने सभामें आकर पाण्डवोंको देखा। उन पाण्डवोंके धन, राज्य, वस्त्र और लक्ष्मी सबका अपहरण हो चुका था। वे सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंसे वञ्चित हो दासभावको प्राप्त हो गये थे। धर्मके बन्धनमें बँधे रहनेके कारण वे पराक्रम दिखानेमें भी असमर्थ-से हो रहे थे ॥ १२-१६ ॥

क्रुद्धां चानर्हतीं कृष्णां दुःखितां कुरुसंसदि ।
दुर्योधनश्च कर्णश्च कटुकान्यभ्यभाषताम् ॥ १७ ॥

उनकी यह दशा देखकर कृष्णा क्रोध और दुःखमें डूब गयी। वह तिरस्कारके योग्य कदापि न थी, तो भी कौरवोंकी सभामें दुर्योधन और कर्णने उसे कटु वचन सुनाये ॥ १७ ॥

इति सर्वमिदं राजन्नाकुलं प्रतिभाति मे ।

राजन्! ये सारी बातें मुझे महान् दुःखको निमन्त्रण देनेवाली जान पड़ती हैं ॥ १७½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तस्याः कृपणचक्षुर्भ्यां प्रदह्येतापि मेदिनी ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय! द्रौपदीके उन दीनतापूर्ण नेत्रोंद्वारा यह सारी पृथ्वी दग्ध हो सकती थी ॥ १८ ॥

अपि शेषं भवेदद्य पुत्राणां मम संजय ।
भरतानां स्त्रियः सर्वा गान्धार्या सह संगताः ॥ १९ ॥
प्राक्रोशन् भैरवं तत्र दृष्ट्वा कृष्णां सभागताम् ।
धर्मिष्ठां धर्मपत्नीं च रूपयौवनशालिनीम् ॥ २० ॥

संजय! उसके अभिशापसे मेरे सभी पुत्रोंका आज ही संहार हो जाता, परंतु उसने सब कुछ चुपचाप सह लिया। जिस समय रूप और यौवनसे सुशोभित होनेवाली पाण्डवोंकी धर्मपरायणा धर्मपत्नी कृष्णा सभामें लायी गयी, उस समय वहाँ उसे देखकर भरतवंशकी सभी स्त्रियाँ गान्धारीके साथ मिलकर बड़े भयानक स्वरसे विलाप एवं चीत्कार करने लगीं ॥ १९-२० ॥

प्रजाभिः सह संगम्य ह्यनुशोचन्ति नित्यशः ।
अग्निहोत्राणि सायाह्ने न चाहूयन्त सर्वशः ॥ २१ ॥
ब्राह्मणाः कुपिताश्चासन् द्रौपद्याः परिकर्षणे ।

ये सारी स्त्रियाँ प्रजावर्गकी स्त्रियोंके साथ मिलकर रात-दिन सदा इसीके लिये शोक करती रहती हैं। उस दिन द्रौपदीका वस्त्र खींचे जानेके कारण सब ब्राह्मण कुपित हो उठे थे, अतः सायंकाल हमारे घरोंमें उन्होंने अग्निहोत्र-तक नहीं किया ॥ २१½ ॥

आसीन्निष्टानको घोरो निर्घातश्च महानभूत् ॥ २२ ॥
दिव उल्काश्चापतन्त राहुश्चार्कमुपाग्रसत् ।
अपर्वणि महाघोरं प्रजानां जनयन् भयम् ॥ २३ ॥

उस समय प्रलयकालीन मेघोंकी भयानक गर्जनाके समान भारी आवाजके साथ बड़े जोरकी आँधी चलने लगी। वज्रपातका-सा अत्यन्त कर्कश शब्द होने लगा। आकाशसे उल्काएँ गिरने लगीं तथा राहुने बिना पर्वके ही सूर्यको ग्रस लिया और प्रजाके लिये अत्यन्त घोर भय उपस्थित कर दिया ॥ २२-२३ ॥

तथैव रथशालासु प्रादुरासीद्धुताशनः ।
ध्वजाश्चापि व्यशीर्यन्त भरतानामभूतये ॥ २४ ॥

इसी प्रकार हमारी रथशालाओंमें आग लग गयी और रथोंकी ध्वजाएँ जलकर खाक हो गयीं, जो भरतवंशियोंके लिये अमङ्गलकी सूचना देनेवाली थीं ॥ २४ ॥

दुर्योधनस्याग्निहोत्रे प्राक्रोशन् भैरवं शिवाः ।
तास्तदा प्रत्यभाषन्त रासभाः सर्वतो दिशः ॥ २५ ॥

दुर्योधनके अग्निहोत्रगृहमें गीदड़ियाँ आकर भयंकर स्वरसे हुँआ-हुँआ करने लगीं। उनकी आवाज सुनते ही चारों दिशाओंमें गधे रेंकने लगे ॥ २५ ॥

प्रातिष्ठत ततो भीष्मो द्रोणेन सह संजय ।
कृपश्च सोमदत्तश्च बाह्लीकश्च महामनाः ॥ २६ ॥
ततोऽहमब्रुवं तत्र विदुरेण प्रचोदितः ।
वरं ददानि कृष्णायै काङ्क्षितं यद् यदिच्छति ॥ २७ ॥

संजय! यह सब देखकर द्रोणके साथ भीष्म, कृपाचार्य, सोमदत्त और महामना बाह्लीक वहाँसे उठकर चले गये।

तब मैंने विदुरकी प्रेरणासे वहाँ यह बात कही—'मैं कृष्णाको मनोवाञ्छित वर दूँगा । वह जो कुछ चाहे, माँग सकती है'॥

अवृणोत् तत्र पाञ्चाली पाण्डवानामदासताम् ।
सरथान् सधनुष्कांश्चाप्यनुज्ञासिषमप्यहम् ॥ २८ ॥

तब वहाँ पाञ्चालीने यह वर माँगा कि पाण्डवलोग दासभावसे मुक्त हो जायँ । मैंने भी रथ और धनुष आदिके सहित पाण्डवोंको उनकी समस्त सम्पत्तिके साथ इन्द्रप्रस्थ लौट जानेकी आज्ञा दे दी थी ॥ २८ ॥

अथाब्रवीन्महाप्राज्ञो विदुरः सर्वधर्मवित् ।
एतदन्तास्तु भरता यद् वः कृष्णा सभां गता ॥ २९ ॥
यैषा पाञ्चालराजस्य सुता सा श्रीरनुत्तमा ।
पाञ्चाली पाण्डवानेतान् दैवसृष्टोपसर्पति ॥ ३० ॥

तदनन्तर सब धर्मोंके ज्ञाता परम बुद्धिमान् विदुरने कहा—'भरतवंशियो ! यह कृष्णा जो तुम्हारी सभामें लायी गयी, यही तुम्हारे विनाशका कारण होगा । यह जो पाञ्चालराजकी पुत्री है, वह परम उत्तम लक्ष्मी ही है । देवताओंकी आज्ञासे ही पाञ्चाली इन पाण्डवोंकी सेवा करती है ॥ २९-३० ॥

तस्याः पार्थाः परिक्लेशं न क्षंस्यन्ते ह्यमर्षणाः ।
वृष्णयो वा महेष्वासाः पाञ्चाला वा महारथाः ॥ ३१ ॥
तेन सत्याभिसंधेन वासुदेवेन रक्षिताः ।
आगमिष्यति बीभत्सुः पाञ्चालैः परिवारितः ॥ ३२ ॥

'कुन्तीके पुत्र अमर्षमें भरे हुए हैं । द्रौपदीको जो यहाँ इस प्रकार क्लेश दिया गया है, इसे वे कदापि सहन नहीं करेंगे । सत्यप्रतिज्ञ भगवान् श्रीकृष्णसे सुरक्षित महान् धनुर्धर वृष्णिवंशी अथवा महारथी पाञ्चाल वीर भी इसे नहीं सहेंगे । अर्जुन पाञ्चाल वीरोंसे घिरे हुए अवश्य आयँगे ॥ ३१-३२ ॥

तेषां मध्ये महेष्वासो भीमसेनो महाबलः ।
आगमिष्यति धुन्वानो गदां दण्डमिवान्तकः ॥ ३३ ॥

'उनके बीचमें महाधनुर्धर महाबली भीमसेन होंगे, जो दण्डपाणि यमराजकी भाँति गदा घुमाते हुए युद्धके लिये आयँगे ॥ ३३ ॥

ततो गाण्डीवनिर्घोषं श्रुत्वा पार्थस्य धीमतः ।
गदावेगं च भीमस्य नालं सोढुं नराधिपाः ॥ ३४ ॥

'उस समय परम बुद्धिमान् अर्जुनके गाण्डीव धनुषकी टंकार सुनकर और भीमसेनकी गदाका महान् वेग देखकर कोई भी राजा उनका सामना करनेमें समर्थ न हो सकेंगे ॥

तत्र मे रोचते नित्यं पार्थैः साम न विग्रहः ।
कुरुभ्यो हि सदा मन्ये पाण्डवान् बलवत्तरान्॥ ३५ ॥

'अतः मुझे तो पाण्डवोंके साथ सदा शान्ति बनाये रखनेकी ही नीति अच्छी लगती है । उनके साथ युद्ध करना मुझे पसंद नहीं है । मैं पाण्डवोंको सदा ही कौरवोंसे अधिक बलवान् मानता हूँ ॥ ३५ ॥

तथा हि बलवान् राजा जरासंधो महाद्युतिः ।
बाहुप्रहरणेनैव भीमेन निहतो युधि ॥ ३६ ॥

'क्योंकि महान् तेजस्वी और बलवान् राजा जरासंधको भीमसेनने बाहुरूपी शस्त्रसे ही युद्धमें मार गिराया था ॥३६॥

तस्य ते शम एवास्तु पाण्डवैर्भरतर्षभ ।
उभयोः पक्षयोर्युक्तं क्रियतामविशङ्कया ॥ ३७ ॥

'भरतवंशशिरोमणे ! अतः पाण्डवोंके साथ आपको शान्ति ही बनाये रखनी चाहिये । दोनों पक्षोंके लिये यही उचित है । आप निःशङ्क होकर यही उपाय करें ॥ ३७ ॥

एवं कृते महाराज परं श्रेयस्त्वमाप्स्यसि ।
एवं गावल्गणे क्षत्ता धर्मार्थसहितं वचः ॥ ३८ ॥
उक्तवान् न गृहीतं वै मया पुत्रहितैषिणा ॥ ३९ ॥

'महाराज ! ऐसा करनेपर आप परम कल्याणके भागी होंगे ।' संजय ! इस प्रकार विदुरने मुझसे धर्म और अर्थयुक्त बातें कही थीं; किंतु पुत्रका हित चाहनेवाला होकर भी मैंने उनकी बात नहीं मानी ॥ ३८-३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि धृतराष्ट्रसंजयसंवादे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार व्यासनिर्मित श्रीमहाभारतनामक एक लाख श्लोकोंकी संहितामें सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें धृतराष्ट्रसंजयसंवादविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुलयोग
उत्तरभारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	२५९५॥	(१५७)	२१७॥=	२८१२=
दक्षिणभारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	१२४२	(१)	१।=	१२४३।=

सभापर्वकी पूर्ण श्लोकसंख्या—४०५६॥

(सभापर्व सम्पूर्णम्)

निवेदन

'महाभारत मासिक पत्र' के इस पञ्चम अङ्कमें सभापर्व समाप्त होकर वनपर्वका आरम्भ हो रहा है। आदिपर्वकी भाँति सभापर्वमें भी दाक्षिणात्य पाठके उपयोगी श्लोक लिये गये हैं। विशेषतः अड़तीसवें अध्यायमें भगवान्‌के अवतारोंका जो संक्षिप्त और श्रीकृष्णावतारका विशेष वर्णन दाक्षिणात्य प्रतियोंमें उपलब्ध होता है, उस प्रसङ्गके एक ही स्थलपर ७६१½ श्लोक लिये गये हैं। भगवान्‌के चरित्र-वर्णनके ये श्लोक अत्यन्त उपयोगी, आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण हैं। राजसूय यज्ञमें भगवान् श्रीकृष्णकी अग्रपूजाके प्रसङ्गमें जब भीष्मजीने बहुतसे संत-महात्माओंके मुखसे सुनी हुई श्रीकृष्णकी महिमा बतायी, उस समय युधिष्ठिरके मनमें उनके लीला-चरित्रको सुननेकी अभिलाषा जाग्रत् हो उठी और उन्हींके पूछनेपर भीष्मजीने विस्तारपूर्वक भगवान्‌की लीलाओंका वर्णन किया। इकतालीसवें अध्यायके शिशुपालके कथनपर ध्यान देनेसे भी उक्त प्रसङ्गकी अनिवार्य आवश्यकता सिद्ध होती है।

यदि भीष्मजीने भगवान्‌की पूतनावध, शकट-भंजन, तृणावर्त-उद्धार, यमलार्जुनभङ्ग, बकासुरवध, कालियदमन, केशी-अरिष्टासुर-वध और कंस-संहार आदि बाललीलाओंका वर्णन न किया होता तो शिशुपाल उनका नामोल्लेख कैसे कर सकता था: इससे सिद्ध है कि भीष्मजीने उस समय अवश्य ही विस्तारपूर्वक श्रीकृष्णचरित्र सुनाये थे।

वनपर्वके प्रसङ्ग भी बड़े ही मार्मिक और उपादेय हैं। पाण्डवोंकी कष्टसहिष्णुता, साहस, उत्साह, धैर्य और संकटकालमें भी धर्म-पालनकी दृढ़ता आदि बातें सदा ही पढ़ने, मनन करने और जीवनमें उतारने योग्य हैं। इस पर्वमें अनेकानेक राजर्षियों-महर्षियोंके त्याग एवं तपस्यामय जीवनकी झाँकी देखनेको मिलती है। इसमें तीर्थसेवन, दान, यज्ञ, परोपकार, धर्माचरण, सत्य-परायणता, त्याग, वैराग्य, पातिव्रत्य, तपस्या तथा सत्सङ्ग आदिके महत्त्वका बहुत सुन्दर निरूपण है। शान्तिपर्वकी भाँति यह पर्व भी समादरणीय सदुपदेशोंसे ही भरा है। नल-दमयन्ती, सत्यवान्-सावित्री तथा रामायणकी कथा भी इसीमें आयी है। सभी दृष्टियोंमें यह पर्व पठनीय और माननीय है।

सम्पादक—महाभारत



